

महावीर जयन्ती स्मारिका



जैनं जयतु शासन

१९७६

प्रका

राजस्थान जैन स

ज

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अंक–13

महावीर जयन्ती स्मारिका

1976

प्रधान सम्पादक

श्री भंवरलाल पोल्याका

प्रबन्ध सम्पादक

श्री रमेशचन्द गंगवाल

सम्पादक मंडल

डा० शान्ता भानावत

श्री प्रवीणचन्द छाबडा

श्री पदमचन्द साह

विज्ञापन समिति

श्री देशभूषण सोगाणी

श्री सुमेरचन्द जैन

श्री अरुण सोनी

श्री महेश काला

श्री सुभाष काला

सम्पादन सहयोगी

श्री राजमल बेगस्या

श्री नेमीचन्द काला

मुद्रण कार्य :

नव अल्पना प्रिण्टर्स एण्ड स्टेशनर्स,
मोदीखाना, जयपुर–3

प्रकाशक

राजस्थान जैन सभा,
जयपुर

मूल्य

चार रुपये (डाक व्यय अतिरिक्त)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

राजस्थान जैन सभा, जयपुर

पदाधिकारीगण एवं कार्यकारिणी के सदस्य

१.	श्री राजकुमार काला	अध्यक्ष
२.	श्री ताराचन्द्र साह	उपाध्यक्ष
३.	श्री पूनमचन्द्र साह	उपाध्यक्ष
४.	श्री बाबूलाल सेठी	मन्त्री
५.	श्री प्रकाशचन्द ठोलिया	सं० मन्त्री
६.	श्री भागचन्द छाबड़ा	सं० मन्त्री
७.	श्री सुरज्ञानीचन्द लुहाड़िया	कोषाध्यक्ष
८.	श्री कपूरचन्द पाटनी	सदस्य
९.	श्री प्रवीणचन्द छाबडा	,,
१०.	श्री सूरजमल सौगाणी	,,
११.	श्री रतनलाल छाबडा	,,
१२.	श्री लल्लूलाल जैन	,,
१३.	श्री कैलाशचन्द गोधा	,,
१४.	श्री त्रिलोकचन्द काला	,,
१५.	श्री रमेशचन्द गंगवाल	,,
१६.	श्री अरुण कुमार सोनी	,,
१७.	श्री सुभाष काला	,,
१८.	श्री राजमल जैन बेगस्या	,,
१९.	श्री महेशचन्द काला	,,
२०.	श्री ज्ञानप्रकाश बक्षी	,,
२१.	कुमारी प्रीति जैन	,,
२२.	श्री भंवरलाल पोल्याका	,,
२३.	श्री राधाकिशन जैन	,,
२४.	श्री रतनलाल जैन	,,
२५.	श्री जवाहरलाल जैन	,,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आज विश्व जिनकी २५७४ वीं जयन्ती मना रहा है



विश्ववंद्य भगवान् महावीर

(जयपुर के दि. जैन मन्दिर के कालाडेहरा में विराजमान अति मनोज्ञ एवं प्राचीन प्रतिमा)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मुख पृष्ठ का चित्र

भगवान महावीर स्वामी की पड़

—डा. महेन्द्र भानावत, उदयपुर

राजस्थान में लोकनाट्य का एक रूप पड़ नाट्य के रूप में प्रसिद्ध है। इसमें प्रदर्शनस्थल पर एक चित्रांकित पड़दा खड़ा कर दिया जाता है। पड़-वाचक भोपा अपने हाथ में वाद्य लिए प्रत्येक चित्र का विशिष्ट गायकी में वाचन करता हुआ पड़ प्रमुख का यशगान बांचता है। इस समय वह विशिष्ट प्रकार की पोशाक धारण करता हुआ पड़ के सम्मुख बड़े जोश भरे लहजे में नृत्य करता है। पड़ गाथा गद्य पद्य मिश्रित होती है। इन पड़ों में पाबूजी तथा देवनारायण की पड़ें सर्वाधिक लोकप्रिय हैं।

इसी पड़ शैली में भीलवाड़ा के संगीतप्रेमी श्री निहाल अजमेरा ने अपने सुसंगीत के प्रशिक्षण, प्रकाशन एवं शोध के संस्थान श्री जिनेन्द्र कला भारती की ओर से महावीर स्वामी की पड़ तैयारकर एक सार्थक अभिनव प्रयोगकर महावीर के प्रति अपने श्रद्धा-सुमन चरणायें।

पड़ के चारों ओर बाउण्ड्री में प्रतीक व पट्टियों का बड़ा अच्छा संयोजन किया गया है। यह संयोजन दांये से बांई ओर को है जिसमें प्राकृत में ओम् का मूलरूप, अष्ट-मंगल चिन्ह, ही तथा नीचे की पट्टी में धर्मचक्र बीच में अष्ट प्रातिहार्य चिन्ह तथा अंत में स्वास्तिक। दांई ओर बाउण्ड्री के पास अनेकांत को अंकित करने वाला चित्र भी/ही व बांई ओर की बाउण्ड्री के पास जैन प्रतीक परस्परोपग्रहो जीवानाम् चितराया हुआ है।

दांई से बांई ओर चलने वाली इस पड़ में दो भाग हैं। ऊपर का भाग व नीचे का भाग। ऊपर के भाग में क्रमशः त्रिशला के सौलह स्वप्न, इन्द्राणी द्वारा महावीर को सौधर्म इन्द्र को सौंपना, राजा सिद्धार्थ एवं उनके दरबारी, जन्मकल्याणक दृश्य, भगवान को मेरु पर्वत पर लेजाना, देवदेवियों द्वारा उनकी स्तुति में नृत्यगान, मेरु पर्वत पर जन्माभिषेक मनाना, राजकुमार वर्द्धमान की देव द्वारा सर्प-परीक्षा, संगम देव का अजमुख मानव रूप धारण करना, वर्द्धमान का महावीर नामकरण एवं पंच परमेष्ठी, अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय तथा सर्वसाधुगण।

नीचे के भाग में क्रमशः राजकुमार का कौए की ओर इंगित करते हुए कौआ काला भी है कहना, झूला झूलना, दरबारियों के साथ सिद्धार्थ, मधुबिन्दु, संसार दर्शन व तपस्यारत भगवान महावीर, रुद्र के उपसर्ग, दीक्षा कल्याणक-वस्त्रालंकार का त्याग व पंचमुष्ठि केशलुंचन, आहार देती हुई चंदनबाला, इन्द्रभूति गौतम का मान भंग, देवताओं द्वारा निर्मित समवसरण में भगवान का धर्म प्रवचन तथा देवताओं द्वारा महावीर के मोक्ष गमन के पश्चात् उनके पार्थिव शरीर का अग्नि संस्कार करना।

इस प्रकार इस पड़ में भगवान महावीर की सम्पूर्ण जीवन गाथा चित्रित है। लेखक, संयोजक एवं गायक श्री निहाल अजमेरा की इस अद्भुत कल्पना ने पड़ के माध्यम से जैसे महावीर को मूर्तिवन्त कर दिया। लोकशिक्षण का यह बड़ा ही सशक्त और सुबोधक रूप है जिसका अनेक ग्राम नगरों और कस्बों ने हृदय से स्वागत किया है। मुनि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विद्यानन्दजी की प्रेरणा से प्रतिफलित यह पड़ गाथा आचार्यश्री धर्मसागरजी महाराज, धर्मविजय सूरिजी, यशोविजयजी महाराज. सुमतिसागरजी महाराज, पूज्य कानजी स्वामी तथा अणुव्रत अनुशास्ता आचार्य तुलसीजी महाराज के आशीर्वाद से सुललित ललाम है।

पाबूजी की पड़ के अनुसार ही यह पड़ मंच पर दर्शकों के सम्मुख लगा दी जाती है तत्पश्चात इसका वाचन प्रारम्भ होता है। इसमें दो व्यक्ति भाग लेते हैं। एक व्यक्ति चित्रों के सम्बन्ध में पूछता जाता है, दूसरा उनके सम्बन्ध में नाटकीय लहज में गद्य पद्य में उत्तर देता है। पड़ राजस्थानी में है जिसकी धुन इस प्रकार है—

सा सा ऽसा ऽसा सा सा रे ऽऽ सा सा ऽसा म्हें
म हा ऽवी, ऽर भ ग, वा ऽऽ न, का साऽ मेंऽ
रे रे म म म ऽम आ ऽऽ ज, सा ऽऽऽ
क था ऽ सु. णा ऽऊं, ऽ, ऽर ऽऽ सा जी ऽऽऽ

आदि से अन्त तक यही तर्ज चलती रहती है। कथा सुणाऊं आज जी अन्श को वाचक गायक के साथ-साथ मंच पर बैठे सभी श्रोता गाते हैं।

यह पड़ १।। घन्टे के वाचन की है। इसे चित्रकार श्री राजेन्द्रकुमार जोशी ने बड़े मनोयोगपूर्वक तैयार की है। पड़ चितेरा के रूप में जोशी परिवार राजस्थान का गौरव बन चुका है। अब तो यहां की पड़ें विदेशों तक में संग्रहालयों की शोभा बनी हुई हैं। निहालजी ने लोक देवता पाबूजी, देवनारायण की तरह महावीर को पड़ में प्रतिष्ठित कर उनके लोकमंगल को सही धरातल देकर लोक में प्रतिष्ठित कर निश्चय ही एक अभिनन्दनीय कार्य किया है। इस कार्य के लिए वे हम सबके वंदनीय हैं।

सूचना

स्मारिका की प्रति प्राप्त करने हेतु निम्न में से किसी एक पते पर पत्र व्यवहार करें—

१. श्री राजकुमार काला
नाटाणियों का रास्ता, मोदीखाना,
जयपुर–३

२. श्री बाबूलाल सेठी
सेठी भवन, चूरूकों का रास्ता,
स्टेट बैंक आफ़ बीकानेर एण्ड जयपुर के पीछे
जयपुर–३

३. श्री रमेश गंगवाल
C/o सुरेखा साड़ीज, न्यू मार्केट,
घी वालों का रास्ता, जयपुर–३

४. श्री भंवरलाल पोल्याका
५६६, मनिहारों का रास्ता, मोदीखाना,
जयपुर–३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

राजस्थान जैन सभा, जयपुर



के

वर्तमान और निवर्तमान अध्यक्ष

बांये-श्री राजकुमार काला दांये-श्री कपूरचन्द पाटनी,

सन् १९७६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अध्यक्षीय

पुराणों में वर्णित सुरों और असुरों के युद्धों की लम्बी तालिका को यदि हम प्रतीक रूप में ग्रहण करें तो हमें मानना होगा कि वह मानव मनोगत भली और बुरी भावनाओं का संघर्ष था। भलाई और बुराई अंधकार और प्रकाश की तरह आपेक्षिक हैं। जिस तरह अंधकार का सद्भाव यह सूचित करता है कि प्रकाश की सत्ता है उसी प्रकार बुराई है इसका अर्थ है भलाई भी है। कोई भी समय ऐसा रहा हो कि इन युगलों में से किसी एक की सत्ता रही हो असंभव है। न वर्तमान में ऐसा है और न भविष्य में कभी ऐसा होना संभव है। हां, अवश्य ही ऐसा होता है कि जब इन दोनों में से एक की सत्ता या सद्भाव दूसरे की अपेक्षा अधिक हो। जैनों द्वारा वस्तु में अनेक विरोधी युगलों के होने को स्वीकार कर वस्तु या पदार्थ को अनेकान्तात्मक मानने के पीछे यह ही रहस्य है। इन युगलों का संघर्ष अनादिकालीन है अतः बुराई पर भलाई की प्रतिष्ठा के प्रयत्न की अनादिकालीन हैं।

ये प्रयत्न दो प्रकार से हो सकते हैं। एक तरीका है बुराई को कम करने के लिए हम बुरा करने वाले के मन में यह भय पैदा करें कि यदि उसने अमुक कार्य किया तो उसे कठोर दण्ड मिलेगा तो भयभीत होकर वह, वह कार्य नहीं करेगा। आज विश्व में हथियारों की जो होड़ मची हुई है और एक से एक बढ़ कर विनाशक शस्त्रों का निर्माण करने के लिए प्रत्येक राष्ट्र अग्रसर हो रहा है उसके पीछे यह ही भावना है। मगर बुराई को दबाने का यह तरीका आदर्श नहीं हो सकता। जिस तरह पानी में औंधे पड़े हुए बर्तन को जब तक उस पर दबाव रहे तब तक ही पानी में डूबा रखा जा सकता है। दबाव हटते ही वह तत्काल ऊपर आ जाता है। ऐसे ही भय के हटते ही मानव की दबी हुई आसुरी प्रवृत्तियां उभर कर सामने आ जाती हैं और दोगुने वेग से अपना कार्य प्रारंभ कर देती हैं। प्रबुद्ध चिन्तकों ने इस सचाई को समझा और उन्होंने बुराई को दबाने की अपेक्षा उसे मूल से ही समाप्त कर देने के मार्ग को श्रेष्ठ घोषित कर लोगों को न केवल उस मार्ग पर चलने का उपदेश दिया अपितु, स्वयं उस पर चल आदर्श उपस्थित किया। भगवान् आदिनाथ से लेकर भगवान् महावीर तक ने यह ही किया और यह ही सच्चा धर्म है धर्म का वास्तविक स्वरूप है।

आज फिर आसुरी प्रवृत्तियां सर उठा रही हैं और भय द्वारा उनको दबाने के प्रयत्न असफलताओं की कगार पर खड़े हैं। अतः विशेष रूप से भगवान् महावीर के आदर्शों और उपदेशों को विश्व तक पहुंचाने का गहनतम उत्तरदायित्व हम जैनों पर है। हमें यह कहते गौरवान्भूति है कि राजस्थान जैन सभा ने अपने इस उत्तरदायित्व को समझा है और वह गत १३ वर्षों से महावीर जयन्ती के पुण्यपर्व पर स्मारिका के रूप में एक ऐसे ग्रंथ का प्रकाशन करती आ रही है जिसमें भ० महावीर के जीवन, धर्म और उपदेशों के साथ-साथ जैनकला, साहित्य इतिहास, और पुरातत्व आदि विषयों से संबंधित सैंकड़ों पृष्ठों की सामग्री रहती है। विद्वानों और जनता ने हमारे इस प्रयत्न का कैसा स्वागत किया है इसका प्रमाण है प्रति वर्ष हमें प्राप्त होने वाले सैंकड़ों पत्र जिनका प्रकाशन भी हम आत्म प्रशंसा के भय से और अधिक से अधिक सामग्री जनता के हाथों पहुंचाने की पवित्र भावना वश नहीं करते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हमें प्रसन्नता है कि कि उसी परम्परा को कायम रखते हुए स्मारिका का यह चौदहवां अङ्क हम पाठकों के सामने रख रहे हैं। इस वर्ष भी स्मारिका का सम्पादन श्री भंवरलालजी पोल्याका जैनदर्शनाचार्य साहित्यशास्त्री ने किया है। आपने अपनी अस्वस्थता की परवाह न करते हुये जो लेखन सामग्री को जुटा कर संजोया है, उसके सन्दर्भ में जो कुछ भी लिखा जावे वह कम है। मेरा मन अब इस स्मारिका को सन्दर्भ ग्रन्थ ही मानता है। मैं इश्वर से यही कामना करता हूं, श्री पोल्याका जी युग-युग जीयें।

जिन विद्वानों ने रचनायें भेजी है तथा जिन विज्ञापन दाताओं ने विज्ञापन देकर आर्थिक सहयोग दिया है। यह स्मारिका उनके सहयोग का ही फल है।

स्मारिका में विज्ञापन जुटाने में विज्ञापन समिति के संयोजक श्री रमेशचन्द गंगवाल एवं उनके साथी श्री देशभूषण सौगानी, श्री महेशचन्द काला, श्री अरुणकुमार सोनी, श्री सुभाषचन्द काला, श्री सुमेरचन्द जैन, श्री वीरेन्द्रकुमार पाण्ड्या ने जो अथक परिश्रम किया उसके लिये मैं इन सभी लोगों का पूर्ण आभारी हूँ।

अन्य कार्यक्रमों में भी मैं मेरे सहयोगी श्री बाबूलाल सेठी, श्री प्रकाशचन्द जैन, डा. कस्तूरचन्द कासलीवाल, श्री ज्ञानप्रकाश बक्शी, कुमारी प्रीति जैन एवं श्री हीराचन्द वैद, श्री तिलकराज जैन, श्री नथमल लोढ़ा, श्री पन्नालाल बांठिया आदि को नहीं भुलाया जा सकता है जिनकी प्रेरणाओं एवं सम्पूर्ण सहयोग से महावीर जयन्ती के कार्यक्रम सफलतापूर्वक मनाये जा सके हैं।

अर्थ व्यवस्था में श्री देवकुमार शाह, श्री प्रकाशचन्द ठोलिया, श्री त्रिलोकचन्द काला, श्री ताराचन्द शाह, श्री सुरज्ञानी लाल लुहाड़िया, श्री कैलाशचन्द सौगानी एवं उनके अन्य अनेक साथियों का सहयोग भी भुलाने की चीज नहीं है।

इस अवसर पर मैं श्री कपूरचन्द पाटनी, श्री रतनलाल छाबड़ा, श्री केवलचन्द ठोलिया तथा श्री प्रवीणचन्द्र छाबड़ा के प्रयत्नों को भी नहीं भुला सकता हूँ जिनके मार्गदर्शन से इस संस्था ने निरन्तर सामाजिक क्षेत्र में कार्य किया है।

संस्था श्री श्रीराम गोटे वाला, श्री चन्दनमल वैद, श्रीमती कमला बेनिवाल, श्री फूलचन्द जैन एवं श्री निहालचन्द जैन आदि के समय समय पर प्राप्त सहयोग के लिये भी पूर्ण रूप से आभारी है।

स्मारिका के प्रिन्टिंग में श्री नेमीचन्द काला का भी जो सहयोग रहा है, उसी का परिणाम है कि यह स्मारिका आज पाठकों के हाथ में है।

आशा है यह स्मारिका पाठकों के मनोनुरूप सिद्ध होगी। भविष्य में और भी उपयोगी बने इसके लिये सुझाव आमन्त्रित हैं।

राजकुमार काला
अध्यक्ष
राजस्थान जैन सभा, जयपुर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कुछ लकीरें काली सी

आज से २५७४ वर्ष पूर्व आध्यात्मिक क्षितिज पर एक ऐसे प्रखर तेजोयुक्त ज्ञानसूर्य का उदय हुवा जिसके प्रकाश में अज्ञानांधकार में अपना पथ, अपना गन्तव्य भूले हुए मानव ने सही मार्ग के दर्शन किए। वह सूर्य मानव का मूक पथप्रदर्शक मात्र ही न था अपितु, लोगों में उस मार्ग के प्रति अनास्था अथवा हिचक न हो; इस हेतु उसने स्वयं ने दृढ़ता से उस मार्ग की ओर कदम बढ़ाए। उसने हिंसा की ज्वालाओं से संतप्त बिल-बिलाते मानव को ही नहीं मूक-पशुओं, पक्षियों, कीट भृंगों तक को आवाज देकर पुकारा—आओ इधर इस संत्रास से छुटकारे का मार्ग यह है जिस पर मैं तुम्हें ले चल रहा हूं। निर्भय होकर मेरा अनुगमन करो। इस मार्ग में न हिंसा का ताप है, न परिग्रह का अभिशाप, न मायाचारियों और ठगों के घर हैं, न अन्य बुराइयों के कांकर-पाथर बिछे हैं, न कोई अन्य विघ्न बाधाएं हैं। आओ, आओ, एक बार, केवल एक बार इधर आओ तो सही, देखो कैसी शांति, कैसा आनन्द है! बड़ा विचित्र था वह सूर्य! जहां उसमें अंधकार को नष्ट करने की क्षमता थी वहां उसके तेज में, उसकी किरणों में जलाने की नहीं जिलाने की एक अद्भुत शक्ति थी, सामर्थ्य था! हजारों लोग उसके पीछे चल पड़े। मार्ग के अन्त पर पहुंचकर उन्होंने एक ऐसी शांति, एक ऐसे सुख का अनुभव किया जो निःसीम होने के साथ-साथ अक्षय और अव्याबाध भी था। जिसके नष्ट होने का, समाप्ति का कोई भय नहीं था। वे जो उस पथ नहीं चले या थोड़ी दूर चल कर लौट पड़े आज भी अपनी उस भूल का परिणाम भुगत रहें हैं, जन्म-मरण के इस चक्कर में घूम रहे हैं, मार्ग भ्रष्ट हो दुःख भुगत रहे हैं। ऐसे संत्रस्त लोगों को सही मार्ग का भान हो, महावीर के उपदेशों की महत्ता का ज्ञान हो, उन्हें महावीर के बताए मार्ग पर चलने की सत्प्रेरणा प्राप्त हो इसी पवित्र भावना के वशीभूत हो श्रद्धेय स्व० पंडित चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ के सत्परामर्श से सन् १९६२ में राजस्थान जैन सभा, जयपुर ने महावीर जयन्ती के पावन पर्व पर प्रतिवर्ष एक स्मारिका प्रकाशन का निश्चय किया और उनके जीवनकाल की अन्तिम संध्या तक एक दो वर्षों को छोड़ कर वह स्मारिका प्रकाशित होती रही। उनके स्वर्ग प्रयाण के पश्चात् इस महान् कार्य का भार सभा ने हमारे कमजोर कंधों पर डाल दिया जिसके उठाने का हमने शक्ति और सामर्थ्य भर प्रयास किया। बिना किसी व्यवधान के प्रतिवर्ष हम स्मारिका पाठकों के हाथों में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पहुंचाते रहे। उसी शृंखला में स्मारिका का यह १३ वां अंक है। इस काम का भार निश्चय ही हमारे जैसे नगण्य व्यक्ति के लिए तो उसके बूते के बाहर का था किन्तु श्रद्धेय गुरुवर्य का वह शान्त, सौम्य किन्तु कर्मठ चेहरा हमें अपनी कमजोरियों का भान नहीं होने देता अपितु उनकी वह याद हममें अदम्य साहस और उत्साह का संचार करता रहा है। नतमस्तक हैं हम श्रद्धा और विनय से उस गुरुदेव के पावन पूत चरणों में।

हमें प्रतिवर्ष प्रायः शुभचिन्तकों की यह शिकायत मिलती रहती थी कि स्मारिका एक शोधग्रंथ मात्र बन कर रह गई है। समाज की अथवा सामान्य पाठक की रुचि का मसाला उसमें प्रायः नहीं ही रहता। हितेच्छुओं की इच्छा का आदर करते हुए गतवर्ष हमने कुछ सामान्य परिवर्तन इसमें किया और उस परिवर्तन स्वरूप जो सामग्री हमने प्रस्तुत की उसका हमारी आशा से भी अधिक स्वागत हुवा किन्तु एकाध विद्वान् उससे अप्रसन्न भी हुए। उनसे जब हमारे इन युक्तियुक्त लेखों का कोई उत्तर नहीं बन पड़ा तो उन्होंने हमारी भावनाओं पर ही आरोप लगा डाला कि ये सब लेख इसलिए लिखे गये कि उक्त निबंधों के लेखकों की राय नहीं ली गई होगी मानों राय लेने और सही बात निःसंकोच कहने में कोई अविनाभावी सम्बन्ध है। हम विश्वासपूर्वक कहते हैं कि कहीं भी और कभी भी हमारा वह ही मत होता जो हमने और हमने सहयोगी विद्वानों ने गतवर्ष की स्मारिका में अपने निबंधो द्वारा प्रकट किया है।

जहां तक जैन एकता का सवाल है हम इसके सबसे बड़े हिमायती हैं और उसका सबसे बड़ा प्रमाण हमारी यह स्मारिका है जिसमें हम बिना किसी भेदभाव के सबकी रचनाएं पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हैं। इस वर्ष भी हम ऐसा कर रहे हैं और भविष्य में भी करते रहेंगे। किन्तु उस एकता का एक स्पष्ट चित्र हमारे मस्तिष्क में है। बचपन में ईसाप की एक कहानी हमने पढ़ी थी। एक मिट्टी का और एक धातु का बर्तन दोनों एक नदी में साथ-साथ बह रहे थे। धातु के बर्तन ने मिट्टी के बर्तन को आवाज दी—मित्र! तुम और मैं एक ही ओर चल रहे हैं। तुम्हारा हमारा गन्तव्य एक है, मार्ग एक है अतः आओ, मेरे पास, मार्ग में बातचीत, हंसी ठठ्ठा मनोरंजन करते चलेंगे जिससे मार्ग सुगमता से कट जावेगा। मिट्टी के बर्तन ने कहा—दोस्त! परामर्श तो तुम्हारा ठीक है किन्तु मुझे भय है कि कहीं इस प्रयत्न में तुम्हारी हमारी टक्कर न हो जाय? तुम्हारा तो कुछ नहीं बिगड़ेगा लेकिन मेरा तो अस्तित्व ही समाप्त हो जायगा। हम चाहते हैं दोनों ही बर्तन धातु के हो जिससे एक की टक्कर दूसरे का कुछ बिगाड़ न सके, बिना किसी भय के एक दूसरे के नजदीक आ सकें और दूध-पानी की तरह जहां दूध को जलाया जाय वहां पानी की तरह दूसरा पक्षो उसकी रक्षा को आगे आय। स्वयं मिट जाय किन्तु दूसरे के अस्तित्व पर कोई आंच न आने दे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हम एकता के चाहे कितने ही नारे लगांय, ऊपरी एकता से कितने ही प्रसन्न हो लें किन्तु उच्च स्तर पर निर्णय लेने से पूर्व शीघ्रता न की होती, गम्भीरता से कुछ सोचा होता, सबको साथ लेकर चलने के उत्साह में विगत इतिहास और परम्पराओं का भी ध्यान रखा होता वह सब न घटित होता जो आदरणीय वयोवृद्ध सामाजिक ही नहीं हमारे राष्ट्रीय नेता श्री रांकाजी के साथ बार-बार घटित होता रहा। भला किस समझदार व्यक्ति का सिर समाज में ऐसी घटनाएं घटित होने पर शर्म से झुक न जायगा।

हम सहमत हैं कि महावीर के उपदेश आज उसी रूप में हमारे सामने नहीं हैं। उनमें बहुत कुछ मिला दिया गया है और वह प्रयत्न अभी भी समाप्त नहीं हुवा है। इस क्षेत्र में पर्याप्त शोध खोज की आवश्यकता है। परिस्थितियां भी इस समय परिवर्तित हैं। यह भी सच है कि महावीर ने जितना जाना उतना उन्होंने नहीं कहा क्योंकि शब्द सामर्थ्य सीमित होती है। इसी तरह यह भी सच है कि जितना उन्होंने कहा उतना लिखा नहीं गया। किन्तु सचाई को परखने की एक कसौटी उन्होंने हमारे हाथ में दी और वह कसौटी है—विचारों में अनेकान्तात्मकता, वाणी में स्याद्वाद और आचरण में अहिंसा। जो इस कसौटी पर खरा नहीं उतरे वह चाहे कितना ही चमके, कितना ही मन को लुभाये, कितना ही नेत्रों को ललचाये सब अधर्म है, पाखण्ड है, धोखा है।

खेद है आज इस कसौटी में ही परिवर्तन के प्रयास चालू हैं। साधुओं के लिए नई आचारसंहिताओं के निर्माण की आवाज उठाई जा रही है जिससे उनके शिथिलाचार का पोषण हो सके, आधुनिकता के नाम पर वे राजाओं और श्रीमन्तों की तरह ठाठ–बाट से रह सकें, धर्म नहीं राजनीति उनके जीवन में उतरे, आचार नहीं उनकी लफ्फाजी से उनकी परख हो, गृहस्थों की तरह ही वे नहा धो सकें, इत्र फुलेल राग रंग का प्रयोग कर सकें, परीषह सहन करने का कष्ट उन्हें न व्यापे, वे आपस में मारपीट कर सकें, उन पर फौजदारी मुकदमे तक चल जांय फिर भी उनके साधुत्व अथवा मुनित्व में कोई फर्क न आवे।

कितनी दयनीय, शोचनीय स्थिति है यह? एक विख्यात लेखक के शब्दों में—"धर्म तो काल और परिस्थिति से ऊपर की वस्तु है। यदि इसकी रूपरेखा को हम समय-समय पर परिस्थिति के अनुकूल बनाते चले जावें तो धर्म और अधर्म में भेद ही क्या रह जायगा। समय पड़ने पर हम अधर्म को धर्म समझ बैठेंगे।"

परिस्थितियों की दुहाई देकर आचार्य उमास्वाति के सूत्रों के अर्थ परिवर्तन का जो भीषण षड्यन्त्र चल रहा है उसके पीछे यह ही राज है। हे पंडित, तू मेरी प्रशंसा कर, मुझे प्रशंसा के उच्च शिखर पर चढ़ा दे, मेरा आचरण मत देख, उससे तुझे क्या लेना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है ? तू तो अपना स्वार्थ देख। देख, तेरी पुस्तकें छपेंगी, बड़े-बड़े नेताओं के साथ तेरे चित्र छपेंगे, तुझे पुरस्कार मिलेंगे, कई सभा सोसाइटियों में उच्च पद प्राप्त होंगे। अरे, आचार्य उमास्वाति ने यह ही कहा है। 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्' तू मुझे ऊंचा चढ़ा, मैं तुझे चढ़ाऊंगा, तेरी कई कठिनाइयां दूर करुंगा। बड़े-बड़े सेठ मेरी पंजी में हैं।

इस सूत्र का यह अर्थ हमने नहीं समझा, इसलिए हमने न तो कोई पुस्तक लिखी और न हमारी किसी पुस्तक का प्रकाशन हुवा। और भी कई चोटी के विद्वान् ऐसे हैं जो सूत्र के इस अर्थ से अनभिज्ञ हैं फलस्वरूप उनकी लिखी हुई पुस्तकें और शोधप्रबंध आलरियों की शोभा बढ़ा रहे हैं। प्रतिवर्ष उनके प्रकाशन की व्यवस्था करा देने हेतु ४–५ पत्र तो हमें भी मिल ही जाते हैं किन्तु हम हमारी ही व्यवस्था नहीं कर पाते उनकी तो सहायता ही क्या करें।

आचार्य उमास्वाति का ही एक दूसरा सूत्र है—'द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः'। आचार्य उमास्वाति ने चाहे जिस अर्थ में इसका प्रयोग किया हो किन्तु आज इसका भी दूसरा ही अर्थ अर्थात् 'द्रव्य का आश्रय पाकर गुणहीन भी गुणवान् हो जाते हैं" हम वाणी से नहीं तो कार्यों से प्रचारित कर रहे हैं। यदि आपके पास पैसा है तो आपके आचारों से क्या लेना देना है ? पैसा दीजिये, धर्मचक्र पर बैठिये, बड़ी-बड़ी सभाओं के सभापति बनिए, समाज पर एक छात्रराज कीजिए। कौन पूछता है आपके पैसे का स्रोत क्या है ? बड़े-बड़े भाषण दीजिये – चिन्ता नहीं आपके लिए काला अक्षर भैंस बराबर हो। अजी हम पंडित और डाक्टर जिन्दाबाद ! थोड़ी अण्टी ढीली कीजिए आपके भाषण की हजारों प्रतिलिपियां तैयार—आपके स्थान में भाषण भी हम ही पढ़ देंगे आपको कष्ट उठाने की क्या जरूरत है ?

आज समाज की बड़ी विचित्र स्थिति है। एक ओर वे लोग हैं जो यथास्थिति बनाए रखना चाहते हैं दूसरी ओर जो प्रत्येक प्रकार का प्रतिबन्ध तोड़ कर फेंक देना चाहते हैं। मध्यममार्ग के अनुसर्ताओं का या तो कहीं पता नहीं या फिर वे नगण्य और प्रभावहीन हैं। इसीलिए एकता के सारे प्रयत्न विफल हो रहे हैं और भविष्य में भी उनके सफल होने की आशा अधिक नहीं तो क्षीण अवश्य है।

एक बार एक विकृत मस्तिष्क व्यक्ति घोड़े पर आमेर से जयपुर आ रहा था। घोडे का मुंह था आमेर की ओर मगर सवार उस पर बैठा था जयपुर की ओर मुंह करके। स्वाभाविक ही घोड़ा समय के साथ-साथ अपने लक्ष्य स्थान जयपुर से दूर होता जा रहा था क्योंकि उसका मुंह आमेर की ओर था मगर सवार जयपुर की ओर मुंह करके ही समझ रहा था कि वह जयपुर जा रहा है। ठीक यह ही अवस्था आज हमारी है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिधर हमें जाना है उधर तो हमारा एक पग भी आगे नहीं बढ़ा बल्कि हम तो उल्टे पांव चल रहे हैं मगर हमारा शोर है कि हम आगे बढ़ रहे हैं।

बड़ा शोर है २५०० वें निर्वाण शताब्दी वर्ष में जितना साहित्य प्रकाशित हुवा उतना एक लेखक के शब्दों में गत दो सौ वर्षों में नहीं हुवा किन्तु क्या यह सच नहीं कि मौलिक साहित्य उनमें बहुत कम था ? अधिकांश साहित्य एक दूसरे की नकल अथवा अनुकरणमात्र था। एक लेखक की तो दो पुस्तकें दो भिन्न-भिन्न नामों से भिन्न-भिन्न स्थानों से प्रकाशित हुई किन्तु दोनों में नाम भेद या एक दो पैरों के भेद के अतिरिक्त पैरे के पैरे ज्यों के त्यों थे। क्या इससे यह ज्ञात नहीं होता कि वह लेखक एक लघुपुस्तिका भी नये शब्दों या विचारों में नहीं लिख सकता। ऐसे ही हैं संस्थाओं के संचालक जो पुस्तक का मैटर नहीं लेखक का नाम देखते हैं। लेखकों के पास भी किसी के लेख की सत्यता की जांच करने को समय कहां ? एक लेखक ने महावीर के कल्याणकों आदि की अंग्रेजी तारीखें दे दी तो दूसरे ने झट उसे अपने लेख में लिख मारा। हमें खेद है कि सावधानी रखते हुए भी हमारी स्मारिका में भी वे तारीखें प्रकाशित हो गई। विरोधक स्वरूप कई सप्रमाण लेख और पत्र हमें प्राप्त हो गये कि स्मारिका जैसी प्रामाणिक पुस्तिका में वे कैसे आ गए ? कई लेखों में से ऐसा ही एक लेख हम इस स्मारिका में प्रकाशित कर रहे हैं। पाठकों से अपनी इस असावधानी हेतु हम क्षमाप्रार्थी हैं। ऐसा ही महावीर की जन्मकुण्डली के सम्बन्ध में है जिसका बहुत प्रचार है उस पर भी मुनिश्री चन्दनमलजी ने ज्योतिषशास्त्रों के अनुसार हमारी सन् १९७४ की स्मारिका में आपत्ति उठाई है। कई पुस्तकों में मथुरा पुरातत्व संग्रहालय के 'हरिनाई गणेश' अथवा नैगमेश की मूर्ति और संगमदेव को एक ही समझ कर उसके चित्र भी छाप दिये हैं जो कि उनकी दयनीय अज्ञानता को प्रकट करता है। अभिधान राजेन्द्रकोष के अनुसार यह इन्द्र की पैदल सेना का सेनापति तथा देवानन्दा के गर्भ से महावीर के गर्भ का परिवर्तन करने वाला देवता है। उत्तरपुराण के सप्ततितम और एक सप्ततितमपर्व के अनुसार यह देव देवकी के युगल पुत्रों की रक्षा करने वाला तथा घोड़े का वेष धारण कर श्रीकृष्ण आदि को द्वारावती तक ले जाने वाला देवता है। महावीर के बल परीक्षा हेतु आने वाला संगमदेव बिल्कुल ही पृथक् है। ऐसी ही बात महावीर के मित्रों के नामों के सम्बन्ध में भी है। पं० नाथूरामजी प्रेमी के अनुसार चामुण्डराय कृत कन्नड भाषा का पुराण का आधार गुणभद्र का उत्तरपुराण है और गुणभद्र के उत्तरपुराण के पर्व ७४ के श्लोक २९० में शब्द 'काकपक्षधरैः' है जिसका अर्थ लम्बे-लम्बे बालों वाले (अथवा जुल्फों वाले) होता है यदि इस शब्द से काकधर और पक्षधर ये नाम महावीर के मित्रों के निकाले जावें तो यह शब्द द्विवचनान्त होना चाहिये तीन नाम तो इससे निकल ही नहीं सकते।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यद्यपि सकलकीर्ति का महावीर पुराण हमारे सामने नहीं है किन्तु हमें स्मरण पड़ता है कि उन्होंने भी इस प्रसंग में इस शब्द का प्रयोग किया है। अस्तु,

हमारा कहने का अभिप्राय यह है कि भगवान् महावीर के जीवन के सम्बन्ध में जो कुछ भी लिखा या कहा जाय प्रामाणिकता से लिखा जाय, किसी भावावेश में होकर नहीं क्योंकि जो कुछ आज लिखा जायगा कल वह ही प्रमाणकोटि में प्रस्तुत किया जायगा। वैसे महावीर की महत्ता उनकी गार्हस्थिक जीवनचर्या से सम्बन्धित घटनाओं के कारण है भी नहीं, उनकी महत्ता तो उनके दर्शन, ज्ञान, चारित्र आदि गुणों के कारण है जिसे अधिक से अधिक प्रचारित किया जाना चाहिये। शायद इसी कारण उनके सांसरिक जीवन की घटनाओं को बहुत कम वर्णन हमें देखने को मिलता है क्योंकि महावीर तो जन्म से सांसारिक थे ही कहां ? वे तो जल में भिन्न कमल के समान प्रारम्भ से ही संसार से विमुख थे। निश्चय ही इस वर्ष कई अच्छे ही नहीं बहुत अच्छे प्रकाशन भी सामने आये हैं। कई अच्छे कार्य भी हुए हैं। वे सब प्रशंसनीय हैं। 'सब धान बाईस पसेरी' वाली उक्ति हम चरितार्थ नहीं करना चाहते। हम अच्छे को अच्छा और बुरे को बुरा कहना चाहते हैं।

इस वर्ष स्मारिका में प्रकाशनार्थ हमें अप्रत्याशितरूप से अधिक रचनाएं प्राप्त हुई। प्रयत्न करके भी हम उन्हें नहीं दे पाये। साथ ही कई रचनाएं अत्यधिक लम्बी भी प्राप्त हुई जिन्हें यदि हम ज्यों का त्यों देते तो सारी स्मारिका में ७–८ से अधिक रचनाएं शायद ही जा पातीं अतः हमें अपनी कैंची का प्रयोग न चाहते हुए भी करना पड़ा। संभव है इस अप्रिय कार्य में रचना के कुछ महत्वपूर्ण अंश पृथक् हो गये हों अथवा निबंधों में कुछ असम्बद्धता उत्पन्न हो गई हो। आशा है हमारी स्थिति का भान कर लेखक-गण हमें इसके लिए क्षमा करेंगे। साथ ही नहीं लेखकों से भी हम क्षमाप्रार्थी हैं जिनकी रचनाएं इस स्मारिका में जा नहीं पा रही हैं। प्रतिवर्ष स्मारिका का कलवेर बढ़ जाता है और अधिक से अधिक रचनाओं का उपयोग करने के लोभ में हम हमारे साथियों की भी नहीं सुनते। यह वर्ष भी इसका अपवाद नहीं है। इसके लिए क्षमाप्रार्थी हैं।

सम्पादन में हुई त्रुटियों, भूलों एवं जाने अनजाने किये गये अपराधों के लिए क्षमायाचनापूर्वक हम हमारे साथियों, सहयोगियों तथा लेखकों से प्राप्त स्नेह और सहयोग के लिए हृदय के अन्तर्तम से कृतज्ञता-ज्ञापन एवं धन्यवाद अर्पण करते हैं।

—भंवरलाल पोल्याका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकाशकीय

राजस्थान जैन सभा प्रतिवर्ष की भांति इस वर्ष भी विश्ववंद्य भगवान् महावीर के सिद्धान्तों के प्रचार की दृष्टि से महावीर जयन्ती के अवसर पर जिज्ञासु पाठकों के समक्ष यह स्मारिका अंक प्रस्तुत कर सन्तोष का अनुभव करती है। राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय बदलते हुए परिप्रेक्ष्य में भगवान् महावीर के सिद्धान्तों पर निरन्तर चिन्तन कर दिशाबोध प्राप्त किये जाते रहने की महति आवश्यकता है। जब जब मानव भगवान् महावीर के सिद्धान्तों से भटका है तब तब इतिहास का कलेवर दुष्कृत्यों से कलंकित हुआ है और उस सन्त्रास से मुक्ति मिली है तो महावीर के सिद्धान्तों को मानव द्वारा अपनाएं जाने पर ही मिली है।

राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच के अतिरिक्त मनुष्य के दैनिक जीवन में भी बिना महावीर के सिद्धान्तों को समझे अन्धकार को हटा कर प्रकाश में नहीं लाया जा सकता। अतः यह स्मारिका जहां हमें सामुहिक जीवन में सम्यक् दिशा बोध देगी वहां अपने व्यक्तिगत जीवन में भी सन्तोष और शान्ति की ओर हमें अग्रसर करेगी।

सभा द्वारा स्मारिका का प्रकाशन की प्रवृति स्व० पं० चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ की प्रेरणा से आरम्भ की गई थी। अब तक की सभी स्मारिकाओं का प्रकाशन पाठकों द्वारा प्रशंसनीय रहा है। इस अंक में भी हमने पूर्व का गौरवपूर्ण स्तर बनाये रखने का भरसक प्रयत्न किया। पाठक स्वयं इसका मूल्यांकन कर अवगत करावेंगे।

जिन लेखकों ने अपनी रचनाएं भेजकर समय पर स्मारिका का प्रकाशन सम्भव बनाया है वे धन्यवाद के पात्र है। हमें पूरी आशा है कि उनकी लेखनी पाठकों को सन्तुष्ट करेगी और साधुवाद प्राप्त कर कृतार्थ होगी।

धन्यवाद के पात्र इस पुष्प के प्रधान सम्पादक श्री भंवरलाल पोल्याका है जिन्होंने सारी सामग्री को व्यवस्थित कर इस रूप में रखा है। सर्व विदित है कि यह कार्य लम्बा एवं श्रम साध्य है जिसे श्री पोल्याकाजी जैसे सेवाभावी विद्वान ही पूरा कर सकते है।

इस अवसर पर विभिन्न विज्ञापनदाताओं को भी धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकते जिन्होनें उदारतापूर्वक हमें विज्ञापन प्रदान कर इस अंक के प्रकाशन को आर्थिक रूप से सम्भव बनाया है। साथ ही इस सम्पूर्ण सामग्री को जुटाने में जो अथक परिश्रम करके आशातीत सफलता प्राप्त की है उसके लिये विज्ञापनसमिति के संयोजक श्री रमेशचन्दजी गंगवाल के प्रति अत्यन्त आभारी है। सर्वश्री महेशचन्दजी काला, अरूण सोनी आदि ने भी इस कार्य में सहयोग दिया है उस हेतु उनके भी अत्यन्त आभारी है।

अन्त में सुन्दर छपाई मनमोहक आवरण पृष्ट हेतु धन्यवाद के पात्र नव अल्पना प्रिन्टर्स एण्ड स्टेशनर्स के व्यवस्थापक श्री सुरेश काला है।

—मन्त्री

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

राजस्थान जैन सभा
एक संक्षिप्त परिचय

समाज को रूढ़ियों व कुरीतियों से मुक्त कराने, समाज को एक सूत्र में बांधने, स्वस्थ धार्मिक उत्साह का वातावरण बनाने और समाज की साहित्यिक, सांस्कृतिक व आर्थिक उन्नति का यथासंभव प्रयत्न राजस्थान जैन सभा द्वारा गत 21 वर्षों से किया जा रहा है।

जैन सभा ने जन मानस को धर्म एवं कर्त्तव्य का बोध कराने हेतु दशलक्षण पर्व समारोह, क्षमापन पर्व समारोह, महावीर जयन्ती समारोह, महावीर निर्वाणोत्सव एवं मास्टर मोतीलाल संघी स्मृति दिवस समारोह के अतिरिक्त भी यथा संभव व्याख्यानों, प्रवचनों आदि के आयोजन एवं साहित्य प्रकाशन की प्रवृत्तियाँ चालू कर रखी हैं। समाज ने सभा के प्रत्येक कार्यक्रम में उत्साह से भाग लिया है।

दशलक्षण पर्व समारोह

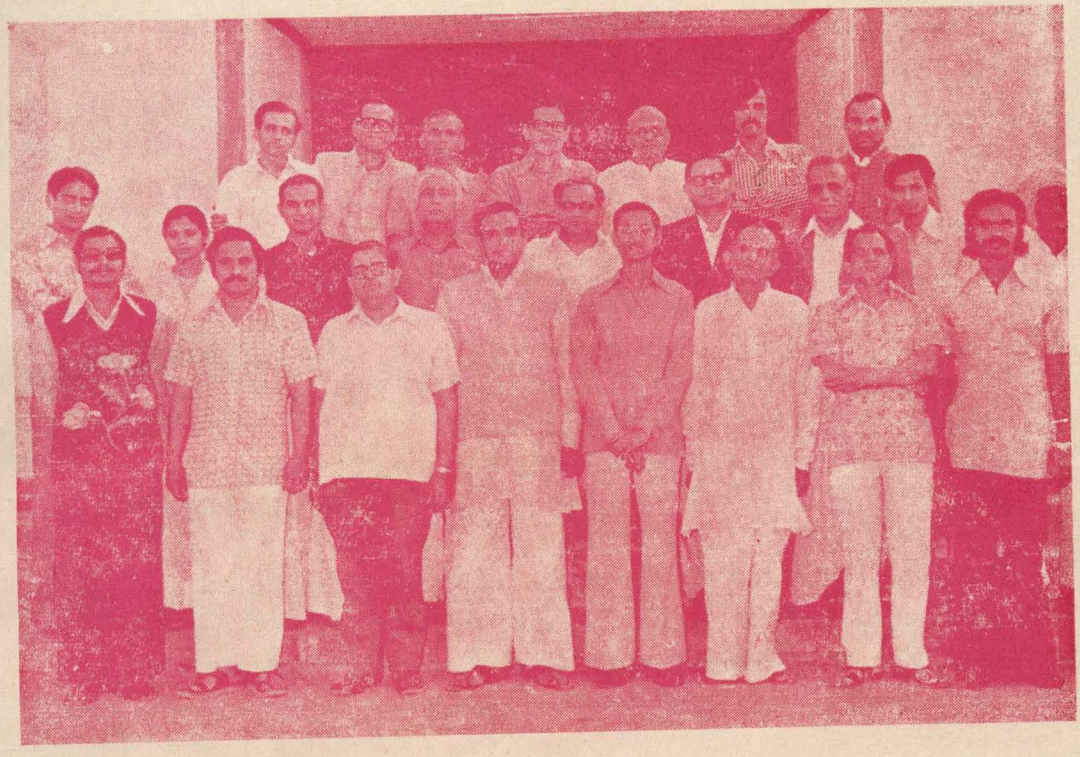
भौतिकता से ओत-प्रोत एवं अत्यन्त व्यस्त यांत्रिक मानव जीवन में पर्व एक प्रकाश स्तम्भ की तरह दिशा बोध देते हैं जिसमें दशलक्षण एक त्रैकालिक पर्व होने से और भी अधिक महत्व रखता है। इसको दृष्टि में रखते हुए इस वर्ष भी भादवा सुदी पंचमी से चतुर्दशी तक जयपुर के बड़े दीवाणजी के मन्दिर में विभिन्न अधिकारी विद्वानों के धार्मिक, साहित्यक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक विषयों पर भाषणों का आयोजन किया गया तथा संवाद, कविता, भजन आदि के विभिन्न कार्यक्रम रखे गये। ख्याति-प्राप्त आध्यात्मिक प्रवक्ता डा० हुकमचन्द भारिल्ल ने दश धर्मों का आध्यात्मिक स्वरूप अत्यन्त सरल भाषा से जन-साधारण को समझाया एवं सर्वश्री फूलचन्द जैन, विधायक, निहाल चन्द जैन, प्रशासक, नगर परिषद जयपुर, प्रोफेसर चांदमल शर्मा, हीरालाल देवपुरा, विद्युत मन्त्री, कुमारी प्रीति जैन, प्रोफेसर बी० एल० सर्राफ, चिरंजीलाल जैन, उगम राज माणहोत, पं. राजकिशोर, केवलचन्द ठोलिया, तेजकरण डंडिया, वीरेन्द्र जैन, डा० जी० एन० शर्मा, श्रीमती सुशीला बाकलीवाल, डा० नरेन्द्र भानावत, डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल एवं श्री कपूरचन्द पाटनी ने विभिन्न विषयों पर प्रकाश डाला। सर्वश्री राजमल जैन, अनूपचन्द न्यायतीर्थ, दासूलाल, बलभद्रकुमार आदि ने भजन, कविता पाठ आदि किया। कार्यक्रमों की सभी ने सराहना की।

समापन पर्व समारोह

प्रतिवर्ष की भांति ही इस वर्ष भी सामूहिक क्षमापन पर्व समारोह का आयोजन आसोज बुदी 2 को प्रातःकाल रामलीला मैदान में किया गया। श्री रामकिशोर जी व्यास, अध्यक्ष, राजस्थान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

राजस्थान जैन सभा की कार्यकारिणी



सन् १९७६ के सदस्यगण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विधान सभा ने समारोह की अध्यक्षता की। डा० हुकमचन्द भारिल्ल, पं० मिलापचन्द शास्त्री आदि के सारगर्भित प्रवचन हुये।

सामूहिक स्नेह मिलन समारोह

समाज में छोटे–बड़े का भेद समाप्त हो, प्रत्येक बुद्धिशाली जीव समाज के उत्थान हेतु कुछ सोचे–विचारें एवं विभिन्न धार्मिक एवं सांस्कृतिक प्रवृत्तियों की प्रगति हो, इस हेतु इस वर्ष विजया-दशमी के शुभ दिन एक अनूठा नया कार्यक्रम सामूहिक स्नेह समारोह का श्री महावीर दिगम्बर जैन उच्च माध्यमिक विद्यालय के प्रांगण में सभा के तत्वावधान में किया गया जिसमें समाज के लोगों ने एक स्थान पर बैठकर स्वयं द्वारा लाई हुई मिठाई रहित भोज्य सामग्री से सहभोज किया। इसी अवसर पर इन कार्यक्रमों का भी आयोजन किया गया। श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र महावीरजी शोध संस्थान, श्री दिगम्बर जैन मन्दिर लूणकरण जी पांड्या एवं बड़ा तेरहपंथियान तथा अन्य मन्दिरों में संग्रहित प्राचीन कलापूर्ण एवं दुर्लभ शास्त्रों, चित्रों एवं मानचित्रों की सामग्री से एक प्रदर्शनी आयोजित की गई जिसका उद्घाटन पं० मिलापचन्द शास्त्री के कर कमलों द्वारा हुआ। संयोजन श्री कैलाशचन्द सौगाणी ने किया। स्वर्णाक्षरों में बद्ध भक्तामर स्तोत्र इस प्रदर्शनी का मुख्य आकर्षण था।

समाज के उत्थान हेतु आवश्यक विषयों पर विचार गोष्ठी का आयोजन श्री राजकुमार काला के संयोजकत्व में हुआ। जिसमें सर्वश्री केवलचन्द ठोलिया, प्रो० प्रवीणचन्द जैन, प्रवीणचन्द छाबड़ा, पूनमचन्द साह, नरेशकुमार सेठी, फूलचन्द जैन, विधायक, तेजकरण डंडिया आदि ने अलग-अलग पहलुओं पर अपने विचार व्यक्त किये।

विभिन्न शिक्षण संस्थाओं एवं भजन मण्डलों द्वारा एकांकी, भजन, कवितायें व कव्वाली के सुन्दर एवं रोचक कार्यक्रम प्रस्तुत किये गये। भगवान् महावीर के 2500वें निर्वाण वर्ष के उपलक्ष्य में निर्मित एवं आल इण्डिया दिगम्बर जैन 'भगवान् महावीर 2500वां निर्वाण महोत्सव सोसाइटी के सौजन्य से प्राप्त 'भगवान् महावीर और उनकी परम्परा' नामक फिल्म का प्रदर्शन भी इस अवसर पर प्रथम बार जयपुर में किया गया।

मुनिश्री 108 श्री श्रुतसागर जी महाराज के प्रवचन का भी जन समुदाय ने लाभ किया।

2500वां निर्वाण महोत्सव समारोह––

सभा ने विभिन्न संस्थाओं द्वारा किये गये विभिन्न आयोजनों में कंधे से कंधा मिलाकर पूर्ण सहयोग प्रदान किया। जिसमें पावन जयन्ती एवं धर्म चक्र के आगमन पर भव्य जुलूसों का आयोजन एवं राज्य के विश्व विद्यालयों, सार्वजनिक पुस्तकालयों हेतु सभा द्वारा प्रकाशित साहित्य की भेंट विशेष उल्लेखनीय है।

निर्वाण महोत्सव समारोह समापन के अवसर पर एक भव्य सांस्कृतिक समारोह का आयोजन महावीर पार्क में श्री हीरा भाई ऐम. चौधरी की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ जिसमें विभिन्न शिक्षण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संस्थाओं एवं भजन मण्डलों ने अत्यन्त ही सुन्दर, रोचक एवं उपदेश पूर्ण एकांकी, नृत्य, भजन, कव्वाली, कविता आदि प्रस्तुत किये ।

मा० मोतीलाल संघी स्मृति दिवस

समाज के मूक सेवी एवं सन्मति पुस्तकालय के संस्थापक स्व० मा० मोतीलालजी संघी का पुण्य स्मृति दिवस राजस्थान विधान सभा के सदस्य श्री फूलचन्द जैन की अध्यक्षता में 17 जनवरी को मनाया गया ।

महावीर जयन्ती स्मारिका

सभा सन् 1962 से स्व० पूज्य पण्डित चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ की प्रेरणा से 'महावीर जयन्ती स्मारिका' का प्रकाशन महत्वपूर्ण एवं उपयोगी सिद्ध हुआ है । यह इस संस्था का एक नियमित वार्षिक प्रकाशन बन गया है । इसमें जैन दर्शन, इतिहास, संस्कृति और साहित्य पर अधिकृत विद्वानों के गवेषणापूर्ण लेख व कवितायें रहती हैं । इस वर्ष भी स्मारिका का बारहवां अंक श्री भंवरलाल पोल्याका के प्रधान सम्पादकत्व में सभा द्वारा प्रकाशित किया गया ।

सामाजिक प्रवृत्तियां

जैन सभा की गतिविधियां केवल समारोह एवं साहित्य प्रचार तक ही सीमित नहीं हैं अपितु जब भी सामाजिक क्षेत्र में कोई भी समस्या उत्पन्न हुई सभा ने आगे आकर यथासम्भव समाधान करने का प्रयत्न किया है । राजस्थान विधान सभा में प्रस्तुत नग्न विरोधी बिल को वापिस कराने, राजस्थान ट्रस्ट एक्ट में आवश्यक संशोधन कराने, राज्य सरकार से अनन्त चतुर्दशी एवं संवत्सरी का ऐच्छिक अवकाश स्वीकृत कराने, सांगानेर में जमीन से प्राप्त जैन मूर्तियों को समाज को सुपुर्द कराने तथा आयकर में हुये संशोधन से समाज को जानकारी कराने आदि महत्वपूर्ण कार्य किये हैं ।

समाज में व्याप्त रूढ़ियों और कुरीतियों के विरुद्ध भी यह सभा सदैव जागरूक रही है । समाज में सगाई एवं विवाह आदि के अवसर पर दहेज की मांग, ठहराव आदि को सदैव बुरी दृष्टि से देखती रही हैं और इन बुराइयों को दूर करने में सदैव प्रयत्नशील है ।

सभा का कार्य संचालन एक कार्यकारिणी समिति करती है जिसके 21 सदस्य हैं उनमें से सदस्यों का चुनाव क्रमानुसार प्रतिवर्ष कराया जाता है । सभा की सदस्यता शुल्क 1) रु० वार्षिक है । सभा के रचनात्मक कार्यों की लोकप्रियता के कारण सभा के सदस्यों की संख्या इस वर्ष 2500 से बढ़कर लगभग 4000 हो गयी है ।

सभा की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ नहीं है इस कारण चाहते हुये भी अपने लक्ष्यों को पूर्ण करने में असमर्थ रही है ।

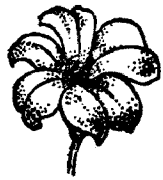
सभा द्वारा सम्पन्न किये जाने वाले विभिन्न आयोजनों व कार्यक्रमों में जहां सभा की कार्यकारिणी समिति के सदस्यों एवं सर्वश्री हीराचन्द वैद, तिलकराज जैन, निहालचन्द जैन, राजरूप टांक,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पं० मिलापचन्द शास्त्री, डा० हुकमचन्द भारिल्ल, पन्नालाल बाँठिया, मूलचन्द पाटनी, रमेशचन्द पापड़ीवाल, प्रकाशचन्द जैन, तेजकरण डंडिया, माणिक्यचन्द जैन, सूरजमल वैद, नवीनकुमार बज, सौभाग्यमल रांवका, डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल, विनयकुमार पापड़ीवाल, शशिभूषण सौगाणी, देवकुमार शाह, कैलाशचन्द सौगानी, बलभद्र जैन आदि के सहयोग को भी भुलाया नहीं जा सकता है। श्री वीर सेवक मण्डल और अन्य सभी शिक्षण संस्थाओं, भजन मण्डलियों आदि का भी सभी कार्यक्रमों में पूर्ण रचनात्मक सहयोग रहा है। सभा सभी व्यक्तियों एवं संस्थाओं के प्रति आभार प्रकट करती है।

सभा समाज के प्रत्येक सदस्य से सभा को तन, मन एवं धन द्वारा सहयोग की आशा एवं सुझाव की अपेक्षा रखती है।

—बाबूलाल सेठी
मन्त्री



महावीर जयन्ती समारोह
१९७६
के संयोजक

वादविवाद प्रतियोगिता	—श्री प्रकाशचन्द जैन
विचार गोष्ठी	—डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल
प्रभात फेरी	—श्री ज्ञानप्रकाश बक्षी
महिला सम्मेलन	—सुश्री प्रीति जैन
जुलूस व झंडा अभिवादन	—श्री हीराचन्द वैद
सांस्कृतिक कार्यक्रम	—श्री तिलकराज जैन
प्रचार समिति	—श्री सुभाष काला

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आभार प्रदर्शन

आज विश्व में हर क्षेत्र में विज्ञापन की महत्ता है—इसके रूप जरूर अलग-अलग हो सकते है, इस माध्यम के आधार से किसी वस्तु का प्रचार जितनी सुव्यवस्थित प्रकार से होगा वह वस्तु उतनी ही अधिक मात्रा में अधिक लोगों द्वारा उपयोग में ली जावेगी—और जो व्यक्तिविशेष उस वस्तु के निर्माण में लगे हुये हैं उन्हें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष में अवश्य लाभ होता है। स्मारिकाऐं भी व्यवस्थित विज्ञापन का एक उचित साधन है।

समाज की लोकप्रिय संस्था राजस्थान जैन सभा जयपुर गत १३ वर्षों से भगवान् महावीर की पावन जयन्ती पर उनके सन्देशों को जन-जन तक पहुँचाने का महान् कृत्य एवं जैन धर्म की प्रभावना का प्रसार कर रही है, जिसकी प्रत्येक क्षेत्र में बड़ी प्रशंसा है, सभा की यह स्मारिका केवल नाम से ही स्मारिका है अपितु यह एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है जिसमें सभी समाज, धर्म के अनुयायियों ने जैनधर्म के सिद्धान्तों पर अपने विचार लेखनी द्वारा प्रकट किये हैं। इस महत्वपूर्ण प्रकाशन के लिये निश्चिय ही विशेष अर्थ की आवश्यकता होती है।

मुझे प्रसन्नता है कि इस महत्वपूर्ण कार्य की उपयोगिता को समझकर विज्ञापनदाताओं ने हमें सदा इस कार्य हेतु प्रशंसनीय सहयोग दिया है, विशेष कर इस क्षेत्र में जो सहयोग इस वर्ष सभा को प्राप्त हुआ है वह अपने आप में एक अनूठा उदाहरण है—इसके लिये हम समस्त विज्ञापन, दाताओं के अत्यन्त आभारी है।

इस कार्य हेतु मैं विज्ञापन समिति के सदस्यों के अलावा श्री राजकुमार काला, श्री तेजकरण सौगानी, श्री वीरेन्द्रकुमार पाण्डया, एवं श्री रतनलाल सा० छाबडा श्री रामचरणजी आदि सहयोगियों का अत्यन्त आभारी हूं। जिन्होंने अपने अथक प्रयास और कठिन परिश्रम एवं निस्वार्थ भाव से इस कार्य में पूर्ण सहयोग दिया— मैं अपने उन सभी साथियों एवं सहयोगियों को हृदय से धन्यवाद अर्पण करता हूँ और कामना करता हूं कि भविष्य में भी इसी प्रकार सहयोग देते रहेंगे।

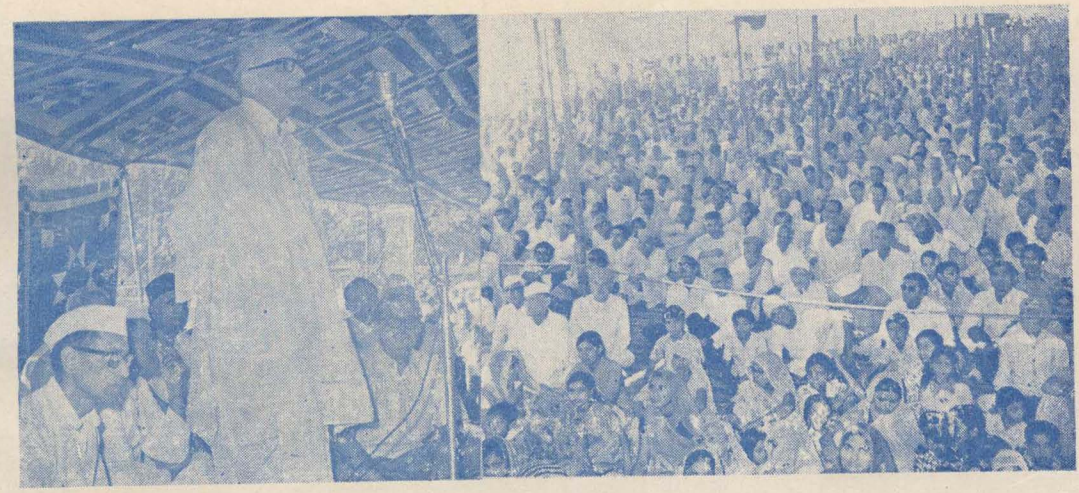
अभिवादन सहित—

रमेशचन्द्र गंगवाल

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्षमापन पर्व समारोह

1975



श्री रामकिशोरजी व्यास अध्यक्ष राजस्थान विधान सभा
रामलीला मैदान में वृहद् सभा को सम्बोधित करते हुए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सन्देश



राष्ट्रपति सचिवालय,
राष्ट्रपति भवन,
भारत

पत्रावली सं० ८ एम–७६

मार्च ३, १९७६

प्रिय महोदय,

राष्ट्रपति जी के नाम दिनांक २८ फरवरी १९७६ का आपका पत्र प्राप्त हुआ। स्मारिका की सफलता के लिये राष्ट्रपति जी अपनी शुभकामनायें भेजते हैं।

भवदीय,
रे. वे. राघवराव
हिन्दी अधिकारी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सन्देश



भारत के उपराष्ट्रपति के सचिव
नई दिल्ली

प्रिय महोदय,

आपका पत्र दिनांक 28 फरवरी 1976 का प्राप्त हुआ, धन्यवाद ।

उपराष्ट्रपति जी को यह जानकर प्रसन्नता हुई कि आप भगवान महावीर जयन्ती के अवसर पर राजस्थान जैन सभा, जयपुर की ओर से एक विशेषांक प्रकाशित करने जा रहे हैं । उपराष्ट्रपति जी आपके इस विशेषांक की सफलता के लिये अपनी हार्दिक शुभ कामनायें भेजते हैं ।

आपका,
वि० फडके

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



रसायन और उर्वरक मंत्री
भारत सरकार
नई दिल्ली–110011
17 मार्च, 1976

सन्देश

यह जानकर मुझे प्रसन्नता हुई कि राजस्थान जैन सभा हर वर्ष की तरह इस वर्ष भी महावीर जयन्ती स्मारिका प्रकाशित कर रही है।

इस यांत्रिक युग में जब मानवता का निरन्तर अवमूल्यन हो रहा है, भगवान महावीर द्वारा दर्शाये गये मार्ग का प्रचार, प्रसार व अनुसरण बहुत आवश्यक है। ऐसी स्मारिकाओं के माध्यम से यह बहुत सुलभ सम्भव होगा।

मैं आपके प्रयास की पूर्ण सफलता की कामना करता हूँ।

भवदीय

प्रकाशचन्द सेठी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



19, अकबर रोड़
नई दिल्ली-110011
19, AKBAR ROAD
NEW DELHI-110011
दिनाङ्क 22 मार्च, 1976

प्रिय बाबूलाल जी,

नमस्कार।

आपका 5-3-76 का पत्र मिला। यह जानकर प्रसन्नता हुई कि भगवान् महावीर की जयन्ती के अवसर पर आप एक स्मारिका प्रकाशित करने जा रहे हैं।

भगवान महावीर ने अहिंसा, समता, संचय न करने और परोपकार की भावना से काम करने के जो संदेश दो हजार वर्ष पहले दिये थे उनका शाश्वत महत्व है और वर्तमान संदर्भ में उनका पालन करके हम राष्ट्र को अधिक परिपुष्ट बनाने में योग दे सकते हैं।

स्मारिका की सफलता के लिये मेरी हार्दिक शुभकामनायें।

आपका

राज बहादुर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



मुख्य मन्त्री
राजस्थान
जयपुर

सन्देश

यह प्रसन्नता का विषय है कि राजस्थान जैन सभा द्वारा महावीर जयन्ती स्मारिका का प्रकाशन किया जा रहा है।

मुझे बताया गया है कि सभा सन् 62 से यह स्मारिका प्रति वर्ष प्रकाशित करती आ रही है। स्मारिका में भगवान महावीर के उपदेश, जैन दर्शन एवं साहित्य पर गवेषणापूर्ण लेख प्रकाशित किये जायेंगे।

हमारे देश में भगवान महावीर की 2500 वीं जयन्ती अभी मनाई गई है। इस दौरान प्रभूत मात्रा में जैन दर्शन और भगवान महावीर के सिद्धान्तों पर साहित्य प्रकाशित किया गया है। आपकी स्मारिका इस शृंखला में एक उपयोगी कड़ी सिद्ध होगी, यह मेरी कामना है।

मैं आपके प्रकाशन की सफलता चाहता हूं।

हरिदेव जोशी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



मुख्यमंत्री, हरियाणा,
चण्डीगढ़

सन्देश

मुझे यह जान कर अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि राजस्थान जैन सभा महावीर जयन्ती के अवसर पर एक स्मारिका का प्रकाशन कर रही है।

भगवान् महावीर स्वामी क्षमा, सत्य और अहिंसा के अवतार थे। उन्होंने मानवता को प्रेम की शिक्षा दी। उन्हें हमारी सच्ची श्रद्धांजलि यही है कि समाज उनके बताए हुए मार्ग पर चलने का व्रत ले।

मुझे आशा है कि स्मारिका में भगवान् महावीर स्वामी की शिक्षाओं, उनके उपदेशों और जैन संस्कृति व जैन धर्म पर सामग्री प्रकाशित की जाएगी तथा उसे एक संग्रहणीय ग्रन्थ का रूप देने का प्रयास किया जाएगा।

शुभकामनाओं सहित,

बनारसी दास गुप्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



स्वास्थ्य मन्त्री,
जयपुर,
राजस्थान
30 मार्च, 1976

सन्देश

यह बहुत ही खुशी की बात है कि आपकी संस्था गत 13 वर्षों से स्मारिका का प्रकाशन करती आ रही है और जो सन्दर्भ ग्रन्थ का स्थान प्राप्त कर चुकी है।

किसी भी प्रकाशन की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि उसके पठन पाठन से समाज को कितना लाभ पहुँचता है। सत्साहित्य की यही पहिचान है। इस दृष्टि से यदि प्रकाशन एवं ग्रन्थ भी अधिकाधिक लोकप्रिय एवं महत्वपूर्ण बनाना है तो उसमें प्रकाशित सामग्री लोकोपयोगी एवं जन कल्याणकारी होनी चाहिए।

आशा है आपकी यह स्मारिका इस दृष्टि से परिपूर्ण होगी।

मैं आपके इस प्रयास की सफलता चाहता हूँ।

भवदीय,

मोहन छांगाणी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सेठ मूलचन्द सोनी मार्ग,
अनोप चौक, अजमेर
9.3.76

श्री बाबूलालजी सेठी,
मन्त्री, राजस्थान जैन सभा, जयपुर
जयजिनेन्द्र

आपका पत्र मिला, पूर्वानुसार राजस्थान जैन सभा ने इस वर्ष भी स्मारिका प्रकाशन का सुनिश्चय किया है, यह अवगत कर प्रसन्नता हुई। भगवान महावीर स्वामी के 2500 वें परिनिर्वाणोत्सव की स्मृति स्वरूप स्मारिका प्रकाशन का महत्व निश्चय ही स्थायी तथा उपयोगी होगा।

स्मारिका का कलेवर सर्वजनोपयोगी तथा गवेषणापूर्ण होना चाहिये ताकि जन साधारण को उसका परिपूर्ण लाभ मिल सके। भगवान महावीर के शाश्वत सिद्धान्तों की आज केवल जैन बांधवों को ही आवश्यकता हो, ऐसी बात नहीं है, समग्र विश्व उन परम कल्याणकारी सिद्धान्तों पर आश्वस्त है। 2500 वें परिनिर्वाणोत्सव का सर्वोपरि लाभ वस्तुतः यही है कि जगत ने पुनः एक बार भगवान महावीर के उन विश्वहितैषी शाश्वत सिद्धान्तों की दुन्दुभि को सुना है।

मेरी हार्दिक भावना है कि आपका प्रकाशन इस दिशा में परिपूर्णता प्राप्त करे और उचित मार्गदर्शन तथा दिशा-बोध प्रदान करे। प्रकाशन की सफलता के लिये हार्दिक शुभकामनायें।

आपका

भागचन्द सोनी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्नेह मिलन समारोह

राजस्थान जैन सभा, जयपुर द्वारा श्री दिगम्बर जैन उच्च माध्यमिक विद्यालय, सी-स्कीम भवन पर आयोजित सामूहिक स्नेह मिलन समारोह के दो दृश्य



लान पर भिन्न-भिन्न परिवार भोजन करते हुए।



★

पं० मिलापचन्द्र शास्त्री ग्रन्थ प्रदर्शिनी का उद्घाटन करते हुए।

★

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुक्रमणिका

प्रथम खण्ड

भगवान् महावीर : जीवन, मनन, चिन्तन और चरण

क्र. सं.	शीर्षक	लेखक	पृष्ठ
१.	मंगलाचरणम् (पायात् सदा नः प्रभुः)	डा. पन्नालाल	१
२.	भगवान् महावीर का जीवन और उपदेश	श्री नन्दकिशोर जैन	३
३.	वीर अवतार (कविता)	श्री रतनलाल गंगवाल	१२
४.	अनेकान्त आलोक में भगवान् महावीर	श्री निहालचन्द जैन	१३
५.	क्षमावीर महावीर	मुनिश्री पार्श्वकुमार	१७
६.	जन्म मंगल गीत (कविता)	डा. बड़कुल 'धवल'	२०
७.	औपनिषदिक महायोगी भगवान् महावीर	आ० रमेशचन्द्र शास्त्री	२१
८.	त्राता महावीर (कविता)	श्री अनोखीलाल अजमेरा	२४
९.	भगवान् महावीर : परम्परा और प्रयोग	डा. देवेन्द्रकुमार शास्त्री	२५
१०.	वीर नहीं महावीर हो गये (कविता)	श्री हजारीलाल 'काका'	३१
११.	भगवान् महावीर और उनके धर्म की समन्वयात्मक पृष्ठ भूमि	श्री रिषभदास रांका	३३
१२.	आत्मद्रष्टा महावीर की जीवनदृष्टि	श्री प्रतापचन्द जैन	४३
१३.	जय महावीर (कविता)	श्री मोतीलाल सुराना	४८
१४.	महावीर के सिद्धान्त, युगीन सन्दर्भ में	डा. सागरमल जैन	४९
१५.	आधुनिक युग को जैनदर्शन का प्रदेय नयवाद और अनेकान्तवाद	डा. कृपाशंकर व्यास	६५
१६.	महावीर का जीवन दर्शन (कविता)	श्री नेमीचन्द गोंद वाले	७०
१७.	समस्याओं के चौराहे और महावीर का अपरिग्रहवाद	रूपवती 'किरण'	७१
१८.	मिथ्यात्व बंध; सम्यक्त्व मुक्ति (कविता)	श्री भगवानस्वरूप 'जिज्ञासु'	७६
१९.	भगवान् महावीर के उपदेश आज के सन्दर्भ में : आत्म शांति	डा. जयकिशनप्रसाद खण्डेलवाल	७७
२०.	महावीर के सिद्धान्त एवं समस्याओं का समाधान	श्री भूरचन्द जैन	८१
२१.	अज्ञानी का भ्रम (कविता)	श्री प्रसन्नकुमार सेठी	८४
२२.	बदलते सन्दर्भों में तीर्थङ्कर	डा. कुसुम पटोरिया	८५
२३.	महावीर वाणी नियम बोलती है (कविता)	श्री लक्ष्मीचन्द्र 'सरोज'	९०
२४.	स्त्री स्वातन्त्र्य और महावीर	डा. श्रीमती राजेश्वरी भट्ट	९१
२५.	महावीर का सन्देश (कविता)	श्री गुलाबचन्द वैद्य	९४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्र. सं.	शीर्षक	लेखक	पृष्ठ
२५.	प्यारा वीर स्वामी (कविता)	श्री भंवरलाल एम. जैन	९५
२६.	समस्याओं के समाधान में भ० महावीर के उपदेशों का सामर्थ्य	श्री सुभाषचन्द्र दर्शनाचार्य	९७
२७.	वसुधा पर उतरे वर्धमान (कविता)	श्री ज्ञानचन्द 'ज्ञानेन्द्र'	१०२
२८.	जैनधर्म में स्त्रियों के अधिकार तथा गोत्र परिवर्तन	पं. परमेष्ठीदास न्यायतीर्थ	१०३
२९.	भगवान् महावीर के सम्बन्ध में कुछ ज्ञातव्य	श्री एस. एम. जैन	१०९
३०.	जगनायक तुम्हें नमन है (कविता)	श्री घासीराम 'चन्द्र'	१११
३१.	जैनधर्म की दृष्टि में हमारा जीवन व्यवहार	श्री प्रकाशचन्द्र 'गोयल'	११३
३२.	अनेकान्त नमन (कविता)	श्री मूलचन्द पाटनी	११८
३३.	खुली आंख से दृश्य दीखते....	डा. महेन्द्रसागर प्रचण्डिया	११९
३४.	कुछ मुक्तक	डा० सुरेशचन्द जैन	१२०
३५.	अपरिग्रह या श्रमनिष्ठा	श्री जमनालाल जैन	१२१
३६.	जैनदर्शन में भावनाविषयक चिन्तन	डा. शान्ता भानावत	१२५
३७.	सम्पूर्णता की राह में बाधक : क्रोध	डा. हुकमचन्द 'भारिल्ल'	१३३
३८.	महावीर सन्देश सुनें तो संकट पास न आयें (कविता)	श्री कल्याणकुमार 'शशि'	१३६
३९.	अपरिग्रह के नये क्षितिज	डा. प्रेमसुमन	१३७
४०.	आवाज सुनी भाग गया (कविता)	पं. उदयचन्द्र 'प्रभाकर'	१४२
४१.	महावीर संस्तवन (कविता)	पं. नाथूराम डोंगरीय	१४३
४२.	आत्मा चिन्तामणि है	श्री ज्ञानमती माताजी	१४५
४३.	जैनदर्शन में समन्वय भावना	डा. नरेन्द्र भानावत	१४९
४४.	सन्मति का समन्वयात्मक सिद्धान्त स्याद्वाद	डा. कन्छेदीलाल	१५३
४५.	इंसां कहाने का (कविता)	डा. विजय जैन 'आनन्द'	१५६
४६.	महावीर का दिगम्बरत्व	डा. निजामउद्दीन	१५७
४७.	वृक्ष विंशतिका (कविता)	पं. प्रेमचन्द 'दिवाकर'	१५९
४८.	जैनदर्शन में जीव का स्वरूप	कुमारी प्रीति जैन	१६१
४९.	युग की चाल (कविता)	कुंवर प्रेमिल	१६७
५०.	अहिंसा के अंकुर	श्री शर्मनलाल 'सरस'	१६८
५१.	जैन दृष्टि	डा. इन्द्रचन्द्र शास्त्री	१६९
५२.	पञ्च मुक्तक (कविता)	श्री लाड़लीप्रसाद जैन	१७२
५३.	भगवान् महावीर और उनका सन्देश	प्रो. सिताबचन्द सोमानी	१७३
५४.	भगवान् महावीर की अहिंसा का असली रूप	श्री ब्योहार राजेन्द्रसिंह	१७५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्वितीय खण्ड

१. अहिंसाया : पूर्वपीठिका	पं० अमृतलाल शास्त्री	१
२. सन्देश काव्यों में पार्श्वाभ्युदय का स्थान	डा० रमेशचन्द्र जैन	३
३. आत्म विजेता महावीर (कविता)	श्री राजमल बेगस्या	११
४. मानवता की ज्योति जगादे (कविता)	श्री अनूपचन्द न्यायतीर्थ	१२
५. सांगानेर में रचित अज्ञात जैन महाकाव्य स्थूलभद्र गुणमाला	डा० सत्यव्रत	१३
६. चारित्र (कविता)	श्री राजमल बेगस्या	२०
७. अहिंसा के तीन प्रमुख प्रचारक	श्री हीरालाल जैन 'कौशल'	२१
८. हिन्दी वाङ्मय में तीर्थङ्कर महावीर	डा० लक्ष्मीनारायण दुबे	२५
९. क्षणिकाएं (कविता)	श्री विमल जैन	३९
१०. मानव (कविता)	श्री मंगल जैन 'प्रेमी'	४०
११. अपभ्रंश साहित्य में महावीर	डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल	४१
१२. दक्षिण भारत में जैनधर्म का प्रवेश	श्री रमाकान्त जैन	४५
१३. क्षणिकाएं (कविता)	श्री सुरेश 'सरल'	४७
१४. और चिता पर चढ़ जाता है (कविता)	डा० विजय जैन 'आनन्द'	४८
१५. शाहदरा की रत्नत्रय चतुर्विंशतिका	श्री कुन्दनलाल जैन	४९
१६. 'पउम चरियं' में महावीर चरित्र और उपदेश	श्री अगरचंद नाहटा	५१
१७. नागार्जुन की जैन गुफा	श्री नीरज जैन	५५
१८. खारवेल का हाथीगुम्फा अभिलेख	श्री नीरज जैन और डा० अग्रवाल	५९
१९. बीमार मौत (कविता)	श्री अशोक जैन	६४
२०. एक रोचक जिन-बिम्ब	श्री शैलेन्द्र कुमार रस्तोगी	६५
२१. दहेज के चहेतों से (कविता)	कुमारी ऊषा किरण	६७
२२. मिटाने (कविता)	श्री रमेशचन्द जैन	६८
२३. राजस्थान का इतिहास और पुरातत्त्व	श्री दिगम्बरदास जैन	६९
२४. संत तारणतरण की क्रान्तिकारी अभीप्सा	श्री राजधर जैन 'मानसहंस'	७७
२५. पं० सदासुखजी का निधन स्थल अजमेर या बैराठ	विद्यावारिधि डा० ज्योतिप्रसाद जैन	७९
२६. छेड़ दो	श्री रमेशचन्द्र 'बांभाल'	८२
२७. आत्मधर्मी जैनाचार्य जवाहर की राष्ट्रधर्मी भूमिका	डा० इंदरराज बैद	८३
२८. मुक्तक	श्री आनन्द जैन	८६
२९. त्रिविक्रम कथा के जैन स्रोत और रूपान्तर	श्री रमेश जैन	८७
३०. महावीर ने बार-बार कहा है	डा० भागचन्द जैन भास्कर	९१
३१. ऐतिहासिक महापुरुष भ० नेमिनाथ और उनका काल–निर्णय	वैद्य प्रकाशचन्द 'पांड्या'	९३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तृतीय खंड

1.	सम्यक् दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः	श्री प्रवीणचन्द्र छाबड़ा	1
1.	आचार्य कुंदकुंद : एक व्यक्तित्व	श्री प्रकाश हितैषी शास्त्री	2
3.	कोई सुनेगा ?	श्री उदयचन्द, 'प्रभाकर शास्त्री	7
4.	बटवारे के क्षण	श्री सुरेश 'सरल'	10
5.	चर्या के दर्पण में चर्चा के चहरें	श्री मगनलाल 'कमल'	14
6.	करेगा सो भरेगा	श्री मोतीलाल सुराना	16
7.	साहित्य-समीक्षा		17
8	भगवान् महावीर के जन्म, दीक्षा केवल प्राप्ति एवं मोक्षधाम की अंग्रेजी तारीखें।	श्री प्यारेचन्द महता	25

---

sactson-IV English अंग्रेजी भाषा विभाग

1.	Mahavira on Individual and His Social Responsibility.	*Dr. Kamal chand Sogani.*	1
2.	Mahavira's Doctrine of Ahimsa and its Impact.	*Dr. S. M. Pahasiya.*	5
3.	Jaimism V/S Atheism.	*Dr. Om Prakash Sharma.*	11
4.	Voice of Saints.	*Shri Mool Chand Patni Bombay.*	14
5.	The Non-absolutistic Attitudes and their Relevance in Jainsim and Budhism.	*Dr. Ramjee Singh, Bhagalpur.*	15
6.	Word and Meaning the Jaina' point of view.	*Dr. Harendra Prasad Verma, Bhagalpur.*	19
7.	Historical Role of Jainism in Malwa.	*Kailash chand Jain.*	

पंचम खंड

विज्ञापन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रथम खण्ड

भगवान् महावीर

[जीवन, मनन, चिन्तन और चरण]

महावीर जयन्ती स्मारिका, 1976

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



卐 मंगलाचरणम् 卐

★

पायात् सदा नः प्रभुः

(शार्दूलविक्रीडितम्)

१

यद्गर्भस्य महोत्सवे सुरचयैराकाशसंपातितै—
र्नानावर्णधरैर्विचित्रमणिभिः संछादितं भूतलम् ।
शुम्भद्रूपधरैस्तदीयसुगुणै रेजे यथा लाञ्छितं
स श्रीवीरवरो वितुङ्गहृदयः पायात् सदा नः प्रभुः ।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२

प्रोत्तुङ्गे सुरशैलशस्यशिखरे क्षीरोदधेराहृतै—
श्चञ्चच्चन्द्रकलाकलापतुलितैरम्भोभिरानन्दिताः।
जातं यं परिसंगताः सुरवराः संसिक्तवन्तः स्वयं
स श्रीवीरवरो वितुङ्गहृदयः पायात्सदा नः प्रभुः ।।

३

नो नित्यं जगतीतले किमपि हा हा विद्यते कुत्रचित्
सर्वं कालकरालकण्ठकलितं सर्वत्र संदृश्यते।
इत्थं भोगशरीरशून्यहृदयो यः काननेष्वातपत्
स श्रीवीरवरो वितुङ्गहृदयः पायात्सदा नः प्रभु ।।

४

यस्य ज्ञानदिवाकरेण दलितं संतामसं सन्ततं[1]
नो लेभे वसुधातले क्वचिदपि स्थानं भ्रमत्सन्ततम्[2] ।
लोकालोकपदार्थबोधनकरः सद्देशनातत्परः
स श्रीवीरवरो वितुङ्गहृदयः पायात्सदा न : प्रभुः ।।

५

ध्यानासिप्रहताखिलारिनिचयः स्वाधीनतां प्राप्नुवन्
स्वच्छाकाशनिकाशचेतनगुणञ्चासाद्य यः स्वात्मना।
लेभेऽनन्तमनश्वरं सुखवरं स्वात्मोद्भवं स्वात्मनि
स श्रीवीरवरो वितुङ्गहृदयः पायात्सदा नः प्रभुः ।।

☐ डा० पन्नालालः साहित्याचार्यः

---

१. समन्ताद्व्याप्तं २. निरन्तरं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भगवान् महावीर ने जिस समय इस वसुंधरा को अपने जन्म से पावन किया उस समय विश्व की परिस्थितियां कैसी थीं, किन समस्याओं से उसे जूझना पड़ रहा था किस प्रकार हिंसा राक्षसी का ताण्डव हो रहा था यह सब बताते हुए विद्वान् लेखक ने भगवान् महावीर के जीवन का अति संक्षिप्त परिचय देते हुए उन द्वारा उपदिष्ट मार्ग का साररूप में दिग्दर्शन अपने इस निबंध में किया है। उसने भगवान् महावीर के उपदेशों को तीन भागों में बांटा है—

१. मनन चिंतन के लिए, २. अभ्यास के लिए तथा ३. लोक में सुखशांति हेतु आचरण के लिए।

वास्तव में भगवान् महावीर ने उपदेश दो बिन्दुओं को दृष्टि में रखते हुए दिए। एक व्यक्ति को इकाई मान कर उसके पूर्ण आत्मोत्थान के लिए और दूसरे व्यक्ति को सामाजिक प्राणी मानते हुए विश्वशांति के लिए। उन्होंने बताया कि व्यक्ति समाज में किसी अन्य को बाधा पहुंचाये बिना किस प्रकार अपने आचरण से अपना और पर का कल्याण कर सकता है। स्व कल्याण में पर कल्याण और पर कल्याण में स्व कल्याण अन्तर्निहित है।

—प्र० सम्पादक

भगवान् महावीर का जीवन एवं उपदेश

● श्री नन्दकिशोर जैन, एम० ए०,
संपादक 'ज्ञान-कीर्ति' चौक, लखनऊ

धार्मिक पुनर्जागरण की दृष्टि से ईसा पूर्व छठी शताब्दी विश्व के इतिहास में अभूतपूर्व तथा चिरस्मरणीय है। उस समय संसार के अनेक भागों में अनेक महानात्माओं ने शोषित, पीड़ित, व्याकुल मानवता को स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार सुख-शांति का मार्ग बताया। लाओत्से, कन्फ्यूशियस, पाइथागोरस आदि ने विश्व के अन्य भागों में शान्ति से जीने की कला का उपदेश दिया तो भारत में बुद्ध तथा महावीर ने युग की पीडा को पहिचाना तथा जनता के दुखों की सह-अनुभूति कर उसे उद्धार का मार्ग बताया।

एस समय भारत में सर्वत्र हिंसा तथा स्वार्थ का बोलबाला था। यज्ञों में पशुओं तथा कभी-कभी मनुष्यों तक की बलि धर्म के नाम पर की जाती थी। जनता धर्म के बाह्याडम्बरों, अन्ध विश्वासों, मन्त्र-तन्त्र, सामाजिक कुरीतियों, दासप्रथा आदि के कारण अति दुखी थी। स्वार्थपरता तथा देहात्म-बुद्धि के कारण अधिकाधिक भोग-उपभोग सामग्री जुटाने तथा पंचेन्द्रिय विषयों को तृप्त करने में ही लोग सुख मानते थे। दैहिक, दैविक एवं भौतिक किसी भी प्रकार की विपरीत परिस्थिति उत्पन्न होने पर लोग अत्यन्त व्याकुल और दुखी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होते थे। ऐसे विकट समय में लिच्छवि गणतन्त्र की राजधानी वैशाली के क्षत्रिय कुण्ड ग्राम या कुण्डलपुर (विहार) के नाथवंशी राजा सिद्धार्थ की रानी त्रिशला, जो इतिहास प्रसिद्ध वैशाली के राजपरिवार से सम्बन्धित थी, की कुक्षि में जैन धर्म के चौबीसवें तीर्थंकर भगवान् महावीर का अवतरण आसाढ़ सुदी ६, ई० पू० ६०० में हुआ। उनके गर्भावतरण के समय माता त्रिशला को ऐरावत हाथी, वृषभ, सिंह, लक्ष्मी, दो पुष्पमालाएँ, पूर्णचन्द्र, उदीयमान सूर्य, स्वर्णकलश, सरोवर, दो मछली, लहराता समुद्र, स्वर्णिम सिंहासन, देव विमान, नाग भवन, रत्नराशि, धूम्रविहीन अग्नि आदि सोलह स्वप्न हुए।

तत्पश्चात् माता त्रिशला ने एक हाथी को मुख में प्रवेश करते देखा। प्रातः राजा सिद्धार्थ ने, जो स्वप्न विज्ञान के ज्ञाता थे, सब स्वप्नों का फल अलग-अलग स्पष्ट करते हुए बताया कि हाथी के मुख प्रवेश के अनुसार त्रैलोक्य के नाथ, दुखियों के उद्धारक महान् तीर्थंकर का जीव उनके गर्भ में आ गया है। इन अवसरों पर नगर में रत्नों की वर्षा आदि हुई जिसका बड़ा ही मनोहारी वर्णन जैनागम में मिलता है। इस गर्भावतरण की घटना को भगवान के गर्भ कल्याणक के नाम से अभिहित किया जाता है।

गर्भ काल व्यतीत होने पर यथा समय मिती चैत्र शुक्ला त्रयोदशी ई० पू० 599 को भगवान् महावीर का जन्म हुआ। इन्द्रादि देवों ने सुमेरु पर्वत पर ले जाकर उनका जन्माभिषेक महोत्सव मनाया। उस समय राजा सिद्धार्थ के वैभव, महिमा, मान-प्रतिष्ठा आदि में अत्यन्त वृद्धि होने के कारण शिशु का नाम वर्द्धमान रखा गया। तदुपरान्त उनके जीवन में घटित कतिपय घटनाओं के कारण समय-समय पर उन्हें सन्मति, वीर, अतिवीर तथा महावीर आदि नामों से पुकारा गया। उनके ये सब नाम उनके गुणों के सूचक हैं।

बालक वर्द्धमान बचपन से ही अत्यन्त रूपवान, धीर, गम्भीर तथा चिंतनप्रिय थे। उनके बचपन की अनेक वीरत्वपूर्ण घटनाओं का शास्त्रों में उल्लेख मिलता है। खेलते में एक बार अचानक एक विषधर सर्प को देखकर अन्य बालक डर कर भाग गए, पर महावीर तनिक भी नहीं डरे। एक बार संजय और विजय नामक दो मुनियों को किसी विषय में संदेह हुआ जो महावीर को देखते ही दूर हो गया, तब उन्होंने वीर को 'सन्मति' नाम दिया। इस प्रकार जो भी उनके सम्पर्क में आता उनसे अवश्य प्रभावित होता।

यद्यपि उनके चारों ओर वैभव एवं भोगोपभोग की सामग्रियों का बाहुल्य था परन्तु उनकी मनोवृत्ति प्रारम्भ ही से वैराग्य की ओर थी। उन्हें जग के भोग निस्सार प्रतीत होते थे। यह संसार क्या है? मनुष्य दुखी क्यों है? मानव जीवन का उद्देश्य क्या है? शाश्वत सुख किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है? आदि प्रश्न उनके मस्तिष्क में उठा करते थे। भगवान् महावीर के करुणार्द्र हृदय में मानव ही नहीं जीव-मात्र की पीड़ा की सहानुभूति थी। यद्यपि संसार ने उनके सामने साधारण गृहस्थों के समान जीवन व्यतीत करने के प्रलोभन रखे परन्तु वे उनमें न फँसे तथा लगभग 30 वर्ष की अवस्था में मंगसिर कृष्ण पक्ष, दसमी सन् 569 ई० पू० के दिन उन्होंने पंचमुष्ठी केशलोंच कर जिन दीक्षा ग्रहण की। उन्होंने गहन चिंतन के द्वारा संसार के दुःखों के कारणों की खोज की। दीर्घ तपस्या के असीम परिषहों को सहने के उपरान्त जब वे पूर्ण रूप से सन्तुष्ट हो गए तब उन्होंने दुखों को दूर करने के उपायों का उपदेश दिया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उन्होंने अनुभव किया कि जब तक व्यक्ति शरीर को ही 'स्वयं' या आत्मा मानता रहेगा उस समय तक शरीर के लिए भोगोपभोग जुटाने की होड़ा-होड़ी चलती रहेगी। ऐसे संघर्ष में वास्तविक सुख–शान्ति दुर्लभ है। अतएव उन्होंने निवृत्ति-परायण वैराग्य मार्ग का उपदेश देते हुए सांसारिक सुख-दुखों को क्षणिक तथा अवास्तविक बताया तथा शाश्वत सुख-शान्ति हेतु व्यक्ति को सहिष्णुता तथा आत्म-बुद्धि का संदेश दिया। उन्होंने सम्पत्ति तथा भोगोपभोग के साधनों को जुटाने की होड़ के स्थान पर त्याग की होड़ का उपदेश दिया। जब व्यक्ति यह कहने तथा अनुभव करने लगेगा कि अन्य अमुक व्यक्ति से कहीं कम परिग्रह होते हुए भी मैं कहीं अधिक सुखी हूं तभी संसार में वास्तविक सुख-शान्ति की प्रतिष्ठापना होगी। लगभग 12 वर्ष की कठोर तपस्या के उपरान्त भगवान महावीर को वैशाख सुदी 10 के दिन ऋजुकूला नदी के तट पर केवलज्ञान प्राप्त हुआ। केवलज्ञान प्राप्ति के 65 दिन पश्चात् सावन बदी 1 के उषा काल में राजगृह के विपुलाचल पर्वत पर प्राणिमात्र के लिए प्रथम उपदेश दिया। उपरान्त 30 वर्ष तक भगवान् महावीर ने पैदल ही सारे भारत में विहार करके लोक-कल्याण के लिए अपने अनमोल उपदेश दिए। अन्त में लगभग 72 वर्ष की आयु में पावापुरी (बिहार) में ई० पू० 527 में भगवान् महावीर ने निर्वाण प्राप्त किया। कार्तिक कृष्ण अमावस्या की वह तिथि जिस दिन महावीर सदा सर्वदा के लिए, लोक कल्याण का मार्ग दिखाकर सांसारिक आवागमन से मुक्त हो गये दीपावली के रूप में चिरस्मरणीय हो गई।

भगवान् महावीर के उपदेशों को हम तीन प्रमुख श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं :—

1. मनन तथा चिंतन करने के लिए
2. अभ्यास करने के लिए
3. लोक में सुख-शान्ति हेतु आचरण के लिए।

लोक में प्राणिमात्र के कल्याण हेतु व्यक्ति को इसी क्रम से अग्रसर होने की आवश्यकता है। मनन एवम् चिंतन के द्वारा इस शरीर तथा संसार की नश्वरता के विचार पुष्ट होते हैं तथा व्यक्ति की दृष्टि शरीर से हटकर आत्मिक सुख-शान्ति की ओर केन्द्रित होती है। अभ्यास के द्वारा सांसारिक प्रतिकूलताओं में भी दुःखानुभूति न होने की शक्ति बढ़ती है। इन दो प्रकार की बातों का उपदेश जैन धर्म की प्रमुख विशेषताओं में है। लोक-व्यवहार में सुख-शांति हेतु आचरण के लिए अन्य धर्मों में भी उपदेश हैं परन्तु महावीर के उपदेशों में उन्हें पूर्णता तथा चरम सीमा प्रदान की गई है। आचरण हेतु नियमों को दो भागों में बांटा गया है :—

1. अणुव्रत—अर्थात् अंश रूप में व्रतों के पालन का उपदेश गृहस्थों के लिए है। गृहस्थों या श्रावकों की आत्मिक उन्नति तथा नियम व्रतादि की क्रम से 11 श्रेणियां निर्धारित की गई हैं जिन्हें 11 प्रतिमाएँ कहते हैं।

2. महाव्रत—साधुओं तथा गृहत्यागी मुनियों के लिए व्रतों का सर्वांग में चरम सीमा तक पालन करना आवश्यक है। आत्मा की निर्मलता तथा रागद्वेषादि मनोविकारों के परिहार की दृष्टि से 14 गुणस्थानों का वर्णन है।

एक अहिंसा अणुव्रती श्रावक अपने विरोधी का विरोध कर सकता है। यद्यपि वह संकल्पी हिंसा नहीं करेगा तथा आरम्भी (व्यापारादि में) हिंसा से बचेगा परन्तु एक महाव्रती मुनि अपने पीड़क के प्रति मन में भी बुरी भावना नहीं ला सकता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपरोक्त तीनों प्रकार के उपदेशों की संक्षिप्त रूपरेखा निम्न है :—

1. मनन तथा चिंतन हेतु—इनके अन्तर्गत विशेष रूप से 12 अनुप्रेक्षाओं तथवा भावनाओं का निरन्तर चिंतन करने की आवश्यकता बताई :—

(1) **अनित्य भावना**—इन्द्रियों के विषय, धन वैभव, जीवन आदि जल के बुलबुले के समान क्षणभंगुर हैं।

(2) **अशरण भावना**—इस संसार में कष्ट तथा मृत्यु से बचाने में कोई सहायक नहीं हो सकता।

(3) **संसार भावना**—संसार के कष्टों तथा नश्वरता का विचार करना।

(4) **अन्यत्व भावना**—शरीर से मैं भिन्न हूं जैसे तिल से उसकी भूसी अलग होती है।

(5) **एकत्व भावना**—संसार में अनादि काल से मैं अकेला हूं। वास्तव में कोई अपना पराया नहीं है। धर्म ही केवल सहायक है।

(6) **अशुचि भावना**—यह शरीर खाल मढ़ी होने के कारण ऊपर से ही कुछ अच्छा लगता है। अन्दर अत्यन्त घृणित तथा अपवित्र है।

(7) **आस्रव भावना**—कर्मों के अनुसार निरन्तर कर्म वर्गणाएं इस आत्मा के साथ चिपक कर संसार भ्रमण में कारण होती हैं।

(8) **संवर भावना**—शुद्ध भावों के द्वारा उन कर्म वर्गणाओं का आना रोका जा सकता है।

(9) **निर्जरा भावना**—क्रमशः शुद्ध भावों की पूर्णता होने पर पूर्वबद्ध कर्मों का अभाव होकर मोक्ष प्राप्ति हो सकती है।

(10) **लोक भावना**—लोक के आकार आदि का विचार करना। जिसमें यह जीव अनादि काल से भ्रमण कर रहा है।

(11) **बोधि दुर्लभ भावना**—वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति बहुत दुर्लभ है। ज्ञान प्राप्त होने पर विषय भोगों में व्यर्थ समय नहीं खोना चाहिए।

(12) **धर्मस्वाख्यात भावना**—अर्हन्त भगवान् द्वारा उपदिष्ट धर्म मार्ग पर चलना मोक्ष प्राप्ति का साधन है।

इन बारह भावनाओं के अतिरिक्त पंच पापों से बचने तथा पुण्य कार्यों में प्रवृत्ति लगाने के लिए भी अनेक प्रकार की भावनाओं के मननचिंतन का उपदेश दिया। इनके द्वारा मनुष्य के मन में आगे वर्णित दश-धर्म तथा परिषह जय आदि के लिए भूमि तैयार हो जाती है।

2. अभ्यास करने के लिए :—मनुष्य छोटे-छोटे कष्टों तथा प्रतिकूलताओं में व्याकुल हो जाता है। ऐसी प्रतिकूलतायें जीवन में अनिवार्य रूप से आया ही करती हैं। इन्हें सहन करने का अभ्यास हो जाने पर कष्ट नहीं होता। उन्होंने आत्म-संयम, अप्रमाद (जागरूकता) और कषायों (क्रोध, मान, माया, लोभ) को जीतने तथा समत्व का अभ्यास करने का उपदेश दिया। भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी मच्छरादि के काटने की पीड़ा आदि 22 प्रकार की परिषहों (कष्टों) को सहन करने का उपदेश दिया। इन परिषहों के सहने का क्रमशः अभ्यास होने पर मन की सुख-शांति निरंतर बढ़ती जाती है। उक्त चारों कषाय (आत्मा को कसने वाली या आत्मा के लिए कषा-कोड़े की चोट के समान पीड़ादायक) क्रोध, मान, माया, लोभ को रोकने का यथासंभव अभ्यास करना चाहिए। दश-धर्म :- उत्तम क्षमा, मार्दव (मृदुता), आर्जव (सरलता), शौच (लोभ न होना), सत्य, संयम तप, त्याग,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आकिंचन (शरीरादि से ममत्व न रखना) तथा ब्रह्मचर्य का भी अभ्यास सुख-शांति की वृद्धि में सहायक होता है।

3. आचरण के लिए—मुख्य रूप से पांच पापों से बचने, तथा सात व्यसनों को त्यागने का उपदेश दिया।

(1) **पांच पाप**—हिंसा (दूसरे को पीड़ा पहुंचाना), झूठ, चोरी, कुशील (अब्रह्मचर्य) तथा परिग्रह (आवश्यकता से अधिक वस्तुएं रखना)

(2) **सप्त व्यसन**—वैसे तो व्यसन (किसी कार्य को बार-बार करने की आदत) अनेक हैं। वे अच्छे या बुरे हो सकते हैं। जैसे विद्या-व्यसनी होना अच्छा है परन्तु बुरे अर्थ में सात प्रमुख-व्यसनों का निषेध विशेष रूप से किया :—

जुआ खेलना, मांस खाना, शराब पीना, वेश्यागमन, शिकार खेलना, चोरी करना, परस्त्री-सेवन करना—ये सात व्यसन महादुःखकारक हैं अतएव इनसे बचना चाहिए।

उक्त सर्वोपकारी नियमों के अतिरिक्त भगवान् महावीर ने 3 प्रमुख अद्वितीय सिद्धांतों का उपदेश दिया जो जैनधर्म की प्रमुख तथा अपूर्व विशेषताएँ हैं। कर्म-सिद्धांत, अपरिग्रह तथा स्याद्वाद का जैसा वैज्ञानिक तथा सूक्ष्म विवेचन महावीर ने किया वैसा अन्यत्र दुर्लभ है :—

(1) **कर्म सिद्धांत**—कर्म के अनुसार फल को तो बहुत से मतावलम्बी स्वीकार करते हैं, परन्तु कोई कर्म के अनुसार ईश्वर द्वारा फल देना मानते हैं, कोई भाग्य से। जैन धर्म में कर्म फल को वैज्ञानिक रूप दिया गया। यह जगत् अनादि अनन्त है। इसे किसी ने बनाया नहीं है। प्रत्येक सांसारिक आत्मा अनादिकाल से कर्म बन्धन में बद्ध होने के कारण आवागमन के चक्र में फँसी हुई चार गतियों—देव, मनुष्य, तिर्यंच (मनुष्येतर प्राणी) तथा नरक में भ्रमण कर रही है। शुभ कार्यों से प्राणी उच्च गतियों को तथा अशुभ कार्यों से मन के भावों के अनुसार नीच गतियों को मरणोपरांत प्राप्त होता है। शुभ–अशुभ दोनों प्रकार के भावों से भी ऊपर उठकर जब प्राणी की आत्मा अपने शुद्ध स्वभाव में रमण करने लगती है तभी उसे शाश्वत मोक्ष पद सम्भव है जहां उसे अनन्त चतुष्टय (अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त वीर्य तथा अनन्त सुख) की प्राप्ति होती है।

यह संसार अनंतानंत कार्माण-वर्गणाओं (कर्म रूप में परिवर्तित हो सकने की योग्यता वाले पुद्गल-अणुओं) से भरा है। आत्मा और कर्म का अनादि सम्बन्ध है। कर्म से ही आत्मा का बन्ध होता है। मन की प्रवृत्ति के अनुसार कर्म-वर्गणाएँ आत्मा की ओर चुम्बक के प्रति लोहे की भांति आकृष्ट होती है। इसे 'कर्म-आस्रव' कहते हैं। कर्मों का आत्मा में घुलमिल कर उसे आच्छादित कर लेना ही 'कर्म-बंध' कहलाता है। जब इच्छाओं का निरोध कर आत्मा अपने स्वभाव में रमण करने को उन्मुख होता है तो नये कर्मों का आना रुक जाता है इसे 'संवर' कहते हैं। जिस प्रकार सुनार सोने को तपा कर सोने में मिली हुई अन्य धातुओं को सोने से अलग कर देता है उसी प्रकार विशेष तप तथा नियमादि के पालन से पुराने बंधे हुए कर्म भी क्रमशः आत्मा से छूटने लगते हैं; इसे 'कर्म निर्जरा' कहते है। अन्त में आत्मा के अपने पूर्ण निर्मल स्वरूप को प्राप्त कर समस्त प्रकार के कर्मों से छूट सांसारिक आवागमन के चक्र से मुक्त हो, लोक के अंत में सदैव के लिए अवस्थित हो जाने को 'मोक्ष' कहते हैं। आत्मा के साथ कर्मों का आस्रव, बंध, संवर और निर्जरा (Automatic) रूप से निरंतर चलती रहती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष–इन सात तत्त्वों पर दृढ़ श्रद्धा हो जाने को सम्यक्दर्शन कहते हैं। सम्यक्दर्शन की ओर उन्मुख व्यक्ति का आचरण भी उत्तरोत्तर निर्मल तथा उन्नत होता जाता है। 'सम्यक्दर्शन' ही मोक्ष प्राप्ति की पहली सीढ़ी है।

कर्म 8 प्रकार के बताए गये हैं :—

1. **ज्ञानावरण कर्म** :—आत्मा की ज्ञान शक्ति को ढके रहना है।

2. **दर्शनावरण कर्म** :— दर्शन शक्ति (सामान्य बोध) को प्रकट नहीं होने देता।

3. **वेदनीय कर्म** :—सुख-दुख का अनुभव कराते हैं। इनके दो प्रकार हैं। सुखानुभूति कराने वाले सातावेदनीय तथा दुःखानुभूति कराने वाले को असातावेदनीय कहते हैं।

4. **मोहनीय कर्म**— मोह उत्पन्न करता है। इसके भी दो भेद हैं :—

(1) **दर्शन मोहनीय** :—तत्व दृष्टि को आवृत्त करता है :—

(2) **चारित्र मोहनीय** :—सम्यक्चारित्र के पालन में अवरोधक है।

5. **आयु कर्म** :—इससे आयु निश्चित होती है।

6. **नाम कर्म** :—अच्छा या बुरा शरीर, रूप, स्वरादि तथा यश अथवा अपयश में कारण होता है।

7. **गोत्र कर्म** :—ऊँच या नीच वृत्ति के कुलों में जन्म होने में कारण होता है।

8. **अन्तराय कर्म** :—दान लाभ, भोग-उपभोग आदि में विघ्नकारक होता है। ऊपर बताये हुये कर्मों के बंध होने के 4 भेद हैं :—

(1) **प्रकृति बंध** :—प्रकृति का अर्थ है स्वभाव। अर्थात् उपर्युक्त 8 प्रकार के कार्यों में किस प्रकृति या स्वभाव के कर्म का बंध हुआ। अथवा उस बंध से क्या हानि होगी।

(2) **स्थिति बंध** :—इसके अनुसार यह निर्धारित होता है कि अमुक कर्म जीव के साथ कितने समय तक संयुक्त रहेंगे। अर्थात् काल मर्यादा का निर्णय ही स्थिति बंध है।

(3) **अनुभाग बंध** :—कर्म कितना सामर्थ्यवान् या शक्तिशाली है। कभी इसकी शक्ति तीव्र विष के समान हो सकती है तो कभी हल्की मदिरा के समान। यह तीव्र मंद सामर्थ्य अनुभाग बंध है।

(4) **प्रदेश बंध** :—कर्म रूप में परिणत होने वाले पुद्गलों का अपने स्वभाव के अनुसार आत्मा के भिन्न-भिन्न प्रदेशों में विभक्त हो जाना ही प्रदेश बंध है।

2. **अपरिग्रह**:—विश्व में अशांति का एक बहुत बड़ा कारण भोगोपभोग की तीव्र लालसा तथा अधिकाधिक संचय की वृत्ति है। उत्पादन की एक सीमा है परन्तु भोगेच्छा असीम है। वास्तव में मानव की असीम इच्छाओं और तृष्णा की विभीषिका ही परस्पर कलह तथा संघर्ष का कारण बनती है। हमने सुख बाह्य वस्तुओं में मान लिया है और हमारी विकृत मनोदशा इस भोग प्रधान विश्व में चारों ओर फैली हुई परिस्थितियों के कारण और भी वेग से भोगोपभोग की ओर दौड़ती है। भोगों की प्राप्ति के लिए हमें दूसरों से संघर्ष की स्थिति में रहने तथा भोग्य वस्तु की निरंतर चिंता करने को बाध्य होना पड़ता है। उससे व्याकुलता बढ़ती है और निराकुलता जो कि वास्तविक सुख है हमसे दूर होती जाती है। उदाहरण के लिए मान लीजिए हमने कोई भी विलासिता की वस्तु किसी न किसी प्रकार धन संचय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर खरीदी। अब उसके रखरखाव, बिगड़ने, चोरी जाने, खबर होने आदि की अनेक चिंताएं भी उसके साथ ही मोल ले ली। दूसरों की ईर्ष्या के पात्र भी हुए। ऐसी परिस्थिति में वास्तविक सुख कहां? भगवान महावीर ने इसी कारण समस्त मानवता के सुख के लिए 'अपरिग्रहवाद' का उपदेश दिया जिसकी प्रारंभिक सीढ़ी 'परिग्रहपरिमाण व्रत' है। इसके अनुसार मानव को अपनी आवश्यकताओं की एक सीमा निर्धारित कर उसमें पूर्ण संतुष्ट रहना चाहिए। वास्तव में अपरिग्रह की चरम परिणति ही दिगम्बरत्व है जहां लंगोटी तक से ममत्व नहीं रह जाता। परन्तु सांसारिक अधिकांश मानवों को उस मनःस्थिति के वास्तविक पूर्ण सुख को प्राप्त करने के लिए 'परिग्रहपरिमाण व्रत' के द्वारा अपनी आवश्यकताओं को क्रमशः घटाने का अभ्यास करना चाहिए। अपनी भोगोपभोग की वस्तुओं की संख्या तथा सीमा बांध कर ही हम अपने इन्द्रिय विषयों एवं कषायों पर नियंत्रण कर सकते हैं। यह स्वेच्छया परिमाण परिणति ही अपरिग्रहवाद है। यह भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट समाजवाद का उपाय है। आज समाजवाद के द्वारा इसी की चेष्टा की जा रही है परन्तु बलात्। जो काम अंतरंग इच्छा से किया जाता है वही वास्तविक सुखानुभूति का कारण बन सकता है। बरबस किसी बाह्य शक्ति के द्वारा बलपूर्वक लादा हुआ नियंत्रण सुखानुभूति नहीं करा सकता। इस कारण प्रत्येक व्यक्ति को स्वतः ही अपनी इच्छाओं तथा आवश्यकताओं को सीमित करते हुए वास्तविक सुख-शांति का मार्ग प्रशस्त करना चाहिए।

सुख तो अंतरंग में है; बाह्य पदार्थों में सुख कहां? बाह्य पदार्थों में सुख खोजना बालू में से तेल प्राप्ति की आशा के समान निरर्थक है। हमारी असीम भोगेच्छा हमें तृप्ति प्रदान करने के स्थान पर सुख की मृग-मरीचिका में भटकाया करती है। इष्ट वियोग तथा अनिष्ट संयोग में हम दुःख तथा इनकी विपरीत अवस्थाओं में सुख मान लेते हैं। अर्थात् परिस्थितियों की अनुकूलता-प्रतिकूलता के झूले में झूलते हुए हम दुर्लभ मानव जीवन को व्यर्थ ही गंवा देते हैं।

3. स्याद्वाद:—अपनी बात को सर्वोपरि रखने तथा हठपूर्वक अपनी ही बात को सत्य सिद्ध करने की भावना संसार की अशांति के कारणों में प्रमुख है। बहुत से व्यक्ति अपने ही दृष्टि-बिन्दु को ठीक और दूसरे की बात को पूर्णतया असत्य कह कर अशांति उत्पन्न करते हैं। भगवान् महावीर ने विवेकशील मानव को एक दूसरे के दृष्टिकोण को सहिष्णुतापूर्वक समझने का उपदेश दिया। प्रत्येक व्यक्ति के कथन में कुछ न कुछ सत्यांश किसी दृष्टिकोण से हो सकता है। प्रत्येक पदार्थ में अनेक गुण हैं। अल्पज्ञानी मानव अपनी सीमित शक्ति के अनुसार एक दृष्टि से एक ही गुण को देख पाता है। उदाहरणार्थ, चार जन्मांध मनुष्यों ने स्पर्श के द्वारा हाथी को जानने की चेष्टा की तो प्रत्येक को हाथी भिन्न-भिन्न आकार का प्रतीत हुआ। जिसका हाथ पेट पर पड़े उसे हाथी दीवार के समान, जिसके हाथ कान आया उसे सूप की भांति, जिसने पूंछ पकड़ी उसे रस्सी समान तथा जिसकी पकड़ में पैर आया उसे हाथी खम्भे के समान प्रतीत हुआ और वे आपस में झगड़ने लगे। उन सभी की बातों में कुछ न कुछ सत्यांश तो था ही। तब धैर्य से समझा देने से कि बात सभी की ठीक है पर दृष्टिभेद के कारण ही पूर्ण सत्य की उपलब्धि नहीं हो रही है, अशांति मिट गई। इसी प्रकार सम्बन्ध भेद से एक ही व्यक्ति पिता, पुत्र, मामा, चाचा आदि होता है। इसमें बुद्धिमान् के लिए अशांति उत्पन्न करने का क्या कारण हो सकता है। वास्तव में एक दृष्टि से जाना हुआ ज्ञान झूठा नहीं है, केवल अधूरा है। सब दृष्टियों से प्राप्त ज्ञान का समन्वय ही पूर्ण ज्ञान कहा जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसी तरह दार्शनिक क्षेत्र के साकार-निराकार, सगुण-निर्गुण सत्-असत्, नित्य-अनित्य, अनादि-सादि इत्यादि विवादों में भी जो संतुलित दृष्टिकोण से उनके सत्यांशों को उद्घाटित करते हुए अधिकाधिक सत्य का दिग्दर्शन कराता है, वही ज्ञानी है। यही स्याद्वाद है।

'दूसरों के साथ वह व्यवहार न करो जो तुम्हें अपने लिए पसन्द नहीं।' यदि तुम चाहते हो कि जो बात तुम्हें सत्य प्रतीत होती है उसके कहने पर दूसरे तुमसे झगड़ा न करें तो तुम भी दूसरों की बातों के लिए जो उन्हें सत्य लगती हैं, उनसे झगड़ा न करो। 'अनाग्रही बनो। आग्रह से ही अशांति की सृष्टि होती है।'

अपने विचार इस प्रकार के रखना अनेकान्तवाद है तथा वाणी द्वारा उन्हें व्यवहार में प्रयोग करना स्याद्वाद है। इसलिए वाणी में 'ऐसा ही है' कहने के स्थान पर 'यह भी हो सकता है' कहने की सहिष्णुता स्याद्वादी दृष्टिकोण का परिचायक है। केवल 'ही' के स्थान पर 'भी' का प्रयोग अनेक संकटपूर्ण स्थितियों को टाल देता है। "भाई तुम भी किसी सीमा तक ठीक कहते हो" यह कहते ही प्रतिपक्षी का आधा क्रोध शांत हो जाता है। वास्तव में मान कषाय के दमन से उक्त दृष्टिकोण तथा विचारों की उदारता का आविर्भाव व्यक्ति में हो सकता है। "मैं बड़ा आदमी हूं दूसरे नीच हैं", 'मेरी ही बात ठीक है, दूसरों की असत्य', जिन व्यक्तियों में इस प्रकार की भावनाएँ होती हैं वे व्यक्ति अशांति उत्पन्न करने में कारण होते हैं। इस प्रकार की विचारधारा संसार की सुख-शांति वृद्धि में सहायक एवं सर्वकल्याणकारी है।

भगवान् महावीर ने उक्त सिद्धांतों का प्रतिपादन करते हुए व्रत-नियमादि के निरतिचार (दोष रहित) पालन का उपदेश दिया। बहुधा लोग कोई व्रत-नियम लेकर उसके शाब्दिक पालन मात्र को ही पर्याप्त समझ लेते हैं तथा उस कार्य को स्वयं न करते हुए भी अन्य प्रकार से उसके होने की वाञ्छा करते हैं अथवा व्रतादि के आशय को ही भुला देते हैं। जैसे स्वयं हिंसा न करते हुए दूसरे को प्रोत्साहन देना अथवा प्राणी बध न करते हुए अन्य प्रकार से दुःख देने को बुरा न समझना। भगवान् महावीर ने कृत (स्वयं करना), कारित (दूसरे से कराना), अनुमोदना (न स्वयं करना, न दूसरे से कराना परन्तु अनुचित कार्यों का समर्थन करना) तीनों प्रकार से पाप कार्यों का निषेध किया तथा मन, वचन, काम (क्रिया) तीनों से पाप कार्यों से दूर रहने को कहा।

हिंसादि पापों से बचने के लिए सब प्राणियों से मैत्री भाव, गुणीजनों को देख कर आनन्द, दुखियों के प्रति करुणा तथा विनयहीन उद्दण्ड व्यक्तियों के प्रति माध्यस्थ भाव रखना चाहिए। सांसारिक भोगों से भयभीत रहने तथा वैराग्य भावना रखने से भी आत्मिक सुख तथा कल्याण की प्राप्ति हो सकती है।

किसी प्राणी को जान से मार देना ही हिंसा नहीं है, वरन् प्रमाद पूर्वक किसी के प्राणों को आघात पहुंचाना भी हिंसा है। यदि विनय तथा विवेकपूर्वक अप्रमादी होकर कार्य किया जाए तो हिंसा का दोष नहीं लगता। रोगी को बचाने की दृष्टि से आपरेशन करते समय यदि रोगी का प्राणान्त हो जाता है तो भी डाक्टर हिंसक नहीं है; दूसरी ओर मछुवारे के जाल में चाहे एक भी मछली न फंसे परन्तु प्रयोजन भेद से वह हिंसा का दोषी है।

इसी प्रकार असत्य केवल झूठ बोलना ही नहीं है, दूसरों को जो बात कष्टप्रद हो वह मिथ्या के ही समान है। काने को काना कहने के समान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यंग्य वचन बोलना जिससे उसकी आत्मा क्लेशित हो उचित नहीं क्योंकि अहिंसा-धर्म सर्व प्रधान है, अन्य धर्म उसकी रक्षा के लिए हैं।

बिना दिए दूसरे की वस्तु को बुरे भाव से उठाना चोरी है। दांत कुरेदने का तिनका तक स्वामी से पूछ कर लेना चाहिए। सांसारिक वस्तुओं में ममत्व रखना परिग्रह है।

भगवान् महावीर ने इन सब व्रतों के अतिचार या दोषों का विवेचन करते हुए कहा कि स्वयं चोरी न करते हुए भी चोरी की प्रेरणा या सुयोग देना, चोरी का माल खरीदना, टेक्स आदि की चोरी, बाँट-तराजू दो प्रकार के रखना जिससे माल खरीदते समय अधिक और बेचते समय कम लिया-दिया जा सके, जाली सिक्के, नोट आदि बनाना तथा नकली माल को असली बता कर देना या वस्तुओं में मिलावट करना आदि सब चोरी के समान ही पाप रूप एवं निंद्य है। भगवान् महावीर ने कहा :—

(1) 'स्वयं जिओ तथा दूसरों को जीने दो' क्योंकि सभी प्राणियों को जीने का समान अधिकार है। सभी को जीवन प्रिय है और मरण अप्रिय। किसी प्राणी की हिंसा करने में अपनी भाव हिंसा पहले ही होती है। किसी जीव को मारना, घायल करना, दास बनाना या शोषण करना सभी हिंसा है।

(2) सभी मनुष्य समान हैं। कोई भी जाति, वर्ण, रंग, लिंग रूपादि के कारण ऊंचा या नीचा नहीं होता। मन की प्रवृत्ति तथा गुणों के अनुसार ही मनुष्य सद्गुणी होता है, वरना सब समान हैं।

(3) सत्य सापेक्ष है इस कारण एकांगी दृष्टि का त्याग कर सभी के साथ शान्तिपूर्वक सह-अस्तित्व बनाये रखना ही उचित है।

(4) पुरुषार्थ के द्वारा ही आत्मा का उद्धार तथा कर्म फल प्राप्त होता है। यह प्रक्रिया मन के भावों के अनुसार स्वयमेव चलती रहती है।

(5) आत्मा तथा पुद्गल भिन्न-भिन्न हैं।

(6) सांसारिक भोग-उपभोग नश्वर तथा इनके द्वारा सुख प्राप्ति की आशा दुराशा मात्र है।

(7) **चार प्रकार का दान**—औषधि, शास्त्र (विद्या), अभय (शरण आदि देकर भय दूर करना) और आहार दान शक्ति के अनुसार अवश्य करना चाहिए।

(8) इस लोक, परलोक, रोग, मरण, आकस्मिक दुर्घटना आदि 7 प्रकार के भय करके आत्मा को क्लेशित नहीं करना चाहिए।

(9) जाति, कुल, रूप, विद्या, बुद्धि, धन, शारीरिक बल आदि का गर्व न करते हुए आठ मदों से बचना चाहिए।

भगवान् महावीर के उक्त उपदेश किसी एक काल या देश के लिए न होकर सार्वकालिक तथा सार्वदेशीय हैं। उनके आलोक में आज की सभी समस्याओं का हल खोजा जा सकता है तथा उनके परिपालन से अखिल विश्व में सुख-शान्ति की अनवरत सृष्टि हो सकती है। आधुनिक विश्व की निम्न समस्याओं के हल भगवान् महावीर के उपदेशों में बीज रूप में विद्यमान थे:—

(1) **समाजवाद**—दूरंदेश, कर्मठ तथा उद्योगी व्यक्ति भोगों से अलिप्त रहते हुए भी अपने पूर्व कर्मानुसार यदि संपत्ति प्राप्त करते हैं तो उनकी सम्पत्ति लोक हितार्थ स्वेच्छा से व्यय होती रहे यही सच्चा समाजवाद है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(2) **धर्मनिरपेक्षता**—धर्म निरपेक्षता का अर्थ धर्म शून्यता नहीं है। तब तो जंगल न्याय हो जाएगा। वीर उपदिष्ट स्याद्वाद के द्वारा ही धर्मनिरपेक्षता तथा धार्मिक सहिष्णुता एवम् सह-अस्तित्व की भावना का प्रसार हो सकता है।

(3) **महंगाई तथा भोग वादिता**—जब उत्पादन कम है और उपभोक्ता अधिक तो अपरिग्रह तथा भोगों से विरक्ति के द्वारा ही सुख प्राप्ति सम्भव है। मांग कम होने पर महँगाई स्वयं घटेगी।

(4) **भ्रष्टाचार तथा स्वार्थपरता**—पंचाणुव्रतों के पालन तथा समत्व भावना के विकसित होने पर भ्रष्टाचार आदि स्वयं तिरोहित हो जायेंगे।

वीर-अवतार

फंसी हुई थी जब मानवता दानवता के दृढ़ चंगुल में।
चुभे हुये थे कांटे जन की नस नस में अंगुल अंगुल में॥
रक्त विहीन नसें थीं सबकी पर आंखों में थी अरुणाई।
कंकालों में खेल रही थी संज्ञाहीन शुष्क तरुणाई॥
पृथ्वी के वक्षःस्थल पर जब दानवता हंस नाच रही थी।
मूक प्राणियों के शोणित से जग बलिवेदी राच रही थी॥
ज्ञान दया सुख शान्ति विश्व से विदा हो चुके थे सब सारे।
'यज्ञार्थः पशवः सृष्टा' के लगते थे जोरों से नारे॥
ऐसी विषम परिस्थितियों से व्याकुल विश्व कराह रहा था।
ऐसे जीवन से अधीर हो मरण महौषधि चाह रहा था॥
तभी वीरवर तुमने आकर जीवन सुधा पिलाई जगको।
अप्रियता सब दूर हटा कर किया प्रशस्त विश्व के मगको॥

● **श्री रतनलाल गंगवाल** जयपुर (राज.)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भगवान् महावीर देहधारी होते हुए भी विदेह थे। उनकी मृत्यु होते हुए भी वे मृत्युंजयी थे। संसार में रहते हुए भी वे असंसारी थे। यह बताते हुए अपनी प्रौढ़ साहित्यिक विधा में विद्वान् चिंतक ने कहा है—'महावीर स्वामी की याद में बाहर आज बड़े बड़े स्मारक बनाये जा रहे हैं लेकिन भीतर के टूटते खण्डहर के जीर्णोद्धार की कोई शिल्प-साधना पैदा नहीं हो पा रही है। अपने भीतर के निर्माण के लिए शिल्पी को निमंत्रण देना होगा और उसके साथ ही भ० महावीर स्वयं प्रतिबिंबित हो जायेंगे।' काश ! कोई ऐसा शिल्पी हमारा निमंत्रण स्वीकार कर हमारे भीतर के टूटते खण्डहर का जीर्णोद्धार करे। हमारे विचार में तो हमारा भीतर खण्डहर न होकर धराशायी ही हो गया है जिसके जीर्णोद्धार की नहीं नवनिर्माण की आवश्यकता है।

प्र० सम्पादक

अनेकान्त आलोक में—भगवान् महावीर

● श्री निहालचन्द जैन, एम. एस-सी.
व्याख्याता, नौगाँव (म०प्र०)

वैशाली प्राङ्गण में एक अजन्मा का जन्म

जो जन्म, अजन्मा बनकर जनमता है, उसकी गोद में निर्वाण पलता है। ऐसे अजन्मा देह धारण करके भी विदेही होते हैं। वे जन्म और मृत्यु की नियतियों से उन्मुक्त होकर अपने सहज-स्वभाव को उपलब्ध होते हैं। वे मृत्यु को जीतकर मृत्युञ्जय बन जाते हैं। ऐसे लोकोत्तर पुरुष द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव रूप पंच-परावर्तन के अकल्याण से छूट जाते हैं। ऐसे भ० महावीर थे, जो अपने परम-औदारिक शरीर में 'तीर्थङ्करत्व' की महान गुणवत्ता को सहेजे त्रिलोकी माँ 'त्रिशला' की कुक्षि से उत्पन्न हुये थे। महाराजा सिद्धार्थ का यह शौर्यवन्त आत्म-वैभव की विरासत को लिये, चेतना की परम विशुद्धता को निष्पन्न करने तथा जगत की धर्मग्लानि को मेटने वैशाली के प्राङ्गण में अवतरित हुआ। तीर्थङ्कर का यह अवतरण अकारण नहीं हुआ करता अपितु लोकाभ्युदय की एक गहरी प्यास उन्हें पुकारती है।

तीर्थङ्कर के आह्वान में धरती की पुकार

जब जगत में धर्म के नाम पर अधर्म की प्रतिष्ठा, सत्पुरुषों की कंटकों भरी पीड़ाओं की पगडंडियां और पापबुद्धि वालों को विभूति के राजपथ प्रशस्त होते हैं, तब सच्चे आत्मधर्म की संस्थापना और लोक की पापोन्मुख प्रवृत्तियों की विखण्डना के लिए यह धरती, तीर्थङ्कर रूप महान आत्मा का आह्वान करती है। केवलज्ञानी की भांति तीर्थङ्कर ज्ञानानन्द की अनन्तता में सर्वलीन होकर 'स्वानुभूति' की पूर्णता से परिपूर्ण तो होते ही हैं, अपितु वे लोक उत्कर्ष की अनन्त ऊर्जा की अभिव्यक्ति से युक्त भी होते हैं। अभिव्यक्ति के लिए अपने को फैलना पड़ता है और सबको जोड़ना पड़ता है। तीर्थङ्कर महावीर 'स्व' में प्रतिष्ठित होकर भी करोड़ करोड़ मानवों के दुःख और दर्द को अपने साथ लेकर चले और उनसे विमुक्ति की एक सृजनशील दिशा दी।

पूर्व पर्यायों का पर्यावलोकन और अनुभूति की पहली किरण

अनुभूति की पहली किरण पुरुरवा पर्याय में भ० महावीर को मिली थी। जहाँ योगिराज सागरसेन की उद्बोधना से भिल्लराज का प्रतिशोधी एवं हिंसक मन, प्रायश्चित्त से गीला होकर अहिंसा की भाव-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भूमि में सुसंस्कारों के बीज वपन कर लिये थे। भावों के संक्लेष-गह्वरों और सरल शृंगों से होता महावीर का जीव कभी जटिल पर्याय में पतनोन्मुख हुआ तो विश्वनन्दी पर्याय में आरोहण के नये मोड़ पर आया। कभी त्रिपृष्ट पर्याय में अर्द्ध चक्रवर्तीपद को पाकर भव भोगों के चक्रव्यूह में फंसा तो कभी नरकादि की अनन्त पीड़ायें भोगीं। समय के अनन्त प्रवाह में खोता–उभरता यह जीव 'सिंह' की पर्याय में अहिंसा और करुणा के आयाम में पुनः अपनी शक्ति का बोध प्राप्त करता है और फिर उसकी पशु पर्याय भी यह नया बोध पाने में बाधा नहीं बनती। मृगराज के भीतर का सोया बुद्धत्व जागता है और अनुभूति की एक और किरण जगती है। आगे की पर्यायों (कनकोज्ज्वल, हरिषेण और प्रियमित्र चक्रवर्ती) में साधना का क्रमिक विकास होता है और नन्दभव में साधना के उस शिखर पर आरूढ होता है, जहाँ उनको 'तीर्थङ्करत्व' का श्रेष्ठ शिवत्व शक्ति रूप में मिल जाता है।

आत्मानुभूति के इस आरोहण में प्रत्येक पर्याय महावीर बनने की पूर्व तैयारी में संकल्पकृत रहा। महावीर के जीवन को पढ़ने के लिये इन पर्यायों को अलग 2 करके नहीं देख सकते। इन समस्त जन्मों की तपश्चर्या और साधना का जोड़ महावीर जैसा व्यक्ति खड़ा कर सका।

त्रिभुवनी माँ का मातृत्व कृतार्थ

जीवन के लोकोत्तर गुणों को लेकर अच्युत स्वर्ग का वह क्षायिक सम्यक्ती जीव, लोक का सर्वोदय करने माँ त्रिशला के गर्भ में आया। वह अंतिम पर्याय रह गयी थी जिसमें सभी शक्यताओं का प्रकटीकरण करना शेष भर रह गया था। त्रिशला के स्वप्न में जो तीर्थनायक (गज), सत्य-प्रवर्त्तक (श्वेत वृषभ), अनन्त ऊर्जा का सम्वाहक (सिंह), दिव्यज्ञानधारक (सूर्य), सम्वेदना, करुणा, कीर्ति की विरासत लिये अपने वर्चस्व एवं प्रभुत्व द्वारा लोक कल्याण करने आया था, त्रिभुवनी माँ त्रिशला का तो मातृत्व ही कृतार्थ हो गया था। अज्ञान, अधर्म, अन्याय और अत्याचार का गरल पचाने वाला वह त्रिभुवनी शंकर अवधि-ज्ञान के आलोक में गर्भ में ही आत्म दर्शन कर रहा था।

एक अपराजेय व्यक्तित्व

भ० महावीर क्षत्रिय व्यक्तित्व लेकर जन्मे थे। जाति से ही क्षत्रिय नहीं अपितु व्यक्तित्व से–जहाँ विजय की भाषा होती है संसार को जीतना आसान है परन्तु मन को जीतना मुश्किल है जिसमें संसार बसता है। उन्होंने मन की गहरी कामना और वासना को जीता जिनके व्यक्तित्व में कहीं बुढ़ापापन नहीं था क्योंकि उन्होंने जो पाया था वह इतना सदा यौवन था कि बुढ़ापा टिक नहीं सकता था। जिनका रुधिर दूध के समान श्वेत वर्ण था। दूध मातृत्व का और मातृत्व प्रेम और वात्सल्य का प्रतीक होता है। जहाँ प्राणिमात्र के दुःख दूर करने की भावना हो उस उत्कृष्ट कारुणिक वृत्ति का परिचायक था उनका श्वेत वर्णी रुधिर। लोकोत्तर त्याग और पवित्र मनोवृत्ति के अभिलेखन जिनके शरीर में एक हजार आठ शुभ लक्षणों के चिह्नों के रूप में अंकित थे। एक विशिष्ट सुगंधमय शरीर, वज्रवृषभ नाराच संहनन, समचतुरस्र संस्थान आदि लोकोत्तर विकास थे परन्तु थे वे स्वाभाविक।

जिनके ज्ञान के आलोक में सारी बाह्य संज्ञायें स्वतः टूटने लगीं थीं और जिनकी पूरी चेतना ही विस्फोटित होकर ज्ञानालोक बन गयी थी फिर वहाँ क्या घर क्या बाहर? ज्ञान की विराटता में सारे भेद विलीन हो जाते हैं और खड़े होने का दायरा भी अनन्त हो जाता है। प्रकृति और समष्टि के तादात्म्य में जिन्हें वस्त्र भी बाधा बनने लगे, फिर भला वह उन्हें कैसे ओढे रह सकता है? ज्ञान का अंग बन गयी थी जिनकी नग्नता क्योंकि छिपाने को कोई कुरूपता रह ही नहीं गयी थी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साधना की विराटता—वीतरागता

भ० महावीर की तपश्चर्या की उपलब्धि थी—वीतरागता। वीतरागी—जहां कर्तृत्व और भोक्तृत्व का भाव विसर्जित हो जाता है—जहाँ न पाने की कुछ वांछा न अवांछा। बिलकुल बेशर्त स्थिति। जिनकी अखण्ड तपस्या में सारे सम्मोहन निःशेष हो चुके थे। इसीलिए न तो स्थाणुभद्र और भवरुद्र के घोर उपसर्ग उन्हें भयभीत कर सके और न अप्सराओं के मोहक राग भाव नृत्य उन्हें डिगा सके। वे अपनी पूरी समग्रता में जिये। जो बाहर वही भीतर। कुछ भी खण्डित नहीं रहा उनके जीवन में। आत्म-अन्वेषण के मूल्य पर उन्होंने भोग की दुर्घटनाओं को योग की निरापद शक्ति में रूपान्तरित किया। और एक दिन इसी योग से ग्रन्थियों को काटते काटते निर्ग्रन्थ बन गये। निर्ग्रन्थ—जो किसी से बंधा नहीं स्वयं से भी नहीं। और यही निर्ग्रन्थ वीतरागता उनकी विमुक्ति बन गयी।

महावीर की दो बड़ी उपलब्धियां

(1) धर्म-विज्ञान की भांति कार्य कारण सिद्धान्त पर टिका है। बाहर जो है—उसकी खोज विज्ञान है। भीतर जो है उसकी खोज धर्म है। विज्ञान कहता है—हमें भगवान से लेना-देना नहीं, हम तो प्रकृति के नियम खोजते हैं। यही बात भ० महावीर ने चेतना विज्ञान (धर्म) के लिए कहीं—उन्होंने आत्म-पुरुषार्थ की प्रतिष्ठा में नियन्ता को विदा किया और कहा कि हम जो कर रहे हैं वही भोग रहे हैं। यह अच्छा या बुरा भोगना किसी नियन्ता का दिया नहीं बल्कि हमारे कर्म का प्रतिफलन है। उन्होंने कहा—धर्म कोई परिभाषा या विचार नहीं। यह तो वह प्रयोग है जो जीवन की प्रयोगशाला में सम्पादित होते हैं। यह प्राणियों के दुःख के हेतुओं को दूर करने का उपचार है। जीव स्वयं अपना नियन्ता है। वह स्वयं साधन और स्वयं साध्य है। मानवीय व्यक्तित्व का चरम विकास किसी भाग्य का लेख नहीं, अपितु स्वयं की श्रमशील साधना है, जिससे वह परमात्मा को उपलब्ध होता है। इतनी बड़ी आत्म-स्वतन्त्रता की स्वीकृति और महत्ता की प्रतिष्ठा भ० महावीर ने दी।

(2) दूसरी देन है—अनेकान्त और स्याद्वाद। इस समन्वय एवं कल्याणी दृष्टि ने सम्प्रदायवाद के मूल पर कुठाराघात कर धर्म-सहिष्णुता की एक नई बात दी। सम्प्रदाय जो किसी सत्य की अपेक्षा मान्यता विशेष पर टिका होता है और पूर्वाग्रहों की चौखटों में जड़ा होता है। यह सहगमन नहीं अनुगमन चाहता है। इसके विपरीत भ० महावीर ने अनुगमन नहीं, सहगमन की बात की। इसलिए न उन्होंने अपने आगे किसी को रखना पसंद किया (कोई गुरु नहीं बनाया) और न ही अपने पीछे किसी को रखना पसंद किया (अनुयायी नहीं बनाये)। अनेकान्त के दर्शन में अनुगमन के लिए कोई अवकाश नहीं। कोई बंधे—बंधाये रास्ते पर चलकर मुक्ति का श्रेय प्राप्त नहीं कर सकता। भ० महावीर ने जो भी सत्य कहा—एक टूक उत्तर देकर नहीं कहा, अपितु सापेक्ष दृष्टि से कहा। इस अमोघ मूलमन्त्र के सामने निरपेक्ष सत्य का दावा डगमगा गया। आज का विज्ञान भी सापेक्ष के भवन पर खड़ा है।

वस्तुतः वही तत्त्व सम्यक् है जो अनेकान्त के आलोक में दृष्ट है। वही आचार सम्यक् है जो अनेकान्त के आलोक में आचरित है। इस अनेकान्त के निरूपण की भाषा—स्याद्वाद है। अनेकान्त की गोद में जहां तत्त्ववाद और आचार-शास्त्र सम्यक्परक समन्वित दृष्टि को प्राप्त करके धर्म सहिष्णुता सम्वर्द्धित होती है, वहाँ स्याद्वाद के द्वार से सम्भावनाओं और शक्यताओं का मार्ग प्रशस्त ही नहीं होता अपितु एक परम सत्य तक पहुँचने में वाहक का कार्य करता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भ० महावीर ने कहा—विचारों में अनेकान्त हो, वाणी में स्याद्वाद। वैयक्तिक आचरण में अहिंसा हो और सामाजिक आचरण में अपरिग्रह। जब विचारों से पक्ष-व्यामोह और वाणी से एकान्तनय की भाषा गिर जाती है तो आचरण में सबको अपनाने का भाव सहज आ जाता है। वह किसी प्रकार का आरोपण, बल या अतिक्रमण नहीं चाहता। वह अपने में सबको और सब में अपने को देखने लगता है। आचरण की इस भाव भूमि में अहिंसा का उदय होता है। अतः अहिंसा सभी प्राणियों के प्रति प्रेम और मैत्रीपूर्ण जीवन-पद्धति है। अहिंसा की तेजस्विता में व्यक्ति चींटी में भी विराट अस्तित्व देखने लगता है। यही अहिंसा जब सामाजिक जीवन में उतरती है तो अपरिग्रह के रूप में प्रगट होती है। वस्तुतः परिग्रहातीत होकर ही अहिंसा के सूर्य को प्रगट किया जा सकता है।

क्या महावीर को पाना है ?

आज के इस संक्रमण काल में जब मनुष्य, मनुष्य के अस्तित्व के लिए एक दुर्घटना बन रहा है और वह विस्फोट को अपने हाथों में दबाये राजनीति के दुष्चक्र में सांसें ले रहा है, महावीर ज्यादा सामयिक बन गये हैं। यदि प्रेम की आंख खोजें तो महावीर कहीं खोये नहीं हैं। लेकिन हम उन्हें अर्चनाओं में खोज रहे हैं और आज हमारी उम्र भर की गयीं पूजायें कृतार्थ नहीं हो पा रही हैं। क्या हजार वर्ष भी मुद्राओं से भरी तिजोरी की पूजा से उसकी मुद्रायें उपलब्ध हो सकतीं हैं ? करोड़ अभ्यर्थनाओं से भी अंधकार को नहीं भगाया जा सकता है। उसके लिए तो आलोक भरा दीप चाहिए। क्या हृदय में ऐसा दीप सँजोकर किसी ने महावीर को खोजने का साहस किया है ? अनेकान्त आकाश के उस सूर्य को परिग्रह की बदलियों में ढंककर नहीं देखा जा सकता। हजार शास्त्रों का आलोडन भी हमारी ज्ञान-क्रान्ति का हेतु नहीं बन पा रहे हैं। कौनसी बात रह गयी जो हमें और भ० महावीर को इतने फासले पर खड़ा किये है ? आज परिग्रह के महलों में अपरिग्रह बंद कर दिया गया है। हमारे परिग्रह ने महावीर जैसे अनन्त व्यक्तित्व को मंदिरों की चहार दीवारों में बंद कर दिया है। धर्म के नाम पर बाहर कुछ भी संयोजन करलें लेकिन जब तक इसका संयोजनकर्त्ता, अमूर्च्छित चेतना, अप्रमाद और विवेक जागरण की अन्तर्यात्रा के चरण नहीं धरता, तब तक महावीर को पाने की कोई सम्भावना नहीं दिखती।

महावीर स्वामी की याद में बाहर आज बड़े २ स्मारक बनाये जा रहे हैं, लेकिन भीतर के टूटते खण्डहर के जीर्णोद्धार की कोई शिल्प-साधना पैदा नहीं हो पा रही है। अपने भीतर के निर्माण के लिए उस शिल्पी को निमंत्रण देना होगा और उसके साथ ही भ० महावीर स्वयं प्रतिबिम्बित हो जायेंगे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस लेख के लेखक श्वेताम्बर परम्परा से सम्बद्ध हैं अतः उनकी इस रचना में ऐसी घटनाओं का वर्णन स्वाभाविक है जो दिगम्बर परम्परा में भगवान् महावीर के जीवन में उल्लिखित नहीं हैं। ये घटनाएं उनके जीवन में घटीं या नहीं यह प्रश्न अधिक महत्व का नहीं है। महत्व की बात तो यह है कि ये उदाहरण हमें अपने जीवनोत्थान हेतु क्या सन्देश देते हैं। इसी परिप्रेक्ष्य में पाठकों को इस रचना को पढ़ना चाहिए। साधनामार्ग में आए विघ्नों को किस प्रकार सहिष्णु होकर सहन करना चाहिए, किस प्रकार आत्मोत्थान में स्वयं का प्रयत्न ही सहायक हो सकता है, दूसरों की यहां तक कि देवताओं तक की सहायता भी इस उद्देश्य की पूर्ति में हमारी कोई सहायता नहीं कर सकती, आदि बताना ही इनका मुख्य उद्देश्य है जिसमें विवाद की कोई गुञ्जाइश नहीं है।

प्र० सम्पादक

क्षमावीर महावीर

● आचार्यश्री नानेश–चरणचञ्चरीक मुनिश्री पार्श्वकुमार

जिनके विषय में अल्पबुद्धि द्वारा यत्किंचित् लिखा जा रहा है वे ऐतिहासिक व्यक्ति रहे हैं। महाश्रमण तीर्थंकर महावीर प्रभु, अपने समय के विशिष्ट अध्यात्म योगी, अपूर्व व्यक्तित्व के धनी थे जिनकी समता मिलना कठिन है।

आज से लगभग 2500 वर्ष से कुछ अधिक वर्ष पूर्व की बात है जब भारत के पूर्वाञ्चल में स्थित वैशाली के गणराज्य की सुसमृद्धि चरम शिखर पर चहुंदिशि अठखेलियां कर रही थी। वहां के सुखी एवं ऐश्वर्य सम्पन्न नागरिकों के विषय में एक बार महात्मा बुद्ध ने स्वयं अपने मुखारविंद से ये वाक्य कहे थे कि यदि देवताओं के दर्शनों की अभिलाषा करते हो तो वैशाली जाकर वहां के नागरिकों को देखो। वस्तुतः उस समय इस भारतीय वसुन्धरा पर मानों स्वर्ग ही उतर आया था। स्वर्ग-सहोदर भी कह दिया जाय तो अत्युक्ति नहीं होगी। ऐसे समृद्धिसम्पन्न एवं महिमामयी वैशाली नगरी के भूमिपाल महाराजा चेटक महावीर स्वामी के मातुल थे।

वैशाली का एक प्रमुख उपनगर था 'क्षत्रिय कुण्ड ग्राम'। वहां ज्ञातृवंशीय नृप सिद्धार्थ राज्य कर रहे थे। उनकी ही प्रियपत्नी त्रिशला क्षत्रियाणी थी। महावीर स्वामी उनकी तीन सन्तानों में से तृतीय थे। परिवार में आप वर्धमान नाम से सम्बोधित किये जाते थे। नन्दीवर्द्धन आपके ज्येष्ठ भ्राता और सुदर्शना आपकी ज्येष्ठ भगिनी थी। महावीर का उद्वाह राजकुमारी यशोदा के साथ सम्पन्न हुआ था। प्रियदर्शना महावीर स्वामी की एक मात्र सन्तान थी। महावीर के जीवन-क्षण 30 वर्ष तक अनन्त सुख-समृद्धि के नन्दन-कानन में बहुत ही आनन्द के साथ बीते थे।

पाठकों के समक्ष महावीर के सम्पूर्ण जीवन का उल्लेख नहीं किया जा रहा है किन्तु यहां तो उनकी साधना के कुछ हृदयविदारक संस्मरणों को रखना मात्र ही अभीष्ट है।

तीस वर्ष व्यतीत हो जाने पर स्व-पर-कल्याणमयी भावनाओं से प्रेरणा प्राप्त करते हुए साधना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के पथ पर दीक्षित होकर आप एकाकी ही चल पड़े थे। उनकी साधना सजीव थी। अपनी निरन्तर कठोर साधना के द्वारा वे अपने जीवन को निर्मल एवं निष्कलंक बनाते रहे। उनका हृदय सत्य की खोज के लिए आतुर हो रहा था। परिणामस्वरूप मार्ग में आने वाली विभिन्न विघ्न-बाधाओं से भी वे पश्चात्पद कभी नहीं हुए अपितु बड़े जोश एवं होश के साथ निरन्तर अग्रसर होते ही रहे।

एक समय की चर्चा है कि साधना के पथ पर वे निर्भीक होकर बढ़ते जा रहे थे एक ऐसे वन की ओर जिस वन में कोई भी मनुष्य दिखलाई नहीं पड़ रहा था तथा जो अतीव भयावह था। लोगों ने उनकी मन्थरगति को देखकर कहा कि इस ओर किसलिए और कहां जा रहे हैं? क्या इस मार्ग से आप सुपरिचित हैं? इस मार्ग में एक भयंकर विषधर सर्पराज रहता है। जो कोई भी व्यक्ति कभी भूल या असावधानी से इस ओर जाता है तो उस व्यक्ति के वापिस जीवितावस्था में लौटकर आने की आशा ही नहीं रहती है क्योंकि वह विषधर सर्प अपनी फुंकार मात्र से क्षण भर में ही परलोक-धाम का अतिथि बना देता है। इस प्रकार की चर्चाओं के श्रवण मात्र से श्रोता का हृदय कांप उठता है, किन्तु महावीर किञ्चित्मात्र भी व्याकुल नहीं हुए। वे तो असीम करुणासागर थे। अपनी गति से चलते ही रहे और वहां जा पहुंचे जहां पर चण्डकौशिक सर्पराज की बाँबी थी। वे वहां पर खड़े रहे। किसी दुराग्रह अथवा अहं की भावना को लेकर उन्होंने ऐसा नहीं किया किन्तु अपनी अपूर्व मैत्री एवं करुणा की अजस्र प्रवाहित होने वाली धारा की परीक्षा हेतु ही ऐसा किया। वे यह जानना चाहते थे कि इस धारा का वेग कैसा है और कितना है। सर्पराज तत्क्षण बाँबी से बाहर निकला और ओह! उसकी भीषण फुंकार! चरणों पर दंश पर दंश! तन तथा मन दोनों ही से वह विष उंगल रहा था। उधर महावीर की शान्त मूर्ति विष के स्थान पर अमृत की वर्षा कर रही थी। न कोई बैर तथा न कोई प्रतिशोध की भावना किन्तु पूर्णरूपेण अभयमुद्रा। विशुद्ध मैत्री और करुणायुक्त होते हुए महावीर ने सर्प को आत्मबोध दिया अपनी मृदु भाषा में। हे सर्पराज! समझिये, अपने स्व को समझिये! आप क्या कर रहे हैं? क्या कभी विष से विष और बैर से बैर भी समाप्त हुआ है? नहीं, कदापि नहीं। विष अमृत से तथा बैर प्रेम से शान्त हुआ करता है। इस उपदेशामृत का प्रभाव ऐसा जादू की भांति घर कर गया कि उस स्नेहिल अमृतोपदेश के पान करते ही तन और मन से, उसका व्याप्त विष न मालूम कहां चला गया। इस भांति महावीर की अहिंसा ने विष को भी अमृत बना दिया। यह था साधना का विलक्षण चमत्कार।

महावीर ने अपनी जीवन साधना में आने वाली विविध बाधाओं के लिए अन्य की सहायता एक सच्चे मुनि होने के नाते कदापि स्वीकार नहीं की। वे आत्मनिर्भर ही रहे। इसके फल-स्वरूप जीवन का समस्त भार वे स्वयं ही वहन करते थे।

एक समय की चर्चा आती है कि महावीर किसी ग्राम के सन्निकट ध्यानास्थ, तन और मन से मौन समता धारा में तल्लीन होते हुए खड़े थे कि इसी मध्य ग्रामवासी एक ग्वाल, "महावीर वहां पर हैं" इस विश्वास पर पशुओं को चरते हुए छोड़ कर कार्यवशात् कहीं पर चला गया, यह कहते हुए कि मेरे इन पशुओं की तुम निगरानी करते रहना। यह न हो कि ये पशु इधर-उधर कहीं पर चले जाये। महावीर ध्यान में स्थित अपनी आत्मा की ध्वनि को ही सुन रहे थे। उस ग्वाले के कहे हुए शब्दों को क्या सुनते? युगपत् दो ध्वनियां कैसे सुनाई दे सकती हैं? कार्य समाप्ति पर वह ग्वाल जैसे ही आया और अपने पशुओं को वहां पर नहीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देखा तो महावीर से पूछने लगा। महावीर पूर्ववत् मौन ही रहे। उसने आव देखा न ताव। वह महावीर को क्रोध में कितने ही ऐसे शब्द कह गया जो शिष्टता से युक्त कदापि नहीं कहे जा सकते। इतना ही नहीं महावीर को निर्दयतापूर्वक मारने भी लगा। इतना होने पर भी महावीर जब शांत तथा मौन धारण किये हुए थे कि इन्द्र वहां आ गया और उस ग्वाले को समझाया तथा महावीर की सेवा में रहने के लिए इन्द्र स्वयं कटिबद्ध हुआ तो महावीर ने उत्तर दिया कि दूसरों के बल पर साधना साधना नहीं कही जा सकती। कहा भी गया है-"स्ववीर्येणैव गच्छन्ति जिनेन्द्राः परमं पदम्" तदनन्तर इन्द्र स्वस्थान पर चला गया।

एक बार फिर वैसी ही घटना महावीर की साधना में घटी। एक ग्वाल ने क्रुद्ध होकर उनके कर्ण-कुहरों में काष्ठ की कीलें ठोक दी क्योंकि वे उसकी बात का कोई उत्तर नहीं दे रहे थे। उस मूर्ख को क्या पता कि वे ध्यानावस्थित होकर मौन खड़े हैं। ग्वाला ने सोचा कि इसको पूरा ही बधिर क्यों नहीं कर दिया जाय। महावीर को उन काष्ठ की खूंटियों के ठोके जाने से कितनी पीड़ा हुई होगी फिर भी वे मौन ही खड़े रहे। यह है तितिक्षा की चरम सीमा! यह है क्षमा की स्पष्ट परिभाषा!

चेतना में अनुभूति की शून्यता हो गई थी यह बात भी नहीं थी किन्तु वेदना की उनकी अनुभूति आध्यात्म-जगत् में विचरण करने के सम्मुख नगण्य सी थी। शारीरिक वेदना के वे एक द्रष्टा मात्र थे। गीता में स्पष्ट कहा है—

"मात्रास्पर्शस्तु कौन्तेय!"

दुःख-सुख तो केवल इन्द्रियजन्य है। इन्द्रियों पर ही जिनने विजय प्राप्त कर ली तो फिर वेदना नाम वाली वस्तु रह भी कहां गई। महावीर वस्तुतः शरीर के क्रीतदास नहीं थे अपितु शरीर उनका दास था अतः अपनी समता-साधना के पथ पर अडिग रूप से निरन्तर चलते ही रहे। इस भांति अनेकों बाधाओं एवं कष्टों को सहन करते हुए अपनी समता-साधना के शिखर पर चढ़ कर शुक्ल ध्यान में अवस्थित होते हुए उनने समस्त कर्मसंबंधी वासना को नष्ट कर ही दिया। तदनन्तर केवलज्ञान और केवलदर्शन को प्राप्त करते हुए सम्पूर्ण विश्व के चराचर पदार्थों को हस्तामलकवत् कर दिया। समता की साधना शक्ति के बल पर उपदेशामृत के द्वारा समस्त व्यक्तियों को पावन बनाया। उनका यह ही कल्याणकारी उपदेश था—

कल्पतरु है संयम जग में,
त्याग अमरता का फल है।
समता पर आधारित ये ही,
समता बिन सब निष्फल है॥

मूढन में मुखिया

जो बिनु ज्ञान क्रिया अवगाहे, जो बिनु क्रिया मोख पद चाहे।
जो बिनु मोख कहे मैं सुखिया, सो अजान मूढ़न में मुखिया॥

—महाकवि बनारसीदास

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

* जन्म मंगल गीत *

● डा० बड़कुल 'धवल', बरेली



शचि रम्भा गावे गीत, ज्ञान-रवि प्रकासा ।। टेक ।।

भयो-भयो रे, वीर अवतार, मुदित त्रिसला रानी ।
अति पुलकित नृप सिद्धार्थ, सुनी जब यह बानी ।।
आये चतुर्निकाय देव, हर्ष जन-मन बासा । शचि० ।। १ ।।

भये चमत्कार बहुभांति, चकित देखें प्रानी ।
सम्मोहित रति-अनंग, नृत्य की मन ठानी ।।
नाचें किन्नरि-गंधर्व, हृदय धरि उल्लासा । शचि० ।। २ ।।

इन्द्रानी बलि-बलि जाय, रुन-झुन ताली पर ।
बाजें नोबत रमणीक, उत्सव द्वारे पर ।।
सुधि भूली सकल जहान, पूर्ण भई मन आसा । शचि० ।। ३ ।।

इक जादू सी मुस्कान, अधर मोहक राता ।
थी आभा दिव्य महान, भास्कर विसराता ।।
सोहर गावें केई-नारि, 'धवल' मोहक भासा । शचि० ।। ४ ।।



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट पांच महाव्रत और योग दर्शन के प्रवर्तक महर्षि पतञ्जलि के बताए पांच यम न केवल नाम और संख्या में साम्य रखते हैं अपितु दोनों का क्रम भी एक ही है। आध्यात्म विद्या का ही अपर नाम उपनिषद् विद्या है और उसका ज्ञानी और धारी महायोगी कहलाता है। भगवान् महावीर ऐसे ही महायोगी थे। कैसे ? इसका तुलनात्मक विवेचन पाठकों को प्राप्त होगा प्रसिद्ध वैदिक विद्वान् की इन पंक्तियों में। इसी कारण भ० महावीर केवल जैनों के ही न होकर प्राणिमात्र के थे। उनका 'औपनिषदिक महायोगी' विशेषण सार्थक ही है।

प्र० सम्पादक

औपनिषदिक महायोगी भगवान् महावीर स्वामी

● आचार्य रमेशचन्द्र शास्त्री,
अजमेर

यह एक अद्भुत संयोग ही कहा जायगा कि ईसा पूर्व की छठी शताब्दी विश्व के अनेक देशों में एक सर्वथा नवीन क्रांति की भावभूमि लेकर आई। भारत में यह शती आध्यात्मिक असन्तोष तथा बौद्धिक क्रांति के रूप में विख्यात हुई। चीन में लाओत्से और कन्फ्यूसियस ने, यूनान में परमेनाइडीस तथा एम्पेडोकल्स ने, ईरान में महात्मा जरथुस्त्र ने एवं भारत में भगवान् महावीर तथा महात्मा गौतम बुद्ध ने इस धार्मिक एवं बौद्धिक क्रांति का प्रतिनिधित्व प्रायः समान समय में ही किया।

ईसा की ५वीं-छठी शताब्दी पूर्व तक भारतीय समाज पर वैदिक कर्म-काण्ड का पूर्ण प्रभाव था, जो समय अन्तराल तथा वामाचार के कारण एक भीषण विकृत अवस्था को पहुंच गया था। यह कर्मकाण्ड बुरी तरह से हिंसा के जाल में फंस गया था। इसके चारों ओर एक महा भयङ्कर नृशंसता का क्रूर नृत्य हो रहा था। मानव-जीवन की पवित्रता नष्टप्रायः हो गई थी। मांसलोलुप यजमान धनलोलुप पुरोहितों से मनमाने रूप में यज्ञों के द्वारा अपनी लोलुपता की तृप्ति करते थे और समाज में उच्च स्थान बनाये हुए थे। क्रूर हिंसा के खेल खेलने पर भी ये दोनों—यजमान तथा पुरोहित धर्म के उच्च आसन पर विराजमान थे। ऐसी विकृत तथा जटिल परिस्थिति का सामना करने के लिए एक सशक्त व्यक्तित्व की महती आवश्यकता थी और वह व्यक्तित्व प्रकट हुआ भगवान् महावीर स्वामी के रूप में।

भगवान् महावीर स्वामी नितान्त रूप से औपनिषदिक महापुरुष थे। आत्मचिन्तन तथा स्वयम् में लीनता उनका सर्वोपरि योग था। यह योग ही उपनिषद्-योग है। भगवान् ने अपने इस योग के पांच माध्यम स्वीकार किये—(1) अहिंसा (2) सत्य (3) अस्तेय (4) ब्रह्मचर्य तथा (5) अपरिग्रह। भारतीय योग दर्शन में इन पांचों को 'यम' नाम दिया गया है। महर्षि पतञ्जलि ने इन पांचों को एक सूत्र में इस प्रकार ग्रथित किया है—

अहिंसा-सत्यस्तेया-ब्रह्मचर्यापरिग्रहाः यमाः ॥
पातञ्जल योगदर्शन (साधन पाद, ३०)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भगवान् महावीर स्वामी को अहिंसा का साक्षात् अवतार ही कहना चाहिये। उपनिषदों में इस अहिंसा की अन्तिम परिणति इस प्रकार है—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ।।
यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः ।।

अर्थात् जो साधक सम्पूर्ण भूतों को अपनी आत्मा में ही देखता है और समस्त भूतों में भी अपनी आत्मा को ही देखता है वह सर्वात्म दर्शन के कारण किसी से भी घृणा नहीं कर सकता। जिस समय ज्ञानी पुरुष के लिए समस्त प्राणी अपनी आत्मा ही हो गए उस समय सर्वत्र एकत्व का दर्शन करने वाले उस ज्ञानी को क्या शोक तथा क्या मोह हो सकता है।

भगवान् महावीर ने स्वयं को प्राणिमात्र में तथा प्राणिमात्र को स्वयं में देख लिया था, अतः वे शोक तथा मोह से परे थे। वे जित शोक तथा जित मोह थे इसी लिए वे महावीर थे। उन्होंने शोक तथा मोह जैसे उद्दाम अन्तःशत्रुओं से लड़कर उन पर पूर्ण विजय प्राप्त की थी। अहिंसा उनके योग का पहला माध्यम थी।

योग दर्शनकार ने अहिंसा (यम) का फल बताते हुए लिखा है—

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः (यो. 2135) अहिंसा निष्ठ योगी जब निरन्तर यह भावना करता है कि उस के निकट किसी भांति की हिंसा न होने पावे। उस समय उसके निर्मल अन्तःकरण से अहिंसा की ऐसी सात्विक धारा अत्यन्त तीव्र वेग से प्रवाहित होने लगती है जिससे उसके समीपवर्ती हिंसक तामसी अन्तःकरण भी प्रभावित होकर अपनी हिंसामयी वृत्ति का परित्याग कर देते हैं।

भगवान् महावीर स्वामी ऐसे ही महान् आत्मा थे जिनसे प्रतिक्षण अहिंसा का प्रवाह बहता रहता था, अतः उनके आस-पास के समस्त अन्तःकरण अपनी तामसी अहिंसा वृत्ति को त्याग देते थे। उनके योग का दूसरा माध्यम सत्य था। इस सम्बन्ध में पातञ्जल योग दर्शन कहता है—

सत्य-प्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् (योग. २/१३६) : जिस योगी की सत्य में सुदृढ़ स्थिति हो जाती है उसकी वाणी से कभी असत्य नहीं निकलेगा क्योंकि वह यथार्थ ज्ञान का रखने वाला हो जाता है। उसकी वाणी अमोघ बन जाती है। उसकी वाणी द्वारा जो कुछ भी क्रिया की जाती है वह फलवती होती है। वह अपनी वाणी के द्वारा वचन मात्र से ही समस्त पुण्य फलों को प्राप्त करता रहता है।

सत्यनिष्ठ योगी निरन्तर यही भावना करता रहता है कि उसके मुख से न केवल भूत तथा वर्तमान के सम्बन्ध में ही, अपितु भविष्य में घटने वाली घटनाओं के सम्बन्ध में भी कोई असत्य वचन न निकलने पावे। सत्य की प्रबलता से उसका अन्तःकरण इतना निर्मल एवं पवित्र बन जाता है कि उसकी वाणी से वही बात निकलती है जो क्रिया रूप में परिणत होने वाली होती है।

महावीर स्वामी की वाणी भी सत्यपूत थी, अतः उनके वचन कभी असत्य नहीं निकले। जो कुछ भी उन्होंने कहा सत्य ही कहा अर्थात् उनका कथन त्रिकाल सत्य रहा।

अस्तेय में भगवान् की सुदृढ़ आस्था थी। इस विषय में पातञ्जल दर्शन कहता है—

अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् (योग. २/३७) : जब कोई व्यक्ति अस्तेय में प्रतिष्ठित हो जाता है तो वह राग को पूर्णतया त्याग देता है। ऐसी स्थिति में वह संसार की समस्त सम्पत्तियों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का स्वामी बन जाता है। उसको किसी वस्तु की कमी नहीं रहती। भगवान् महावीर ने अपने घर का ही समस्त धन-वैभव ठुकरा दिया था, अतः उनमें ऐश्वर्य के प्रति किसी प्रकार का राग नहीं था। यहाँ तक कि उन्होंने अपने वस्त्रों का भी त्याग कर दिया था। ऐसा महान् योगी संसार के ऐश्वर्य का स्वामी न होगा तो कौन होगा? ऐश्वर्य के पीछे भागने वाले लोग तो कभी ऐश्वर्य का स्वामित्व प्राप्त ही नहीं कर सकते। अस्तेय भगवान् के योग का तीसरा माध्यम था। ब्रह्मचर्य भगवान् महावीर के योग का चौथा माध्यम था। उन्होंने गृहत्याग के पश्चात् यावज्जीवन ब्रह्मसेवन किया। इस ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में पातञ्जल योग दर्शन लिखता है—

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः (योग. २/३८) जब योगी में ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा हो जाती है तो उसे अपरिमित वीर्यलाभ होता है। वीर्यवान् व्यक्ति ही शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक शक्तियों का स्वामी बन जाता है। वह अनन्त पराक्रमशाली बन जाता है। इसीलिए वह महावीर पदवी को धारण कर लेता है। भगवान् का असली नाम तो वर्धमान था, उन्होंने ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा करके अनन्तवीर्यलाभ प्राप्त किया, फलस्वरूप वे महावीर कहलाये।

भगवान् महावीर के योग का पांचवां माध्यम अपरिग्रह था। इस सम्बन्ध में योग दर्शन कहता है—

अपरिग्रहस्थैर्येजन्मकथन्ता संबोधः (योग. २/३९) : यहां स्थूल सांसारिक परिग्रह की बात नहीं है। यहां तो योगी के सूक्ष्म परिग्रहों को त्यागने की चर्चा है। स्थूल सांसारिक परिग्रहों का त्याग तो योगी अपने अभ्यास के प्रथम चरण में ही कर देता है। यहां जिस परिग्रह की चर्चा है वह है अविद्या, राग आदि क्लेश तथा अपने देह में अहन्ता अर्थात् ममत्व का होना। इन परिग्रहों के त्यागने से ही योगी को अपरिग्रह की सिद्धि होती है। केवल वस्त्र त्याग कर नग्न होना अपरिग्रह नहीं है। जब योगी अविद्या, राग आदि क्लेश तथा देहाहंकार को त्यागता है तो उसका चित्त निर्मल होकर यथार्थज्ञान को प्राप्त करने में समर्थ बन जाता है। इससे वह भूत तथा भविष्य के जन्मों का ज्ञाता हो जाता है। वह यह जान लेता है कि उसका पूर्वजन्म क्या था? कैसा था? और कहां था? यह जन्म किस प्रकार हुआ? तथा आगे कैसा जन्म होगा? होगा या नहीं होगा। निष्कर्ष यह है कि अपरिग्रही योगी तीनों कालों में अपने आत्म स्वरूप का ज्ञाता रहता है। वह आत्मप्रतिष्ठ बन जाता है, यह स्थिति सर्वज्ञता जैसी ही है जिसे महावीर स्वामी ने प्राप्त किया था।

वास्तव में आत्म-तत्व अत्यन्त गूढ़ है। उसका रहस्य समझना सामान्य जन की तो बात ही क्या, ज्ञानी व्यक्ति के लिए भी कठिन होता है। इसी कारण आत्मज्ञान को रहस्य विद्या या उपनिषद् विद्या कहा गया है। कठोपनिषद् में इस सम्बन्ध में कहा गया है—

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभूः
तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तारात्मन्।
कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत्
आवृत्तचक्षुः अमृतत्वमिच्छन् ॥ (कठो ४/१)

स्वयम्भू ने इन्द्रियों के छिद्रों को बाहर की ओर बनाया है अर्थात् समस्त इन्द्रियों की प्रवृत्ति बहिर्मुखी है। इसी कारण मनुष्य बाहर की ओर देखता है। कोई ही धीर व्यक्ति अमृत को चाहता हुआ अपनी आंखों-इन्द्रियों को बन्द करके अन्तर्मुख होकर अन्दर विराजमान आत्म-तत्व को देख सकता है।

भगवान् महावीर ऐसे ही अन्तर्मुखी व्यक्ति थे। उन्होंने अपनी इन्द्रियों की बाह्य वृत्ति को अन्दर मोड़ लिया था इसी कारण वे औपनिषदिक योगी थे। ●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

त्राता महावीर

● श्री अनोखीलाल अजमेरा, इन्दौर

ओ, विद्रोही, महावीर,
न रोक सका, तुमको जग सारा,
चल पड़े त्रसित मानव को देने,
सत्य अहिंसा का नारा ।
भूले भटके, फिरते थे जो,
हिंसा का कर झूठा प्रदर्शन ।
मिथ्या दर्शन से भरा ज्ञान था,
अहं भाव का था वह दर्शन ।
घटा टोप हिंसा का नर्तन,
न देख सके वैशाली नन्दन ।
हृदय पसीजा तोड दिये सब,
राग द्वेष के झूठे बंधन ।
राज, महल न रोक सके,
न रोक सकी माता की ममता,
गर्भ गृह आते ही जिनके,
की नभ से रेत्नों की वर्षा ।
जन्मोत्सव पर हर्षित हो सुर ने,
पांडुक शिल पर अभिषेक किया था ।
इन्द्रादिक, देवों ने मिलकर,
सेवा का संकल्प किया था ।
उन सब विलासिता के वैभव को,
तुमने था तृणवत ठुकराया ।
पर परिग्रह परिजन, को तज,
भेष दिगम्बर व्रत को धारा ।
सुख के आडम्बर तो क्या,
उपसर्ग अनेकों कष्ट उठाये ।
पर किसकी सामर्थ जो तुमको,
दृढ़ निश्चय से दूर हटाये ।
करुणा दया, क्षमा, सत्य का,
तुमने था शृंगार बनाया ।
निकल पड़े जिस वसुधा पर,
उस भूमि को था तीर्थ बनाया ।
आदि पुरुष से अन्त वीर ने,
अहिंसा का वरदान दिया था ।
उसी अनोखी याद लिये,
गांधी ने संकल्प किया था ।
सहस बरस तो क्या बीते,
युग न भूल सकेगा नाता ।
त्राता तुम तो मुक्त हुये ।
पर तुम को जगत है शीस नमाता ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भगवान् महावीर ने जिस धर्मतीर्थ का प्रवर्तन किया उसमें उनकी जीवनदृष्टि क्या थी, वह कितना वैज्ञानिक धरातल पर खरा था, वर्तमान विज्ञान से उसका समन्वय कहां तक होता है, इतिहास और साहित्य के क्षेत्र में जैनों की क्या देन है आदि विषयों पर विद्वान् लेखक ने अपनी इस रचना में तर्क एवं उदाहरणपूर्ण विचार प्रस्तुत किए हैं। वर्तमान युग में ऐसे लेखों की उपादेयता असंदिग्ध है।

प्र० सम्पादक

भगवान् महावीर : परम्परा और प्रयोग

● डॉ० देवेन्द्र कुमार शास्त्री, नीमच

यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि भगवान् महावीर ने किसी नवीन परम्परा को जन्म नहीं दिया था। अनादि परम्परित प्रस्थापित मूल्यों एवं सिद्धान्तों को ही जीवन्त परम्परा के रूप में प्रवर्तित करने वाले वर्द्धमान महावीर की गौरव–गरिमा उनकी संरचना में नहीं, किन्तु प्रयोगों में परिलक्षित होती है। महावीर ने किसी नये मार्ग या प्रस्थान का प्रवर्तन नहीं किया था। उनके पूर्व काल-धारा की प्रवर्तमान चतुर्थ विकास–शृंखला में तेईस तीर्थङ्कर हो चुके थे। उन सबका सुदीर्घ इतिहास महावीर के साथ वैसे ही संयुक्त है, जैसे कि तीर्थङ्कर महावीर के साथ जैनधर्म का इतिहास सम्बद्ध है। परम्परा में चिराचरित अनुभवों तथा विशद चिन्तन का सार समाहित होता है। अतः भावी पीढ़ियां उनसे गतिमान हो कर विकसित होती हैं। मानवीय संक्रान्त चेतना का पौराणिक प्रतिबिम्ब युग-युगीन परतों में भी स्पष्ट झलकता लक्षित होता है। इसलिए पुराण कहे जाने वाले शास्त्र ही भारतीय इतिहास की एक मुख्य तथा सुसम्बद्ध कड़ी मानी जाती है। अब इतिहासकार भी पौराणिक अनुश्रुतियों के प्रकाश में तथ्यों का अनुसंधान करने लगे हैं। काश ! हमारे बीच पुराण-साहित्य न होता, तो आधुनिक इतिहासातीत परम्परा का हम सन्धान नहीं कर पाते और हमारा इतिहास अधूरा ही रहता। यह सत्य है कि हमारे वाङ्मय का अधिकांश भाग विलुप्त हो गया है, किन्तु जो अवशिष्ट है उससे उसकी प्रामाणिकता तथा ऐतिहासिक इतिवृत्तों का बहुत कुछ परिचय मिल जाता है। वास्तव में पुराणशास्त्रों में इतिहास, कला, साहित्य, संगीत, अध्यात्म तथा धार्मिक रीति–नीतियों का सुन्दर संकलित रूप वर्णित किया जाता है। लोग सरलता से रुचिपूर्वक पढ़ कर समझ सकते हैं। अतएव पुराणों का विशेष महत्व है। आज कुछ लोग यह कहने लगे हैं कि महावीर के जीवन में कोई घटनायें नहीं घटी थीं और जो घटी थीं, उन में महावीर को ढूंढना व्यर्थ है। किन्तु औसत आदमी के सामने घटनाएं ही होती हैं। यदि वह महावीर को घटनाओं के माध्यम से नहीं समझना चाहेगा, तो क्यों तीर्थङ्करों के जीवनचरित लिखे गए और क्यों घटनाओं में उनकी अतिशयता का वर्णन किया गया ? उन घटनाओं को हम कपोल-कल्पित भी नहीं मान सकते ? फिर, साधारण व्यक्ति के जीवन से महापुरुष के जीवन में कोई न कोई विशेषता अवश्य होती है, जिसे समझने के लिए ही महापुरुषों के जीवन-चरित पढ़े जाते हैं। यह बात अवश्य है कि उन घटनाओं में औचित्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तथा संगति अवश्य होनी चाहिए। यह वर्णन करने वाले के उन सूत्रों पर अवलम्बित होती है, जिनको रेखांकित करता हुआ लेखक वर्ण्य-विषय को आगे बढ़ाता है। यदि उनमें कहीं अनौचित्य लक्षित होता है, तो हमें पूरी परम्परा संक्रांत करनी होती है, जिस प्रक्रिया में वास्तविकता का सरलता से निर्णय हो जाता है। अतएव पुराण निरर्थक नहीं हैं, किन्तु हमारा अर्थ-बोध ही सार्थक व निरर्थक हो सकता है, जो हमारी पकड़ पर अवलम्बित है।

तीर्थ : धर्म-प्रवर्तन

तीर्थ रूपी धर्म का प्रवर्तन करने वाले 'तीर्थङ्कर' कहे जाते हैं। 'तीर्थ' का अर्थ 'घाट' है। जैसे नदी पार करने के लिए घाट एक साधन है, वैसे ही परमार्थ की उपलब्धि के लिए तीर्थ एक साधन है। इस तीर्थ की उपासना मुनियों के द्वारा भी की जाती है। संसार के सभी प्राणी जाने-अनजाने तीर्थ की शरण को प्राप्त होते हैं। 'तिलोयपण्णत्ति' (१, ६८-७०) में कहा गया है- अवसर्पिणी के चतुर्थ काल के अन्तिम भाग में तैंतीस वर्ष, आठ मास और पन्द्रह दिन शेष रहने पर वर्ष के प्रथम मास श्रावण कृष्ण प्रतिपदा के दिन अभिजित् नक्षत्र में धर्मतीर्थ की उत्पत्ति हुई। यह दिन 'वीरशासन-जयन्ती' के नाम से आज भी दिगम्बर-परम्परा मनाती है। श्वेताम्बर-परम्परा इस सम्बन्ध में मौन हैं। जैन संस्कृति में श्रावण कृष्ण प्रतिपदा युग का वह प्रथम दिन माना जाता है, जिस दिन प्रथम बार साढ़े बारह वर्षों तक लगातार मौन रह कर तपस्या करने के उपरान्त तीर्थङ्कर महावीर ने बिहार प्रान्तस्थित राजगृह के विपुलाचल पर ई० पू० ५५७ में जुलाई में प्रथम देशना दी थी। सोलह भावनाएं विशेष रूप से तीर्थङ्कर बनने में निमित्त होने से सोलह कारण कही जाती हैं। मनस्वी लोग अपने पुरुषार्थ से भगवान् बन जाते हैं[1]। जो बिना किसी अपेक्षा के विश्व के सभी प्राणियों को हितकारी मार्ग दिखाते हैं, जिस पर स्वयं चल कर वे परमात्मा बने हैं, वही बिना किसी प्रयोजन के सब को मार्ग दर्शाते हैं, वे ही धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करने वाले मोक्षमार्ग के नेता या तीर्थङ्कर कहे जाते हैं[2]। अर्हन्तों की परम्परा में भगवान् अनन्त बन सकते हैं, किन्तु तीर्थ का प्रवर्तन करने वाला वही होता है जिसने दर्शन विशुद्धि आदिक सोलह भावनाओं के संस्कारों से इतनी विशुद्धता प्राप्त कर ली हो, जिससे तीर्थङ्कर प्रकृति अनुबन्ध हुआ हो। बौद्ध धर्म में भी बुद्ध बनने के लिए षोडश भावनाएं बताई गई हैं। अतएव धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करने वाले, मोक्षमार्ग के नेता सभी भगवान् नहीं होते। नेतृत्व करने वाले कुछ ही होते हैं, जिनकी संख्या चौबीस बताई गई है। उन में से वर्द्धमान महावीर चौबीसवें तीर्थङ्कर थे। उनका जन्म वर्तमान बिहार प्रान्त के मुजफ्फरपुर मण्डल (जिला) के बसाढ़ (वैशाली के कुण्डग्राम) ग्राम में चैत सुदी तेरस (599 ई० पू०) के दिन हुआ था।

जीवन-दृष्टि

महावीर की दृष्टि अनेकान्त मूलक थी। अनेकान्त यह बताता है कि प्रत्येक वस्तु में परस्पर

---

1. तीर्थकृन्नाम सम्प्रापत् फलं कल्याणपंचकम्।
   येन तीर्थंकरो यं स्यात् किं नाप्स्यन्ति मनस्विनः॥ उत्तरपुराण, 50, 12

2. तीर्थकृत्तीर्थभूतात्मा तीर्थनाथः सुतीर्थवित्।
   तीर्थङ्करः सुतीर्थात्मा तीर्थेशस्तीर्थकारकः॥ वीरवर्द्धमानचरित (सकलकीर्ति), 15, 135

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विरुद्ध धर्म तथा अस्तित्व नास्तित्व जैसी परस्पर विरुद्ध सापेक्ष शक्तियां रहती हैं। निर्मल आत्मा कही जाने वाली तद्रूप-अतद्रूप, एकानेकात्मक या सदसदात्मक अथवा नित्यानित्यात्मक स्वभाव वाली है। यथार्थ में व्यवहार तथा निश्चयनय परस्पर विरुद्ध नहीं हैं, किन्तु उनको सर्वथा एकान्त दृष्टि से मानने पर विरोधी जान पड़ते हैं। आचार्य समन्तभद्र का कथन है कि सत्-असत्, नित्य-अनित्य एक-अनेक, वक्तव्य-अवक्तव्य ये परस्पर विपक्षी हैं। इनको यदि सर्वथा एकान्त दृष्टि से माना जाए, तो ये एक दूसरे के विरुद्ध हो जाते हैं; परन्तु कथंचित् रूप में स्वीकार करने पर ये एक दूसरे के पूरक एवं पोषक बन जाते है[1]। तत्त्व दो प्रकार से व्यवस्थित है—भावार्थवान् होने से द्रव्य रूप है और व्यवहारवान् होने से पर्याय रूप है। भगवान् महावीर के जिनशासन में द्रव्य और पर्याय दोनों असर्वथा रूप से भिन्न, अभिन्न और भिन्नाभिन्न माने गए हैं। ये सर्वथा विरुद्ध नहीं हैं[2]। निश्चय और व्यवहार इन दोनों में से किसी एक का आश्रय लेने पर मिथ्या एकान्त हो जाता है। इसलिए न व्यवहार सर्वथा हेय है और न निश्चय। निश्चय साध्य है और व्यवहार उसका साधन है। व्यवहार नय से तीर्थ की और निश्चय नय से तीर्थफल की सिद्धि उपलब्ध हो जाती है। व्यवहार नय के बिना निश्चय नय की सिद्धि कदापि नहीं होती[3]। जीव की संसार अवस्था का छेद करने के लिए केवल शुद्ध निश्चय नय का आलम्बन लेना चाहिए। व्यवहार वहां गौण हो जाता है। आचार्य अमृतचन्द्रसूरी कहते हैं कि स्याद्वाद की मुद्रा से मुद्रित अनेकान्त में इन दोनों नयों का विरोध समाप्त हो जाता है[4]। जब तक पर्यायनिरपेक्ष द्रव्य और द्रव्यनिरपेक्ष पर्याय नहीं है, तब तक कोई भी नय हो, वह शुद्ध नहीं हो सकता। मूल में ये दो ही नय माने गए हैं। इनमें से किसी एक के बिना दूसरे का सद्भाव नहीं बन सकता। ये भिन्न-भिन्न सत्रूप द्रव्य के लक्षण नहीं कहे गए हैं। ये दोनों ही नय परस्पर निरपेक्ष अवस्था में मिथ्या-दृष्टि बताये गए है।[5] जब ये ही नय सापेक्ष हो कर अपने-अपने विषय का प्रतिपादन करते हैं, तब सम्यकदृष्टि कहे जाते हैं। निरपेक्ष अवस्था में ये नय अपने-अपने पक्ष का पोषण करते हैं इसलिए मिथ्या कहे जाते हैं; किन्तु एक दूसरे के विषय का निराकरण न करते हुए सापेक्ष अवस्था में केवल अपने विषय के पोषक होते हैं। भगवान् महावीर की यही जीवन-दृष्टि थी।

वैज्ञानिकता

भगवान् महावीर की परम्परा कोई अन्ध-विश्वास या रूढ़ि नहीं है। वह प्राणी मात्र को

---

1. सदनैकनित्यवक्तव्यास्तद्विपक्षाश्च यै नयाः।
   सर्वथेति प्रदुष्यन्ति पुष्यन्ति स्यादितीह ते ।। आचार्य समन्तभद्र
2. न द्रव्य-पर्याय पृथग्व्यवस्था द्वैयात्म्यमैकार्पणया विरुद्धम्।
   धर्मी च धर्मश्च मिथस्त्रिधेमो न सर्वथा तेऽमिमतौ विरुद्धौ ।। युक्त्यनुशासन, 47
3. णो ववहारेण विणा णिच्छयसिद्धि कयावि णिद्दिट्ठा।
   साहणहेउ जम्हा तस्स य सो भणिय ववहारो ।।
4. 'उभयनयविरोधध्वंसिनि स्यात्पदाङ्के जिनवचसि रमन्ते०'
5. तम्हा सव्वे वि णया मिच्छादिट्ठी सपक्खपडिबद्धा।
   अण्णोण्ण णिस्सिया उण हवंति सम्मतसब्भावा ।। सन्मतिसूत्र, 1, 21

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उस मुक्ति की राह दिखाती है, जिसमें पूर्ण रूप से स्वाधीनता तथा आत्ममुक्ति का सन्देश निहित है। विज्ञान जिस प्रकार कार्य-कारण सिद्धान्त पर आधारित है, उसी प्रकार से जैन धर्म भी एक आध्यात्मिक विज्ञान के आधार पर प्रचलित है। संसार का कारण और उससे मुक्त होने का उपाय वैज्ञानिक रासायनिक की भांति कर्म-सिद्धान्त के अनुसार विवेचित हैं। विज्ञान में जिसे कार्य-कारण मात्र कहा गया है, उसे ही शास्त्र की भाषा में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध कहा जाता है। संसार बनने का कारण है और संसार मिटने का भी कारण है। जीव और कर्म का सम्बन्ध सहज ही निमित्त-नैमित्तिक है। यदि इस सम्बन्ध को कोई बनाने वाला हो, तो बिगाड़ने वाला भी चाहिए। परन्तु न तो कोई बनाता है और न कोई बिगाड़ सकता है। यह सब पूर्व संस्कारों तथा प्राकृतिक सम्बन्धों से बनता-बिगड़ता रहता है। एक बार सम्बन्ध मिट जाने पर फिर कोई बना नहीं सकता। प्रो० ए० चक्रवर्ती के शब्दों में जैनदर्शन स्पष्टतया यथार्थवादी है। अतः यह आकाश तथा काल से युक्त सभी वस्तुओं को वास्तविक मानता है। जैन दार्शनिकों ने काल को क्षणों की राशि रूप कहा है, जिन्हें काल-परमाणु कहते है। जैन आचार्यों ने आकाश, काल और अनन्त प्रचय के विरुद्ध उठायी गई अनेक शंकाओं के उत्तर में गणितीय पद्धति को समुन्नत किया था, जिसका समर्थन आधुनिक गणित के सिद्धान्त करते हैं और जिसका प्रचार रसल और ह्वाईट हेड जैसे महान गणितज्ञों ने किया है। भारतीय गणित विद्या का प्रचार तथा प्रसार सुदूरपूर्व एशिया में देश-देशान्तरों में प्राचीनकाल में हो चुका था। ग्रीक के पेथागोरस न केवल गणितविद्या से, वरन् जैन सिद्धान्त व आचार-विचार से बहुत प्रभावित थे। चीन में जो चौथी शताब्दी ईसा-पूर्व गणितीय पद्धति का प्रचलन था, वह जैन गणित शास्त्र से बहुत कुछ साम्य रखती है। जैनों का अपना समुन्नत गणितशास्त्र रहा है[1]। जैन आचार्यों ने अपने दर्शनशास्त्र को गणितीय पद्धति पर समझाने के लिए गणितशास्त्र को जन्म दिया। इसके लिए उन्होंने प्रतीकों तथा चिह्नों का भी उपयोग किया है। तुलनात्मक अध्ययन से यह प्रतीत होता है कि जैन आचार्यों द्वारा प्रतिपादित गणित-सिद्धान्तों को देश-देशांतरों में भलीभांति अपनाया गया है। ये सिद्धान्त चीन में भी पहुंचे और वहां पर एक पद्धति को जन्म दिया। षट्खण्डागम के तुलनात्मक अध्ययस से यह सिद्ध हो चुका है[2]। जंबूद्वीपपण्णति, चंदपण्णति और सूर्यपण्णति के अध्ययन से भी यह प्रमाणित हो चुका है। काल-विभाग तथा कालगणना का वैज्ञानिक क्रम भी इन ग्रन्थों में वर्णित है। आर्यभट्ट को गणित एवं ज्योतिष का प्रथम भारतीय विद्वान् माना जाता है किन्तु उनके पूर्व सूर्यप्रज्ञप्ति (ई० पू० 365), चन्द्रप्रज्ञप्ति (ई० पू० 365) और ज्योतिषकाण्ड आदि में अनेक महत्त्वपूर्ण बातों का विवेचन मिलता है। इन ग्रन्थों के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि अयन, मलमास, नक्षत्रों की श्रेणियां, सौरमास, चन्द्रमास आदि का विशद विवेचन हो चुका था।[3] इन ग्रन्थों में संस्थाओं के स्वरूप, नाम, अक्षर संकेतों द्वारा संस्थाओं की

---

1. द्रष्टव्य है, बी० बी० दत्त : द जैन स्कूल आव मेथेमेटिक्स, बुलेटिन आव कलकत्ता मैथेमैटिकल सोसायटी, जिल्द 21,1929, पृ० 115–145
   तथा मुकुट बिहारी अग्रवाल : गणित एवं ज्योतिष के विकास में जैनाचार्यों का योगदान, (शोधप्रबन्ध), आगरा वि० वि० 1972
2. लक्ष्मीचन्द जैन : जैन स्कूल आव मेथेमैटिक्स, पृ० 209 (कन्ट्रीब्यूशन आव जैनिज्म टु इण्डियन कल्चर)
3. डॉ० श्याम शास्त्री : वेदांग ज्योतिष की भूमिका, पृ० 1–26

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अभिव्यक्ति, वर्गमूल, वृत्त, त्रिभुज आदि गणित के अनेक विषयों का उल्लेख प्राप्त होता है। जैनाचार्यों के ग्रन्थों में गणित के अनेक ऐसे मौलिक सिद्धान्त निबद्ध हैं, जो भारतीय गणित में अन्यत्र नहीं मिलते[1]।

जैन वाङ्मय में सम्यक अध्ययन से यह स्पष्ट हो चुका है कि आधुनिक विज्ञान के क्षेत्र में भ० महावीर की विरासत अन्यतम है। सर्वप्रथम भारतीय प्रसिद्ध वैज्ञानिक प्रोफेसर जगदीशचन्द्र वसु के साथ यह प्रमाणित हुआ था कि पेड़, पौधे व वनस्पति में भी प्राण होते हैं। जैन ग्रन्थों का तो यह प्रारम्भिक सूत्रवाक्य पाया जाता है कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति में प्राण पाए जाते हैं। ये सभी एकेन्द्रिय जीव हैं। प्राणों की संख्या भी जैन वनस्पति शास्त्र तथा जीव-विज्ञान की अपनी मौलिक देन है। इसी प्रकार से पानी की एक बूंद में सैकड़ों जीव पाए जाते हैं। इसी प्रकार से रासायनिक एवं भौतिक सिद्धान्त विषयक अनेक मौलिकता जैनदर्शन की अपनी देन है। इस सूक्ष्म तत्त्वदर्शन तथा पदार्थविद्या के पीछे करोड़ों वर्षों की अनुभूत परम्परा तथा सिद्धान्तों को निरूपित करने वाली व्यवस्थित भाषा-परम्परा है। यही कारण है कि अधुनातन वैज्ञानिक मुक्त कण्ठ से जैन सिद्धान्तों की प्रशंसा कर रहे हैं। 1956 में नोबल पुरस्कार-विजेता रिचर्ड फिनमन के शब्दों में जैन सिद्धान्तों की यह पुनः महान विजय है, जिस पर हमें गर्व होना चाहिए। विज्ञान ने आज दिन तक आकाश की आण्विकता का प्रत्यय नहीं किया[2]। परन्तु जैन-दर्शन आकाश को अनन्तप्रदेश मानता है। आकाश के विभाग के सम्बन्ध में जैनदृष्टि का वर्तमान विज्ञान से समर्थन होता है। आकाश को सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के रूप में माना गया है। लोकाकाश और अलोकाकाश का वर्णन जैनों का मौलिक विचार है। उनके लक्षणों का तुलनात्मक विचार करने पर जैन मान्यता सत्य प्रतीत होती है[3]। वैज्ञानिकों का अणु आज खण्डित हो चुका है। यथार्थ में अणु के प्रदेश नहीं होते। प्रदेश की मान्यता जैन-दर्शन में ही पायी जाती है। बिना इसके सूक्ष्मतम विज्ञान को नहीं समझाया जा सकता। लारेन्स होस्टमेन का कथन स्पष्ट है कि जैनों के अनुसार उन असंख्य अन्तवान छोटे-छोटे कोषों को प्रदेश कहते हैं जो किसी भी प्रकार विभक्त न किए जा सकते हों[4]। द्रव्य संग्रह (गाथा 27) में यही परिभाषा निरूपित की गई है। सर पी० सी० राय ने भी जैन सिद्धान्तों की गरिमा का उल्लेख किया है[5]। जैन दर्शन में कार्मणवर्गणाओं का जो सूक्ष्म-तम आविष्कार वर्णित है, वहां तक अभी पाश्चात्य विज्ञान की पहुँच नहीं है। इस दृष्टि से अभी भी आविष्कार एवं अनुसन्धान के लिए सत्य-दर्शन का एक वृहत क्षेत्र अवशिष्ट है। जैन दर्शन की उन सभी वैज्ञानिक उपलब्धियों का उल्लेख करना इस छोटे से लेख में सम्भव नहीं है। संक्षेप में इतना ही समझ लेना चाहिये कि क्या भौतिक विज्ञान, क्या रसायन शास्त्र, क्या वनस्पति शास्त्र, क्या

---

1. डॉ० नेमीचन्द्र शास्त्री : भारतीय ज्योतिष, पृ० 72
2. प्रो० जी० आर० जैन : कॉस्मालॉजी ओल्ड एण्ड न्यू, पृ० 3
3. डॉ० जे० सी सिकदार : जैन कान्सेप्ट आव स्पेस, पृ० 160–161, "कन्ट्रीब्यूशन आव जैनिज्म टु इण्डियन कल्चर"
4. कॉसमालॉजी ओल्ड एण्ड न्यू, पृ० 3
5. पी० सी० राय : हिन्दू केमिस्ट्री, भाग 2

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गणित, ज्योतिष, मनोविज्ञान, पदार्थविद्या आदि सभी विषयों में जैन आचार्यों की मौलिक एवं महान देन हैं।

केवल अध्यात्म और विज्ञान के क्षेत्र में ही नहीं, सभी प्रमुख भाषाओं तथा प्रान्तीय बोलियों में भी विपुल जैन साहित्य मिलता है। अधिकतर जैन साहित्य अब भी हस्तलिखित ग्रन्थों के रूप में उत्तर भारत से ले कर दक्षिण भारत तक में बड़े-बड़े मन्दिरों तथा मठों में ताड़पत्रों और कागजों पर लिखित ग्रन्थों के रूप में उपलब्ध होता है। केवल प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश में ही नहीं, तमिल और मलयालम में भी प्रचुर जैन साहित्य मिलता है। कन्नड़ का प्राचीनतम तथा प्राचीन साहित्य जैन साहित्य ही उपलब्ध होता है। कन्नड़ साहित्य के रत्नत्रय के रूप में पम्प, पोन्न और रन्न अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। महाकवि पम्प की रामायण भारतीय साहित्य की विशिष्ट रचना मानी जाती है। कन्नड़ में व्याकरण, पुराण, काव्य सिद्धान्त आदि अनेक विषयों के ग्रन्थ जैन आंचार्यों एवं साहित्यकारों के रचे हुए मिलते हैं। प्राकृत और अपभ्रंश का अधिकतर साहित्य जैन साहित्य है। संस्कृत में भी लगभग पांच सौ लेखकों की लगभग दो हजार जैन रचनाएं उपलब्ध होती हैं। अब भी अनेक अज्ञात रचनाएं जैन भण्डारों की शोभा बढ़ा रही हैं। यह साहित्य बहुत कम प्रकाश में आया है। श्री दि० जैन मठ, चित्तामूठ (साउथ आरकाड) के शास्त्र भण्डार में प्राकृत भाषा में निबद्ध पदार्थसार (माघनन्दि) लोकचूड़ामणि (वीरनन्दि), रयणसार (वीरनन्दि), त्रिभंगीरचना आदि ऐसे ग्रन्थ हैं, जिनके नाम ही जैन विद्वानों के लिए नए हैं। इसी प्रकार से तमिल व्याकरण 'नन्नूर' (नवनन्दी मुनि) संस्कृत का 'पंचगन्धिव्याकरण', संस्कृत में ही 'कौमारव्याकरण' एवं शाकटायन कृत 'सुवन्थ संग्रह' आदि ऐसी अज्ञात रचनाएं हैं, जिनका नाम प्रथमबार (कौमारव्याकरण को छोड़ कर) पढ़ने को मिलता है। अपभ्रंश की अब तक लगभग पांच सौ रचनाएं उपलब्ध हो चुकी हैं। सम्प्रति 'अंजनाचरित' आदि कुछ अन्य रचनाओं का भी पता लगा है, जो अभी तक अज्ञात हैं। केवल विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं और उनके साहित्य के उन्नयन में ही नहीं, इतिहास वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला तथा संगीत आदि की समृद्धि में भी जैनों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। पी० सी० मित्रा ने निःसंकोच भाव से लिखा है कि निश्चित रूप से प्रागैतिहासिक गुफाओं की खोजों से यह तथ्य प्रकट हुआ है कि दस हजार वर्ष पुरानी गुफाओं में कुछ न्युलिथिक प्रागैतिहासिक चित्रकला से समृद्ध हैं; जैसे कि रायगढ़ क्षेत्र में सिंगारपुर है, जो निश्चित रूप से बिना किसी संशय के जैनकला से प्रभावापन्न आदिमयुगीन है[1]। भारतीय कला का क्रमबद्ध इतिहास मौर्यकाल से प्राप्त होता है। सम्राट अशोक का उत्तराधिकारी सम्प्रति जैनधर्मावलम्बी था। बौद्ध ग्रन्थों में जो स्थान अशोक को दिया गया है, वहीं जैन ग्रन्थों में सम्प्रति को दिया गया है। मौर्यकालीन जैन प्रतिमाएं लोहानीपुर आदि स्थानों से प्राप्त हुई हैं। पार्श्वनाथ की एक कांस्यप्रतिमा जो कायोत्सर्ग आसन में है, बम्बई संग्रहालय में सुरक्षित है[2]। श्वेताम्बर आलेखों से पता चलता है कि भगवान् महावीर के समय में ही उनकी मूर्ति का निर्माण होने लगा था। यूनान के राजा डेमेट्रियस तीर्थङ्कर महावीर के अनन्य भक्त थे[3]। भगवान् महावीर की यह परम्परा आज तक सुरक्षित है।

---

1. जर्नल आव एशिया, 10,2 और 11,1 द्रष्टव्य हैं।
2. "श्रमण" के महावीर-निर्वाण-अंक, पृ० 39 से उद्धृत
3. ल्युडर्स : डी० आर० भण्डारकर वाल्यूम, कलकत्ता, पृ० 280–289

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

* वीर नहीं महावीर हो गये *

हास्य कवि—श्री हजारीलाल जैन 'काका' बुन्देलखंडी
पो० सकरार
जिला झांसी (उ. प्र.)

संयम, शील, साधना के शस्त्रों से ही तुम,
ऊंच नीचे के,
राग द्वेष के,
राक्षस का अस्तित्व खा गये,
इसीलिये तो आज विश्व की नजरों में तुम,
शांति प्रदाता,
भाग्य विधाता,
वीर नहीं महावीर हो गये।

\+ + + +

धर्म समझ कर अग्निकुण्ड में जब पशुओं को,
पकड़ पकड़ कर,
मार पीट कर,
निर्दयता से झोंका जाता,
सती नाम पर दीन हीन निर्बल नारी को,
बिना राय के,
हर उपाय से,
पति के साथ जलाने का नित मौका आता,
तब, "जिओ और जीने दो" का सन्देश सुनाकर,
निर्बल, हीन,
अनाथ, दीन की,
आप स्वयं तकदीर हो गये,
इसलिये तो आज विश्व की नजरों में तुम,
शाँति प्रदाता,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भाग्य विधाता,
वीर नहीं महावीर हो गये,

\+ + + +

चौतरफा से पुनः गरजनें लगे वहीं हिंसा के बादल,
उमड़,–उमड़ कर,
घुमड़–घुमड़ कर,
डरा रहे हैं सारे जग को,
और आपकी सत्य अहिंसा की छतरी में विद्वानों ने छेद कर दिये,
हर आंखों में फिर से,
सावन झांक रहा है,
धधक–धधक कर,
भमक–भमक कर,
अणु-शक्ति से प्रज्वलित फिर से यज्ञ हो गये,
कोई नहीं है आज विश्व में सुनने वाला,
समझदार 'काका' भी जब बे पीर हो गये,
इसीलिये तो आज विश्व की नजरों में तुम,
शांति प्रदाता,
भाग्य विधाता,
वीर नहीं महावीर हो गये।

———

"जैसे तुझे दुःख अच्छा नहीं लगता वैसे ही संसार के अन्य प्राणियों को भी अच्छा नहीं लगता, यह समझ कर सब प्राणियों पर आत्मवत् आदर एवं उपयोग-पूर्वक दया करो।"

—भगवान् महावीर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महावीर ने किसी नए धर्म की स्थापना नहीं की। कोई नई बात भी उन्होंने अपने उपदेशों में नहीं कही। जो कुछ उन्होंने कहा, आचरण किया वह नित्य और शाश्वत है। आज भी उसका उतना ही महत्व है जितना कि महावीर के समय या उससे भी पहले था और भविष्य में भी उसकी इस महत्ता में कोई कमी आने वाली नहीं है। भेद केवल यह होता है कभी अधिकांश जनता धर्म की ओर प्रवृत्त होती है और कभी उससे विमुख। ऐसे समय विपथगामियों को सत्पथ पर आरूढ़ करने के लिए उपदेष्टा की, मार्गप्रदर्शक की आवश्यकता होती है। महावीर के समय भी कुछ ऐसी ही परिस्थितियां थीं। मानव अपना कर्त्तव्यपथ भूल चुका था, उससे च्युत हो गया था। ऐसे समय महावीर ने उन्हें सन्मार्ग की ओर प्रवृत्त करने का महान् कार्य किया। यह कार्य उन्होंने खण्डनात्मक तरीके से नहीं किया अपितु एतदर्थ उन्होंने समन्वयात्मक मार्ग अपनाया। कैसे ? यह विद्वान् लेखक की इन पंक्तियों में पढ़िये।

—प्र० सम्पादक

भगवान् महावीर और उनके धर्म की समन्वयात्मक पृष्ठभूमि

● श्री रिषभदास रांका
सम्पादक—जैन जगत, बम्बई, पूना

भगवान् महावीर ने जो कुछ कहा था, मानवमात्र के लिए कहा था। वे किसी एक धर्म, जाति या सम्प्रदाय के लिये नहीं थे और उनके उपदेश भी किसी धर्म जाति या सम्प्रदाय के दायरों में नहीं। उन्होंने स्वयं इस बात को स्पष्ट किया है कि मैं जो कह रहा हूं वह ध्रुव है, नित्य है, शाश्वत है, मेरे पहले भी अनेकों ने कहा, आज भी कह रहे हैं और भविष्य में भी कहेंगे।

वे कहते हैं—"हर प्राणी सुख से जीना चाहता है, दुःख या मृत्यु किसे भी प्रिय नहीं है इसलिये जिस तरह के व्यवहार की दूसरों से अपेक्षा रखते हो, वैसा ही व्यवहार दूसरों से करो।"

उनकी दृष्टि के अनुसार सुख का सच्चा मार्ग यही है कि दूसरों के साथ आत्मीयता का व्यवहार किया जाय। परायापन ही दुःख का कारण है इसलिये सुख की चाह हो तो सबके साथ आत्मवत् व्यवहार करो। तुम्हारा शत्रु बाहर नहीं है। तुम ही स्वयं तुम्हारे शत्रु और मित्र हो। तुम्हारे सुख-दुःख के कर्त्ता, अपने भाग्य के विधाता मात्र तुम्हीं हो।

सभी में आत्मा से परमात्मा, नर से नारायण एवं जीव से शिव बनने की क्षमता है। जरूरत है सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक् चारित्र धारण करने की। जब अपने आप और अपने सत्कर्मों पर दृढ़ निष्ठा हो जाय, ठीक विवेक अथवा ज्ञान आ जाय तो सम्यक् आचार सहज है। क्योंकि जीवन के बहुत सारे दुःख अज्ञान के कारण हैं। इस निष्ठा के अभाव में है कि सद् का परिणाम अच्छा ही होने वाला है। वस्तु का स्वभाव धर्म है। तब सद्

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का परिणाम कैसे आ सकता है। संभव है परिणाम आने में विलम्ब हो किन्तु आम के वृक्ष में तो आम ही लगेंगे दूसरा फल कैसे लगेगा। दूसरा फल लगना असंभव ही तो है।

महावीर के समय में उनके धर्म को निर्ग्रन्थ धर्म कहा जाता था जिसमें किसी प्रकार की ग्रन्थी नहीं। मूर्च्छाओं, आसक्तियों, परिग्रहों से दूर, जिसमें किसी प्रकार का आग्रह नहीं; इसलिये वह धर्म था, इसीलिये उसे कोई नाम नहीं दिया गया था।

सबके लिये मंगलकारी धर्म—उसका लक्षण महावीर ने बताया था—अहिंसा यानी प्राणिमात्र के प्रति समता। मन, वचन और शरीर से किसी को भी कष्ट न पहुंचाना। सबको आत्मवत् मानकर व्यवहार करना जिसमें संयम आवश्यक हो जाता है। संयम के लिये सहना भी होता है। यही तो उनका धर्म था। यह धर्म किसी व्यक्ति या वर्गविशेष के लिये नहीं था। सबके लिये था और सबका था। उससे स्त्री का भी उद्धार हो सकता था, पुरुष का भी। गृहस्थी भी उसे अपनाकर तिर सकता था और गृहत्यागी भी, धनवान भी और निर्धन भी, ब्राह्मण भी और चाण्डाल भी, नगरवासी भी और वनवासी भी। शर्त इतनी ही थी कि समता आ जाय। सम्पूर्ण समता आने पर उद्धार में कोई बाधा आ नहीं सकती। कोई बाधक बन नहीं सकता।

महावीर की भक्ति की विशेषता यह रही है कि वे भक्त को भगवान् बना देते हैं। मानव के भीतर की आत्मज्योति जगाकर उसे अपना पथ प्रशस्त करने को कहते हैं। उन्होंने कहा—सुख बाहर कहां ढूंढते हो। सुख का भण्डार तो तुम्हारे पास मौजूद है। जरूरत है सही दृष्टि की, सही निष्ठा की और सदाचार की, जिसका करना तुम्हारे हाथ में है।

उन्होंने अपनी आत्मचेतना जगाने को कहा था जिसका आरम्भ अपने से होता है। वे उपदेश को विशेष महत्व नहीं देते थे और उपदेश देना भी हो तो उस उपदेश का उपयोग मानते थे जिसके जीवन में धर्म उतरा हो। जो व्यक्ति उसके लाभ से लाभान्वित हो वह ही उपदेश दे। तभी तो 12 साल साधना में उन्होंने लगाये और 12 साल के बाद भी कहीं नहीं कहा कि मैं जो कहता हूं तुम्हें उसे मानना ही चाहिये। कोई उनके उपदेश से प्रभावित होकर प्रव्रजित होना चाहता था तब भी वे यही कहते थे कि जैसा तुम्हें ठीक लगे वैसा करो। जिसमें तुम्हें सुख मालूम हो वह करो। उनका काम तो मनुष्य को आत्मचेतना का भान कराना था। वहां आग्रह को कोई स्थान नहीं था। अनुभव लेने की बात थी, कहने की कहीं। धर्म करणीय था दिखावे के लिये नहीं था।

इसलिये उनका धर्म व्यापक था। वे कभी नहीं कहते थे कि तुम मेरी शरण में आओ मैं तुम्हारा उद्धार कर दूंगा। बल्कि जैन धर्म की व्यापकता यहां तक थी कि उसमें याज्ञवल्क्य, असित्, देवल, आंगिरस तथा बौद्ध या आजीविक सम्प्रदाय वाले भी अर्हत् पद को प्राप्त हुये थे।

जैन या भगवान् महावीर की परम्परा प्राचीन काल से चली आ रही है ऐसी जैनियों की मान्यता उनके साहित्य, पुराण या शास्त्रों के आधार पर थी इस बात को अब इतिहासज्ञ भी स्वीकार करने लगे हैं। यह मान्यता कि जैन धर्म बौद्ध या हिन्दू धर्म की शाखा है, कई ऐतिहासिक खोजों के कारण बदल गई है।

भारत की प्राचीन संस्कृति अत्यन्त गौरवपूर्ण व उन्नत होते हुये भी उसका ठीक परिचय पाने में कई कठिनाईयां हैं। भारत में व्यवस्थित इतिहास लिखने की प्रथा नहीं थी। प्रारम्भ में तो लेखन का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रचलन नहीं था। पाठान्तर चलता था। वेदों के रूप में उपलब्ध प्राचीन साहित्य का निर्माण बहुत बाद में हुआ और लिपिबद्ध करने का काम तो और भी बहुत बाद में हुआ।

प्रारम्भ में गुरु अपने शिष्यों को ऋचाएं कंठस्थ कराते थे और उनका पठन होता था। इसलिये अन्य प्राचीन संस्कृतियों से भारतीय संस्कृति अर्वाचीन समझी जाती रही। प्राचीन इतिहास की खोज विदेशी विद्वानों ने जो साधन उपलब्ध हुये उस आधार पर की। प्राचीन भारतीय संस्कृति का प्रारम्भ आर्यों के आगमन के बाद माना जाता था लेकिन मोहन-जोदड़ों, हड़प्पा तथा अन्य स्थानों की खुदाई के बाद माना जाने लगा है कि आर्यों के आगमन के पहले भारत में एक समुन्नत संस्कृति थी।

वेद-पूर्व भारतीय संस्कृति के विषय में खोज होने लगी और विद्वान् मानने लगे कि वह वैदिक संस्कृति से भिन्न 'श्रमण' या 'आर्हत्' संस्कृति होनी चाहिये। स्व० डा० रामधारीसिंह "दिनकर" ने 'संस्कृति के चार अध्याय' में लिखा है कि "यह मानना युक्तियुक्त है कि श्रमण संस्था भारत में आर्यों के आगमन से पूर्व विद्यमान थी और ब्राह्मण इस संस्था को हेय समझते थे। यह ब्राह्मण-श्रमण संघर्ष बौद्धों के पूर्व भी था। क्योंकि पाणिनी ने, जिनका समय ईसा के पूर्व सात सौ वर्ष माना जाता है, श्रमण-ब्राह्मण संघर्ष का उल्लेख "शाश्वतिक-विरोध" के उदाहरण के रूप में किया है।"

आगे चलकर वे लिखते हैं—"पौराणिक हिन्दू धर्म आगम और निगम दोनों पर आधारित माना जाता है। निगम है वैदिक प्रधान और आगम श्रमण प्रधान है। आगम शब्द वैदिक काल से चली आती हुई वैदिकेतर धार्मिक परम्परा का वाचक है। जैनियों के प्रमुख धार्मिक ग्रन्थ कहलाते हैं–'आगम'। बौद्ध धर्म की स्थापना भगवान् बुद्ध ने की है, जिनका काल आज से पच्चीस सौ वर्ष पूर्व का है, अतः बौद्धों के पहले भारत में श्रमण-संस्कृति थी और उसके जैन होने की संभावना ही अधिक है। भगवान् बुद्ध के पहले 250 वर्ष पूर्व तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ हुये थे। उनका व उससे भी अधिक प्राचीनकाल में जिनका उल्लेख मिलता है वे अरिष्टनेमि तथा ऋषभदेव जैनों के तीर्थङ्कर हो गये हैं। इसलिये अधिक सम्भव यही है कि प्रागैतिहासिक काल में यहां जो संस्कृति थी वह जैन संस्कृति से मिलती-जुलती या जैन संस्कृति ही थी। जैन-अनुश्रुतियों से भी संकेत मिलते हैं कि जैनधर्म प्राचीनकाल से चला आ रहा है। खुदाई में मिली वस्तुओं के अतिरिक्त मानववंश-शास्त्र, भाषा, धार्मिक विचार, साहित्य और उपास्यदेव आदि साधनों का भी शोधकारों ने उपयोग किया, जिससे शोधक इस निर्णय पर पहुँचे है कि वैदिक-संस्कृति के पूर्व भारत में जो आर्येतर जातियां बसती थीं उनके धार्मिक रीति-रिवाज और विचार सुसंस्कृत थे और उनका रहन-सहन और आचरण सभ्यतापूर्ण था। आर्येतरों की सभ्यता नागरिकों की थी। उनके मकान हर प्रकार की सुख-सुविधाओं से युक्त थे। गृह-निर्माण तथा स्थापत्य कला में उनकी काफी प्रगति थी।"

यह देखना होगा कि वैदिक व ब्राह्मण संस्कृति में किन-किन बातों में अन्तर था। वेदों में जिस यज्ञप्रधान संस्कृति के दर्शन होते हैं उसमें वेद तथा ब्रह्म को श्रेष्ठ घोषित किया गया है और ब्रह्म की प्राप्ति के लिये यज्ञ-कर्म को परम पुरुषार्थ माना है। यज्ञप्रधान संस्कृति का वेद-काल तथा उसके पूर्व भी विरोध दिखाई देता है। व्रात्य और साध्य आर्हत् संस्कृति के उपासक थे। वे मानते थे कि सृष्टि प्राकृतिक नियमों से बंधी हुई है। उसका ईश्वर कर्त्ता नहीं है। प्रकृति के नियमों के ज्ञान से नये संसार की मनुष्य रचना कर सकता है। मनुष्य की शक्ति ही सभी शक्तियों में श्रेष्ठ है। श्री देवदत्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शास्त्री ने चिन्तन के नये चरण में लिखा है कि "साध्या ने सरस्वती व सिन्धु के संगम पर विज्ञान व भुवन स्थापित कर सूर्य का निर्माण किया था। विज्ञान भवन में बैठकर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का साक्षात्कार किया था। आज की वैज्ञानिक खोजों से भी यह प्रतीति आज हो रही है। आर्हतों का कर्म में विश्वास था। वे मुख्य रूप से क्षत्रिय थे। राजनैतिक कार्यों के साथ-साथ उनमें अध्यात्म में रुचि थी। वे 'अर्हत्' के उपासक थे। उनके उपासना स्थल भी पृथक् थे जिसकी पुष्टि श्रीमद्भागवत्, पद्मपुराण, विष्णुपुराण, स्कन्दपुराण आदि से होती है जिनमें जैन धर्म की उत्पत्ति के विषय में अनेक आख्यान उपलब्ध हैं। आर्हत् धर्म जिस परम्परा का प्रतिनिधित्व करता है, वही वेदों, उपनिषद, जैनागम, महाभारत और पुराण साहित्य में कुछ हेर-फेर के साथ स्पष्ट दिखाई देता है। तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ के समय तक जैन धर्म के लिये "आर्हत्" शब्द ही प्रचलित था।"

जैन शास्त्रों में भी यह लिखा पाया जाता है कि प्रत्येक तीर्थङ्कर के तीर्थ में देश, काल, एवं परिस्थिति के अनुसार धर्म के आचार में परिवर्तन होता है। जैसाकि तीर्थंकर पार्श्वनाथ के समय में चातुर्याम वाला धर्म था। उसे भगवान् महावीर ने पंच-महाव्रत के रूप में विकसित किया। मूल में आर्हत् धर्म अहिंसा व समता प्रधान था। और वह कर्म-प्रधान और निवृत्तिमूलक था। वैदिक संस्कृति प्रवृत्तिमूलक और वर्तमान जीवन को कैसे सुखपूर्ण बनाया जाय इन विचारों की तथा यज्ञप्रधान थी। किन्तु इन दोनों संस्कृतियों में आगे चलकर समन्वय हुआ। यज्ञ में पशुहिंसा हीन समझी जाने लगी। यह काल उपनिषद व महाभारत का था।

वैसे आर्हत् और वैदिक संस्कृति दोनों ही ऋषभदेव को आदरणीय एवं पूज्य मानती हैं। समन्वय के कारण ही ऋषभदेव को ब्राह्मणों ने अपने 24 अवतारों में स्थान दिया है। मोहन-जोदड़ों की खुदाई से लगता है कि ऋषभदेव आर्यों के आगमन के पहले हुये थे क्योंकि खुदाई में कायोत्सर्ग ध्यान मुद्राएं मिली हैं जिनका प्रतीक-चिह्न बैल था। ऋषभदेव की भांति ही शंकर का चिन्ह भी बैल था। ऋषभ और शंकर दोनों ही योग को महत्व देते थे, दोनों ही निवृत्ति-प्रधान भी थे और यज्ञों के विरोधी थे। अध्यात्म, सादगी, संयम और पुनर्जन्म को माननेवाले थे। कई विद्वानों ने इन दोनों को एक बताने की भी कोशिश की है। वे एक हों या अलग-अलग किन्तु दोनों विचारधाराएं निवृत्ति-प्रधान थी इसमें दो राय नहीं रही है। वैदिक विचार पद्धति से उनकी विचारधारा भिन्न थी। कुल मिलाकर भारतीय संस्कृति, दर्शन और अध्यात्म पर निवृत्ति का प्रभाव ही अधिक दिखाई देता है। भारत की प्राग्वैदिक संस्कृति ने वैदिक संस्कृति के चारों ओर अपना विशाल जाल फैला दिया है।

वैदिक और आर्हत् संस्कृति में समन्वय में भगवान् श्री कृष्ण का योगदान महत्वपूर्ण है। गीता, महाभारत, उपनिषद और भागवत में दोनों संस्कृतियों का समन्वय स्पष्ट परिलिक्षित होता है।

सम्भव है महाभारत की हिंसा और संहार ने भारतीय चिन्तकों को हिंसा के दुष्परिणामों से परिचित कराया और उनका झुकाव अहिंसा की ओर हुआ हो।

इतिहासकार मानते हैं कि महाभारत तक आर्यों का प्रवृत्तिमार्गी दृष्टिकोण और सुख प्राप्ति में उत्साह अक्षुण्ण रहा। बाद में अहिंसा के प्रति आकर्षण बढ़ा और वैदिक तथा ब्राह्मण भी 'यज्ञ में होनेवाली हिंसा धर्म नहीं हो सकती' ऐसा मानने लग गये थे।

वैसे तो समन्वय का सूत्रपात ऋग्वेद से ही हो गया था किन्तु उसका पूर्ण विकास मिलता है उपनिषद और महाभारतकाल में। वृषभ और ऋषभ शब्द का वेदों में भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयोग हुआ है। मेघ, बैल, साँड और अग्नि के रूप में उनका उल्लेख मिलता है। तो कई स्थानों पर कामनाओं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की पूर्ति करनेवाले या कामनाओं की वर्षा करने वाले के अर्थ में। ऋग्वेद में दो जगह परमात्मा के रूप में उनका उल्लेख है। रूद्र के रूप में भी कतिपय स्थलों पर वर्णन है। इसलिये शिव या रुद्र के रूप में ऋषभ को मानने और रुद्र या शिव को ऋषभ के रूप में मानने की बात को समर्थन मिलता है। अर्हंत् ऋषभ को वैदिक साहित्य में प्रशस्त भी कहा गया है।

जैनागम ऋषभदेव को धर्ममार्ग का आदि प्रवर्तक मानते हैं तो भागवत् में ऋषभदेव के अवतार का उद्देश्य वातरशना, श्रमण, ऋषियों के धर्म को प्रगट करना कहा गया है।

श्रमण और ब्राह्मण दोनों ही धाराओं में वृषभदेव का समान आदर है। दोनों ही उन्हें पूज्य मानते है। वे जैनों के आदि तीर्थंकर हैं तो वैदिकों के विष्णु के अवतार और शिव-पुराण में भी शिव के 24 योगावतारों में उनकी गणना है।

प्राचीन साहित्य के अध्ययन से पता चलता है कि आर्हत् धर्म के उपासक पणि और व्रात्य थे। जो अत्यन्त समृद्ध व्यापारी तथा संपन्न थे। वे केवल संपन्न ही नहीं थे, ज्ञान-विज्ञान में भी काफी उन्नत थे। वे देश-विदेशों में व्यापार करते थे और अरब और अफ्रीका तक जाते थे। संभव है ये पणि ही आगे चलकर वणिक् बन गये हों।

आर्हत् सन्तों या अर्हंतों के उपासक थे। व्रात्य को परिभ्रमण करनेवाला साधु भी कहा गया है। और वे व्रत नियम लेते थे इसलिये भी व्रात्य कहलाते थे। वे आत्मा को ही सर्वश्रेष्ठ मानते थे और आत्मा ही पुरुषार्थ से परमात्मा बन सकता है ऐसी उनकी निष्ठा थी।

ऋग्वेद के वातरशना मुनि, भागवत् के वातरशना ऋषि और जैनियों के अधिनायक ऋषभदेव का वर्णन जैन शास्त्रों व भागवत् में लगभग एकसा ही मिलता है। सारी आर्य जाति में कम या अधिक प्रमाण में देव के रूप में ऋषभदेव की मान्यता रही है।

जैनियों में ऋषभदेव की जटाओं का वर्णन मिलता है। उसी प्रकार वेदों में केशी व वातरशना मुनि, भागवत् के वातरशना श्रमण और ऋषि और जैनियों के केशरियानाथ, ऋषभ तीर्थंकर और उनका निर्ग्रन्थ रूप इनमें साम्य दिखाई पड़ता है। वैदिक ऋचाओं में एक ही स्थान पर ऋषभ व केशी का उल्लेख है जिससे इस अनुमान को पुष्टि मिलती है कि वातरशना मुनियों, निर्ग्रन्थ साधुओं तथा मुनियों के नायक केशी मुनि ऋषभदेव ही हैं। इससे जैन धर्म की प्राचीनता पर महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है।

राष्ट्रसन्त विनोबाजी कहते हैं कि ऋग्वेद में भगवान की प्रार्थना में एक जगह लिखा है "अर्हंत इदं दयसे विश्वं अभवम" हे अर्हंत, तुम इस तुच्छ दुनियां पर दया करते हो। इसमें 'अर्हंत्' और 'दया' दोनों जैनों के प्यारे शब्द हैं। मेरी तो मान्यता है कि जितना हिन्दू धर्म प्राचीन है शायद उतना ही जैनधर्म भी प्राचीन है।

ऋषभदेव भारतीय जैन, वैदिक, हिन्दू या योग परम्परा के ही उपास्यदेव हों सो बात नहीं है पर उनका प्रभाव भारत के बाहर भी होना चाहिए क्योंकि सायप्रस में हुई खुदाई में ऋषभदेव की कांस्यमूर्ति प्राप्त हुई है। लेफ्टीनेन्ट कर्नल विलफोर्ड ने एशियाटिक रिसर्चेज ग्रंथ 3 में लिखा है कि भारतीय व इजिप्ट का प्राचीन काल में सम्पर्क था। उन्होंने नये शोधों की पार्श्वभूमि में हिन्दू संस्कृति की भौगोलिक क्षेत्र की जांच की अत्यन्त आवश्यकता बताई है।

शोधों से पता चलता है कि इजिप्ट, सुमेरियन आदि संस्कृति पर श्रमण संस्कृति का प्रभाव था। उन प्राचीन संस्कृतियों का अध्ययन करने पर पता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चलता है कि वह संस्कृति कुछ अंशों में जैनों से मिलती-जुलती है।

प्राचीन जैन संस्कृति आध्यात्म, संयम, योग, समता, पुनर्जन्म, कैवल्य आदि की प्रधानता थी जिसका प्रभाव वैदिक संस्कृति पर पड़ा। इहलोक के सुखों को प्राधान्य देने वाली संस्कृति ने श्रमण संस्कृति के विचारों को अपनाया। यह समन्वय काल ऋषभदेव के समय का होना चाहिये जिससे ऋषभदेव दोनों संस्कृतियों के पूज्य व आदरणीय बने।

प्राचीनकाल में जैन संस्कृति निवृत्ति प्रधान नहीं किन्तु प्रवृत्ति प्रधान होनी चाहिये ऐसा पंडित सुखलालजी का मानना है। वे कहते हैं कि जैन धर्म के मूल उद्गम में निवृत्ति स्वरूप को नहीं, पर प्रवृत्तिप्रधान स्वरूप को ही स्थान था और उसकी पुष्टि इस बात से होती है कि सम्पूर्ण जैन परम्परा भगवान् ऋषभदेव को वर्तमान युग के निर्माता आदि पुरुष मानती है। जिन्होंने शस्त्रविद्या, कृषि और वाणिज्य की शिक्षा दी। वे कर्मयोगी तथा पूर्ण पुरुष थे। उसे प्रवृत्ति प्रधान व निवृत्ति प्रधान कहने की अपेक्षा अनासक्ति प्रधान कहना अधिक उपयुक्त होगा।

समन्वय के बाद दोनों ही संस्कृतियां साथ साथ चल रही थीं। उनमें विशेष अन्तर नहीं रह गया था। तब भारतीय संस्कृति पर निवृत्ति और अहिंसा की प्रधानता कब से और कैसे आई? इसे जानना आवश्यक है।

भारतीय संस्कृति में महाभारत का काल सभी दृष्टियों से श्रेष्ठ माना जायगा। इस समय में श्रमण और ब्राह्मण दोनों ही परम्परा एक दूसरे के पूरक के रूप में काम कर रही थीं। वह समन्वय का काल था। आध्यात्मिक दृष्टि से अनेक ऋषि-मुनि इस काल में हुये। भगवान् कृष्ण और जैनियों के तीर्थंकर नेमिनाथ उस काल में हुये।

तीर्थङ्कर नेमिनाथ ने विवाह के निमित्त एकत्र किये पशुओं की हत्या न हो इसलिये करुणा से द्रवित होकर विवाह का विचार त्याग निर्ग्रन्थ मुनि बन कर वन की ओर प्रयाण किया। जैन शास्त्रों ने उन्हें भगवान् श्रीकृष्ण का गुरु कहा और बौद्ध विद्वान् स्व० धर्मानन्दजी कौसाम्बी कहते हैं कि नेमिनाथ कृष्ण के गुरु आंगिरस थे। अरिष्टनेमि यादव कुल के थे और श्रीकृष्ण के कुटुम्बीजन थे।

श्रीकृष्ण को प्राचीन वैदिक काल में इसलिये प्रमुख स्थान नहीं दिया था क्योंकि वे वैदिकों के देव इन्द्र के उपासक नहीं थे बल्कि इन्द्रपूजा के विरोधी थे। लेकिन भगवान् श्रीकृष्ण समन्वय के प्रबल समर्थक थे और उस समय के महान् व्यक्ति थे जिससे वैदिक संस्कृति को भी उन्हें उच्च स्थान देना पड़ा और उन्हें अवतार माना। जैन संस्कृति भी उन्हें अपना भावी तीर्थंकर मानती है। वे श्रमण और ब्राह्मण दोनों ही संस्कृतियों में आदरणीय थे। उस काल में वेदव्यास, आंगिरस, विदुर, भीष्म आदि अनेक चिन्तक, साधक, विद्वान् व महापुरुष हो गये।

सचमुच वह काल आध्यात्मिक दृष्टि से महत्वपूर्ण था। इसे स्वर्णयुग माना जा सकता है। विद्या, विज्ञान, साहित्य, कला और संस्कृति का भी उच्च विकास हुआ था। जब समाज में संघर्ष और वाद-विवाद नहीं होते, प्रजा अपनी समस्याएं सुलझा कर सुखपूर्वक रहती है तब सांस्कृतिक विकास भी होता है और समृद्धि भी बढ़ती है। महाभारत काल में लोग समृद्ध और सुसंस्कृत थे। विविध कलाओं की भी उन्नति हुई थी। मयासुर द्वारा पाण्डवों के लिये ऐसा कलापूर्ण भवन बनाया गया कि जहां जल का एक बिन्दु न हो कर भी जलाशय दिखाई दे और सूखी जमीन दिखाई दे वहां पुष्करिणी हो। स्थापत्य कला की तरह शस्त्र-अस्त्रों में भी काफी प्रगति हुई थी यह महाभारत के युद्ध में स्पष्ट दिखाई देता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर समृद्धि के साथ संयम नहीं हो तो ईर्ष्या, द्वेष, मत्सर बढ़कर विनाश सरजा जा सकता है। भौतिक शक्तियां या समृद्धि के साथ आध्यात्मिकता न बढे तो दुर्गुणों के आगे सद्गुण पराजित हो जाते हैं। जिस धर्म और न्याय के लिये युद्ध हुआ उसमें अन्यायी और अधर्म का पक्ष तो पराजित हुआ ही लेकिन विजयी पक्ष भी इतना दुर्बल हो गया कि उसकी जीत भी हार बनकर रह गई।

युगद्रष्टा महापुरुष श्रीकृष्ण युद्ध के दुष्परिणामों को जानते थे। उन्होंने लड़ाई टालने के लिये प्रबल प्रयत्न किये पर वे विफल हुये, युद्ध हुआ। विजयी पक्ष भी इतना जर्जर हो गया कि अर्जुन जैसे वीर योद्धा भी यादव कुल की स्त्रियों को दस्युओं के हाथों से बचा नहीं पाये। सारा भारतवर्ष इस दुष्परिणाम से प्रभावित हुआ।

इस दारुण स्थिति ने चिन्तन को नया मोड़ दिया। भौतिक सुखों की निस्सारता देख निवृत्ति मार्ग की ओर भारतीय झुक गये। हिंसा के दुष्परिणामों से अहिंसा की ओर जाने के लिये चिन्तकों को विवश होना पड़ा।

भारतीय ऐसे मत्त बन गये कि स्वयं भगवान् कृष्ण भी यादवों को विनाश से बचा नहीं पाये। समृद्धि, शक्ति व सत्ता के मद में भारतीय इतने मत्त बन गये कि उन्होंने विनाश को बुला लिया। उस समय के चिन्तकों को अहिंसा और निवृत्ति की ओर जाना पड़ा। यह भौतिक सुखों की निस्सारता और हिंसा के दुष्परिणामों की प्रतिक्रिया थी। अहिंसा श्रेष्ठ धर्म माना जाने लगा।

उस समय के साहित्य से यह बात स्पष्ट दिखाई देती है। केवल अपने स्वार्थ साधन के लिये जीना हीन समझा जाने लगा। भौतिक सुखों से आध्यात्मिक सुख श्रेष्ठ माना जाने लगा। प्रवृत्ति से निवृत्ति श्रेयस्कर लगने लगी। हिंसा से अहिंसा श्रेष्ठ धर्म माना जाने लगा। केवल श्रमण या आर्हत् धर्म ही अहिंसा को श्रेष्ठ मानता था ऐसी बात नहीं पर महाभारत में जो अहिंसा की महिमा गाई गई है वह निम्नलिखित श्लोकों से स्पष्ट होती है :—

अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्वा यश्चरते पुनः।
न तस्य सर्वभूतेभ्यो भयमुत्पद्यते क्वचित्॥

—जो मुनि सर्वभूतों को अभय देकर विचरता है, उसे किसी प्राणी से कहीं भी भय नहीं उत्पन्न होता।

यथा नागपदे अन्यानि पदानि पदगामिनाम्।
सर्वाण्येवापि धीयन्ते पदजातानि कौंजरे॥

महा० अनु० पर्व 114–6

एवं सर्वमहिंसायां धर्मार्थमपिधीयते।
सोऽमृतो नित्यं वसति यो न हिंसा प्रपद्यते॥

—जैसे महानाग—हाथी के पदचिह्न में पैरों से चलनेवाले अन्य सर्व प्राणियों के पदचिह्न समा जाते हैं, उसी प्रकार सर्व धर्म और अर्थ एक में (अहिंसा में) सन्निविष्ट हैं। जो पुरुष प्राणी—हिंसा नहीं करता, वह नित्य अमृत होकर निवास करता है, जन्म-मृत्यु के बन्धन से मुक्त हो जाता है।

सर्वाणि भूतानि सुखे रमन्ते
सर्वाणि दुःखेश्च भृशं त्रसन्ते।
तेषां भयोत्पादनजातखेदः
कुर्यान्न कर्माणि ही श्रद्दधानः॥

—सर्व प्राणी सुख में आनन्दित होते हैं। सर्व प्राणी दुःख से अति त्रस्त होते हैं। अतः प्राणियों को भय उत्पन्न करने में खेद का अनुभव करता हुआ श्रद्धालु पुरुष भयोत्पादक कर्म न करे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दानं हि भूता भयदक्षिणायाः
सर्वाणि दानान्यधितिष्ठतीह।
तीक्ष्णां तनुं यः प्रथमं जहाति
सोऽत्यन्तमाप्नोत्यभयं प्रजाभ्यः ।।

–संसार में प्राणियों को अभय की दक्षिणा का दान देना सब दानों से बढ़कर है। जो पहले ही हिंसा का त्याग कर देता है वह सब प्राणियों से अभय होकर मोक्ष पाता है।

यदन्यैर्विहितं नेच्छेदात्मनः कर्म पुरुषः।
न तत् परेषु कुर्वीत जानन्नप्रियमात्मनः ।।

–जिस अन्यकृत व्यवहार को मनुष्य अपने लिये नहीं चाहता वह व्यवहार वह दूसरों के प्रति भी न करे। वह जाने कि जो व्यवहार अपने को अप्रिय है, वह दूसरों को प्रिय कैसे होगा।

जीवितं यः स्वयं चेच्छेत् कथं सोऽन्यं प्रघातयेत्।
यद् यदात्मनि चेच्छेत् तत् परस्यापि चिन्तयेत् ।।

–जो स्वयं जीना चाहता है, वह दूसरों का घात कैसे कर सकता है? मनुष्य अपने लिये जो चाहे वही दूसरे के लिये भी सोचे।

योऽभयः सर्वभूतानां स प्राप्नोत्यभयं पदम्।

–जो सर्वभूतों को अभय देने वाला है, वह अभय-पद को प्राप्त कर लेता है।

यस्मादुद्विजते लोकः सर्वो मृत्युमुखादिव।
वाक्क्रूराद् दण्डपारुष्यात् स प्राप्नोति महद् भयम्।।

–जो वाक्क्रूर, दण्डक्रूर होता है और जिससे सर्वलोक वैसे ही उद्वेग को प्राप्त होते हैं जैसे मृत्यु के मुख से वह पुरुष महान् भय को प्राप्त होता है।

यस्मान्नोद्विजते भूतं जातु किंचित् कथंचन।
अभयं सर्वभूतेभ्य स प्राप्नोति सदा मुने ।।

–जिससे कोई भी जीव किसी प्रकार किंचित् भी उद्वेग को प्राप्त नहीं होता वह सदा सर्व जीवों से अभय प्राप्त कर लेता है।

अव्यवस्थितमर्यादैर्विमूढैर्नास्तिकैर्नरैः।
संशयात्मभिरव्यक्तं हिंसा समनुवर्णिता ।।

–जो पुरुष मर्यादा में अनवस्थित हैं, विमूढ़ है, नास्तिक हैं, जिनकी आत्मा में संशय है एवं जिनकी कहीं प्रसिद्धि नहीं है, ऐसे लोगों द्वारा ही हिंसा अनुमोदित है।

अहिंसा सर्वभूतानामेतत् कृत्यतमं मतम्।
तत् पदमनुद्विग्नं वरिष्ठं धर्मलक्षणम् ।।

–सब प्राणियों के लिए अहिंसा ही सर्वोत्तम कर्त्तव्य है— ज्ञानियों ने ऐसा माना है। यह पद उद्वेगरहित, वरिष्ठ और धर्म का लक्षण है।

शरण्य सर्वभूतानां विश्वास्यः सर्वजन्तुषु।
अनुद्वेगकरो लोके न चाप्युद्विजते सदा ।।
महा० अनु० पर्व 115–28

–अहिंसक सर्व प्राणियों का शरणभूत होता है। वह सबका विश्वासपात्र होता है। वह लोक में प्राणियों में उद्वेग पैदा नहीं करता और न कभी किसी से उद्विग्न होता है।

न हि प्राणात् प्रियतरं लोके किंचन विद्यते।
तस्माद् दयां नरः कुर्याद् यथाऽऽत्मनि तथा परे ।।
महा० अनु० पर्व 116–8

–लोक में प्राणों से बढ़कर प्रिय वस्तु दूसरी नहीं है। अतः मनुष्य जैसे अपने ऊपर दया चाहता है, वैसे ही दूसरों पर भी दया करे।

प्राणदानात् परं दानं न भूतं न भविष्यति।
न ह्यात्मनः प्रियतरं किंचिदस्तीह निश्चितम् ।।
महा० अनु० पर्व 116–16

–प्राण-दान से बढ़कर दूसरा कोई दान न हुआ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है और न होगा। यह निश्चित है कि प्राणों से प्रियतर वस्तु दूसरी कोई नहीं है।

अहिंसा परमो धर्मस्तथाहिंसा परो दमः।
अहिंसा परमं दानमहिंसा परमं तपः॥

महा० अनु० पर्व 116–28

–अहिंसा ही परम धर्म है, अहिंसा ही परम दम है, अहिंसा ही परम दान है और अहिंसा ही परम तप है।

अहिंसा परमो यज्ञस्तथाहिंसा परं फलम्।
अहिंसा परमं मित्रमहिंसा परमं सुखम्॥

महा० अनु० पर्व 116–29

–अहिंसा ही परम यज्ञ है, अहिंसा ही परम फल है। अहिंसा ही परम मित्र है और अहिंसा ही परम सुख है। महाभारत की तरह गीता में पूर्ण रूप से समन्वय दिखाई देता है।

लगे हुये आघात से हिंसा को अधर्म और अहिंसा को सर्वश्रेष्ठ धर्म माना जाने लगा हो फिर भी वह सामाजिक धर्म नहीं बन सका था। प्रवृत्ति से निवृत्ति श्रेष्ठ माने जाने लगी। बाह्य सुखों से आंतरिक सुखों का मूल्य अधिक लगने लगा किन्तु जिस चिन्तक या विचारक को इसकी प्रतीति होती वह गृहत्याग कर जंगल में चला जाता आत्म कल्याण साधने के लिये। यज्ञ में होनेवाली हिंसा निन्द्य मानी जाने लगी थी पर उस काल में अहिंसा सामाजिक धर्म नहीं बन सका था। किन्तु सामाजिक धर्म बनने की पार्श्वभूमि तैयार हो गई थी। अहिंसा धर्म बनने की प्रतिक्रिया शुरू हो गई थी। अहिंसक यज्ञ श्रेष्ठ माने जाने लगे।

इस काल में ब्राह्मण व श्रमण विचारधारा का पर्याप्त समन्वय हो गया था। भले ही दोनों विचारधाराएं अलग-अलग प्रवहमान होती हों पर उनमें कटुता नहीं थी। भले ही किस विचारधारा को जीवन में लाने के लिये किस विचार को अधिक महत्व दिया जाय इस विषय में मतभेद रहा हो परन्तु ब्राह्मण विचारधारा भी समय और दम को जीवन विकास के लिए आवश्यक मानने लग गई थी। उन्होने इस विचार को आचार में परिवर्तित करने के लिये व्यवस्थित कार्यक्रम बनाया। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास यह चार आश्रम निर्धारित किये। 25–25 वर्षों का एक आश्रम तय किया। परन्तु श्रमण विचारधारा ने शम,दम आदि धर्म के पालन के लिये आयु या समय की मर्यादा नहीं बांधी। व्यक्ति की क्षमता और योग्यता पर निर्भर रखा कि वह चाहे जिस उम्र में संन्यास या निवृत्ति ले। आयु या समय की कोई मर्यादा नहीं बांधी।

चिन्तन में भले ही अध्यात्म का प्रभाव बढ़ा हो फिर भी भौतिक सुख की चाह कम हुई हो ऐसा नहीं लगता। हिंसा से त्रस्त भारत में भी हिंसा बिलकुल बन्द हो गई हो ऐसा नहीं लगता। भौतिक सुखों को विधिवत् शास्त्र या धर्मसम्मत रूप देने के प्रयास हिंसा में विश्वास रखनेवाले धार्मिकों की ओर से चल ही रहे थे।

इधर ऋषि-मुनि और चिन्तकों को लगा कि अहिंसा सद्गुणों को केवल ऋषि-मुनियों तक ही सीमित न रखकर जन-समाज में व्यापक बनाना चाहिए। इसी काल-प्रवाह में 2800 साल पूर्व एक मनीषी का जन्म हुआ जिनका नाम पार्श्व था। उन्होंने अहिंसा, सत्य, अस्तेय व अपरिग्रह को समाज-धर्म बनाने का प्रयत्न किया। इसके पीछे यह दृष्टि रही कि भले ही इन चातुर्यामों का सामान्य व्यक्तियों के लिये पूर्ण रूप से पालना संभव न हो तो भी उन्हें जीवनमूल्यों में स्थान मिले और लोग उसका यथाशक्ति पालन करें। उस समय में परिग्रह में धन-संपत्ति ही नहीं पर स्त्री का भी समावेश होता था इसलिये अपरिग्रह में ब्रह्मचर्य आ जाता था।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुप्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् स्व० धर्मानन्द कौसाम्बी कहते हैं कि, "पार्श्वनाथ के चातुर्याम धर्म को पांच यमों के रूप में ब्राह्मण संस्कृति ने स्वीकार किया। महावीर ने उसका पंच महाव्रतों के रूप में विस्तार किया, बुद्ध ने आष्टांगिक मार्ग के रूप में और ईसा ने टेन कमांडमेंट्स के रूप में चातुर्यामों का विस्तार किया। इस तरह श्रमण-संस्कृति केवल जैन और बौद्धों तक ही सीमित नहीं रही, वरन् उसका प्रभाव सार्वभौमिक पड़ा।"

श्रमण संस्कृति का मुख्य सिद्धान्त अहिंसा है। इसमें सभी प्राणियों को आत्मवत् मानकर समता और आत्मीयता का व्यवहार करने को कहा है। गहराई से विचार करने पर ज्ञात होगा कि संसार की सभी समस्याओं के मूल में असमता ही प्रमुख रूप से रहती है। यदि सभी एक दूसरे के साथ आत्मवत् व्यवहार करें तो, सारा संसार सुखपूर्वक रह सकता है।

'समता' सार्वभौमिक तत्व है। संसार के प्रायः सभी विचारक मानते हैं कि विषमता मानवजाति के लिये श्राप है। सारे दुःखों का मूल है। इसलिये समता में बाधक सभी बातों को दूर करने में ही व्यक्ति और समाज का हित है। समता श्रमण संस्कृति का हृदय है। जिस बात को गीता ने समता को आत्म विकास में प्रधानता दी है। यही कारण है कि विनोबाजी गीता को साम्ययोग कहते हैं। चाहे ज्ञानी हो या कर्मयोगी, संन्यासी हो योगी, गुणातीत या भक्त सबके लक्षणों में समता ही प्रधान रूप से दिखाई देती है। राग द्वेष, अहंता, ममता को जीतने पर ही बल दिया है। वीतरागत्व को ही प्राधान्य है।

मानव मानव में भेद निर्माण करनेवाली तीन बातें हैं। प्रथम है ममता, आसक्ति, तृष्णा या कामना। किसी भी चीज की आसक्ति या मूर्च्छा मनुष्य को दुःख के गर्त में, अशांति की अग्नि में ढकेलती है। और दूसरों के दुःख में भी वृद्धि करती है क्योंकि कामनाएं अनन्त हैं। उनकी कभी तृप्ति नहीं होती। उसके लिये संयम को अपनाना चाहिये। उपलब्ध साधनों में सन्तोष मानने का प्रयत्न करना चाहिये यही अपने और दूसरों के सुख का मार्ग है।

ऐसी ऐतिहासिक पार्श्वभूमि या परम्परा की विरासत भगवान् महावीर को प्राप्त हुई। उस जैन धर्म के न वे संस्थापक प्रथम तीर्थङ्कर थे और न अंतिम ही। उनके पहले अनेक तीर्थंकर हुये और भविष्य में भी होंगे। इसीलिये महावीर का धर्म किसी व्यक्ति या वर्ग विशेष का उपदिष्ट धर्म नहीं है, व्यापक धर्म है। इसीलिये वह जनधर्म कहा जा सकता है उसमें विश्व कल्याण की क्षमता है। वह सार्वजनीन है।

चूंकि जैनधर्म की पार्श्वभूमि समन्वय की होने से भारतीय विचारधारा के अनुकूल थी और शायद यही कारण हो कि भगवान् महावीर के प्रमुख शिष्य 11 ब्राह्मण हुये जिन्होंने जैन धर्म के प्रचार-प्रसार में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

महावीर ने विरोध की अपेक्षा नये मूल्यों की स्थापना की। यज्ञ की जैसे उन्होंने नई और आध्यात्मिक व्याख्या की वैसे ही ब्राह्मणत्व को नया रूप प्रदान किया। शाश्वत समस्याओं का समाधान सुझाया। इसलिये वे भारतीय ही नहीं मानव जाति के महान् सेवक थे, उद्धारक थे।

———

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भगवान् महावीर की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि उन्होंने तब तक कोई उपदेश दूसरों को नहीं दिया जब तक कि उन्होंने स्वयं अपने आप में वह योग्यता प्राप्त न कर ली, स्वयं उन्होंने वह प्राप्त न कर लिया जिसकी प्राप्ति के लिए वे दूसरों को उपदेश देते थे तथा जब तक वे उस मार्ग पर न चल पड़े जिसकी ओर अग्रसर होने हेतु वे दूसरों से अपेक्षा करते थे। किसी के अनुयायी होने का अर्थ है उसके बताए मार्ग पर चलना, उसके बताए कर्तव्य कर्म को अपने जीवन में उतारना। हम भगवान् महावीर के अनुयायी अपने आपको कहते हैं। उनका २५०० वां निर्वाण वर्ष भी हमने खूब जोर-शोर से, आडम्बर से मनाया है किन्तु क्या केवल इतने मात्र से ही हम उनके सच्चे अनुयायी होने का दावा कर सकते हैं और क्या हम अपने अभीष्ट की प्राप्ति में सफल हो सकते हैं ? यह है वह प्रश्न जो विद्वान् लेखक ने अपने इस निबंध में संक्षिप्त किन्तु प्रभावी रूप से उठाया है।

प्र० सम्पादक

आत्म-द्रष्टा महावीर की जीवन-दृष्टि

● श्री प्रतापचन्द्र जैन
२१/६३ धूलियागंज, आगरा

आत्मोत्सर्गी—कुमार वर्धमान जन्मे तो थे कुण्डलपुर के समृद्ध राजघराने में और उन्हें संसार की सभी सुख-सुविधाएं प्राप्त भी थीं परन्तु उन्होंने अपने आत्मोत्सर्ग के मार्ग में उन सब को बाधक माना। कोई लगाव नहीं हुआ उन्हें उनके प्रति। वे तो जन्मजात विरागी थे। सदा आत्मलीन रहे। अट्ठाईस वर्ष के होते-होते तो उन्होंने अपनी सारी निजी सम्पत्ति जरूरतमन्द लोगों में बांट दी। जो हम दुनियां के लोगों के लिए सम्पत्ति है और जिसे बटोरने में हम रात-दिन लगे रहते हैं, चाहे कैसे भी घृणित मार्ग से वह क्यों न आए राजकुमार वर्धमान ने उसे विपत्ति मानकर त्याग दिया, और पूर्ण अपरिग्रही हो वे तीस वर्ष की भरी जवानी में चल दिये एक दिन स्वयं ही दीक्षित होकर आत्मोत्सर्ग की खोज में जंगल की ओर।

सर्वज्ञता की खोज में—वे बारह वर्ष तक घोर तप करते रहे और उनके जन्म-जन्मान्तर के बंधे कर्म झड़ते गये। नये कर्मों का आना एकदम रुक गया। उनके ऊपर भयंकर कठोर उपसर्ग आये भी परन्तु उनके कषायहीन दृढ़ संकल्प के आगे, क्षमाभाव की अपार शक्ति के कारण वे सब धराशायी होते चले गये। उनकी आत्मा निरन्तर तपती और निखरती गई और चारों घातिया कर्मों का नाश होने पर एक दिन वह पूर्ण शुद्ध-बुद्ध हो गई। उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो गया और वे सर्वज्ञ महावीर हो गये।

जगत् के जीवों को उपदेश देने से पहले—उन्होंने अपने को उसके योग्य बनाया। सर्वज्ञता प्राप्त कर लेने के बाद भी अपनी दिव्य देशना द्वारा जगत् के प्राणियों को आत्मोद्धार का मार्ग सुलभ करने से पूर्व उन्होंने एक और अद्भुत काम किया। एक ऐसे व्यक्ति को उन्होंने अपना पट्टधर चुना जो उनका घोर विरोधी था। वह था वेद पारंगत यज्ञ-वादी समर्थ ब्राह्मण महापण्डित इन्द्रभूति गौतम।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महावीर को तो अब न किसी से राग था और न किसी से द्वेष। उन्हें अपनी आत्मा में सब की आत्माओं के दर्शन होने लगे थे। उनकी सूक्ष्म दिव्य दृष्टि किसी के भी ऊपरी भेद को पार कर उसके भीतर दबे सत्य को खोज निकाल लेने में पूर्ण समर्थ, सक्षम हो गई थी। ऐसा ही हुआ जबकि अपने ज्ञान के अहंकारी इन्द्रभूति गौतम उनके सामने आये। महावीर ने उन्हें उनके भीतर दबे सत्य का बोध कराया और वे उनके हो गये। इसे लोग चमत्कार कहेंगे परन्तु चमत्कार तो यह उनके लिये हो सकता है जो आत्मशक्ति से अनभिज्ञ हैं।

महावीर का दिव्य उपदेश—शुरू हुआ जो तीस वर्ष तक होता रहा। उनका उपदेश आत्मा के शुद्ध स्वरूप का दर्शन कराने वाला तो था ही, वह मानव जीवन को व्यवहार मार्ग से उस ओर मोड़ देने वाला भी था। उनकी मान्यता थी कि अन्तरङ्ग शुद्धि हेतु साधना पथ पर अग्रसर होने से पहले मानव को जीवन का रहस्य जानना भी परम आवश्यक है ताकि उसमें मलिन संस्कारों का आना रुके और जो आचुके हैं उनका क्षय होना प्रारम्भ हो। उन्होंने मानव को समत्व का ज्ञान कराते हुए बताया कि आत्मा सब की समान है। उसमें ऊंच-नीच का कोई भेद नहीं। यह सारा भेद तो ऊपरी है, कर्मगत है। किसी कवि ने ठीक ही कहा है :—

दुःख तेरा हो या मेरा हो,
दुःख की परिभाषा एक है।
आंसू तेरे हों या मेरे हों,
आंसू की भाषा एक है॥

अहिंसा की महिमा—बताते हुए महावीर ने बोध कराया कि यज्ञ में पशु बलि अथवा शिकार में या अपने स्वार्थ साधन में किसी प्राणी की की गई हत्या ही हिंसा नहीं है; प्रत्युत किसी भी विचार या कार्य की जड़ में संकल्प मात्र ही यदि अनिष्टकर है तो वह भी हिंसा है। "अज्झवसिएण बंधो।" उन्होंने यज्ञवादियों को सचेत किया कि तुम यज्ञ करो परन्तु उसमें पशु या नर बलि न देकर अपने विषय-विकारों की आहुति दो। क्योंकि "जीव वहो, अप्प वहो, जीव दया, अप्पणो दया होई"। देवता को अर्पित किये जीव को तो उसका संरक्षण मिलना चाहिए न कि मौत। उसको मार डालना तो देवता का तिरस्कार करना है।

इस प्रकार जीने को, जैसे हमारी सत्ता के अलावा किसी अन्य की सत्ता है ही नहीं महावीर ने अतिक्रमण बताया। पैसा, ताकत अथवा प्रभाव के बल पर यदि कोई लाइन तोड़कर पहले टिकिट लेता है या कहीं भीतर घुसने की चेष्टा करता है, राशन की दुकान पर राशन लेता है तो वह भी महावीर की वाणी में अतिक्रमण है। अकाल, महामारी, सूखे या बाढ़ में, अधिक पैसा कमाने की खातिर, मानव पीड़ा को देखकर भी अनाज तथा जीवन के अन्य आवश्यक साधनों की जमाखोरी अथवा कालाबाजारी एवं तस्करी आदि करने वाला भी, अतिक्रामक है। भ्रष्टाचार, कम नाप-तोल, गलत हिसाब-किताब, संग्रह और शोषण यह सब हिंसा है।

तृष्णा पर अंकुश—मानव को जीवन पोषण के लिए उत्पादन और उपार्जन की शिक्षा तो प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव ही दे गये थे। महावीर ने मानव में बढ़ रही तृष्णा पर अंकुश लगाने हेतु ममत्व परिणाम का निषेध करते हुए प्रतिपादित किया कि उत्पादन और उपार्जन तो खूब करो परन्तु अपने पास संग्रह कर उसका ढेर मत लगाओ। एक निश्चित सीमा बांध कर ही उसका उपयोग करो और जो बचे उसके संरक्षक (ट्रस्टी) बन कर रहो तथा उसे अन्यों के काम आने दो। वस्तु अपने आप में दुःख की स्रष्टा नहीं है; दुःख

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तो उसकी आसक्ति में निहित है। उसके प्रति अपने ममत्व भाव में हैं। मानव यह सोचकर चले कि स्वयं अभावग्रस्त होने की स्थिति में वह अन्यों से क्या अपेक्षा करेगा। व्यक्ति किसी भी क्षण अपने को समाज से, राष्ट्र से अलग समझकर सुखपूर्वक जी नहीं सकता। परस्पर समर्पित भाव से जीने में ही उसका हित है और देश में असली समाजवाद लाने की दिशा में एक अनुपम कदम।

सत्यान्वेषी अनेकान्त दर्शन—"वत्थु सहावो धम्मो" और धर्म एक द्रव्यात्मक होकर भी अनन्त पर्यायी है। यह सिद्धान्त अनादि है जो भगवान् ऋषभदेव के काल से बराबर चला आ रहा है; परन्तु महावीर के काल तक पहुंचते-पहुंचते किसी एक या कुछेक पर्यायों के समूह को ही पूर्ण धर्म माना जाने लगा। पर्याय विशेष को ही धर्म एवं सत्य मानने वाला अन्य पर्यायी-धर्मों की सत्यता को स्वीकारने से मुकरने लगा। तो इससे जन्मी असहिष्णुता और होने व बढ़ने लगे पारस्परिक विवाद। मिथ्यात्व को भी अवसर मिला अपने पैर फैलाने का। ऐसे समय में महावीर ने उद्घोष किया कि एक ही पर्याय को पूर्ण-धर्मी-पदार्थ मान बैठना उस अंधे की सी दृष्टि है जो केवल उसके हाथ से छुए जा सकने वाले हाथी के अंग को ही पूरा हाथी मान बैठता है। ऐसी मान्यता ही सारे विवादों और अशान्ति की जड़ है। सत्यता तो अपनी-अपनी अपेक्षा से पदार्थ की हर पर्याय में है, परस्पर विरोधी लगने वालियों में भी। उन सब के सहयोग को स्वीकारना ही सत्यता है। कोई भी छद्मस्थ ज्ञानी एक ही समय में और एक ही साथ पदार्थ धर्म के पूरे सत्य को जानने और कहने में अशक्य है। वह एक या कुछेक को ही एक साथ एक समय में जान और कह सकता है। अतः उसकी जितनी भी पर्यायें हैं उतनी ही दृष्टियों से उसके सत्यांश को देखा, समझा और माना जाना चाहिये। यह था महावीर का सत्यान्वेषी अनेकान्त दर्शन, उनकी एक और अनुपम दिव्य देशना जिसने आज के विद्वान् और विवेकी मनीषी को सर्वाधिक प्रभावित किया है। कहते थे "यह अनेक बिलों वाला चूहा है, इसे पकड़ पाना बड़ा मुश्किल है। एक बिल में हाथ डालता हूँ तो यह दूसरे में चला जाता है।" तो कोई भी एक व्यक्ति, वर्ग अथवा पथ बांध कर नहीं रख सकता। सचाई दूसरे की बातों में भी विद्यमान होती है। केवल अपनी ही बात को सत्य मानकर बैठ जाना तथा उसे औरों पर थोपना दुराग्रह है, हठधर्मी है। वह अपने ज्ञानाभाव का संकेत भी है। महावीर स्वयं यदि कोई वेदों का ज्ञाता उनके पास आता तो वे उसका समाधान वेदों के आधार पर ही करते। ऐसे ही यदि कोई गीता का अध्येता उनके पास पहुंचता तो उसका समाधान गीता का आधार लेकर करते। महावीर के इस दर्शन पर चलकर मानव एक दूसरे की बातों, विचारों में जो सत्य दबा पड़ा हो, उसे भी मानते हुए सहिष्णुभाव से सत्यग्राही बन जाय और उसके आधार पर समन्वयवादी रवैया अपनाने लगे बजाय इसके कि वह अपनी ही बात को सत्य मान कर अडिग रह जाय तथा उसे अन्यों से मनवाने के लिए बेजा दबाब डाले अथवा दुराग्रह करे तो प्रतिदिन के अनेकों संघर्ष, तनाव चाहे वे वैयक्तिक हों, पारिवारिक हों, सामाजिक हों, धार्मिक हों अथवा राजनैतिक हों टाले जा सकेंगे। फलस्वरूप आपसी मतभेद दूर होने से स्नेह सौहार्द का मृदु वातावरण बनेगा। आपसी कलह और संघर्ष में नष्ट होने वाली शक्ति बचेगी और सब मिलकर काम करेंगे तो जीवन सुखी बनेगा और देश शक्तिशाली। काश! आज का राजनीतिज्ञ भी इसका पालन करने लगे।

नारी जाति का उद्धार—महावीर ने नारी में, जो विलास का साधन समझी जाने लगी थी छिपी शक्ति को अपने ज्ञान से देखा। उन्होंने ब्रह्मचर्य का स्वतन्त्र विधान कर पुरुष की बढ़ती वासना पर संयम का अंकुश लगाया और नारी के प्रति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चली आ रही हीनता और तिरस्कार की कलुषित भावना को दूर कर उसका उद्धार किया। उसी पतित अपमानित नारी को नारायण की माता के रूप में सम्मानित किया। उसे भी पुरुष के समान उत्थान व आत्मोद्धार की अधिकारिणी घोषित कर उसके लिए भी साधना का पथ सुलभ किया। जहां तथागत बुद्ध ने अपने पट्ट शिष्य आनन्द के आग्रह पर केवल एक महिला को साध्वी बनाने में भी खतरा माना था वहां महावीर ने हजारों आर्यिकाएं बनाई। क्रीत दासी चन्दना इसका एक ज्वलन्त उदाहरण है जिसे उन्होंने अपने साध्वी संघ के सर्वोच्च पद पर प्रतिष्ठित कर गौरवान्वित किया। तब समाज का यह आधा अंग बोझा न रह कर वरदान सिद्ध हुआ। आज आप देख भी रहे हैं कि जहां-जहां यह शक्ति जागृत हुई है वहां-वहां इसका लाभ मिला भी है। परिवार सुखी हुए हैं समाज विकसित हुए हैं और देश समृद्ध हुए हैं। कई देशों का तो वे आज अति दक्षता से शासन तक सम्हाले हुए हैं।

ऊंच-नीच का भेद—महावीर ने अमान्य किया। समाज व्यवस्था में सेवा हेतु गठित की गई शूद्र कहाने वाली जाति के प्रति किया जा रहा अमानुषिक व्यवहार देखकर उन्होंने जगत् के जीवों को अपने गुणों का विकास करने की पद्धति बताते हुए परम्परागत एवं कुलगत वरीयता का खण्डन किया और जन्म से जानी जाने वाली ऊंच-नीचता को उन्होंने गलत और भ्रामक बताया। "जाति भेदकल्पनं।" उन्होंने स्पष्ट घोषित किया कि सब को अपनी अपनी आत्मा के उद्धार करने का अधिकार है चाहे वह सवर्ण हो अथवा शूद्र। "चाण्डालोऽपि व्रतोपेतः पूजितो देवादिभिः" आचार्य अमितगति ने महावीर के इस दर्शन को निम्न शब्दों में गुन्थित किया है :—

शीलवन्तो गताः स्वर्गे नीच जाति भवाऽपि।
कुलीना नरकं प्राप्ता शीलसंयमनाशिनः।।

आज के मानव समाज ने महावीर के इस उपदेश को पूरी तरह मान्य कर लिया है। शासन तक उनके प्रति किये जाने वाले दुर्व्यवहार को, अस्पृश्यता को कानूनन अपराध मानने लगा है। यदि कोई सदाचारी है और मद्य-मांस का त्यागी है तो केवल शूद्र जाति का कहलाने के कारण ही उसके साथ भेद-भाव क्यों? रही बात उसके द्वारा किये जाने वाले कर्म की तो याद रखिये स्व. मुख्तार साहब की निम्न पंक्तियों को :—

गर्भवास औ जन्म समय में,
कौन नहीं अस्पृश्य हुआ।
कौन मलों से भरा नहीं?
किसने मल-मूत्र न साफ किया?

किसी के साथ बैठकर खाना-पीना या नहीं अथवा उससे सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करना हर व्यक्ति की रुचि पर निर्भर करता है। किसी धर्म में उसका मानवीय अधिकार होने पर भी वह तदनुकूल आचरण एवं मर्यादाएं पालने पर ही प्रवेश करेगा परन्तु केवल शूद्र (सेवक) जाति का होने मात्र से उसके प्रति घृणा करना अनुचित है। महावीर के उपदेश के प्रतिकूल। उपाध्याय श्री विद्यानन्द जी का कहना है कि यदि "हरिजन का पानी पीकर जैनी हरिजन हो जाता है तो जैनी का पानी पीकर हरिजन जैनी क्यों नहीं हो सकता।"

सत्ता के पीछे भागो मत—महावीर का उपदेश था कि सत्ता के पीछे भागो मत चाहे वह राजनैतिक हो, सामाजिक हो अथवा धार्मिक हो। वे स्वयं राजपाट का मोह त्याग सत्ता की आपाधापी से दूर रहे। उनका मत था कि पैसा और सत्ता दोनों ही भ्रष्ट और पतित बनाने वाले हैं। सत्ता जब पैसा या छलबल से प्राप्त की जाती है तो वह मानव को दानव बना देती है। तभी तो बाबा भागीरथ जी कहा करते थे "परोपकार करना हो तो अध्यक्ष मत बनना।" सत्ता यदि लोक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आग्रह से मिलती भी है तो उसका दुरुपयोग मत करो (जैसा आज कल हो रहा है)। उससे सबको समान रूप से सामाजिक न्याय दो और होने वाली उपलब्धियों को सर्व सुलभ करो। अपने ज्ञान गुण से जनमानस की सेवा करो। सम्पत्ति प्राप्त हो तो उससे अभाव तथा लोगों के दारिद्रय को दूर करो। (जैसा महावीर ने राजकुमार काल में स्वयं किया) यदि सामाजिक न्याय सबको समान रूप से सुगम और सुलभ होने लगे तो लोग गलत और भ्रष्ट तरीकों को स्वयं ही छोड़ देंगे।

आज भी कारगर—महावीर द्वारा उपदिष्ट यह सर्वोदयी जीवन दर्शन आज भी कारगर है और आगे भी रहेगा। अपने को जैनी न कहाने वाला भी उसे स्वीकारता है। यही तो एक सर्वज्ञ की विशेषता है जिसकी ज्ञान दृष्टि में तीनों लोक और तीनों काल झलकते हैं। यदि हम अहिंसा का सच्चा स्वरूप समझलें, अपरिग्रहवाद पर चलकर धन-धरा और सम्पत्ति संग्रह के मोह को त्याग दें और इस शाश्वत सत्य को स्वीकार करते हुए कि हमारे अलावा इस जग में अन्यों की भी सत्ता है और उन्हें भी हमारी तरह जीने का अधिकार है. उनकी भूख और पीड़ा को हम अपनी ही भूख और पीड़ा मानें तो पारस्परिक प्रेम, सद्भाव और सहानुभूति उत्पन्न होंगे। यदि हम अपने स्वार्थवश, अकाल, महामारी, भुखमरी, सूखा और बाढ़ जैसी प्राकृतिक आपदाओं से जनित मानव मुसीबतों से न खेलें और काला-बाजारी, जमाखोरी और कम नाप-तोल जैसी घृणित और अमानवीय कार्य कर अनुचित लाभ उठाने की कुचेष्टा न करें तो अनाज तथा अन्य जीवनोपयोगी, आवश्यक वस्तुओं का कृत्रिम अभाव नहीं हो पायगा और महंगाई को भी बढ़ावा नहीं मिलेगा। वस्तुएँ सर्व सुलभ होने से वर्तमान असन्तोष घटेगा। तस्करी, करचोरी, गलत हिसाब किताब, रिश्वतखोरी तथा कर्तव्य पालन में शिथिलता और कामचोरी जैसे कुकृत्य कर मालामाल बनने का उपक्रम न करें तो मुद्रा स्फीति रुकेगी और देश का आर्थिक संकट दूर होगा। पैतृक और पत्निकुल की सम्पत्ति पर कुदृष्टि न रक्खें और उसे प्राप्त करने के लिए छलबल न करें। अपने ही परिश्रम से नैतिक आधार पर हुई कमाई पर ही सन्तोष कर तो गार्हस्थिक कलह और कटुता भी निःशेष होगी। औरों की बातों को हम शान्ति से सुनें, उनके दृष्टि-कोण को सापेक्ष बुद्धि से समझने का प्रयास करें और दुराग्रह छोड़ उनमें निहित सच्चाई को स्वीकार करें तो वैचारिक सहिष्णुता जागृत होगी और स्नेह-सौहार्द का मृदुल वातावरण बनेगा।

२५०० वां निर्वाण वर्ष—उन्हीं वीर प्रभु का जिन्होंने मानव को यह अमोघ जीवन दृष्टि दी हमने १३ नवम्बर, सन् १९७४ से ८ नवम्बर, सन् १९७५ तक २५०० वाँ निर्वाण वर्ष मनाया देश में भी और विदेशों में भी। उसमें हमें शासन का भी सहयोग मिला। हमने इस वर्ष साहित्य-स्मारिका प्रकाशन, निर्माण कार्य, सभा-गोष्ठियां, धर्मचक्र यात्राएं और जलूसों आदि के अनेक कार्यक्रम चलाये। प्रचार कार्य भी बहुविध हुआ। कुछ दूरगामी अभूतपूर्व कार्य भी हुए जैसे चारों मान्यताओं के सन्तों का एक ही मंच पर एक साथ विराजकर धर्मोपदेश देना, आचार्य विनोबा भावे की सतत् प्रेरणा से सर्वमान्य सिद्धान्त ग्रन्थ 'समण सुत्त'' की रचना, विद्वानों के सम्मान की परम्परा तथा विभिन्न विश्वविद्यालयों में जैन पीठों की स्थापना। एक बहुत बड़ा काम यह भी हुआ कि अजैन जगत् महावीर और उसके उपदेशों की ओर आकृष्ट हुआ। वह उससे प्रभावित ही नहीं हुआ बल्कि उसमें सार्वभौमिक मौलिक निखार भी लाया।

साहित्य और स्मारक निर्माण आदि तो हमने पैसे के बल पर खूब किये परन्तु देखना यह है कि हमने महावीर द्वारा सौंपी गई निधि का अपने आत्म-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कल्याण एवं अपने जीवन में शुचिता लाने के लिये क्या और कितना उपयोग किया। क्या मान्यता भेदों को हम घटा पाये है। क्या हम तीर्थों के झगड़े समाप्त कर पाये हैं। क्या अपरिग्रह और अनेकान्तवाद को ग्रहण कर अपने निजी जीवन में शुचिता ला पाये हैं ? क्या अपनी संस्था व्यवस्थाओं को सुधार पाये हैं। ऐसा कर समाज और देश की फिजा में कुछ अपेक्षित परिवर्तन ला पाये हैं ? केवल महावीर महिमा का राग अलापने और मौके का लाभ उठाने वाले नेता तथा अधिकारियों के प्रशंसात्मक भाषण करा देने मात्र से तो वाञ्छित फल मिलने वाला नहीं। पहले उनके अनुयायी होने का दावा करने वाले स्वयं हम उनके बताये मार्ग पर चलेंगे तभी हम अन्यों से कहने के अधिकारी होंगे। गाँधी जी कह गये हैं कि "मण भर उपदेश से कण भर आचरण कहीं अधिक होता है।" याद रखिये दिनकर सोनवलकर की इन पंक्तियों को :—

समय

सब को पीछे छोड़ता हुआ
बढ़ जायेगा आगे
जिसमें हिम्मत हो दमखम हो
वह समय के साथ भागे।

जय महावीर

(रचयिता—**श्री मोतीलाल सुराना**, इन्दौर)

जन्मते ही वीरता का भास था जिसने जताया।
यज्ञ की आहूतियों से मूक पशुओं को बचाया॥
मनन चिंतन त्याग तप से आत्मा को था उठाया।
हार मानी कर्म-शत्रु वीर ने जब ध्यान ध्याया॥
वीतरागी बने सन्मति, मार्ग तिरने का बताया।
रतन नरतन है अमोलक सफल करना है सिखाया॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीवन की तथाकथित सम्पूर्ण सुख-सुविधाओं और अनगिनत ज्ञान विज्ञान के मंदिरों के होते हुए भी आज मानव मानव के निकट होने की अपेक्षा मानव से दूर हटता जा रहा है उसकी बीच की खाई चौड़ी और चौड़ी होती जा रही है। मानव स्वयं अपने आप में भी अशान्त और दुःखी है। विज्ञान की उन्नति ने उसे शान्ति प्रदान करने की अपेक्षा उसके संत्रास को बढ़ाया ही है। मानव का देवत्व की ओर बढ़ना तो दूर वह मानव भी नहीं रहा है, पशु बनता जा रहा है। आज मानव के सामने समस्याओं के समाधान हेतु केवल दो विकल्प शेष हैं-एक अपने प्रकृत आदिम जीवन की ओर लौटना तथा दूसरा नये मानव का सृजन। लेखक ने प्रथम विकल्प को संभव और वरेण्य न मानते हुए इस पर विचार किया है कि नये आध्यात्मिक मानव के सृजन में महावीर के सिद्धान्त क्या मार्ग-दर्शन कर सकते हैं।

प्र० सम्पादक

*महावीर के सिद्धान्त, युगीन सन्दर्भ में

● डा० सागरमल जैन
हमीदिया महाविद्यालय, भोपाल

आधुनिक मानस अशांत, विक्षुब्ध एवं तनाव-पूर्ण स्थिति में है। बौद्धिक विकास से प्राप्त विशाल ज्ञान राशि और वैज्ञानिक तकनीक से प्राप्त भौतिक सुख-सुविधा एवं आर्थिक समृद्धि मनुष्य की आध्यात्मिक, मानसिक, एवं सामाजिक विपन्नता को दूर नहीं कर पायी है। ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा देने वाले सहस्राधिक विश्वविद्यालयों एवं महाविद्यालयों के होते हुए भी आज का शिक्षित मानव अपनी स्वार्थपरता और योग-लोलुपता पर विवेक एवं संयम का अंकुश नहीं लगा पाया है। भौतिक सुख-सुविधाओं का यह अम्बार आज भी उसके मानस को सन्तुष्ट नहीं कर सका है। आवागमन के सुलभ साधनों ने विश्व की दूरी को कम कर दिया है, किन्तु मनुष्य-मनुष्य के बीच हृदय की दूरी आज ज्यादा हो गयी है। सुरक्षा के साधनों की यह बहुलता आज भी उसके मन में अभय का विकास नहीं कर पायी है, आज भी वह उतना ही आशंकित, आतंकित और आक्रामक है, जितना आदिम युग में रहा होगा। मात्र इतना ही नहीं, आज विध्वंसकारी शस्त्रों के निर्माण के साथ उसकी यह आक्रामक वृत्ति अधिक विनाशकारी बन गई है और वह शस्त्र निर्माण की इस दौड़ में सम्पूर्ण मानव-जाति की अन्त्येष्टि की सामग्री तैयार कर रहा है। आर्थिक सम्पन्नता की इस अवस्था में भी मनुष्य उतना ही अधिक अर्थ-लोलुप है, जितना कि वह पहले कभी रहा होगा, आज मनुष्य की इस अर्थ-लोलुपता ने मानव जाति को शोषक और शोषित के दो ऐसे वर्गों में बांट दिया, जो एक

*रविशंकर विश्वविद्यालय रायपुर के जैनधर्म एवं दर्शन के सेमीनार में प्रस्तुत निबन्ध

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दूसरे को पूरी तरह निगल जाने की तैयारी कर रहे हैं। एक भोगाकांक्षा और तृष्णा की दौड़ में पागल है तो दूसरा पेट की ज्वाला को शांत करने के लिए व्यग्र और विक्षुब्ध। आज विश्व में वैज्ञानिक तकनीक और आर्थिक समृद्धि की दृष्टि से सबसे अधिक विकसित राष्ट्र यू. एस. ए. मानसिक तनावों एवं आपराधिक प्रवृत्तियों के कारण सबसे अधिक परेशान है; इस सम्बन्धी उसके आंकड़े चौंकाने वाले हैं। आज मनुष्य का सबसे बड़ा दुर्भाग्य तो यह है कि इस तथाकाथित सभ्यता के विकास के साथ उसकी आदिम युग की एक सहज, सरल, एवं स्वाभाविक जीवन-शैली भी उससे छिन गई है, आज जीवन के हर क्षेत्र में कृत्रिमता और छद्मों का बाहुल्य है। मनुष्य आज न तो अपनी मूल प्रवृत्तियों एव वासनाओं का शोधन या उदात्तीकरण कर पाया है और न इस तथाकथित सभ्यता के आवरण को बनाये रखने के लिए उन्हें सहज रूप में प्रकट ही कर पा रहा है। उसके भीतर उसका 'पशुत्व' कुलाचें भर रहा है, किन्तु बाहर वह अपने को 'सभ्य' दिखाना चाहता है। अन्दर वासना की उद्दाम ज्वालाएँ और बाहर सच्चरित्रता और सदाशयता का छद्म जीवन, यही आज के मानस की त्रासदी है, पीड़ा है। आसक्ति, भोगलिप्सा, भय, क्रोध, स्वार्थ और कपट की दमित मूल प्रवृत्तियां और उनसे जन्य दोषों के कारण मानवता आज भी अभिशप्त है; आज वह दोहरे संघर्षों से गुजर रही है, एक आन्तरिक और दूसरे बाह्य। आन्तरिक संघर्षों के कारण आज उसका मानस तनाव-युक्त है, विक्षुब्ध है, तो बाह्य संघर्षों के कारण समाज-जीवन अशान्त और अस्तव्यस्त। आज मनुष्य का जीवन मानसिक तनावों, सांवेगिक असन्तुलनों और मूल्य-संघर्षों से युक्त है। आज का मनुष्य परमाणु तकनीक की बारीकियों को अधिक जानता है किन्तु एक सार्थक सामञ्जस्यपूर्ण जीवन के आवश्यक मूल्यों के प्रति उसका उपेक्षा भाव है। वैज्ञानिक प्रगति से समाज के पुराने मूल्य ढह चुके हैं और नये मूल्यों का सर्जन अभी हो नहीं पाया है। आज हम मूल्य-रिक्तता की स्थिति में जी रहे हैं और मानवता नये मूल्यों की प्रसव-पीड़ा से गुजर रही है। आज वह एक निर्णायक मोड़ पर खड़ी हुई है, उसके सामने दो ही विकल्प हैं या तो पुनः अपने प्रकृत आदिम जीवन की ओर लौट जावे या फिर एक नये मानव का सृजन करे, किन्तु पहला विकल्प अब न तो सम्भव है और न वरेण्य। अतः आज एक ही विकल्प शेष है—एक नये आध्यात्मिक मानव का निर्माण; अन्यथा आज हम उस कगार पर खड़े हैं, जहां मानव जाति का सर्वनाश हमें पुकार रहा है।

आइये देखें इस नये आध्यात्मिक मानव के सृजन में महावीर के सिद्धान्त हमारा क्या मार्ग दर्शन कर सकते हैं ?

यथार्थ जीवन दृष्टि का निर्माण

जैन धर्म कहता है कि इस निर्णायक स्थिति में मानव को सर्वप्रथम यह तय करना है कि आध्यात्मवादी और भौतिकवादी जीवन दृष्टियों में से कौन उसे वर्तमान संकट से उबार सकता है ? भौतिकवादी दृष्टि मनुष्य की उस भोग-लिप्सा तथा तद्जनित स्वार्थ एवं शोषण की पाशविक प्रवृत्तियों का निरसन करने में सर्वथा असमर्थ है, जोकि आज सम्पूर्ण मानव जाति की त्रासदी है। क्योंकि भौतिकवादी दृष्टि में मनुष्य मूलतः पशु ही है। वह मनुष्य को एक आध्यात्मिक सत्ता (Spiritual Being) न मानकर एक विकसित सामाजिक पशु (Social animal) ही मानती है। जबकि जैन धर्म मानव को विवेक और संयम की शक्तियुक्त मानता है। भौतिकवाद के अनुसार मनुष्य का निःश्रेयस उसकी शारीरिक एवं मनोवैज्ञानिक मांगों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की सन्तुष्टि में ही है। वह मानव की भोग-लिप्सा की सन्तुष्टि को ही उसका चरम लक्ष्य घोषित कर देती है। यद्यपि वह एक आरोपित सामाजिकता के द्वारा मनुष्य की स्वार्थ एवं शोषण की पाशविक वृत्तियों का नियमन करना अवश्य चाहता है, किन्तु इस आरोपित सामाजिकता का परिणाम मात्र इतना ही होता है कि मनुष्य प्रत्यक्ष में शान्त और सभ्य होकर भी परोक्ष में अशान्त एवं उद्दीप्त बना रहता है और उन अवसरों की खोज करता है जब समाज की आंख बचाकर अथवा सामाजिक आदर्शों के नाम पर उसकी पाशविक वृत्तियों को छद्म रूप में खुलकर खेलने का अवसर मिले। भौतिकवाद मानव की पाशविक वृत्तियों के नियंत्रण का प्रयास तो करता है, किन्तु वह उस दृष्टि का उन्मूलन नहीं करता है, जो कि इन पाशविक वृत्तियों का मूल उद्गम है। उसका प्रयास जड़ों को सींचकर शाखाओं के काटने का प्रयास है। वह रोग के कारणों की खोज कर उन्हें समाप्त नहीं करता है अपितु मात्र रोग के लक्षणों को दबाने का प्रयास करता है। यदि जीवन की मूल दृष्टि भौतिक उपलब्धि और दैहिक वासनाओं की सन्तुष्टि हो तो स्वार्थ और शोषण का चक्र कभी भी समाप्त नहीं होगा। उसके लिए हमें जीवन के उच्च मूल्यों के आदर्शों को स्वीकार करना होगा। जब तक एक आध्यात्मिक दृष्टि के आधार सामाजिकता को विकसित नहीं किया जाता है तब तक आरोपित सामाजिकता से मानव जीवन की स्वार्थ एवं शोषण की वृत्तियों का वास्तविक रूप में शोधन असम्भव है।

भगवान् महावीर ने इस तथ्य को गहराई से समझा था, कि भौतिकवाद मानवीय दुःखों की मुक्ति का सम्यक् मार्ग नहीं है, क्योंकि वह उस कारण का उच्छेद नहीं कर सकता, जिससे यह दुःख परम्परा की धारा प्रस्फुटित होती है। वे उत्तराध्ययन सूत्र में कहते हैं कि "कामाणुगिद्धिप्पभवं खु दुक्खं जं काइयं माणसियं च किंचि" अर्थात् समस्त भौतिक एवं मानसिक दुःखों का मूल कारण कामासक्ति है।[1] भौतिकवाद के पास इस कामासक्ति या ममत्व बुद्धि को समाप्त करने का कोई उपाय नहीं है। न केवल जैन धर्म ने अपितु लगभग सभी आध्यात्मिक धर्मों ने इस बात को एकमत से स्वीकार किया है कि समस्त दुःखों का मूल कारण आसक्ति, तृष्णा या ममत्व बुद्धि है। यदि हम मानव जाति को स्वार्थ, हिंसा, शोषण, भ्रष्टाचार एवं तद्जनित दुःखों से मुक्त करना चाहते हैं तो हमें भौतिकवादी दृष्टि का परित्याग कर उस आध्यात्मिक दृष्टि का विकास करना होगा जिसके अनुसार भौतिक सुख-सुविधाओं की उपलब्धि ही जीवन का अन्तिम लक्ष्य नहीं है। हमें यह मानना होगा कि दैहिक एवं आर्थिक मूल्यों से परे अन्य उच्च मूल्य भी हैं। आध्यात्मिक दृष्टि अन्य कुछ नहीं, अपितु इन उच्च मूल्यों की स्वीकृति है। जैन धर्म के अनुसार अध्यात्म का अर्थ है पदार्थ को परम मूल्य न मानकर आत्मा को परम मूल्य मानना। पदार्थवादी दृष्टि मानवीय दुःखों और सुखों का आधार "वस्तु" या बाह्य परिस्थिति को मानती है, उसके अनुसार सुख-दुःख वस्तुगत तथ्य है। अतः भौतिकवादी मानस सुख की लालसा में वस्तुओं के पीछे दौड़ता है और उनके संग्रह हेतु स्तेय, शोषण एवं संघर्ष जैसी सामाजिक बुराईयों को जन्म देता है। इसके विपरीत जैन अध्यात्म हमें यह सिखाता है कि सुख-दुःख का मूल केन्द्र वस्तु में न होकर आत्मा में है। महावीर कहते हैं—सुख-दुःख आत्मकृत है। बाहर न कोई शत्रु है और न कोई मित्र। आत्मा ही अपना मित्र

1. कामाणुगिद्धिप्पभवं खु दुक्खं जं काइयं माणसियं च किंचि।—उत्तराध्ययन सूत्र 32।9

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और शत्रु है। सुप्रस्थित आत्मा मित्र है और दुःप्रस्थित आत्मा शत्रु है। अतः सुख-दुःख की खोज पदार्थों में न कर आत्मा में करना है।[1] जैन आचार्य कहते हैं कि यह ज्ञान-दर्शन स्वरूप शाश्वत आत्म तत्व ही अपना है। शेष सभी संयोगजन्य पदार्थ आत्मा से भिन्न हैं, अपने नहीं हैं। इन सायोगिक उपलब्धियों में ममत्व बुद्धि दुःख-परम्परा का कारण है, अतः आनन्द की प्राप्ति हेतु इनके प्रति ममत्व बुद्धि का सर्वथा त्याग करो।[2] संक्षेप में देहादि आत्मेतर पदार्थों के प्रति ममत्व बुद्धि का त्याग और भौतिक उपलब्धियों के स्थान पर आत्मोपलब्धि अर्थात् वीतराग दशा की उपलब्धि को जीवन का निःश्रेयस स्वीकार करना आध्यात्म-विद्या और जैन धर्म का मूल तत्व है और यही मानव जाति के मंगल का मार्ग है। क्योंकि इसीके द्वारा आधुनिक मानस को आन्तरिक एवं बाह्य तनावों से मुक्त कर निराकुल बनाया जा सकता है।

क्या जैनधर्म जीवन का निषेध सिखाता है

जैन धर्म में तप-त्याग की जो महिमा गायी गई है उसके आधार पर यह भ्रान्ति फैलाई जाती है कि जैन धर्म जीवन का निषेध सिखाता है अतः यहां इस भ्रान्ति का निराकरण कर देना अप्रासंगिक नहीं होगा कि जैन धर्म के तप-त्याग का अर्थ शारीरिक एवं भौतिक जीवन की अस्वीकृति नहीं है। आध्यात्मिक मूल्यों की स्वीकृति का यह तात्पर्य नहीं है कि शारीरिक एवं भौतिक मूल्यों की पूर्णतया उपेक्षा की जावे। जैन धर्म के अनुसार शारीरिक मूल्य अध्यात्म के बाधक नहीं, साधक हैं। निशीथ भाष्य[3] में कहा गया है—कि मोक्ष का साधन ज्ञान है, ज्ञान का साधन शरीर है, शरीर का आधार आहार है। शरीर शाश्वत् आनन्द के कूल पर ले जाने वाली नौका है। इस दृष्टि से उसका मूल्य भी है, महत्व भी है और उसकी सार-सम्भाल भी करना है। किन्तु ध्यान रहे दृष्टि नौका पर नहीं कूल पर होना है, नौका साधन है साध्य नहीं। भौतिक एवं शारीरिक आवश्यकताओं की एक साधन के रूप में स्वीकृति जैन धर्म और सम्पूर्ण आध्यात्म विद्या का हार्द है। यह वह विभाजन रेखा है जो आध्यात्म और भौतिकवाद में अन्तर स्पष्ट करती है। भौतिकवाद में भौतिक उपलब्धियां या जैविक मूल्य स्वयमेव साध्य है, अन्तिम है, जबकि अध्यात्म में वे किन्हीं उच्च मूल्यों का साधन है। जैन धर्म की भाषा में कहें तो साधन के द्वारा वस्तुओं का त्याग और वस्तुओं का ग्रहण, दोनों ही संयम (समत्व) की साधना के लिए है। जैन धर्म की सम्पूर्ण साधना का मूल लक्ष्य तो एक ऐसे निराकुल, निर्विकार, निष्काम और वीतराग मानस की अभिव्यक्ति है जो कि वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन के समस्त तनावों एवं संघर्षों को समाप्त कर सके। उसके सामने मूल प्रश्न

---

1. अप्पा कत्ता विकत्ता य दुहाण सुहाण य।
   अप्पा मित्तममित्तं च दुप्पट्ठिय सुपट्ठिय ॥—उत्तराध्ययन सूत्र 20।37
2. एगो मे सासओ अप्पा णाण दंसण संजुओ।
   सेसा मे बहिरा भावा सव्वे संजोग लक्खणा ॥
   संजोग मूला जीवेण पत्ता दुक्खपरम्परा।
   तम्हा संजोग सम्बन्धं सव्व भावेण वोसिरे ॥—आतुर प्रकरण 26।27
3. मोक्खप्प साहण हेतु णाणादि तप्प साहणो देहो।
   देहट्ठा आहारो तेण तु कालो अगुण्णातो ॥—निशीथभाष्य 47।91

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दैहिक एवं भौतिक मूल्यों की स्वीकृति या अस्वीकृति का नहीं है अपितु वैयक्तिक और सामाजिक जीवन में समत्व के संस्थापन का है। अतः जहां तक और जिस रूप में दैहिक और भौतिक उपलब्धियाँ उसमें साधक हो सकती हैं, वहां तक वे स्वीकार्य हैं और जहां तक वे उसमें बाधक हैं, वहीं तक त्याज्य हैं। भगवान् महावीर ने आचारांग एवं उत्तराध्ययन सूत्र में इस बात को बहुत ही स्पष्टता के साथ प्रस्तुत किया है। वे कहते हैं कि जब इन्द्रियों का अपने विषयों से सम्पर्क होता है, तब उस सम्पर्क के परिणामस्वरूप सुखद-दुःखद अनुभूति भी होती है और जीवन में यह शक्य नहीं है कि इन्द्रियों का अपने विषयों से सम्पर्क न हो और उसके कारण सुखद या दुःखद अनुभूति न हो, अतः त्याग इन्द्रियानुभूति का नहीं अपितु उसके प्रति चित्त में उत्पन्न होने वाले राग-द्वेष करना है,[1] क्योंकि इन्द्रियों के मनोज्ञ या अमनोज्ञ विषय आसक्तचित्त के लिए ही राग-द्वेष (मानसिक विक्षोभों) का कारण बनते हैं अनासक्त या वीतराग के लिए नहीं।[2] अतः जैन धर्म की मूल शिक्षा ममत्व के विसर्जन की है, जीवन के निषेध की नहीं। क्योंकि उसकी दृष्टि में ममत्व या आसक्ति ही वैयक्तिक और सामाजिक जीवन की समस्त विषमताओं का मूल है।

जीवन की विषमताएँ क्या और क्यों ?

सतत् शारीरिक एवं प्राणमय जीवन के अभ्यास से चेतन बाह्य उत्तेजनाओं एवं संवेदनाओं से प्रभावित होने की प्रवृत्ति विकसित कर लेता है। अन्य पदार्थों में रस लेने की इस प्रवृत्ति से अज्ञान के कारण उनके प्रति आसक्ति उत्पन्न होती है और उसी आसक्ति या राग से तृष्णा उत्पन्न होती है। गीता कहती है 'सतत् सानिध्य से काम (तृष्णा) उत्पन्न होता है और उससे क्रोधादि अन्य विक्षोभ उत्पन्न होते हैं जो कि अन्त में सर्वनाश की ओर ले जाते हैं' (२:६२-६३)। इसी तथ्य का संकेत उत्तराध्ययन सूत्र में राग-द्वेष को कर्मबीज कहकर किया गया है। (३२:७-८) वस्तुतः वैयक्तिक जीवन की विषमताएँ हैं—राग-द्वेष की वृत्ति, वैचारिक आग्रह और अधिकार की भावना (संग्रह वृत्ति)। यही वैयक्तिक जीवन की विषमताएँ सामाजिक जीवन में वर्ग-विद्वेष (जातिवाद), सम्प्रदायवाद और शोषण वृत्ति के रूप में कार्य करती हैं। हिंसा, वाद-विवाद और संघर्ष इसी का परिणाम है। इस प्रकार राग या आसक्ति एवं तद्जनित तृष्णा ही समस्त वैयक्तिक एवं सामाजिक तथा आध्यात्मिक एवं भौतिक तनावों एवं संघर्षों का मूल कारण है। किन्तु हमें यह ध्यान रखना होगा कि जीवन में विक्षोभों, तनावों एवं संघर्षों की उपस्थिति होते हुए भी, वे हमारी चेतना के स्वाभाविक लक्षण नहीं हैं। इसीलिए जैन विचारकों ने वैयक्तिक जीवन में निराकुलता और सामाजिक जीवन में शान्ति के हेतु ममत्व के विसर्जन के द्वारा उस समत्व के प्रकटीकरण पर बल दिया है जोकि यही हमारा निजगुण या स्वभाव लक्षण है।

समत्वयोग : वर्तमान संघर्षों का उपचार

समत्व हमारा निज स्वरूप है क्योंकि जहां भी जीवन है, चेतना है, चाहे वह कितनी ही प्रसुप्त क्यों न हो वहां हमें समत्व की प्राप्ति के प्रयास परिलक्षित होते हैं। चैत्त जीवन का स्वभाव बाह्य एवं

---

1. आचारांग सूत्र 2।15
2. न काम भोगा समयं उवेंति न यावि भोगा विगइं उवेंति ।
   जे तापओसी य परिग्गसी य सो तेसु मोहा विगइं उवेइ ।।—उत्तराध्ययन 32।101

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आन्तरिक उत्तेजनाओं से चेतना में उत्पन्न विक्षोभ को समाप्त कर साम्यावस्था को बनाए रखना है। समत्व केन्द्र की ओर उन्मुख रहना, यह चेतना की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। स्वभाव वह है जिसका निराकरण नहीं किया जाता है, विक्षोभों का निराकरण किया जाता है अतः वे आत्मा के स्वभाव नहीं होकर विभाव या विकार ही हैं। समत्व लाया नहीं जाता वरन् विक्षोभों के समाप्त होते स्वतः प्रकट हो जाता है। पुनः स्वभाव स्वतः और विभाव परतः होता है, 'समत्व' का कोई कारण नहीं बताया जा सकता लेकिन विक्षोभ सदैव ही सकारण होते हैं अतः 'समत्व' ही चैत्त जीवन का स्वभाव सिद्ध होता है। जैन दर्शन में इसी स्वस्वभाव समत्व को हमारी आध्यात्मिक सत्ता का सार और जीवन का परमश्रेय माना गया है। जैनागम-व्याख्या प्रज्ञप्ति सूत्र में कहा गया है। "आत्मा समत्व रूप है और समत्व ही आत्मा का साध्य है"। जैनाचार्य कुन्दकुन्द ने तो आत्मा को 'समयसार' कहा है (समत्वं यस्य सारं तत्समयसारं)। यह 'समत्व' क्या है? यह स्पष्ट करते हुए प्रवचनसार में वे कहते हैं—आत्मा की मोह और क्षोभ से रहित अवस्था ही 'समत्व' है (१:१७)।

जैन दर्शन की समग्र साधना का मूल सामायिक या समत्व योग है। इसमें समभाव की प्राप्ति रूप सम्यक्दर्शन तथा सम्यक्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र तीनों का समावेश है। जिन्हें हम चित्तवृत्ति का समत्व, बुद्धि का समत्व और आचरण का समत्व कह सकते हैं। व्यावहारिक दृष्टि से चित्तवृत्ति का समत्व अनासक्ति या वीतरागता में, बुद्धि का समत्व अनाग्रह या अनेकांत में और आचरण का समत्व अहिंसा एवं अपरिग्रह में निहित है। अनासक्ति, अनेकान्त, अहिंसा और अपरिग्रह के सिद्धान्त ही जैन दर्शन में समत्व योग की साधना के चार आधार स्तम्भ हैं। वृत्ति में अनासक्ति, विचार में अनेकान्त, वैयक्तिक जीवन में असंग्रह और सामाजिक जीवन में अहिंसा यही समत्व योग की साधना है। यही वीतराग जीवन दृष्टि है। जिसके निष्ठा सूत्र हैं १—सभी आत्माएं समान हैं (व्याख्या प्रज्ञप्ति ७:८) और जीवन का नियम संघर्ष नहीं, वरन् परस्पर सहकार है (परस्परोपग्रहो जीवानाम्—तत्वार्थ)।

वस्तुतः समत्व योग जीवन के विभिन्न पक्षों में एक ऐसा सांग संतुलन है जिसमें न केवल वैयक्तिक जीवन के संघर्ष समाप्त होते हैं वरन् सामाजिक जीवन-संघर्ष भी समाप्त हो जाते हैं। मनुष्य का अपने परिवेश के साथ जो संघर्ष है उसके कारण रूप में जैविक आवश्यकताओं की पूर्ति इतनी प्रमुख नहीं है जितनी कि व्यक्ति की भोगासक्ति। संघर्ष की तीव्रता, आसक्ति की तीव्रता के साथ बढ़ती जाती है। प्राकृतिक जीवन जीना न तो इतना जटिल है और न इतना संघर्षपूर्ण ही। व्यक्ति का आन्तरिक संघर्ष जो उसकी विविध आकांक्षाओं और वासनाओं के कारण होता है उसके पीछे भी व्यक्ति की तृष्णा या आसक्ति ही प्रमुख तथ्य है। इसी प्रकार वैचारिक जगत् का सारा संघर्ष आग्रह, पक्ष या दृष्टि के कारण है। वाद, पक्ष या 'दृष्टि' एक ओर सत्य को सीमित करती है दूसरी ओर 'आग्रह' सत्य के अनन्त पहलुओं को आवृत करता है। भोगासक्ति स्वार्थ की संकीर्णता को जन्म देती है और आग्रहवृत्ति वैचारिक संकीर्णता को प्रसूत करती है। संकीर्णता चाहे वह हितों की हो या विचारों की, संघर्ष को जन्म देती है। समग्र सामाजिक संघर्ष के मूल में यही हितों की या विचारों की संकीर्णता काम कर रही है। समत्वयोग की साधना इन वैयक्तिक एवं सामाजिक संघर्षों के निवारण के लिए आवश्यक है। वह व्यक्ति के जीवन के विविध पक्षों में तथा सामाजिक जीवन में एक सांग सन्तुलन स्थापित करती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'समत्व' में इन्द्रियां अपना कार्य करती हैं लेकिन उनमें भोगासक्ति नहीं होती, न इन्द्रियों के विषयों की अनुभूति राग और द्वेष को जन्म देती है। चिन्तन तो होता है, लेकिन उसमें पक्ष, वाद या मतों का निर्माण नहीं होता। मन अपना कार्य तो करता है लेकिन वह चेतन के सम्मुख जिसे प्रस्तुत करता है उसे अपनी ओर से रंगीन नहीं बनाता। आत्मा विशुद्ध द्रष्टा होता है। समत्व योग की साधना व्यक्ति को राग-द्वेष के द्वन्द्व से ऊपर उठाकर निर्द्वन्द्व वीतरागता की दिशा में ले जाती है। वैयक्तिक जीवन में समत्वयोग की साधना की उपलब्धि है—निर्विकार, निर्विचार, निर्वैयक्तिक चेतना। यही प्रपंचशून्यता है; यह निर्वाण है; इसे ही ब्रह्म भाव, ब्राह्मी स्थिति या वीतरागावस्था कहा जाता है। यद्यपि आन्तरिक समत्व, समत्वयोग का प्रमुख तत्व है; फिर भी इस आन्तरिक समत्व के कारण उसके आचार और विचार सामाजिक जीवन को प्रभावित करते हैं। सामाजिक जीवन की संस्थापना समत्वयोग का साध्य तो है लेकिन उसकी सिद्धि वैयक्तिक समत्व पर नहीं वरन् समाज के सभी सदस्यों के सामूहिक प्रयत्नों पर निर्भर है। आज समत्व योग की सामूहिक साधना की आवश्यकता है। इसी सामूहिक साधना से हम संघर्ष एवं शोषण रहित एक सहिष्णु समाज का निर्माण कर सकते हैं। इस सम्बन्ध में जैनधर्म के तीन सिद्धान्त अनेकांत, अपरिग्रह और अहिंसा हमारा उचित मार्गदर्शन कर मानव समाज को वैचारिक, आर्थिक और सामाजिक संघर्षों से उबार सकते हैं। आगे हम इन्हीं बातों पर थोड़ा गम्भीरता से विचार करेंगे।

वैचारिक सहिष्णुता का आधार—अनेकान्त दृष्टि

वर्तमान युग में वैचारिक संघर्ष अपनी चरम सीमा पर है। सिद्धान्तों के नाम पर मनुष्य 'मनुष्य के बीच भेद की दीवारें खींची जा रही हैं। कहीं धर्म के नाम पर तो कहीं राजनैतिक वाद के नाम पर एक दूसरे के विरुद्ध विषवमन किया जा रहा है। धार्मिक एवं राजनैतिक साम्प्रदायिकता जनता के मानस को उन्मादी बना रही है। प्रत्येक धर्मवाद या राजनैतिकवाद अपनी सत्यता का दावा कर रहा है और दूसरे को भ्रान्त बता रहा है। इस धार्मिक एवं राजनैतिक उन्माद एवं असहिष्णुता के कारण मानव मानव के रक्त का प्यासा बना हुआ है। आज प्रत्येक राष्ट्र का एवं विश्व का वातावरण तनावपूर्ण एवं विक्षुब्ध है। एक ओर प्रत्येक राष्ट्र की राजनैतिक पार्टियां या धार्मिक सम्प्रदाय उसके आन्तरिक वातावरण को विक्षुब्ध एवं जनता के पारस्परिक सम्बन्धों को तनावपूर्ण बनाये हुए हैं तो दूसरी ओर राष्ट्र अपने को किसी एक निष्ठा से सम्बन्ध का गुट बना रहे हैं। और इस प्रकार विश्व के वातावरण को तनावपूर्ण एवं विक्षुब्ध बना रहे हैं। मात्र इतना ही नहीं यह वैचारिक असहिष्णुता, सामाजिक एवं पारिवारिक जीवन को विषाक्त बना रही है। पुरानी और नई पीढ़ी के वैचारिक विरोध के कारण आज समाज और परिवार का वातावरण भी अशान्त और कलहपूर्ण हो रहा है। वैचारिक आग्रह और मतान्धता के इस युग में एक ऐसे दृष्टिकोण की आवश्यकता है जो लोगों को आग्रह और मतान्धता से ऊपर उठने के लिए दिशा-निर्देश दे सके। भगवान् बुद्ध और भगवान् महावीर दो ऐसे महापुरुष हैं जिन्होंने इस वैचारिक असहिष्णुता की विध्वंसकारी शक्ति को समझा था और उससे बचने का निर्देश दिया था। भगवान् बुद्ध ने इस आग्रह एवं मतान्धता से ऊपर उठने के लिए विवाद पराङ्मुखता को अपनाया। सुत्त-निपात में वे कहते हैं कि मैं विवाद के दो फल बताता हूं। एक तो वह अपूर्ण व एकांगी होता है और दूसरे कलह एवं अशान्ति का कारण होता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। अतः निर्वाण को निर्विवाद भूमि समझने वाला साधक विवाद में न पड़े।[1] उनके अनुसार अनासक्त पुरुष के पास विवाद रूपी युद्ध के लिए कोई कारण ही शेष नहीं रह जाता।[2] इसी प्रकार भगवान् महावीर ने भी आग्रह को साधना का सम्यक् पथ नहीं बताया। वे कहते हैं कि आग्रह, मतान्धता या एकांगी दृष्टि उचित नहीं है। जो व्यक्ति अपने मत की प्रशंसा और दूसरों की निन्दा करने में ही पांडित्य दिखाते हैं, वे संसार चक्र में घूमते रहते हैं।[3] इस प्रकार भगवान् महावीर भी आग्रह वृत्ति एवं मतान्धता से जन-मानस को मुक्त करना चाहते हैं। जहां बुद्ध इन विवादों से बचने की सलाह दे रहे हैं, वहीं महावीर अनेकान्त दृष्टि के आधार पर इनके समन्वय की एक विधायक दृष्टि प्रस्तुत कर रहे हैं।

महावीर का अनेकान्त सिद्धान्त विविध दार्शनिक एकान्तवादों में समन्वय करने का प्रयास करता है। उसकी दृष्टि में नित्यवाद – अनित्यवाद, द्वैतवाद, अद्वैतवाद, भेदवाद-अभेदवाद, आदि सभी वस्तु स्वरूप के आंशिक पक्षों को स्पष्ट करते हैं। इनमें से कोई भी असत्य तो नहीं है किन्तु पूर्ण सत्य भी नहीं है। यदि इनको कोई असत्य बनाता है तो वह आंशिक सत्य को पूर्ण सत्य मान लेने का उसका आग्रह ही है। अनेकान्त अपेक्षा भेद से इन सभी के बीच समन्वय करने का प्रयास करता है और यह बताता है कि सत्य तभी असत्य बन जाता है, जबकि हम आग्रही दृष्टि से उसे देखते हैं। यदि हम अपने को आग्रह के घेरे से ऊपर उठाकर देखें तो ही हमें सत्य के दर्शन हो सकते हैं। सत्य का सच्चा प्रकाश केवल अनाग्रही को ही मिल सकता है। महावीर के प्रथम शिष्य गौतम का जीवन स्वयं इसका एक प्रत्यक्ष साक्ष्य है। गौतम के केवलज्ञान में आखिर कौन सा तत्व बाधक बन रहा था। महावीर ने स्वयं इसका समाधान करते हुए गौतम से कहा था—हे गौतम, तेरा मेरे प्रति जो ममत्व है, यही तेरे केवलज्ञान (सत्य-दर्शन) का बाधक है। महावीर की स्पष्ट घोषणा थी कि सत्य का सम्पूर्ण दर्शन आग्रह के घेरे में रहकर नहीं किया जा सकता। आग्रह बुद्धि या दृष्टि राग सत्य को असत्य बना देता है। महावीर की दृष्टि में सत्य का प्रकटन, आग्रह में नहीं, अनाग्रह में होता है, विरोध में नहीं समन्वय में होता है। सत्य का साधक अनाग्रही और वीतराग होता है। महावीर एक अनाग्रही एवं समन्वयात्मक दृष्टि प्रस्तुत करते हैं ताकि वैचारिक असहिष्णुता को समाप्त किया जा सके।

अनेकान्त धार्मिक सहिष्णुता के क्षेत्र में

सभी धर्म–साधना पद्धतियों का मुख्य लक्ष्य राग, आसक्ति, अहं एवं तृष्णा की समाप्ति रहा है। जैन धर्म की साधना का लक्ष्य वीतरागता है, तो बौद्ध धर्म का साधनालक्ष्य वीततृष्ण होना माना गया है। वही वेदान्त में अहं और आसक्ति से ऊपर उठना ही मानव का साध्य बताया गया है। लेकिन क्या एकान्त या आग्रह वैचारिक राग, वैचारिक आसक्ति, वैचारिक तृष्णा अथवा वैचारिक अहं के ही रूप नहीं हैं? और जब तक वह उपस्थित है धार्मिक साधना के क्षेत्र में लक्ष्य की सिद्धि कैसे होगी? पुनः जिन साधना पद्धतियों में

1. सुत्तनिपात 51।2
2. सुत्तनिपात 46।8–9
3. सयं सयं पंसंसंता गरहन्त्त परं वयं।
   जे उ तत्थ विउसन्ति संसारे ते विउस्सिया ।।—सूत्रकृतांग 1।1।2।23

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अहिंसा के आदर्श को स्वीकार किया गया उनके लिए आग्रह या एकान्त वैचारिक हिंसा का प्रतीक भी बन जाता है। एक और साधना के वैयक्तिक पहलू की दृष्टि से मताग्रह वैचारिक आसक्ति या राग का ही रूप है तो दूसरी ओर साधना के सामाजिक पहलू की दृष्टि से वह वैचारिक हिंसा है। वैचारिक आसक्ति और वैचारिक हिंसा से मुक्ति के लिए धार्मिक क्षेत्र में अनाग्रह और अनेकान्त की साधना अपेक्षित है। वस्तुतः धर्म का आविर्भाव मानव जाति में शान्ति और सहयोग के विस्तार के लिए हुआ था। धर्म मनुष्य को मनुष्य से जोड़ने के लिए था लेकिन आज वही धर्म मनुष्य मनुष्य में विभेद की दीवारें खींच रहा है। धार्मिक मतान्धता में हिंसा, संघर्ष, छल, छद्म, अन्याय, अत्याचार क्या नहीं हो रहा है? क्या वस्तुतः इसका कारण धर्म हो सकता है? इसका उत्तर निश्चित रूप से 'हां' में नहीं दिया जा सकता। यथार्थ में 'धर्म' नहीं किन्तु धर्म का आवरण डाल कर मानव की महत्वाकांक्षा, उसका अहंकार ही यह सब करवाता रहा है। यह धर्म का नकाब डाले अधर्म है।

मूल प्रश्न यह है कि क्या धर्म अनेक हैं या हो सकते हैं? इस प्रश्न का उत्तर अनेकान्तिक शैली से यह होगा कि धर्म एक भी है और अनेक भी, साध्यात्मक धर्म या धर्मों का साध्य एक है जबकि साधनात्मक धर्म अनेक हैं। साध्य रूप में धर्मों की एकता और साधन रूप से अनेकता को ही यथार्थ दृष्टिकोण कहा जा सकता है। सभी धर्मों का साध्य है, समत्व लाभ (समाधि) अर्थात् आंतरिक तथा बाह्य शान्ति की स्थापना तथा उसके लिए विक्षोभ के जनक राग-द्वेष और अस्मिता (अहंकार) का निराकरण। लेकिन राग-द्वेष और अस्मिता के निराकरण के उपाय क्या हों? यहीं विचार भेद प्रारम्भ होता है लेकिन यह विचार भेद विरोध का आधार नहीं बन सकता। एक ही साध्य की ओर उन्मुख होने से परस्पर विरोधी नहीं कहे जा सकते। एक ही केन्द्र से योजित होने वाली परिधि से खिंची हुई विभिन्न रेखाओं में पारस्परिक विरोध प्रतीत अवश्य होता है किन्तु वह यथार्थ में होता नहीं है। क्योंकि केन्द्र से संयुक्त प्रत्येक रेखा में एक दूसरे को काटने की क्षमता नहीं होती है किन्तु जैसे ही वह केन्द्र का परित्याग करती है वह दूसरी रेखाओं को अवश्य ही काटती है। साध्य रूपी एकता में ही साधन रूपी धर्मों की अनेकता स्थित है। अतः यदि धर्मों का साध्य एक है तो उनमें विरोध कैसा? अनेकांत, धर्मों की साध्य परक मूलभूत एकता और साधन परक अनेकता को इंगित करता है।

विश्व के विभिन्न धर्माचार्यों ने अपने युग की तात्कालिक परिस्थितियों से प्रभावित होकर अपने सिद्धान्तों एवं साधना के बाह्य नियमों का प्रतिपादन किया। देश काल-गत परिस्थितियों और साधक की साधना की क्षमता की विभिन्नता के कारण धर्म साधना के बाह्य रूपों में भिन्नताओं का आ जाना स्वाभाविक ही था और ऐसा हुआ भी। किन्तु मनुष्य की अपने धर्माचार्य के प्रति ममता (रागात्मकता) और उसके अपने मन में व्याप्त आग्रह और अहंकार ने उसे अपने धर्म या साधना पद्धति को ही एक मात्र एवं अन्तिम सत्य मानने को बाध्य किया। फलस्वरूप विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों और उनके बीच साम्प्रदायिक वैमनस्य का प्रारम्भ हुआ। मुनिश्री नेमीचन्द्रजी ने धर्म सम्प्रदायों के उद्भव की एक सजीव व्याख्या प्रस्तुत की है। वे लिखते हैं—'मनुष्य स्वभाव बड़ा विचित्र है। उसके अहं को जरा सी चोट लगते ही वह अपना अखाड़ा अलग बनाने को तैयार हो जाता है। यद्यपि वैयक्तिक अहं एवं सम्प्रदायों के निर्माण का एक कारण अवश्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है लेकिन वही एकमात्र कारण नहीं है। बौद्धिक भिन्नता और देशकाल-गत तथ्य भी इसके कारण रहे हैं और इसके अतिरिक्त पूर्व प्रचलित परम्पराओं में आई हुई विकृतियों के संशोधन के लिए भी सम्प्रदाय बने।" उनके अनुसार सम्प्रदाय बनने के निम्न कारण हो सकते हैं :

(1) ईर्ष्या के कारण, (2) किसी व्यक्ति की प्रसिद्धि की लिप्सा के कारण, (3) किसी वैचारिक मतभेद (मताग्रह) के कारण, (४) किसी आचार सम्बन्धी नियमोपनियम में भेद के कारण, (५) किसी व्यक्ति या पूर्व सम्प्रदाय के द्वारा अपमान या खींचातान होने के कारण, (६) किसी विशेष सत्य को प्राप्त करने की दृष्टि से एवं (७) किसी साम्प्रदायिक परम्परा या क्रिया में द्रव्य, क्षेत्र एवं काल के अनुसार संशोधन या परिवर्तन करने की दृष्टि से।[1] उपरोक्त कारणों में अन्तिम दो को छोड़कर शेष सभी कारणों से उत्पन्न सम्प्रदाय, आग्रह, आंशिक असहिष्णुता और साम्प्रदायिक कटुता को जन्म देते हैं।

विश्व इतिहास का अध्येता इसे भलीभांति मानता है कि धार्मिक असहिष्णुता ने विश्व में जघन्य दुष्कृत्य कराये हैं। आश्चर्य तो यह है कि इस दमन, अत्याचार, नृशंसता और रक्त प्लावन को धर्म का बाना पहनाया गया। शान्ति प्रदाता धर्म ही अशान्ति का कारण बना। आज के वैज्ञानिक युग में धार्मिक अनास्था का मुख्य कारण उपरोक्त भी है। यद्यपि विभिन्न मतों, पंथों और वादों में बाह्य भिन्नता परिलक्षित होती है किन्तु यदि हमारी दृष्टि व्यापक और अनाग्रही हो तो इसमें भी एकता और समन्वय के सूत्र परिलक्षित हो सकते हैं।

अनेकान्त विचार-दृष्टि विभिन्न धर्म सम्प्रदायों की समाप्ति के द्वारा एकता का प्रयास नहीं करती है क्योंकि वैयक्तिक रुचि भेद एवं क्षमता भेद तथा देशकाल-गत भिन्नताओं के होते हुए विभिन्न धर्म एवं विचार सम्प्रदायों की उपस्थिति अपरिहार्य है। एक धर्म या एक सम्प्रदाय का नारा असंगत एवं अव्यावहारिक ही नहीं अपितु अशान्ति और संघर्ष का कारण भी है। अनेकान्त, विभिन्न धर्म सम्प्रदायों की समाप्ति का प्रयास नहीं होकर उन्हें एक व्यापक पूर्णता में सुसंगत रूप से संयोजित करने का प्रयास हो सकता है। लेकिन इसके लिए प्राथमिक आवश्यकता है धार्मिक सहिष्णुता और सर्व धर्म समभाव की।

अनेकान्त के समर्थक जैनाचार्यों ने इसी धार्मिक सहिष्णुता का परिचय दिया है। आचार्य हरिभद्र की धार्मिक सहिष्णुता तो सर्व विदित ही है। अपने ग्रन्थ शास्त्रवार्ता समुच्चय में उन्होंने बुद्ध के अनात्मवाद और न्याय दर्शन के ईश्वर कर्तृत्ववाद, वेदान्त के सर्वात्मवाद (ब्रह्मवाद) में भी संगति दिखाने का प्रयास किया। उन्हीं के ग्रन्थ षड्दर्शन समुच्चय की टीका में आचार्य मणिभद्र लिखते हैं :

पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचनं यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः ॥

मुझे न तो महावीर के प्रति पक्षपात है और न कपिलादि मुनिगणों के प्रति द्वेष है। जो भी वचन तर्कसंगत हो उसे ग्रहण करना चाहिए।

इसी प्रकार आचार्य हेमचन्द्र ने शिव-प्रतिमा को प्रणाम करते समय सर्व देव समभाव का परिचय देते हुए कहा था—

भवबीजांकुर जनना, रागाद्या क्षयमुपागता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो, जिनो वा नमस्तस्मै।

1. देखिये—मुनि नेमीचन्दजी का लेख

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संसार परिभ्रमण के कारण रागादि जिसके क्षय हो चुके हैं, उसे मैं प्रणाम करता हूं चाहे वह ब्रह्मा हो, विष्णु हो, शिव हो या जिन हो।

उपाध्याय यशोविजय जी लिखते हैं—

"सच्चा अनेकान्तवादी किसी दर्शन से द्वेष नहीं करता। वह सम्पूर्ण दृष्टिकोण (दर्शनों) को इस प्रकार वात्सल्य दृष्टि से देखता है जैसे कोई पिता अपने पुत्रों को। क्योंकि अनेकान्तवादी की न्यूनाधिक बुद्धि नहीं हो सकती। वास्तव में सच्चा शास्त्रज्ञ कहे जाने का अधिकारी वही है जो स्याद्वाद का आलम्बन लेकर सम्पूर्ण दर्शनों में समान भाव रखता है। माध्यस्थ भाव ही शास्त्रों का गूढ़ रहस्य है, यही धर्मवाद है। माध्यस्थ भाव रहने पर शास्त्र के एक पद का ज्ञान भी सफल है, अन्यथा करोड़ों शास्त्रों का ज्ञान भी वृथा है।[1]" एक सच्चा जैन सभी धर्मों एवं दर्शनों के प्रति सहिष्णु होता है। वह सभी में सत्य का दर्शन करता है। परमयोगी जैन सन्त आनन्दघनजी लिखते हैं :

षट् दरसण जिन अंग भणीजे, न्याय षडंग जो साधे रे,
नमि जिनवरना चरण उपासक, षटदर्शन आराधे रे।

राजनैतिक सहिष्णुता के हेतु जैनधर्म की अनेकान्त दृष्टि का उपयोग

आज का राजनैतिक जगत् भी वैचारिक संकुलता से परिपूर्ण है। पूंजीवाद, समाजवाद, साम्यवाद, फासिस्टवाद, नाजीवाद, आदि अनेक राजनैतिक विचारधाराएँ तथा राजतन्त्र, प्रजातन्त्र, कुलतन्त्र, अधिनायकतन्त्र आदि अनेकानेक शासन प्रणालियां वर्तमान में प्रचलित हैं। मात्र इतना ही नहीं उनमें से प्रत्येक एक दूसरे की समाप्ति के लिए प्रयत्नशील है। विश्व के राष्ट्र खेमों में बटे हुए हैं और प्रत्येक खेमे का अग्रणी राष्ट्र अपना प्रभाव क्षेत्र बढ़ाने के हेतु दूसरे के विनाश में तत्पर है। मुख्य बात यह है कि आज का राजनैतिक संघर्ष आर्थिक हितों का संघर्ष न होकर वैचारिकता का संघर्ष है। आज अमेरिका और रूस अपनी वैचारिक प्रमुखता के प्रभाव को बढ़ाने के लिए ही प्रतिस्पर्धा में लगे हुए हैं। एक दूसरे को नाम शेष करने की उनकी यह महत्वाकांक्षा कहीं मानव जाति को ही नाम-शेष न कर दे।

आज के राजनैतिक जीवन में अनेकान्त के दो व्यावहारिक फलित वैचारिक सहिष्णुता और समन्वय अत्यन्त उपादेय है। मानव जाति ने राजनैतिक जगत् में राजतन्त्र से प्रजातन्त्र तक की जो लम्बी यात्रा तय की है उसकी सार्थकता अनेकान्त दृष्टि को अपनाने में ही है। विरोधी पक्ष के द्वारा की जाने वाली आलोचना के प्रति सहिष्णु होकर उसके द्वारा अपने दोषों को समझना और उन्हें दूर करने का प्रयास करना, आज के राजनैतिक जीवन की सबसे बड़ी आवश्यकता है। विपक्ष की धारणाओं में भी सत्यता हो सकती है और सबल विरोधी दल की उपस्थिति से हमें अपने दोषों के निराकरण का अच्छा अवसर मिलता है। इस विचार-दृष्टि और सहिष्णु भावना में ही प्रजातन्त्र का भविष्य उज्ज्वल रह सकता है। राजनैतिक क्षेत्र में संसदीय प्रजातन्त्र (पार्लियामेन्टरी डेमोक्रेसी) वस्तुतः राजनैतिक अनेकान्तवाद है। इस परम्परा में बहुमत दल द्वारा गठित सरकार अल्प मत दल को अपने विचार प्रस्तुत करने का अधिकार मान्य करती है और

1. आध्यात्मसार 69–73
2. उत्तराध्ययन सूत्र 32।8

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यथा सम्भव उससे लाभ भी उठाती है। दार्शनिक क्षेत्र में जहां भारत अनेकान्तवाद का सर्जक है, वहीं वह राजनैतिक क्षेत्र में संसदीय प्रजातन्त्र का समर्थक भी है। अतः आज अनेकान्त का व्यावहारिक क्षेत्र में उपयोग करने का दायित्व भारतीय राजनीतिज्ञों पर है।

पारिवारिक जीवन में जैनधर्म की अनेकान्त दृष्टि का उपयोग :

कौटुम्बिक क्षेत्र में इस पद्धति का उपयोग परम्पर कुटुम्बों में और कुटुम्ब के सदस्यों में संघर्ष को टालकर शान्तिपूर्ण वातावरण का निर्माण करेगा। सामान्यतया पारिवारिक जीवन में संघर्ष के दो केन्द्र होते हैं—पिता-पुत्र तथा सास-बहू। इन दोनों विवादों में मूल कारण दोनों का दृष्टि-भेद है। पिता जिस परिवेश में बड़ा हुआ उन्हीं संस्कारों के आधार पर पुत्र का जीवन ढालना चाहता है। जिस मान्यता को स्वयं मानकर बैठा है, उन्हीं मान्यताओं को दूसरे से मनवाना चाहता है। पिता की दृष्टि अनुभव प्रधान होती है जबकि पुत्र की दृष्टि तर्कप्रधान। एक प्राचीन संस्कारों से ग्रस्त होता है तो दूसरा उन्हें समाप्त कर देना चाहता है। यही स्थिति सास-बहू में होती है। सास यह अपेक्षा करती है कि बहू ऐसा जीवन जिये जैसा उसने स्वयं बहू के रूप में जिया था जबकि बहू अपने युग के अनुरूप और अपने मातृ पक्ष के संस्कारों से प्रभावित जीवन जीना चाहती है। मात्र इतना ही नहीं, उसकी अपेक्षा यह भी होती है कि वह उतना ही स्वतन्त्र जीवन जीये जैसा वह अपने माता-पिता के पास जीती थी। इसके विपरीत श्वसुर पक्ष उससे एक अनुशासित जीवन की अपेक्षा करता है। यही सब विवाद के कारण बनते हैं। इसमें जब तक सहिष्णु दृष्टि और दूसरे की स्थिति को समझने का प्रयास नहीं किया जाता तब तक संघर्ष समाप्त नहीं हो सकता। वस्तुतः इसके मूल में जो दृष्टि-भेद है उसे अनेकान्त पद्धति से सम्यक् प्रकार जाना जा सकता है।

वास्तविकता यह है कि हम जब दूसरे के सम्बन्ध में कोई विचार करें, कोई निर्णय लें तो हमें स्वयं अपने को उस स्थिति में खड़ा कर सोचना चाहिए। दूसरे की भूमिका में स्वयं को खड़ा करके ही उसे सम्यक् प्रकार से जाना जा सकता है। पिता पुत्र से जिस बात की अपेक्षा करता है, उसके पहले अपने को पुत्र की भूमिका में खड़ा कर विचार कर ले। अधिकारी कर्मचारी से जिस ढंग से काम लेना चाहता है उसके पहले स्वयं को उस स्थिति में खड़ा कर, फिर निर्णय ले। यही एक दृष्टि है जिसके द्वारा एक सहिष्णु मानस का निर्माण किया जा सकता है और मानव जाति को वैचारिक संघर्षों से बचाया जा सकता है।

आर्थिक समता का आधार अपरिग्रह का सिद्धान्त

आधुनिक मानस की एक अन्य सबसे बड़ी बुराई संग्रह और शोषण की दुष्प्रवृत्तियां हैं, जिसके कारण समाज में वर्ग-विद्वेष एवं संघर्ष पनपता है। एक ओर मानवता रोटी के टुकड़ों के अभावों की पीड़ा में सिसकती है तो दूसरी ओर ऐशो आराम की रंग-रेलियां चलती हैं। यह आर्थिक वैषम्य सामाजिक शान्ति को भंग कर देता है।

भगवान् महावीर ने 'उत्तराध्ययन सूत्र' में आर्थिक वैषम्य तथा तद्जनित सभी दुःखों का कारण तृष्णा की वृत्ति को माना। वे कहते हैं कि जिसकी तृष्णा समाप्त हो जाती है, उसके दुःख भी समाप्त हो जाते हैं। वस्तुतः तृष्णा का ही दूसरा नाम लोभ है और इसी लोभ से संग्रह वृत्ति का उदय होता है। 'दशवैकालिक सूत्र' में लोभ को समस्त सद्गुणों का विनाशक माना गया

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है ।[1] जैन विचारधारा के अनुसार तृष्णा एक ऐसी दुष्तर खाई है जिसका कभी अन्त नहीं आता। 'उत्तराध्ययन सूत्र' में इसी बात को स्पष्ट करते हुए भगवान् महावीर ने कहा है कि यदि सोने और चाँदी के कैलाश के समान असंख्य पर्वत भी खडे कर दिये जाएँ तो भी यह तृष्णा शान्त नहीं हो सकती, क्योंकि धन चाहे कितना भी हो वह सीमित है और तृष्णा अनन्त (असीम) है ।[2] अतः सीमित साधनों से असीम तृष्णा की पूर्ति नहीं की जा सकती।

वस्तुतः तृष्णा के कारण संग्रहवृत्ति का उदय होता है और यह संग्रह वृत्ति आसक्ति के रूप में बदल जाती है और यही आसक्ति परिग्रह का मूल है। 'दशवैकालिक सूत्र' के अनुसार आसक्ति ही वास्तविक परिग्रह है ।[3] भारतीय ऋषियों के द्वारा अनुभूत यह सत्य आज भी उतना ही यथार्थ है जितना कि उस युग में था जबकि इसका कथन किया गया होगा। न केवल जैनदर्शन में अपितु बौद्ध और वैदिक दर्शनों में भी तृष्णा को समस्त सामाजिक वैषम्य और वैयक्तिक दुःखों का मूल कारण माना गया है। क्योंकि तृष्णा से संग्रहवृत्ति उत्पन्न होती है—संग्रह शोषण को जन्म देता है और शोषण से अन्याय का चक्र चलता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मानव में संग्रह-वृत्ति या परिग्रह की धारणा का विकास उसकी तृष्णा के कारण ही हुआ है। मनुष्य के अन्दर रही हुई तृष्णा या आसक्ति मुख्यतः दो रूपों में प्रकट होती है—(१) संग्रह भावना और (२) भोग भावना। संग्रह भावना और भोग भावना से प्रेरित होकर ही मनुष्य दूसरे व्यक्तियों के अधिकार की वस्तुओं का अपहरण करता है। इस प्रकार आसक्ति का बाह्य प्रकटन निम्नलिखित तीन रूपों में होता है—(१) अपहरण (शोषण), (२) भोग, और (३) संग्रह।

संग्रहवृत्ति एवं परिग्रह के कारण उत्पन्न समस्याओं के निराकरण के उपाय

भगवान् महावीर ने संग्रहवृत्ति के कारण उत्पन्न समस्याओं के समाधानों की दिशा में विचार करते हुए यह बताया कि संग्रहवृत्ति पाप है। यदि मनुष्य आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का संग्रह करता है तो वह समाज में अपवित्रता का सूत्रपात करता है। संग्रह फिर चाहे धन का हो या अन्य किसी वस्तु का, वह समाज के अन्य सदस्यों को उनके उपभोग के लाभ से वंचित कर देता है। परिग्रह या संग्रह वृत्ति एक प्रकार की सामाजिक हिंसा है। जैन आचार्यों की दृष्टि में सभी परिग्रह हिंसा से प्रत्युत्पन्न हैं। व्यक्ति संग्रह के द्वारा दूसरों के हितों का हनन करता है और इस रूप में संग्रह या परिग्रह हिंसा का ही एक रूप बन जाता है। अहिंसा के सिद्धान्त को जीवन में उतारने के लिए जैन आचार्यों ने यह आवश्यक माना कि व्यक्ति बाह्य परिग्रह का भी विसर्जन करे। परिग्रह-त्याग अनासक्त दृष्टि का बाह्य जीवन में दिया गया प्रमाण है। एक ओर विपुल संग्रह और दूसरी ओर अनासक्ति का सिद्धान्त, इन दोनों में कोई मेल नहीं हो सकता, यदि मन में अनासक्ति की भावना का उदय है तो उसका बाह्य व्यवहार में अनिवार्य रूप से प्रकटन होना चाहिए। अनासक्ति की धारणा को व्यावहारिक रूप देने के लिए गृहस्थ जीवन में परिग्रह-मर्यादा और श्रमण जीवन में संग्रह

1. दशवैकालिक सूत्र 8।37
2. उत्तराध्ययन सूत्र 9।48
3. दशवैकालिक सूत्र 6।21

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिग्रह का आदर्श अनासक्त दृष्टि का एक जीवित प्रमाण है। यद्यपि यह सम्भव है कि अपरिग्रही होते हुए भी व्यक्ति के मन में आसक्ति का तत्व रह सकता है लेकिन इस आधार पर यह मानना कि विपुल संग्रह को रखते हुए भी अनासक्त वृत्ति का पूरी तरह निर्वाह हो सकता है, समुचित नहीं है।

भगवान् महावीर ने आर्थिक वैषम्य भोग-वृत्ति और शोषण की समाप्ति के लिए मानव जाति को अपरिग्रह का सन्देश दिया। उन्होंने बताया कि इच्छा आकाश के समान अनन्त होती है (इच्छा हु आगास समा अणंतया) और यदि व्यक्ति अपनी इच्छाओं पर नियंत्रण नहीं रखे तो वह शोषक बन जाता है। अतः भगवान् महावीर ने इच्छाओं के नियन्त्रण पर बल दिया। जैन दर्शन में जिस अपरिग्रह सिद्धान्त को प्रस्तुत किया गया है उसका एक नाम इच्छा परिमाण व्रत भी है। भगवान् महावीर ने मानव की संग्रहवृत्ति को अपरिग्रह व्रत एवं इच्छा परिमाण व्रत के द्वारा नियंत्रण करने का उपदेश दिया है, साथ ही उसकी माँग वासना और शोषणो की वृत्ति के नियंत्रण के लिये ब्रह्मचर्य, उपभोग-परिभोग, परिमाण व्रत तथा अस्तेय व्रत का विधान किया गया है। मनुष्य अपनी संग्रह वृत्ति को इच्छा परिमाण व्रत के द्वारा या परिग्रह परिमाण व्रत के द्वारा नियंत्रित करे। इस प्रकार अपनी भोग-वृत्ति एवं वासनाओं को उपभोग, परिभोग, परिमाण व्रत एवं ब्रह्मचर्य व्रत के द्वारा नियन्त्रित करे, साथ ही समाज को शोषण से बचाने के लिए अस्तेय व्रत और अहिंसा व्रत का विधान किया गया है।

हम देखते हैं कि महावीर ने मानव जाति को आर्थिक वैषम्य और तद्जनित परिणामों से बचाने के लिए एक महत्वपूर्ण दृष्टि प्रदान की है। मात्र इतना ही नहीं, महावीर ने उन लोगों को जिनके पास संग्रह था, दान का उपदेश भी दिया। अभाव पीड़ित समाज के सदस्यों के प्रति व्यक्ति के दायित्व को स्पष्ट करते हुए महावीर ने श्रावक के एक आवश्यक कर्तव्यों में दान का विधान भी किया है। यद्यपि हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि जैन दर्शन और अन्य भारतीय दर्शनों में दान अभावग्रस्त पर कोई अनुगह नहीं है अपितु उनका अधिकार है। दान के लिए सम-विभाग शब्द का प्रयोग किया गया है। भगवान् महावीर ने स्पष्ट रूप से यह कहा है कि जो व्यक्ति समविभाग और सम वितरण नहीं करता, उसकी मुक्ति सम्भव नहीं है। ऐसा व्यक्ति पापी है। समविभाग और समवितरण सामाजिक न्याय एवं आध्यात्मिक विकास के अनिवार्य अंग माने गये हैं। जब तक जीवन में समविभाग और समवितरण की वृत्ति नहीं आती है और अपने संग्रह का विसर्जन नहीं किया जाता, तब तक आध्यात्मिक जीवन या समत्व की उपलब्धि भी सम्भव नहीं होती।

अहिंसा–समतामूलक समाज का आधार

आधुनिक मानस भयाक्रान्त है। आज विश्व का प्रत्येक राष्ट्र अपने को असुरक्षित अनुभव कर रहा है और सुरक्षा के नाम पर खरबों रुपये व्यय कर रहा है। विश्व के सभी राष्ट्रों के सम्पूर्ण बजट का आधा से अधिक भाग सुरक्षा के नाम पर व्यय हो यह क्या मानव जाति के लिए दुर्भाग्यपूर्ण नहीं है? सुरक्षा के नाम पर मानव जाति के महा-विनाश को खुला आमंत्रण देना यही क्या मानव जाति की नीति है? आज के मानस में अभयकर विकास आवश्यक है अन्यथा हमारा अस्तित्व खतरे में है। स्वार्थवृत्ति, अधिकार लिप्सा, असहिष्णुता, सत्ता लोलुपता आदि सभी अनैतिक प्रवृत्तियां हिंसा के विविध रूप हैं। मात्र इतना ही नहीं सम्प्रदायवाद, जातिवाद, वर्ग-द्वेष आदि वे सभी प्रवृत्तियां भी जो मनुष्य-मनुष्य के बीच भेद की दीवारें खड़ी कर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उन्हें एक दूसरे के विरुद्ध संघर्ष के लिए तैयार करती है, हिंसा की ही विविध अभिव्यक्तियां हैं। हमारा दुर्भाग्य तो यह है कि हम अहिंसा की बात करते हैं किन्तु हिंसा में जीते हैं। एक जमाना था जब मनुष्य अपनी हिंसक वृत्तियों का प्रदर्शन धर्म के नाम पर करता था, वह अपने संघर्षों को धर्म युद्ध की संज्ञा देता था, आज भी हम विश्व शान्ति के लिए युद्ध करते हैं, यह सब आत्मप्रवंचना है, धर्म का युद्ध से अथवा शान्ति का संघर्ष से कोई तालमेल नहीं है। शान्ति और धर्म हिंसा से नहीं, अहिंसा से ही प्रतिफलित हो सकते हैं। भगवान् बुद्ध ने कहा कि वैर से वैर शान्त नहीं होता है। हिंसा से हिंसा ही प्रतिफलित होगी, अहिंसा नहीं। वस्तुतः हिंसा के मूल में घृणा, भय, आक्रोश, स्वार्थ एवं भोगलिप्सा की प्रवृत्तियां ही काम करती हैं और जब तक इन पर विजय प्राप्त नहीं की जाती है, अहिंसा का जीवन में प्रकटन सम्भव नहीं है। इनके विपरीत अहिंसा के आधार हैं प्रेम, आत्मीयता, त्याग, समता, करुणा। उसकी विशिष्टता का वर्णन करते हुए महावीर कहते हैं, भयभीतों को जैसे शरण, पक्षियों को जैसे गगन, तृषितों को जैसे जल, भूखों को जैसे भोजन, समुद्र के मध्य जैसे जहाज, रोगियों को जैसे औषध, और वन में जैसे सार्थवाह का साथ आधारभूत है, वैसे ही अहिंसा प्राणियों के लिए आधारभूत है। अहिंसा चर एवं अचर सभी प्राणियों का कल्याण करने वाली है। वही मात्र एक ऐसा शाश्वत धर्म है जिसका सभी तीर्थंकर उपदेश करते हैं।[1] आचारांग सूत्र में कहा गया है—भूत भविष्य और वर्तमान के सभी अर्हत् यही उपदेश करते हैं कि सभी प्राण, सभी भूत, सभी जीवन और सभी सत्व को किसी प्रकार का परिताप, उद्वेग या दुःख नहीं देना चाहिए, न किसी का हनन करना चाहिए। यही शुद्ध, नित्य और शाश्वत धर्म है। जिसका समस्त लोक की खेद पीड़ा को जानकर अर्हतों के द्वारा प्रतिपादन किया गया है। वस्तुतः प्राणियों के जीवित रहने का नैतिक अधिकार ही अहिंसा के कर्त्तव्य की स्थापना करता है। जीवन के अधिकार का सम्मान ही अहिंसा है।[2] उत्तराध्ययन सूत्र में समत्व के आधार पर अहिंसा के सिद्धान्त स्थापना करते हुए कहा गया है—भय और वैर से मुक्त साधक जीवन के प्रति प्रेम रखने वाले प्राणियों को सर्वत्र अपनी आत्मा के समान जानकर उनकी कभी भी हिंसा न करे।[3] यह मेकेन्जी की भय पर अधिष्ठित अहिंसा की धारणा का सचोट उत्तर है। प्राचीनतम जैन आगम आचारांग सूत्र में तो आत्मीयता की भावना आधार पर ही अहिंसा सिद्धान्त की प्रस्तावना की गई है। जो लोक (अन्य जीव समूह) का अपलाप करता है वह स्वयं अपनी आत्मा का भी अपलाप करता।[4] इसी ग्रन्थ में आगे आत्मीयता की भावना को परिपुष्ट करते हुए महावीर कहते हैं—जिसे तू मारना चाहता वह तू ही है जिसे तू शासित करना चाहता है वह तू ही है, जिसे तू परिताप देना चाहता है वह तू ही है।[5]

जैन धर्म में अहिंसा की यह भावना कितनी आवश्यक है यह बताने के लिए प्रश्न व्याकरण

---

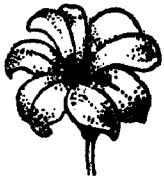
1. प्रश्नव्याकरण सूत्र 6।21
2. आचारांग सूत्र 1।4।2
3. उत्तराध्ययन सूत्र 6।7
4. आचारांग सूत्र 1।1।3
5. आचारांग सूत्र 1।5।5

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सूत्र में उसके साठ पर्यायवाची नाम दिये हैं, जिसमें कुछ नाम हैं— शान्ति, समाधि, प्रेम, वैराग्य दया, समृद्धि कल्याण, मंगल, प्रमोद, रक्षा, आस्था, अभय आदि। इससे हमें उसकी व्यापकता का पता लग सकता है। हिंसा का छोड़ना यही मात्र अहिंसा नहीं है निषेधात्मक अहिंसा जीवन के सभी पक्षों का स्पर्श नहीं करती वह आध्यात्मिक उपलब्धि कही जा सकती है। निषेधात्मक अहिंसा मात्र बाह्य बनकर रह जाती है आध्यात्मिकता तो आन्तरिक होती है। हिंसा नहीं करना यह अहिंसा का शरीर हो सकता है अहिंसा की आत्मा नहीं। किसी को नहीं मारना यह अहिंसा के सम्बन्ध में मात्र स्थूल दृष्टि है। लेकिन यह मानना भ्रान्ति-पूर्ण होगा कि जैन विचारणा अहिंसा की इस स्थूल एवं बहिर्मुख दृष्टि तक सीमित रही। जैन दर्शन का केन्द्रीय तत्व अहिंसा शाब्दिक रूप में यद्यपि नकारात्मक है लेकिन उसकी अनुमति नकारात्मक नहीं है। उसकी अनुमति सदैव ही विधायक रही है। सर्व आत्मभाव करुणा और मैत्री की विधायक अनुभूतियों से अहिंसा की धारा प्रवाहित हुई है।[1]

जैन धर्म में अहिंसा का आधार समता है

जैन धर्म में अहिंसा का आधार समता है और जहां समता हो, वहां किसी भी धर्म जाति आदि के प्रति राग-द्वेष, कलह संघर्ष, आदि का प्रादुर्भाव कैसे हो सकता है? वहां सभी धर्म सम्प्रदायों के प्रति समता की ही वृत्ति होती है। किन्तु इस समता के भाव का जो अभ्यास जीवन के सामाजिक पक्ष में, दैनिक व्यवहार में, व्यवसाय में, नौकरी पेशे में होना चाहिए था, वह अभी नहीं हो पाया है। अहिंसा का हमने खूब गुणगान तो किया। परन्तु वह अहिंसा मानवों के पारस्परिक व्यवहार में दया, क्षमा, सेवा, प्रेम, अशोषणवृत्ति आदि के रूप में प्रकट न हो पाई है, वह केवल मानवेतर प्राणियों की रक्षा करने तक सीमित हो गई है। मानवों के पारस्परिक व्यवहार में, लेन–देन में, सामाजिक मसलों में, धर्म सम्प्रदायों के आपसी व्यवहार में हमने उस अहिंसा सिद्धान्त को प्रायः ताक में रख दिया है। किन्तु आज दुनिया में हिंसा और अहिंसा का जो मुकाबला है, उसमें हिंसक-शक्तियां भी अहिंसा का नकाब पहन कर सामने आती हैं। वे खुलकर प्रकट होने से डरती हैं। यह इस बात का प्रमाण है कि अब दुनिया भर के लोगों की श्रद्धा हिंसा पर से मिट गई है और आज का जन-मानस अहिंसा पर दृढ़ आस्था के साथ जीना चाहता है। यह शुभ लक्षण है। आज हमें वैयक्तिक स्तर पर ही नहीं सामाजिक स्तर पर अहिंसा की साधना के द्वारा एक समता मूलक समाज की रचना करनी होगी, तभी हम विश्व में अभय निष्ठा जाग्रत कर मानवता को भय से मुक्त कर सकेंगे।



1. सत्वेषु मैत्रीं गुणीषु प्रमोदं क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वं।
माध्यस्थ भावं विपरीतवृतौ सदा ममात्मा बिदधातु देव॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वस्तु में अनेक धर्मों की स्वीकृति अनेकान्त है एवं उनका विवेचन स्याद्वाद पद्धति से किया जाता है। नय वस्तु के किसी एक धर्म को मुख्य करके उसका प्रतिपादन करता है अतः वस्तु के अन्य धर्म स्वतः ही उस समय गौण हो जाते हैं। इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि वह अन्य धर्मों का खण्डन करता है अपितु, नय विशेष से किसी धर्मविशेष का मुख्य रूप से प्रतिपादन करते समय अन्य धर्मों का निषेध न होकर मौन स्वीकृति होता है। लेखक का यह मत कि नयवाद द्वारा व्यावहारिक जगत् में अपने पक्ष की स्थापना सबलरूपेण नहीं हो पाती ठीक नहीं है अपितु तथ्य इसके विपरीत हैं। जैन नयवाद अपने पक्ष का प्रस्तुतिकरण इस प्रकार करता है कि उसका खण्डन संभव ही नहीं है। इससे अधिक उसकी सफलता और सबलता क्या हो सकती है ?

—प्र० सम्पादक

आधुनिक युग को जैन दर्शन का प्रदेय नयवाद और अनेकान्तवाद

● डा० कृपाशंकर व्यास
संस्कृत विभाग, शासकीय महाविद्यालय
शाजापुर (म० प्र०)

अधुनातन युग भौतिक विकास का युग है। आज मनुष्य भौतिकता के जिस चरम बिन्दु पर पहुँच गया है वहां उसकी समस्त धार्मिक मान्यतायें विचलित हो गयी हैं फिर भी मनुष्य की भौतिकता की ललक समाप्त नहीं हुई है। आज के इस संत्रास युग में न केवल समाज के प्रत्येक घटक में घृणा, अविश्वास, मानसिक तनाव व अशांति के बीज प्रस्फुटित हो रहे हैं अपितु ये सभी गुण राष्ट्रों में भी जन्म ले रहे हैं जिसका प्रतिफल है युद्धोन्माद। आज के व्यक्ति में आत्मग्लानि, व्यक्तिवादी दृष्टिकोण, आर्थिक विषमता, विद्रोह-भावना किसी न किसी रूप में जन्म ले रही है। इन सब का एकमात्र कारण व्यक्ति का वैज्ञानिक दृष्टिकोण है। वैज्ञानिकता ने मनुष्य के वैचारिक धरातल को विस्तृत तो अवश्य किया है किन्तु भावनात्मक धरातल को इतना अधिक संकुचित कर दिया है कि व्यक्ति जीवन से संबंधित प्रत्येक वस्तु का मूल्यांकन उपयोगितावाद की तुला पर आंकना चाहता है। यह है वस्तुतः वैज्ञानिक दृष्टि का अतिरेक। अतः आज के बौद्धिक तथा तार्किक प्राणाधाम के युग में व्यक्ति की समस्याओं के समाधान हेतु ऐसे धर्म एवं दर्शन की आवश्यकता है जो कदाग्रह रहित दृष्टि से सभी विचारों को समन्वित कर सत्यान्वेषण की प्रेरणा दे सके। इस दृष्टि से नयवाद तथा अनेकान्तवाद भौतिक विलास के युग में भी खरा उतरता है।

जैन दर्शन के अनुसार पदार्थ अनन्त धर्मों का अखंड पुंज है। उन अनन्त धर्मों में से वस्तु या पदार्थ के एकांगी गुण तथा धर्मों का ही ज्ञान व्यक्ति अपनी सीमित ज्ञान सीमा से कर पाता है। इस कारण वस्तु की स्वरूप प्रतीति में भी पर्याप्त भिन्नता दिखाई देती है। किन्तु इस भिन्नता का यह अर्थ कदापि नहीं है कि वस्तु का एकांगी धर्म ही सत्य है तथा अन्य धर्म असत्य हैं। यही है जैन-दर्शन का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नयवाद[2]। अनेकान्तवाद को वस्तुतः नयवाद की अगली सीढ़ी कहा जा सकता है। वस्तु चूंकि अनन्तधर्मात्मक है अतः व्यक्ति वस्तु को अपनी ज्ञान-परिधि में देखता है और उसे वस्तु का अभीष्ट धर्म ही प्रकट होता है। इस प्रकार व्यक्तियों के दृष्टिकोण में पर्याप्त अन्तर होने से भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की दृष्टि में भिन्न-भिन्न धर्म प्रकाशित होते हैं। अतः वस्तु के एक धर्म की सत्यता उतनी ही सत्य है जितनी की अन्य धर्मों की। इस प्रकार वस्तु की सत्यता को प्रकाशित करने की प्रक्रिया-क्रम में जैन दर्शन ने नयवाद व अनेकान्तवाद दर्शन जगत् को दिये हैं जिन की न केवल दार्शनिक जगत् में ही अपितु व्यावहारिक जगत् में भी उपादेयता है।

नयवाद एवं अनेकान्तवाद की उपयोगिता का मूल्यांकन करने के लिये उनके स्वरूप को भी समझना आवश्यक है। अतः यहां उनका स्वरूप विवेचन संक्षिप्त में किया जा रहा है ताकि जैन दर्शन की आधुनिक युग को मूल्यवान् देन का स्वरूप स्पष्ट हो सके।

नयवाद—जैन दर्शन के अनुसार वस्तु अनन्त-धर्मात्मक है। वस्तु के समस्त धर्मों का यथार्थ ज्ञान केवल उसी व्यक्ति विशेष को संभव है जिसने केवलज्ञान को प्राप्त कर लिया है। किन्तु आज दिग्भ्रमित मानव में इतना सामर्थ्य कहां है कि वह वस्तु के समस्त धर्मों को एक ही साथ आत्म-सात् कर सके। ज्ञान की संकुचित सीमाओं के कारण ही व्यक्ति एक या कुछ धर्मों का ही ज्ञान प्राप्त कर लेना श्रेयस्कर समझता है अतः उसका ज्ञान आंशिक या एकांगी होता है। जैन दर्शन वस्तु के इस आंशिक ज्ञान को ही 'नय' नाम से अभिहित करता है। वस्तु चूंकि अनन्तधर्मात्मक है अतः प्रत्येक धर्म विशेष के निरूपण करने के कारण नयों की संख्या भी अनन्त है परन्तु विवेक दृष्टि से उसके सामान्यतः दो भेद[3] मान्य है :—

(1) द्रव्यार्थिक नय (2) पर्यायार्थिक नय

किसी भी वस्तु में दो धर्म संभव हैं (1) एक तो वह जिसके कारण वस्तु के विविध परिणामों के बीच एकता बनी रह सकती है। इसकी ही संज्ञा द्रव्यार्थिक नय है। (2) दूसरे वे धर्म जो देशकाल के कारण किसी वस्तु में उत्पन्न हुआ करते हैं। इन विशेष धर्मों के निरूपण को ही पर्यायार्थिक नय संज्ञा दी गई है। प्रथम नय तीन प्रकार का है तथा द्वितीय नय चार प्रकार का है। इन दोनों का समायोजन[4] करने पर 'नय' के सात प्रकार किये जाते हैं। (1) नैगम नय (2) संग्रह नय (3) व्यवहार नय (4) ऋजुसूत्र नय (5) शब्द नय (6) समभिरूढ़नय (समधिरूढ़ नय) तथा (7) एवंभूतनय।

इनके अतिरिक्त तत्वों के स्वरूप विवेचनार्थ 'नय' के दो अन्य भेद[5] भी दार्शनिकों द्वारा मान्य हैं :—

(1) निश्चय नय (2) व्यवहार नय।

निश्चय नय के माध्यम से तत्वों के वास्तविक स्वरूप तथा उसमें निहित सभी गुणों का निर्धारण होता है जबकि व्यावहारिक नय के द्वारा तत्वों की सांसारिक उपादेयता पर विचार किया जाता है।' नय' के इसी भेद के कारण इसके संबंध में प्रचलित भ्रान्तियों का निराकरण संभव हो सका है। वस्तुतः वर्तमान परिवर्तनशील युग में 'नय' का व्यावहारिक रूप ही नये युग के नये मूल्यों का संवाहक है अन्यथा अन्य दार्शनिक सिद्धान्तों के समान ही यह भी केवल बौद्धिक-प्राणायाम का सिद्धान्त बन जाता है। 'नयवाद' के उपरोक्त स्वरूप विवेचनार्थ 'नयवाद' का विश्लेषण अधोलिखित बिन्दुओं[6] पर किया जा सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(1) स्वमत की शालीन प्रस्तुती
(2) स्वमत के प्रति दुराग्रह का अभाव
(3) अन्यमत के प्रति विनम्र एवं विधेयात्मक दृष्टि

(1) नयवाद का स्पष्ट अर्थ है कि अनन्त धर्मात्मक (अनन्तपर्यायात्मक) वस्तु के एक ही धर्म की सांगोपांग प्रतीति। इसे ही 'विकलादेश' ज्ञान कहा गया है। यह ज्ञान वस्तुतः वस्तु के प्रति व्यक्ति का दृष्टिकोण है जिसके आधार पर व्यक्ति किसी पदार्थ के विषय में भेद पृथक्करण की प्रक्रिया को कार्यान्वित करता है। इस प्रक्रिया से व्यक्ति अपने लक्ष्य संबंधी ज्ञान का मूर्तिकरण करता है। इसी भेदपृथक्करण[7] प्रक्रिया के द्वारा ही व्यक्ति के सापेक्षज्ञान का परिचय मिलता है। किसी विशेष दृष्टिकोण को स्वीकारने का अर्थ यह कदापि नहीं है कि वस्तु संबंधी अन्य के मत का नयवादी अपलाप कर रहा है। "नयवादी" तो वस्तुतः स्वमत के शालीन प्रस्तुतिकरण में ही विश्वास करता है। उसके मतानुसार वह सत्य के जितने निकट है उतना ही अन्य व्यक्ति भी। यह भिन्न बात है कि सापेक्षता के कारण 'नयवादी' वस्तु की सम्पूर्ण सत्ता का उद्घाटन नहीं करता है किन्तु जिस दृष्टिकोण के प्रस्तुतिकरण का कार्य उसने किया है वह रहता है वस्तु की यथार्थ सत्ता में। अतः यथार्थ नयवादी के लिये यह आवश्यक है कि वह केवल स्वमत प्रतिपादन का ही कार्य करे न कि अन्यमत का खण्डन।

(2) 'नयवाद' का सिद्धान्त एकांशभूत ज्ञान (विकलादेश ज्ञान) का सिद्धान्त अवश्य है किन्तु कदाग्रह दृढ़वादिता का सिद्धान्त नहीं है। नयवादी पर यह आक्षेप भी नहीं लग सकता कि नयवादी वस्तु के एकांशभूत ज्ञान (विकलादेश ज्ञान) को ही वस्तु का सकलादेश ज्ञान मान कर ज्ञान के प्रति मौन हो जाता है। यह बात भिन्न है कि 'नयवादी' के मात्र मत प्रस्तुतिकरण के कारण कभी-कभी उसके मत की स्थापना व्यावहारिक जगत् में सबलरूपेण नहीं हो पाती है। 'नयवाद' का यह पक्ष अवश्य ही व्यावहारिक जगत् में निर्बल प्रतीत होता है कारण कि व्यक्ति के लिये यह आवश्यक है कि वह स्वमत की स्थापना दृढ़ात्मक शब्दों से करे तभी उसके मत का महत्व है अन्यथा नहीं। जबकि 'नयवाद' इस प्रकार के दृष्टिकोण का पक्षधर नहीं है।

(3) 'नयवाद' का पक्षधर वस्तु संबंधी एकांश ज्ञान की प्रतीति कर लेने पर शांत नहीं होता है अपितु वस्तु का अन्य धर्मों से परिचय प्राप्ति हेतु सदा जागरूक तथा उत्सुक रहता है। नयवादी परमत खंडन में नहीं अपितु स्वमत मंडन में विश्वास करता है तथा सदा ज्ञान-पिपासु रहता है।

अनेकान्तवाद —'एकान्त' के विवेचन पश्चात् आवश्यक है कि 'अनेकान्त' का स्वरूप स्पष्ट किया जाये। वैसे तो शब्द अनेकान्त ही स्वअर्थ की अभिव्यक्ति कर देता है फिर भी विवेचन आवश्यक है—एकान्त के समान अनेकान्त भी वस्तु के प्रति व्यक्ति का ज्ञानात्मक दृष्टिकोण है। सामान्य भाषा में एकान्त का अर्थ है जिसमें वस्तु के किसी एक अन्त का, धर्मविशेष का, एक पक्ष विशेष का आग्रह न हो अपितु सभी धर्मों का, सभी पक्षों का समन्वित दृष्टिकोण हो। अन्य शब्दों में 'अनेकान्त' को विचारों का अनाग्रह कह सकते हैं। 'अनेकान्त' अनन्त-धर्मात्मक वस्तु विशेष के प्रति व्यक्ति की विधेयात्मक दृष्टि का समन्वित रूप है, सुस्पष्ट भावनाओं का पुंज है, विचारों का समूह है, और व्यक्ति के सोचने समझने की कदाग्रह रहित निष्पक्ष पद्धति है। यह अनेकान्त, जब वाणी का आश्रय ले लेता है, जब अभिव्यक्ति का शालीन परिधान पहिन लेता है, जब भाषा का बाना धारण कर लेता है तब वह स्याद्वाद[8] बन जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनेकान्त[9] वस्तु के अनन्तधर्मात्मक धर्मों पर आधारित है। व्यक्ति अपनी अपनी दृष्टि से वस्तु के स्वरूप का प्रतिपादन करता है। अतः कहा जा सकता है कि 'प्रत्येक वस्तु का भिन्न-भिन्न दृष्टिबिन्दुओं से विचार करना, भावना बनाना, मत स्थिर करना ही अनेकान्त है। व्यक्ति अनेकान्त भावना उसी समय बना सकता है जब वह पहिले वस्तु के प्रति कदाग्रह रहित विधेयात्मक एकान्त दृष्टि बनाये। अतः अन्य शब्दों में व्यक्ति के एकांशभूत ज्ञान के विस्तृतीकरण को ही अनेकान्त कह सकते हैं। अनेकान्त नयवादी को ज्ञान की विशालता की ओर ले जाता है। 'अनेकान्तवाद', नयवाद का विरोधी नहीं है अपितु नयवादी के एकपक्षीय विचार एवं भावना को समन्वयवाद के धरातल पर एकसूत्र में पिरो देता है। भिन्न 2 विचार-सरणी को एकात्मकता का बाना पहिना देता है। वैयक्तिक भावना की परिधि को त्याग कर व्यक्ति को उदारचेता बना देता है। अनेकान्तवाद के उपरोक्त स्वरूप की स्पष्ट अभिव्यक्ति हेतु अनेकान्तवाद का विश्लेषण अधोलिखित बिन्दुओं के आधार पर किया जा सकता है :

(1) सभी मतों के प्रति विधेयात्मक दृष्टिकोण

(2) समन्वयभाव की प्रक्रिया

अनेकांत का तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि व्यक्ति स्वमत को ही अपने ज्ञान की इति-श्री समझकर कूपमण्डूक हो जाये अपितु अन्य वैचारिकों के मत को भी शालीनतापूर्वक सुने तथा चिन्तन करे। अन्य व्यक्ति का वस्तु के प्रति जो अभिमत है वह व्यक्ति विशेष[10] के मत से चाहे साम्य न रखे फिर भी अन्य तम को सुनना आवश्यक है कारण कि हर व्यक्ति का ज्ञान सापेक्ष होता है। अतः अनेकान्तवादी का यह परमकर्त्तव्य हो जाता है कि वह किसी भी व्यक्ति के अभिव्यक्त मत का कदापि खंडन न करे अपितु वस्तु के प्रति विधेयात्मक दृष्टि अपनाये। तभी अनेकान्तवादी वस्तु में निहित धर्मों[11] का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर सकता है।

(2) अनेकान्तवादी जो मत सुनता है उसका वह चिन्तन करता है और सभी सुने मतों का समन्वय करने का प्रयास भी करता है। इसका कारण यह है कि उसका वस्तु के प्रति दृष्टिकोण एकांशभूतज्ञान[12] न रहकर विशाल क्षेत्रीय हो जाता है। वस्तु को हर बिन्दु से देखने-परखने की क्षमता उसमें आ जाती है। विरोध शांत हो जाता है। अनेकता में एकता, विभिन्नता में समरसता के दर्शन वह करने लगता है।

अब यह प्रश्न सहज रूप में उपस्थित होता है कि क्या वर्तमान विचार स्वातन्त्र्यवादी भौतिक विलास के युग में भी जैन दर्शन प्रतिपाद्य नयवाद और अनेकान्तवाद युगानुरूप हो सकते हैं। यदि हां, तो किस सीमा तक—

दोनों सिद्धान्त स्थूलतः वस्तु की सत्ता से संबंधित हैं, परन्तु यथार्थरूप में उनका निकट संबंध व्यक्ति की ज्ञान-शक्ति ही है। वस्तु एक है (यद्यपि अनन्तधर्मात्मक है) फिर भी दो व्यक्ति वस्तु विशेष को एक ही दृष्टिकोण से देखें यह आवश्यक नहीं है। इन्हीं विभिन्न दृष्टिकोणों का परस्पर समन्वय ही अनेकान्तवाद है। अतः कहा जा सकता है कि आधुनिक युग में भी सामाजिक एवं राजनैतिक स्तर पर व्याप्त विभिन्न मतों के समन्वयीकरण की प्रक्रिया की जाये तो व्यक्ति की शक्ति का अपव्यय रोका जा सकता है। युवाशक्ति का विध्वंसक रूप संगठनात्मक व निर्माणात्मक हो सकता है। विरोध के स्थान पर सहिष्णुता स्थान ले सकती है। कूपमण्डूकता व हठवादिता के स्थान पर व्यक्ति ज्ञानेच्छु व विनम्र हो सकता है। अन्य के प्रतिपाद्य मत को जानने पर व्यक्ति स्वमत का पुनर्मूल्यांकन कर सकने का लाभ ले सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ईस प्रकार के विवेकीकृत ज्ञान से न केवल व्यक्ति की उन्नति हो सकती है अपितु समाज व राष्ट्र की भी प्रगति का मार्ग प्रशस्त हो सकता है। यदि व्यक्ति केवल मात्र अपने मत का ही आग्रह करता रहेगा तो अवश्य ही जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में विरोध की ही अभिवृद्धि होती जायेगी जिससे व्यक्ति अशांत व अनैतिक पथगामी हो जायेगा। कारण कि विरोधी के प्रति व्यक्ति का दृष्टिकोण हिंसा, कटुता प्रतिकार भावना वाला साधारणतः हो जाता है। ये कुविचार व्यक्ति की नैतिकता का अवमूल्यन कर देते हैं, ज्ञान शक्ति को कुंठित कर देते हैं अतः आवश्यकता है कि संत्रस्त एवं कुंठाग्रस्त जन-शक्ति को विवकीकृत ज्ञान-दीप से आलोकित किया जाये ताकि जन-शक्ति विशेषकर युवा शक्ति पथभ्रष्ट न हो सके। छात्र अपने गंतव्य के प्रति आश्वस्त होकर मात्र नारे-बाजी पर विश्वास न करके क्रियात्मक शक्ति का परिचय दे सके। इस उद्देश्य-प्राप्ति हेतु शिक्षकों को महती भूमिका अदा करनी होगी। उन्हें छात्र-वर्ग को सभी मतों को समझाकर समन्वय प्रक्रिया से परिचय करना होगा तभी छात्र वर्ग में व्याप्त आक्रोश व कुंठा समाप्त हो सकेगी और वे वैचारिक धरातल पर सहिष्णुता, सह-अस्तित्व व समरसता को अंगीकार कर **वसुधैव कुटुम्बकम्** के मसीहा बन सकेंगे और राष्ट्रोन्नति में अपनी भूमि क्रियात्मक रूप से निर्वाह करने में बहुमूल्य योगदान दे सकेंगे। ●

---

१ "अनन्तधर्मात्मकस्य वस्तुनो यदेकेन नित्यवादिना, अनित्यत्ववादिना वा धर्मेण सावधारणं नयनं-प्ररूपणमसौ नयः ।।"
विशेषावश्यकभाष्य वृत्ति

2 अ "एकदेश विशिष्टो यो नयस्य विषयो मतः"
न्यायावतार श्लोक 29

ब. नय शब्द की निरुक्तिः—
नीयते परिच्छिद्यते एकदेशविशिष्टोऽर्थः अनेन इति नयः
स्याद्वाद मंजरी पृ० 159
द्रष्टव्य :—तत्वार्थ वार्तिक 1/33

3 स्थानांग सूत्र स्था 7, अनुयोगद्वार सूत्र

4 अ नयकर्णिका तत्वार्थ राज. वा. 1/33, 34, 35

ब. प्रमाणनयतत्वावलोक (आरा संस्करण) 7/13, 32, 36

स. लघीयस्त्रय 3, 6, 70–71

द. द्रव्यानुयोग तर्कणा

5 अ. भगवती सूत्र श 18, उ 6

ब. "दिट्ठीय दो णया खलु ववहारो निच्छओ णेव" आवश्यक निर्युक्ति 815
(आचार्य भद्रबाहु)

स. "ववहारणयो भासदि जीवो देहो य हवदि खलु इक्को
ण दु णिच्छयस्स जीवो देहो य कदापि एकट्ठो"
समयसार 27 तथा 8 वीं गाथा

6 सयं सयं पसं संता गरहंता परं वयः
जे उ तत्थ विउस्सन्ति संसारं ते विउस्सिया"
सूत्र कृतांग 1/1/2/23

7 "·····सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत्"
आप्तमीमांसा श्लोक 108

8 अ. "अनेकान्तात्मकार्थकथनं स्याद्वादः"
लघीयस्त्रय विवृति
न्यायकुमुदचन्द्र पृ० 686

ब. द्रष्टव्य :—जैन न्याय पृ० 299

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

9 "सदसन्नित्यानित्यादिसर्वथैकान्त प्रतिक्षेप लक्षणोऽनेकान्तः"

अष्ट श. (अष्ट स) पृ. 286 जैन न्याय पृ. 326

10 "अवरोप्पर सावेक्ख णय विसयं अह पमाण विसयं वा ।
ते सावेक्खं तत्त णिरेक्खं ताण विवरीयं ।"
नय चक्र

11 "अनेकान्तात्मदृष्टिस्ते सती शून्यो विपर्ययः ।"
स्वयंभूस्तोत्र श्लोक 98

12 "स्याद्वादः सकलादेशो नयो विकल संकथा
लघीयस्त्रय 62

दृष्टव्य :—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ. 137
जैन न्याय 322

महावीर का जीवन–दर्शन

● श्री नेमीचन्द्र गोंदवाले
शिवपुरी

विश्वशांति का चक्र चतुर्दिश
अखिल विश्व में
ग्राम-ग्राम में, नगर-नगर में
चला एक संदेश सुनाने—
'जिओ और सबको जीने दो ।'
सब का मन है सबका तन है
सब को धन की अभिलाषा है
किन्तु किसी का मन न दुखाओ
किन्तु किसी का तन न दुखाओ
पर धन की अभिलाषा छोड़ो
सबको धर्मामृत पीने दो ।
जब जब दुनियां के नर-नारी
मानवता से विमुख हो गये
कोटि-कोटि भौतिक जीवन में
मानव का विश्वास मर गया
तब तब पुण्य-पुरुष धरती पर
महावीर बनकर आये थे
आज उन्हीं के पथदर्शन का
जीवन मात्र अधिकारी बनकर
चल कर पावन-सत्य-मार्ग पर
परम अहिंसा-ज्योति जलती
अनुशासित-जीवन अनुप्राणित
यही धर्म का परमाभूषण
महावीर का, वर्धमान का
परमपूज्य जीवन-दर्शन है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हाल ही में भगवान् महावीर २५०० वां निर्वाण वर्ष बड़ी धूमधाम से मनाया जा चुका है। प्रदर्शनों, भाषणों, निर्माणकार्यों की वह चकाचौंध अब समाप्तप्राय है। अब समय आगया है कि हम इस वर्ष की उपलब्धियों का शांतचित्त होकर लेखा-जोखा लें। महावीर ने प्रदर्शन को नहीं साधना को महत्व दिया था। साधना धुआंधार भाषणों से नहीं अहिंसा का अपने जीवन में आचरण करने से होती है। सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह का आचरण तब ही संभव और यथार्थ है जब कि उनके साथ अहिंसा का सम्मिश्रण हो। आचरण की सफलता जीवन में अहिंसा पालन में है। तब ही हम आत्मोन्मुख हो कर्मबंधन काटने में साफल्य-लाभ कर सकते हैं। कहना न होगा निर्वाण-वर्ष ने हमें इस ओर शायद ही बढ़ाया हो। लेखिका ने कहा है कि अब भी हम संभलें और आत्म-प्रवंचना से बाज आ आत्मसमर्पित होने का प्रयास करें। तब ही हम सफलता की ओर अग्रसर हो सकते हैं।

प्र० सम्पादक

समस्याओं के चौराहे और महावीर का अपरिग्रहवाद

● **रूपवती "किरण"**, किरण ज्योति, ६६२ राइट टाउन जबलपुर–२

वर्तमान में लोक–जीवन अत्यन्त अस्त-व्यस्त हो गया है। लालसा ने अशान्ति की ज्वाला विकराल करदी है। पग पग–पर व्यक्ति पीड़ा झेलता है; परन्तु पकड़ता उसी आग को है, जो उसे निरंतर जला रही है। व्यक्ति के हृदय का परिमार्जन अनिवार्य है। उसकी दिशा, उसका पथ-परिवर्तन आवश्यक है।

समाज सिंहावलोकन करे

महावीर निर्वाणोत्सव वर्ष भी समाप्त हो गया। दिन–रात पंख लगा उड़ गये। पर हम उनकी गणना में व्यस्त "स्व" की ओर ध्यान न दे सके। क्या यही अर्थ था वर्ष मनाने का? क्या विविध कार्यक्रमों का आयोजन, प्रदर्शन करने मात्र से ही कर्तव्य की इति हो गई? वैयक्तिक या सामाजिक कौन से संशोधन हुए? समाज एक पूर्ण शरीर है तो व्यक्ति उसका अंग है। दोनों परस्पर आधारित हैं। अतः व्यक्ति स्वयं को इकाई मान अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह करे तो उन्नत समाज की संरचना हो सकती है। हमें इस महान् वर्ष का मूल्यांकन करना चाहिये। किन्तु जो अपने चैतन्य आत्मा का ही महत्व नहीं आँक सका, वह इस जड़ वर्ष का महत्व कैसे आँक सकेगा? उपलब्धियों का लेखा-जोखा आवश्यक है।

प्रदर्शन नहीं, साधना

भगवान् महावीर ने प्रदर्शन से बहुत दूर हटकर साधना की थी। उनके इस जीवन का ही नहीं; पूर्व जन्मों का भी आकलन किया जाय तो साधना के अतिरिक्त दूसरी बात खोजने से भी नहीं मिलती। साधना आत्मा की हो एवं आत्मा के लिए आत्मा करे, तो ही सफलता मिल सकती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ऐसी साधना हम संसारी प्राणियों ने कभी नहीं की। इसलिये उन्नति की मंजिल भी कोसो दूर रही। जीवन में साधना का महत्वपूर्ण स्थान है। मुक्ति पथ की यात्रा साधना से ही प्रारम्भ होती है। इसकी पूर्णता होते ही व्यक्ति पूर्णकाम हो जाता है। पूर्णत्व प्राप्त होते ही वह सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, केवलज्ञानी, अरिहंत, सिद्ध आदि संज्ञा से विभूषित होता है।

साधना वाणी से नहीं, आचरण से होती है। आचरण महत्वशाली है। इसके अभाव में वाणी का कोई मूल्य नहीं। वाणी फूल की भांति केवल सौरभ महका कर क्षणिक आनन्द देती है, पर तृप्ति का स्थायित्व नहीं। तृप्ति तो आचरण रूपी फल के आस्वादन से होती है। अस्तु, आचरण ही विशिष्ट फलदाता है। इसकी जीवन में नितांत आवश्यकता है। विशुद्ध आत्माचरण ही साधना का प्रतिफल है। महावीर के पथ का आश्रय ले हम जीवन जियें तो निश्चित ही सुख–शांति का आस्वादन कर सकेंगे। ध्येय की उपलब्धि मन-वाणी–कर्म की सार्थकता है।

स्वयं जागें

व्यक्ति युग–युग के अनेक कुसंस्कारों से कुसंस्कृत अपने यथार्थ स्वभाव को छिपाये हुये है। "जब जागो तभी सवेरा" की उक्ति के अनुसार हमारा सवेरा हमारे जागने पर ही होगा। महावीर जागे तो उनके अंतप्रांगण में तेजोपुंज प्रभात का ऐसा ही उदय हुआ कि भविष्य में कभी उसके अस्त होने की सम्भावना ही नहीं रही। प्रत्येक व्यक्ति का उदय स्वयं उसके आश्रित है। अन्य किसी की तिल–तुष मात्र भी अपेक्षा नहीं है। स्वावलंबन प्रयोजनीय है।

सांसारिक प्रयोजन पराश्रित है, अतः दुःखपूर्ण है। आत्मकार्य स्वतन्त्र है। स्वावलंबन के द्वारा ही वह संभाव्य है। जैन समाज जो इस तथ्य को भली–भांति जानता है, उसका कर्तव्य हो जाता है कि वह सुरुचिपूर्वक पर-ग्रहण की वृत्ति का मन-वचन-कर्म से परिहार कर आत्मकल्याण में प्रवृत्त हो आत्मोन्नति का मार्ग प्रशस्त करे।

अपने अंतर्जगत् के हम स्वयं नियंता हैं। उसमें किसी का भी अधिकार नहीं है। अन्य रुचियों के समावेश से अपना ही अंतर अंधकारपूर्ण दिख रहा है; अतएव आत्मरुचि जागृत कर परम आलोक के दर्शन इष्ट हैं। इसी कारण महावीर महावीर कहलाये। उन्हें आदर्श मानने का कारण भी यही है कि हम भी उस पद पर प्रतिष्ठित होने का संकल्प लें।

परिग्रह अभिशाप है

संसार को पतन-गर्त में गिराने वाला, भेदभाव की कृत्रिम दीवार खड़ी कर समाज में विषमता उत्पन्न करने वाला एकमात्र परिग्रह है। इसकी शाखा–प्रशाखायें ईर्ष्या, द्वेष, कलह, असंयम आदि अनेक रूपों में विभक्त हो फैली हैं। प्रत्येक व्यक्ति इसका शिकार है। जो जितना अधिक सम्पत्तिशाली है, वह उतना ही अविवेकी, अंधा है। यद्यपि अपवाद स्वरूप कतिपय धनी व्यक्ति उदारचेता सद्गृहस्थ हैं, जो धन का उपयोग उसी प्रकार करते हैं, जिस प्रकार शौच क्रिया से निवृत्त होने पर मिट्टी से हाथों की शुद्धि करना अनिवार्य हो जाता है।

परिग्रह का दुष्प्रभाव

आज परिग्रह की बढ़ती लालसाओं ने शासन को आपातकालीन स्थिति लाने के लिये विवश कर दिया है। लालसाओं पर नियंत्रण अत्यंत आवश्यक है। इससे व्यष्टि व समष्टिगत शांति आती है। यदि व्यक्ति महावीर के अपरिग्रहवाद की सरलता से अवगत हो जाता तो यह स्थिति कदापि नहीं आती। स्वेच्छा से धन का परित्याग आनंद-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दायक होता है; जबकि बलपूर्वक छीने हुए धन या विवशता से धनमुंचन जीवन भर संतप्त करता है। इस संताप में व्यक्ति झुलसता रहता है एवं शेष धन का भी प्रेमपूर्वक उपभोग नहीं कर सकता। यह है परिग्रह का कटुफल। विषभक्षण एक बार प्राण-हरण करता है, परन्तु परिग्रह का विष जीवन भर तड़पा कर मरण कराता है। प्राणी जीवन-मरण के चक्र में निरंतर पिसता हुआ भी पर-ग्रहण की वृत्ति को नहीं त्यागता। इस विष की ऐसी ही अनोखी लहर है। आत्मपतन या संसरण के मूल में परिग्रह में आसक्ति ही वह विष है, जो समस्त क्लेशों का उत्पादक है। परिग्रह की अपर संज्ञा लोभ भी है।

अज्ञान : दुःख में भी सुख की कल्पना

परिग्रह शब्द से स्पष्ट बोध होता है कि अपने से अतिरिक्त वस्तु का ग्रहण ही परिग्रह है। यह भी अनुभव में आता है कि शरीर से पृथक् कोई अति सूक्ष्म वस्तु है, जिसके हाथ पैर जैसे कोई अंग नहीं हैं। अंग-प्रत्यंग रूप रचना, आकार-प्रकार शरीर का है। किसी वस्तु के अधिग्रहण मुंचन की क्रिया शारीरिक होती है। शरीर स्थित आत्मा उस प्रकार के केवल भाव करता है। शारीरिक क्रिया होते हुये भी शरीर अचेतन होने से भाव शून्य है। भाव चेतन तत्व में ही होते हैं। भाव ज्ञान का प्रकार है। चाहे यह ज्ञान रूप हो या अज्ञान रूप। ज्ञान ही चेतन–अचेतन तत्व के पृथक्त्व को सिद्ध करता है। आत्मा ज्ञान का मात्र जानने रूप उपयोग न कर अपने स्वभाव के विपरीत पदार्थ-ग्रहण के भाव कर दुखी होता है और अज्ञानता की चरम सीमा कि दुख को भी सुख मान लेता है।

आत्मविकास की बाधा

यदि हम आत्म–स्वरूप से अवगत हो आत्मा का सामीप्य कर उसका अनुभवन करें तो परिग्रहण-वृत्ति स्वतः समाप्त हो सकती है। भले ही पदार्थों का ग्रहण होता हुआ दिखाई पड़े या न भी पड़े। प्रश्न सामग्री के सद्भाव का या अभाव का नहीं, वृत्ति अथवा भावों का है। जीवन भावों से सुखी, भावों से दुखी होता है। ऐसा भी देखने में आता है कि कोई न्यूनता में भी संतुष्ट दिखाई पड़ता है, तो कोई कोट्याधीश होने पर भी चैन की सांस नहीं ले पाता। अतएव इस स्वीकरण में कोई बाधा नहीं कि परिग्रहण वृत्ति आत्मविकास में प्रथम व अंतिम महान् बाधा है।

आत्मोत्कर्ष के इच्छुक व्यक्ति परिग्रह से बचते हैं। यदि वे समस्त सामग्री का परिहार नहीं करते, तो यह उनकी आत्मिक निर्बलता है, जिसे वे भली भांति जानते व स्वीकार करते हैं। भूल-स्वीकरण के कारण वे तटस्थवृत्ति का निरंतर अभ्यास करते हुए कालांतर में अभ्यस्त हो समस्त परिग्रह का परिहार कर स्वसंस्थित हो जाते हैं एवं पुनः संसरण नहीं करते।

भूमिका : साधना की

अहं का विसर्जन किये बिना साधक अपने उत्कृष्ट ध्येय को उपलब्ध नहीं होता। संकीर्णता का उल्लंघन कर अज्ञान अन्य आग्रहों का परिहार कर आत्मस्वरूप की विशालता का अवलोकन करने पर अहं स्वयमेव समाप्त हो जाता है। तभी अन्य पदार्थों की आशा भी टूट जाती है। आत्मविश्वास बाल-रवि की तरह उदित होकर शनैः शनैः जाज्वल्यमान हो जाता है। अंतर में समता प्रवाहित होने लगती है। यह परमोत्कृष्ट परमात्मस्वरूप अवस्था है। पर इसका अभ्युदय गार्हस्थ्य जीवन में होना असंभव नहीं है। यद्यपि गृहत्यागी साधक (साधु) लोक जीवन से जुड़ा नहीं होता तथापि लोक में उसके आचरण, वाणी का महत्वपूर्ण स्थान है। वे मार्गदर्शक की संपूर्ति करते हैं। गृहस्थ साधक का आत्मपक्ष प्रबल होते

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ही लौकिक जीवन में अलौकिकता के दर्शन होने लगते हैं। भौतिक सामग्री की नश्वरता का सम्यक् बोध होते ही उससे सुख प्राप्ति का विश्वास समाप्त हो जाता है। अतः उस ओर की रुचि का भी अंत हो जाना स्वाभाविक है। जो व्यक्ति आत्मावगाहन कर सम्यग्दर्शन की झलक पा चुका है, वह जगमगाती रत्नराशि छोड़ कंकर-पत्थर में कदापि रमण नहीं करता। तब लोक-जीवन में जागता है त्याग एवं अन्य के प्रति तटस्थता, रागद्वेष से ऊपर उठकर वीतरागवृत्ति साधक के गार्हस्थ्य जीवन में उभरते हैं अणुव्रत अर्थात् आंशिक विरतिरूप आचरण। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह, पांचों पापों का आंशिक परिहार। साधना की भूमिका यहीं से प्रारम्भ होती है। साधक में अन्य व्यक्तियों से भिन्न असाधारण विशेषता आ जाती है। वह है उसकी भौतिक सामग्री के प्रति अनासक्ति। अन्य व्यक्ति सामग्री का त्याग तो कर देते हैं, उनके जीवन में आसक्ति का आवेग भी शांत हो जाता है, परन्तु आसक्ति यथावत् बनी रहती है। सामग्री सुखदेह है, इस विश्वास के कारण व्यक्ति उनकी उपेक्षा नहीं कर सकता और त्याग का फल जब उसे विविध सामग्रियों के रूप में प्राप्त होता है तो यह उस प्रवाह में बहकर पुनः भटक जाता है। क्योंकि उसके त्याग का आधार आत्मा की शाश्वत भूमि नहीं, नश्वरता का काल्पनिक आकाश है। नश्वर-साधक प्राप्ति पर भी उनसे अपेक्षा नहीं रखता। उसका आत्मविश्वास सुदृढ़ हो चुका है।

तत्वदर्शन अनिवार्य

अपरिग्रही ही अहिंसक होता है अन्य नहीं। हिंसा का मूल जनक राग है। राग अपनी आत्मा का परिहार करता हुआ सृष्टि के समस्त चेतन-अचेतन पदार्थों के प्रति अपनत्व रखता है, उनसे सुख की कामना करता है। अतएव आसक्त हो निरंतर उनका संचयन कर सहेजता है तथा होने वाले घोर कष्टों को भोगता हुआ आकुल-व्याकुल होकर भी उनमें आनन्द मानता है। परिग्रह ही पाप व समस्त अनर्थों की जड़ है। भगवान् महावीर के तत्वदर्शन में पर-ग्रहण-वृत्ति को ही अतिक्रूर हिंसा माना गया है। यह आत्मस्वभाव का नाश करती हुई आत्मस्वातंत्र्य को खो स्वच्छंद रहती है, जिससे हिंसा का क्रम अटूट बना रहता है। जो अहिंसा के मर्म से अवगत नहीं हुआ वह 'त्रैकालिक जीवंत आत्मा को क्षणजीवी मानकर सतत् क्लेश का अनुभव करता है। तत्व को जाने बिना अहिंसा आत्मसात् नहीं हो सकती। तत्वदर्शन का हार्द है अपरिग्रहवाद। इसके बिना जैन दर्शन मूल्यहीन है।

समस्याओं के चौराहे

वर्तमान में भारत ही नहीं समस्त विश्व सामाजिक, राजनैतिक एवं आर्थिक अव्यवस्था से त्रस्त है। ये ऐसी विचित्र समस्यायें हैं, जिन्हें सुलझाने को किया गया प्रयास उलझन में परिवर्तित हो जाता है। कंचन व सत्ता की होड़ में मानवता व नैतिकता के मूल्य गिरते जा रहे हैं। मानव उद्विग्न, दिग्भ्रम हो समस्याओं के चौराहे पर खड़ा मुक्ति की खोज में है। उसे पथ-प्रदर्शक की नितांत आवश्यकता है। भगवान् महावीर के द्वारा प्रतिपादित तत्वदर्शन एवं आचरित अहिंसा निश्चित ही पथ-प्रदर्शक के चिरंतन अभाव की पूर्ति करती है। उनके सिद्धान्तों का निष्पक्ष हो गहराई से अध्ययन किया जाय तो वे सुनिश्चित उचित दिशा को इंगित करते हैं।

चारित्र निर्माण की दिशा में अग्रसर हों

विश्व में चारित्रहीनता बुरी तरह व्याप्त हो गई है। नैतिकता की दुहाई देते हुये नेतागण स्वयं चारित्रनिष्ठ नहीं हैं। उनके स्वतः के जीवन में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नैतिकता मूल्यहीन हो गई है। आचरण और वाणी दो प्रतिकूल दिशाओं में जा रही है। अतएव लौकिक उत्थान का मार्ग भी अवरुद्ध हो गया है। अपराधी स्वयं हम हैं। कथनी और करनी की विषमता चारित्र निर्माण में खाई का कार्य करती है। व्यष्टि वह इकाई है जिससे समष्टि अनुप्राणित होती है। चारित्र व्यष्टि एवं समष्टि के उत्कर्ष का सर्वोत्तम साधन है। श्रेष्ठ चारित्र उन्नति के मार्ग का प्रथम चरण है। तदर्थचारित्र निर्माण अनिवार्य है। सच्चरित्र होने के लिये सद्शिक्षा आवश्यक है। महावीर ने विश्व को या समाज को सुधारने का उपदेश नहीं दिया। उनकी समस्त शिक्षायें व्यक्तिगत हैं। वे यह मानकर चले हैं कि भीड़ का अस्तित्व यथार्थ नहीं। व्यक्तियों का समुदाय भीड़ है। यदि प्रत्येक व्यक्ति चारित्रवान् हो तो भीड़ भी अनुशासनबद्ध होगी। यही अनुशासन क्रमशः समाज, राष्ट्र व विश्व में फैलकर समता की स्थापना कर सकता है। समष्टि व्यष्टि का विराट रूप है। व्यष्टि से निस्सृत विचारधारा समष्टि में व्याप्त हो जाती है। इसीलिये व्यक्ति को अपने अस्तित्व, महत्ता से परिचित होना होगा। स्वसत्ता का भान होने पर अन्य के प्रति सहिष्णुता आ ही जाती है। संवेदनशील अपने सदृश समस्त चेतन जगत् की महत्ता आंकता है।

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में भगवान् महावीर के तत्वदर्शन का अनुशीलन अनिवार्य है। शांति स्थापना का यह एक वैज्ञानिक सफल प्रयोग है। इसे कार्यान्वित होना ही चाहिये। समाज विशेष ही नहीं, अपितु समग्र विश्व इससे लाभान्वित होगा। सामाजिक नियम या राजनीति सब में वर्ग या दलगत व्यमोह से हटकर अपरिग्रहवाद को दृष्टि के सम्मुख रख नीति-निर्धारण से जन-जीवन का स्तर अनायास ही ऊपर उठाया जा सकता है। एवं सर्वांगीण विकास की संभावनायें वृद्धिगत होने लगती हैं। हम अब भी आत्मप्रवंचना से बाज आयें और पूरे मन से आत्म-समर्पित होने का सम्यक् प्रयास करें। अपरिग्रहवाद को स्वेच्छा से जीवन में स्थान दें।

महावीर ने कहा

गंथाणिमित्तं कम्मं कुणइ अकादव्वयंपि णरो—
परिग्रह के निमित्त यह मनुष्य नहीं करने योग्य कार्यों के करने में भी संकोच नहीं करता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मिथ्यात्त्व बन्ध; सम्यक्त्व मुक्ति

● श्री भगवानस्वरूप जैन 'जिज्ञासु'
आगरा

मिथ्या-तम ने ही जीवों को, है अनादि से भरमाया।
मिथ्या-तम ने किया किनारा, जी उजियारा जब आया ।।

काम-क्रोध-मद-लोभ-मोह का, चक्कर है अति दुखदायी।
इस चक्कर में ही पड़ कर के, बुद्धि जीव की चकरायी ।।
भौंरे सा मन पागल हो कर, कमल-कैद में फँसता है।
क्रूर काल रूपी कुञ्जर के, मुख प्रवेश कर मरता है ।।

पथ इस मरने से बचने का, जिन-शासन ने दरशाया।
मिथ्या-तम ने किया किनारा, जी उजियारा जब आया ।।

निज स्वरूप को भूल जीव ने, पर पदार्थ ही अपनाए।
राग-द्वेष-ममता-माया ने, सभी जीव भव भटकाए ।।
सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चरण ने, किन्तु सुधा जब बरसाई।
भव-भव के दुख दूर हुए तब, नौका भव-तट पर आई ।।

जिनवर, जिनवाणी, गुरु जन ने, शुद्धातम-रस बरसाया।
मिथ्या-तम ने किया किनारा, जी उजियारा जब आया ।।

संवर-कवच धार भव्यों ने, कर्मास्रव सारे टारे।
शुक्लध्यान, सम्यक् तप द्वारा, कर्म पूर्वले सब जारे ।।
यों भव्यों ने ही निज पद से, पर पद सकल समाप्त किया।
आत्म द्रव्य ने आत्म-लीन हो, महा मुक्ति-पद प्राप्त किया ।।

मुक्ति-प्राप्ति ही लक्ष्य जीव का, आत्मधर्म ने बतलाया।
मिथ्या-तम ने किया किनारा, जी उजियारा जब आया ।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आज विश्व युद्ध के भय से आक्रान्त है। विज्ञान ने जहां मानव को चांद तक पहुंचने की क्षमता प्रदान की वहां उसने हाइड्रोजन बम से भी भयंकर अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण किया जिससे एक स्थान पर बैठे बैठे ही मानव सुदूर देशों की जनता को महाविनाश की ताण्डव-लीला दिखा सकता है। वर्गभेद, वर्णभेद, रंगभेद, वादभेद आदि ने मानव-मानव को शत्रु बना दिया है। यह इस युग की महती त्रासदी है। अशांति और भय के इस संत्रास से यदि कोई मानव को छुटकारा दिला कर भयहीन बना सकता है तो वे हैं जनकल्याणकारी भेदभाव विहीन भगवान् महावीर के पावन उपदेश जिनमें अहिंसा, अपरिग्रह और स्याद्वाद का मुख्य स्थान है। भगवान् महावीर के उपदेश आज के संदर्भ में भी किस प्रकार आत्म-शांति प्रदान कर सकते हैं यह पढ़िये विद्वान् लेखक की इन पंक्तियों में।

—प्र० सम्पादक

भगवान् महावीर के उपदेश आज के सन्दर्भ में : आत्मशान्ति

● डॉ० जयकिशनप्रसाद खण्डेलवाल
आगरा

आज से लगभग 26 सौ वर्ष पूर्व भगवान् महावीर क्रांतिकारी महान् व्यक्तित्व लेकर अवतीर्ण हुए। उन्होंने अपने युग की विषम सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों को देखा; अनुचिन्तन किया और विषमता को दूर करने का उपाय ढूंढ़ा। उस युग में धार्मिक जड़त्व एवं अन्धश्रद्धा ने समाज को पुरुषार्थहीन बना रखा था और धर्म के नाम पर हिंसा का बोल-बाला था। आर्थिक विषमता भी अपने पूर्ण उभार पर थी। जातिभेद एवं सामाजिक विषमता से समाज त्राहि-त्राहि कर उठा था। स्त्रियों को भी समाज में उचित स्थान प्राप्त नहीं था। गतानुगतिकता का छोर पकड़ कर ही सब चल रहे थे। ऐसे विषम एवं चेतना रहित परिवेश में राजकुमार वर्द्धमान का दायित्व और भी बढ़ गया था। उन्होंने राजघराने में जन्म लिया था किन्तु उनकी आत्मा तो मानव की सेवा में ही समस्त सुख ढूँढ़ रही थी। वे जिस बिन्दु पर व्यक्ति और समाज को ले जाना चाहते थे, उसके अनुकूल परिस्थितियां न थीं, किन्तु वे वीर नहीं वरन् महावीर थे। उन्होंने आत्म-साधना के द्वारा आत्मोत्थान किया और फिर अपने निर्मल एवं सुव्यवस्थित चिन्तन के द्वारा समाज को एक ऐसा मार्ग दिखाया जिसमें सबके उदय की भावना निहित थी। उनका यह मार्ग अथवा जीवन-दर्शन सर्वोदय तीर्थ या धर्म-तीर्थ के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उनका सर्वोदय वर्गोदय के विरुद्ध एक वैचारिक क्रांति है। सामाजिक जीवन में जब तक विषमता विद्यमान है, कभी भी कोई व्यक्ति या वर्ग सुखी और शांत नहीं रह सकता। दूसरों का बुरा चाह कर कोई अपना भला नहीं कर सकता।

महावीर का क्रांतदर्शी व्यक्तित्व मानव को जागृत करने के लिए प्रादुर्भूत हुआ। उन्होंने व्यक्ति तथा समाज को भूलभुलैया से बाहर निकालकर उनका सहा दिशा-निर्देश ही नहीं किया वरन् उसका मार्ग भी प्रशस्त कर दिया।

आज के युग में जो आपा-धापी एवं अशान्ति दिखाई पड़ती है, उसका विश्लेषण करने पर स्पष्ट पता चलता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कि मानव परस्पर विद्वेषकी भावना से पीड़ित है। जो धनी हैं वे और अधिक धनी बनते जा रहे हैं। उनकी धन के प्रति तृष्णा बढ़ती जा रही है और गरीब निरन्तर गरीब बने हैं या अपनी स्थिति में निम्नतम स्थिति को प्राप्त हो रहे हैं। धन का कुछ हाथों में यह शोषणपरक संचय मानव के परिताप को बढ़ा रहा है। महावीर ने इस स्थिति को परखा और परस्पर मैत्री भाव उत्पन्न करने का प्रयास किया। एक दूसरे के प्रति महानुभूति एवं सदाशयता के भावों को जागृत करने का प्रयास किया। आप जानते ही हैं कि सहानुभूति हमारे हृदय को दूसरे के प्रति करुण एवं कोमल बनाकर उसका परिमार्जन करती है और सदाशयता चन्दन की भांति शीतल बनकर शांति पहुँचाती है। महावीर ने प्राणिमात्र के लिए जो 'जिओ और जीने दो' का सिद्धांत प्रस्तुत किया, इसके पीछे आत्मशान्ति का उद्देश्य छिपा हुआ है। जब तक हम अपने जीवन को इस प्रकार नहीं ढालेंगे, तब तक हम उस दुर्लभ आत्मशांति को प्राप्त नहीं कर सकेंगे। महावीर की अहिंसा तत्कालीन पशुयज्ञों की बहुलता के परिप्रेक्ष्य में जीवदया का अनुचिन्तन मात्र ही न थी वरन् उन्होंने मानस की गहराई का अनुभव किया। उनकी अहिंसा आत्मा का सहज स्वभाव होने के कारण परम धर्म कहलाई। हिंसा भयभीत का स्वभाव है। आज जो देश अपनी सैनिक शक्ति बढ़ा रहे हैं, उनमें आत्मरक्षा का भाव है, वे भयभीत हैं, किन्तु जो बड़ी शक्तियाँ दूसरों को अतिक्रांत करना चाहती हैं, उनके मूल में जो हिंसा की भावना है, वह उन्हें अशांत बनाए हुए है। महावीर की अहिंसा अति व्यापक एवं मानव-जीवन को सन्तुलित करने का मूलमन्त्र थी। उनका मन्तव्य था—अहिंसा प्रेम का विस्तार हो और विश्व का प्राणिमात्र सुख-शांति प्राप्त करे। वे बुराई का बदला बुराई से नहीं वरन् बुरे व्यक्ति को ही भला मनुष्य बना देना चाहते थे। यही अहिंसक दृष्टि उनके जीवन-दर्शन की मूल दृष्टि है। महावीर ने अशांति के मूल कारण पर विचार किया और उसे दूर करने के लिए ऐसी आचार संहिता निर्धारित की जो दूसरे के लिए सुखदायिनी और हमारे स्वयं के लिए आत्मशान्ति प्रदान करने वाली थी। विरोध से शत्रुता बढ़ती चली जाती है, उसका अन्त नहीं होता। हम निर्विरोध बनकर ही स्थिर शांति प्राप्त कर सकते हैं। निर्विरोधता का भाव सभी आत्माओं में है। उसे जागृत करने के लिए हमें आत्मचिन्तन करना होगा, अपने भावों को सुधारना होगा। अहिंसात्मक दृष्टि आत्म-परिमार्जन का सबसे बड़ा साधन है। इससे हम अपनी आत्मा के सहज भाव में स्थित होते हैं और यह स्थिति बड़ी शांत है। वास्तव में केन्द्र बिन्दु है हमारी भावना, जहां से शांति और अशान्ति की दो धाराएँ प्रवाहित होती हैं। हमें जीवन में शान्ति प्राप्त करने के लिए अपनी भावना का परिष्कार करना होगा।

महावीर स्वामी विचारों में समन्वयवादी एवं उदारवादी थे। उन्होंने वैचारिक क्षेत्र में स्याद्वाद और नयवाद का सर्जन करके हिंसामूलक व्यवहार का वर्जन किया है। स्याद्वाद एक सर्वाङ्गीण दृष्टिकोण है। उसमें सभी वादों की स्वीकृति है, पर उस स्वीकृति में आग्रह नहीं है। टुकड़ों में विभक्त सत्य को स्याद्वाद ही संकलित कर सकता है। स्याद्वाद सहानुभूतिमय है, अतः उसमें समन्वय की क्षमता है। वह पड़ौसी वादों को उदारता के साथ स्वीकार करता है किन्तु उनके आग्रह के अंश को छाँटकर ही वह उन्हें अपना अंग बनाता है। मनुष्य का ज्ञान अपूर्ण है। ऐसा कोई एक मार्ग नहीं, जिस पर चलकर एक ही व्यक्ति सत्य के सभी पक्षों को जान सके अतः सत्य के लिए कथित अन्य मार्ग भी उतने ही श्रेष्ठ हैं, जितना हमारे द्वारा प्रतिपादित अपना मार्ग। इस प्रकार वस्तु तत्व को समझने और विभिन्न मतों में आदरपूर्वक समन्वय स्थापित करने तथा अशांति के कारण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दुराग्रह को हटाने के लिए भगवान् महावीर ने स्याद्वाद एवं अनेकांतवाद का सिद्धान्त प्रस्तुत किया। यह सिद्धान्त वैचारिक अहिंसा का प्रतिपादक है।

आज का मानव भौतिक साधनों की बहुलता से अशांत है। भगवान् महावीर ने भौतिक ऐश्वर्य की चरम सीमा को स्पर्श करके भी एक विचित्र रिक्तता का अनुभव किया और उसकी पूर्ति उन्होंने आन्तरिक चेतना एवं मानसिक तटस्थता से की। वे निष्परिग्रही और निस्पृही बने तथा दिगम्बर रूप धारण किया। आज का परिग्रही मानव शांति की खोज में लवलीन है। आज भौतिक ऐश्वर्य में रिक्तता का अनुभव करके विदेशी लोग भारत में शांति प्राप्त करने आ रहे हैं। भौतिक साधनों की बहुलता एवं प्रचुरता जीवन के लिए बोझ बन गई है और दूसरी ओर इससे विषमता उत्पन्न हो रही है। इससे जीवन में जड़ता, गतिहीनता और निष्क्रियता आती है। परिग्रह का संचय, उसकी सुरक्षा, उसका अपने समाज के सुख में उपयोग, ये सभी विचारणीय विषय हैं। महावीर स्वामी ने अपने चिन्तनअनुचिन्तन से इस विषय की गहराई से परखा और वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि आवश्यकता से अधिक संग्रह व्यक्ति के लिए अशांति कारक है, उसकी तृष्णा को बढ़ाने वाला है तथा आत्मशांति में बाधक है। इससे क्रमशः समाज में भी विषमता और अशांति फैलती है, अतः आत्मशांति के लिए निष्परिग्रही या उचित परिग्रही होना अनिवार्य है। भगवान् महावीर निष्परिग्रही थे और उन्होंने शाश्वत् आत्मशांति प्राप्त की- उनका 2500 वां परिनिर्वाण महोत्सव भी विश्व के लिए आत्मशांति का जागरूक उपदेश एवं दिशा-निर्देशक बन गया है। सामाजिक न्याय एवं शांति के लिए महावीर ने अपरिग्रह का उपदेश दिया।

प्रारम्भ में उचित वर्ण-विभाजन का आधार एवं लक्ष्य उचित श्रम की भावना को उत्कर्ष प्रदान करना था। अपनी योग्यता एवं शक्ति के अनुसार कार्य करने में ही मनुष्य पूर्ण सन्तुष्टि प्राप्त करता है। इसलिए कर्म और श्रम-विभाजन की दृष्टि से समाज हित में वर्ण व्यवस्था की गई किन्तु कालान्तर में यह व्यवस्था रूढ़ि-ग्रस्त होकर जाति-भेद की संकीर्णता में परिणत हो गई। महावीर ने दृढ़ता के साथ घोषित किया कि जन्म से कोई ऊंचा या नीचा नहीं होता है। उन्होंने दलित मानव को उसका उचित गौरव प्रदान किया। आज का मानव जातिवाद की संकीर्णता में पिसता, घुटता अशान्त बना हुआ है। उसका मानस परस्पर ऊँच-नीच या घृणा विद्वेष के भावों का भण्डार बना हुआ है और वह अपने चारों ओर अशांति का सृजन कर रहा है। ऐसी परिस्थियों में महावीर के सिद्धान्तों का महत्व स्वतः स्पष्ट हो जाता है।

आज की भौतिकता का कुप्रभाव मानव मन को दूषित कर रहा है। वह आत्मशांति खोकर भटक रहा है। उसे दूसरों से उतना त्रास नहीं मिल रहा है जितना अपने क्रोध, मान, माया और लोभ से। ये विकार उसके मानस को कषाययुक्त एवं कलुषित बना रहे हैं। वह आत्मशांति से बहुत दूर हो गया है। भगवान् महावीर का उपदेश है कि कषायों को जीतकर, मन को स्वच्छ बनाकर ही हम शुद्ध आत्मतत्व की प्राप्ति कर सकते हैं। उन्होंने आत्मा को ही साधक एवं साध्य बताया। ज्यों-ज्यों साधक एवं साधक तप, संयम और अहिंसा को आत्मसात् करता जायेगा, त्यों-त्यों वह साध्य के रूप में परिवर्तित होता जावेगा। यही तो शाश्वत् आत्मशांति का मार्ग है। भगवान् महावीर ने इसे अपने जीवन में प्राप्त किया और भावी मानव के लिए इसकी प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त किया।

गत वर्ष को विश्व में महिला वर्ष के रूप में मनाया जा चुका है। युगों से नारी को पुरुष से छोटा माना जाता रहा है। महाभारत काल में ही नारी ने अपना महत्वपूर्ण स्थान खो दिया था। उसे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुकुमारी एवं अबला कहकर उसके साथ सहानुभूति तो दिखाई गई किन्तु समाज में उसकी उन्नति के के मार्ग अवरुद्ध कर दिए गए । भगवान् महावीर ने नारी जाति को समान महत्व प्रदान किया और उसके उत्थान का मार्ग खोल दिया। नारी तो नर का नेतृत्व करने के गुणों से सम्पन्न है, उसे कब तक दबा कर रखा जा सकता था। दूसरों को दबाने वाले को कभी पूर्ण शांति प्राप्त नहीं होती। इस प्रकार नर-नारी की समानता एवं नारी के उत्थान का उपदेश देकर महावीर स्वामी ने गृह जीवन की शांति का अनुपम आदर्श प्रस्तुत किया। उन्होंने नारी की आध्यात्मिक साधना का मार्ग प्रशस्त किया और साधु के साथ ही साध्वी तथा श्रावक के साथ श्राविका इस प्रकार चतुर्विध संघ की स्थापना की।

भगवान् महावीर के उपदेशों में मानव जीवन को सन्तुलित बनाने के लिए अनेक सिद्धान्तों का निरूपण किया गया है। इन सिद्धान्तों को जीवन में उतार कर मानव सुखी बन सकता है एवं शांति से जीवित रह सकता है। परस्पर उपकार करके ही मानव समाज में जीवित रह सकता है, उत्कर्ष को प्राप्त कर सकता है। महावीर का दिव्य सन्देश सम्प्रदाय या जाति विशेष के लिए न होकर समग्र मानव जाति के लिए है। उनका दिव्य बोध सामाजिक या तात्कालिक नहीं वरन् शाश्वत् है। यह सदैव अम्लान रहने वाला ऐसा चिर युवा सत्य है जो देशकाल की क्षुद्र सीमाओं को लांघकर मानव जाति को जीवन के सभी क्षेत्रों में सुख-शांति तथा आनन्द की पवित्र धारा से आप्लावित करता रहा है, और भविष्य में भी करता रहेगा। उनके उपदेशों में निहित सिद्धान्तों तथा आदर्शों के निर्मल प्रकाश में युग-युग तक मानव आत्मबोध प्राप्त करता रहेगा। आत्मबोध से ही आत्मशान्ति की प्राप्ति संभव है। आप जानते ही हैं कि आज के मानव का जीवन समस्याओं से घिरा हुआ, चिन्ता से ग्रस्त और अशान्ति से परिपूर्ण है। ऐसी स्थिति में भगवान् महावीर के उपदेश हमें जीवन के परम लक्ष्य की ओर सानन्द अग्रसर होने का पुरुषार्थ करने की प्रेरणा प्रदान करते हैं और सदा सर्वदा करते रहेंगे क्योंकि उन्होंने मानव जीवन की शाश्वत् समस्याओं के शाश्वत् समाधान प्रस्तुत किये है।

"युद्ध यदि करना ही है तो अपनी आत्मा के शत्रुओं के साथ करो। बाह्य शत्रुओं के साथ युद्ध करने से क्या लाभ ? आत्मा के द्वारा अपनी आत्मा को जीतने वाला ही पूर्ण सुखी होता है।"

—भगवान् महावीर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आज प्रायः सर्वत्र ही भगवान् महावीर के सिद्धान्तों में अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्त पर ही जोर दिया जाता है। प्रायः सारे ही लेखक उनके इन सिद्धान्तों का वर्णन करते हैं। सत्य अनेकान्त और स्याद्वाद में अन्तर्गभित हो जाता है। अचौर्य और ब्रह्मचर्य को बहुत कम लेखक छूते हैं जबकि समाज और व्यक्ति दोनों के उत्थान में इन दोनों का महत्व भी असंदिग्ध रूप से कम नहीं है।

कैसे ? पढ़िए विद्वान् लेखक की इन पंक्तियों में।

प्र० सम्पादक

महावीर के सिद्धान्त एवं समस्याओं का समाधान

● श्री मूरचन्द जैन, बाड़मेर

विश्व वसुन्धरा पर आजकल आसुरी प्रवृत्तियों का प्रादुर्भाव बढ़ता जाता है जिसके परिणामस्वरूप चारों ओर हिंसा एवं पाप लीलाएँ बढ़ गई हैं। भाई भाई का कट्टर दुश्मन बन चुका है। मानव मानव के रक्त का प्यासा हो उठा है। चोरी, डाका, आगजनी, अत्याचार, अनाचार, आडम्बर, बलात्कार, व्यभिचार, भ्रष्टाचार, कालाबाजारी, तस्करी की मनोवृत्तियाँ बिना किसी अंकुश के बढ़ती जा रही हैं। शासक लोभवृत्ति के कारण आम जनता का जीवन दुःखमय बन चुका है। आधुनिक शासक भी रक्षक की जगह भक्षक बनते जा रहे हैं। भाई-भतीजावाद के कारण शासकवर्ग ने न्याय-मार्ग छोड़ दिया है। इनके अत्याचार, अनाचार एवं अनैतिक कार्यों से जनसाधारण नागरिक का जीवन दुर्लभ हो चुका है। प्रजापालक, अमीर एवं सेठ साहूकार भौतिक विलासिता के प्रमुख अंग बन चुके हैं। गरीब और श्रमिकवर्ग खून की तरह पसीना बहाकर भी भरपेट रोटी के लिये तड़प रहा है। सत्य का नामो-निशान मिट चुका है। अपरिग्रह केवल आदर्श रह गया है। ब्रह्मचर्य का आदर्श आधुनिक विलासिता में लुप्त हो चुका है। चोरी-डाका आज आम घटनाएँ बन चुकी हैं। हिंसा पग-पग पर व्यापक रूप धारण कर रही है। धर्म का स्थान अधर्म ने ले लिया है।

विश्व आज भौतिक उपलब्धियों के युग में मानव विकास की ओर नहीं अपितु विनाश की ओर बढ़ता जा रहा है। आजकल आर्थिक लोभवृत्ति ने इन्सान को क्रूर से क्रूर कार्य करने के लिये मजबूर कर दिया है। विलासिता इतनी अन्धी हो चुकी है कि आज नग्नता का प्रदर्शन हो रहा है। संग्रह, भ्रष्टाचार एवं तस्करी सीमा को लांघ चुकी है। जिसके कारण मानव को आवश्यक आवश्यकताओं की वस्तुएँ जीवन निर्वाह के लिये मिलनी दुर्लभ हो चुकी हैं। बलात्कार ने महिलाओं की इज्जत मटियामेट कर दी है। महिलाओं के साथ अनैतिक अड्डे जगह जगह आधुनिक क्लबों का रूप धारण कर चुके हैं। विश्व चोरी, डाके, आगजनी, हड़ताल, आन्दोलन, तोड़फोड़ का भीषण शिकार हो गया है। चारों ओर अशान्ति, असंतोष, अंधकार का वातावरण फैल चुका है।

विश्व की आधुनिक समस्याओं का समाधान करने के लिये त्याग और तपस्या की प्रतिमूर्ति, धैर्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के धनी, मोह-माया एवं ममता के त्यागी भगवान् श्री महावीर स्वामी के बताये सिद्धान्तों का यदि आचरण किया जाय तो समाधान अवश्य ही संभव है। भगवान् महावीर के बताये अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह सिद्धान्त को प्रत्येक नागरिक अपने जीवन में उतारें तो विश्व में फैली सभी प्रकार की समस्या का समाधान स्वाभाविक ही है।

महावीर स्वामी ने अहिंसा पर विशेष बल दिया है। उन्होंने जीवो और जीने दो का एक बुलन्द नारा विश्व को दिया है। कोई भी उसका पूरी तरह पालन करता है तो सभी समस्याएँ स्वतः ही हल हो जाती हैं। सब को जीने दो, सब जीना चाहते हैं। यदि आप उनकी हिंसा करने को उतारू हो जाते हैं तो स्वाभाविक है कि वातावरण हिंसामय बन जावेगा। हड़ताल, आन्दोलन जब हिंसा का रूप धारण कर लेते हैं तब हत्याएँ, आगजनी का तांडव नृत्य हो जाता है। आज विश्व हिंसा की प्रवृत्तियों में लिप्त हो चुका है। सत्ता की लोलुपता में हिंसा, पद की लोलुपता में हिंसा, मान सम्मान प्राप्त करने में हिंसा, धनिक बनने में हिंसा, शासन के उच्च पद के लिये हिंसा, समृद्धिशाली देश बनने में एक दूसरे देश के प्रति हिंसा का सहारा लेने के कारण विश्व का कोना-कोना अशान्ति का घर बन चुका है। हिंसावृत्ति के कारण विश्व में चारों ओर अनेकों समस्याएँ उठ खड़ी हुई हैं। विश्व की अनेकों समस्याओं का समाधान करने के लिये महावीर स्वामी द्वारा बताई अहिंसा का उपयोग ही सर्वश्रेष्ठ अस्त्र मात्र है। महावीर स्वामी ने यहां तक कि राग, द्वेष, क्रोध करने पर भी हिंसा बताई है। यदि विश्व में राग, द्वेष, क्रोध प्रवृत्तियां कम हो जाती हैं तो शान्ति, सद्भावना, भाईचारे का वातावरण विश्व में फैल जाता है।

असत्य वाणी के कारण ही झगड़े, संघर्ष, लड़ाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं। वाणी में कटुसत्यता होने पर सम्भवतः युद्ध, संघर्ष, झगड़ों का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता है। सत्य बोलने से विश्वास बढ़ जाता है। विश्वास से ही विश्व की कई समस्याओं का स्वतः ही समाधान हो जाता है। सत्य बोलने से अविश्वास दूर भाग जाता है। लोभ, क्रोध, भय, असत्य-भाषण के अंग होते हैं। जिनके कारण विश्व में कटुता, दीनता, हीनता पनपती है। झूठ के कारण एक देश दूसरे देश के बीच परस्पर युद्ध न होता हो तो कर बैठता है। जिसके भीषण परिणामों से सब नागरिकों को भुक्तभोगी बनना पड़ता है। असत्य भाषण से वातावरण दूषित होता है। असत्य बोल आतंक फैलाता है। असत्य वाणी के कारण जनसाधारण में आक्रोश की भावना उत्पन्न की जा सकती है। झूठ का विश्व के सभी ऐतिहासिक महापुरुषों ने बहिष्कार किया है। सत्य वचनों से ही विश्व का कल्याण सम्भव है।

अचौर्य सिद्धान्त को महावीर स्वामी ने प्रतिपादित करते हुए कहा कि यदि चोरी, डाके की प्रवृत्ति से इन्सान दूर रहता है तो वह न केवल अच्छी प्रवृत्तियों में अभ्यास है अपितु वह राष्ट्र के लिये बहुत बड़ा योगदान दे सकता है। चोरी लोभ को उत्पन्न करती है और लोभ राष्ट्रद्रोह तक का कार्य करवाने के लिये इन्सान को प्रेरित करता है। इसी कारण तस्करी बढ़ती है। तस्करी के कारण आर्थिक संकट उत्पन्न हो जाता है और देश की माली हालत डांवाडोल हो जाती है। चोरी के कारण ही अन्याय, आतंक, अविश्वास, अप्रीति बढ़ने लग जाती है जिसके परिणामस्वरूप विश्व धरातल पर आक्रोश का वातावरण फैल जाता है। चोरी ही झूठ, संग्रह, हिंसा जैसी प्रवृत्तियाँ उत्पन्न करती है। चोरी करना महावीर स्वामी ने भीषण पाप बताया है। महावीर प्रभु के अचौर्य सिद्धान्त को जीवन में अपनाने वाला इन्सान एवं विश्व का कोई देश कभी भी दुःखी-दरिद्र एवं दानव नहीं बन सकता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ब्रह्मचर्य पालन चरित्र निर्माण का पहला अंग है। भोग-विलासी शारीरिक, मानसिक एवं आर्थिक स्थिति से सदैव कमजोर रहता है। अधिक भोगी शराबी एवं मादक वस्तुओं का आदी होगा। आज विश्व में ब्रह्मचर्य पालन न करने के कारण नारी की इज्जत सरेआम लुटी जा रही है। बलात्कार आज आम बात हो गई है। औरतों को भगाकर ले जाना विश्व की सबसे बड़ी समस्या बन चुकी है। इसका मुख्य कारण है इन्सान में भोग-विलास की प्रवृत्तियों का प्रादुर्भाव। इसलिये भगवान् महावीर स्वामी ने जनकल्याण हेतु मानवता के नाते ब्रह्मचर्य पालन पर अधिक बल दिया।

ब्रह्मचर्य के पालन न करने के परिणामस्वरूप कई योद्धाओं को मुंह की खानी पड़ी। औरतों के कारण शासन पलट गये, शासकों को मार दिया गया, आज भी ऐसा प्रचलित है। जनसंख्या बढती जा रही है जो आज विश्व की महान् समस्या है क्योंकि इन्सान भौतिक साधनों, आधुनिक रहन-सहन के वातावरण से अधिक भोगी बन बैठा है जिसके परिणामस्वरूप अधिक बच्चे। बढ़ती आबादी ने बेकारी, बेरोजगारी, भुखमरी फैला दी है। यदि इन्सान ब्रह्मचर्य का पालन करता है तो न वह अधिक बच्चों की उत्पत्ति का भागीदार बनता है अपितु अपने स्वास्थ्य को भी ठीक रख सकेगा। विश्व की कई समस्याओं का समाधान भी हो सकता है, जब ब्रह्मचर्य का पालन किया जाय।

अपरिग्रह विश्वज्योति महावीर स्वामी की विश्व को एक अमूल्य देन है। विश्व में काला बाजारी, चोरबाजारी, भ्रष्टाचार, तस्करी, संग्रह करने की प्रवृत्ति के कारण बढती है। जिसके परिणामस्वरूप महंगाई, बेकारी, दरिद्रता, गरीबी बढ़ने लगती है। जनमानस का जीवन नारकीय बन जाता है। महावीर स्वामी ने संग्रह न करने हेतु अपरिग्रह का मार्ग बताया। कम से कम वस्तुओं का उपयोग किया जाय और उसका संग्रह न किया जाय ताकि समाज के अन्य वर्गों को भी उसका उपयोग करने का अवसर मिल जाय। विश्व में अन्न होते हुए भी भुखमरी क्यों? वस्त्र होते हुए भी नग्नता कैसे? इसका कारण है कि चन्द लोगों की लोभवृत्ति ने इन वस्तुओं का संग्रह कर रखा है। महावीर स्वामी ने संग्रह को अभिशाप बताया। यदि विश्व संग्रह-प्रवृत्तियों को त्याग दे तो शान्ति का साम्राज्य फैल जाय, गरीबों को जीने का अवसर मिल जाय, अविकसित देशों को विकास करने का मौका मिल जाय।

आज हम देखते हैं कि एक देश शस्त्र संग्रह करता है तो दूसरा देश भी अपनी रक्षा के लिये शस्त्र संग्रह करने की होड़ करता है। भले ही उसके देश की आर्थिक स्थिति डांवाडोल क्यों न हो। प्रजा भूख से क्यों न मरे। कर भार से भले ही दब जाय। महंगाई से परेशान भले ही हो उसे तो संग्रह करना है। आज हम जगह-जगह देखते हैं कि संग्रह करने वाले ही लूटे जाते है, मारे जाते हैं। क्यों? क्योंकि उनके संग्रह से आम नागरिक को जीने की वस्तुएँ मिलनी दुर्लभ हो जाती हैं। इसलिये विश्व की महान् विभूति महावीर ने संग्रह न करने के लिये अपरिग्रह सिद्धान्त को बताया ताकि विश्व की समस्त समस्याओं का समाधान हो सके।

भगवान् महावीर के ये अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह सिद्धान्त ही विश्व में फैली आधुनिक समस्याओं का एक मात्र उपाय है। विश्व शान्ति के लिये भगवान् महावीर स्वामी के इन सिद्धान्तों को अपनाना ही होगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अज्ञानी का भ्रम

● श्री प्रसन्नकुमार सेठी, जयपुर

(१)

'कहां आत्मा होगा ?' यह क्या प्रश्न पूछने लायक है ।
प्रश्न जहां से उठा, वहीं तो स्वयं आत्मा ज्ञायक है ।।
निज को निज का ज्ञान न हो, यह अनसमझी है, धोखा है ।
इससे बड़ा ताज्जुब क्या हो, जल ने जल को सोखा है ।।

(२)

देह विनाशी, मैं अविनाशी, देह दृश्य, मैं दृष्टा हूं ।
पुद्गल रूपी देह, अरूपी मैं अपना ही सृष्टा हूं ।।
तन संयोगी, इन्द्रियगोचर, कृत्रिम गोरा काला है ।
किन्तु आत्मा सूक्ष्म, अतीन्द्रिय, निर्मल और निराला है ।।

(३)

एक बार की बात सुनो, दस मूर्ख गांव से जाते थे ।
बीच मार्ग में नदी मिल गई, तैर-तैर कर आते थे ।।
पहुंचे पार दूसरी, बोला एक "समझी कुछ आई जी ।
कहीं डूब तो नहीं गया हममें से कोई भाई जी ।।"

(४)

ऐसा कहकर लगा दूसरों को गिनने, खुद को भूला ।
नौ ही निकले गिनती में अब तो असमंजस में झूला ।।
बोला "लगता है हममें से एक आदमी खोया सा ।"
गिना दूसरे ने, नौ ही निकले, वह भी था रोया सा ।।

(५)

क्रम-क्रम से सबने गिनती की औरों की, खुद को भूले ।
नौ ही आये संख्या में जब, सब के हाथ-पांव फूले ।।
एक विवेकी राहगीर उनकी उलझन समझा, आया ।
पंक्ति बनाकर खड़ा किया सबको, गिनकर के बतलाया ।।

(६)

जब दस निकले, छूट गया भ्रम, उसी तरह से लालाजी ।
अज्ञानी जीवों ने तो अपनत्व देह में पाला जी ।।
ज्ञानी उनको समझाते हैं, 'तुम अर्हंत, अरूपी हो ।'
राग तुम्हारा रूप नहीं, तुम ज्ञानानन्द स्वरूपी हो ।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धर्म सार्व होने के साथ-साथ सार्वकालिक भी है। क्योंकि वह आत्मा का स्वभाव होता है। तीन काल में भी वह आत्मा से पृथक् नहीं हो सकता अतः प्रत्येक काल की समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करता है। इसीलिए उसका मूलतत्व सर्वथा अपरिवर्तनीय होता है। हाँ, उसका बाह्य देश काल की परिस्थितियों के अनुसार बदलता रहता है। आज वासदियों से भरे जीवन में जितनी समस्याएं भौतिकता की ओर उन्मुखता के कारण उठ खड़ी हुई हैं उतनी शायद पहले नहीं थी। किन्तु तीर्थंकर प्रणीत धर्म सब समस्याओं का निदान अपनी विशिष्ट शैली में प्रस्तुत करता है।

प्र० सम्पादक

बदलते सन्दर्भों में तीर्थंकर

● डॉ० कुसुम पटोरिया
पोपटकर हाऊस, सदर,
नागपुर

परिवर्तन प्रकृति की शाश्वत नियति है। परिवर्तन का सतत् प्रवहमान चक्र अपनी गति से अनवरत घूम रहा है। प्रतिपल परिवर्त्यमान संसार इसके सर्वव्यापी पाश में आबद्ध है। मानवीय आवश्यकतायें और विचारधारायें नित नूतन परिधान में आवेष्टित दृष्टिगत होती हैं। निरन्तर परिवर्तनों के उपरान्त भी मानव की जीवन-पद्धति अद्यावधि नवीनता के लिये परिवर्तन का मुख देख रही है। सृष्टि के चिरन्तन प्रश्न और जीवन रहस्य भी अपना रूप बदल चुके हैं।

भगवान् महावीर के युग से लेकर इस युग के दीर्घ अन्तराल की अवधि में समस्यायें और परिस्थितियां आमूल बदल चुकी हैं। तीर्थङ्कर महावीर ने अपने अवतरण से इस वसुंधरा को उस समय पवित्र किया था, जबकि भारतवर्ष एक संक्रमण काल से गुजर रहा था। श्रमण संस्कृति के शाश्वत सिद्धान्तों और उदात्त आदर्शों को कोमलमति जनता विस्मृतप्राय कर चुकी थी। कर्मकाण्ड प्रधान वैदिक संस्कृति अपने विकृत रूप का प्रदर्शन कर रही थी। यज्ञों से निर्गत धूम-शिखा ने वातावरण के साथ-साथ मानव-बुद्धि को भी कलुषित कर दिया था। स्वार्थ और हिंसा उन्मुक्त अट्टहास कर रहे थे। यज्ञों के पवित्र मन्त्रोच्चार मूक और निरपराध पशुओं की करुण चीत्कारों से सम्मिश्रित हो अपनी महिमा को लघु कर रहे थे।

युग की आवश्यकता ने मानवता के अश्रुपूर्ण मुख पर सौम्य स्मिति लाने के लिये, शान्ति की मन्दाकिनी और अहिंसा का निर्झर प्रवाहित करने के लिये दिव्य नररत्न को जन्म दिया। भगवान् के द्वारा उपदिष्ट शाश्वत् सिद्धान्त उस युग की समस्याओं के लिये जितने सफल समाधान थे, उतने ही आज के बदलते सन्दर्भों के लिये भी हैं। उनका एक-एक सिद्धान्त वचनोदधि से निःसृत वह महार्ह मणि है, जो मानवता के शिरोभूषण में जटित होने योग्य है।

आज का युग भी युद्ध की विभीषिका से संत्रस्त है। आर्थिक विषमता और स्वार्थपरता अपनी सीमा लांघ चुकी है। द्वेष और घृणा के वातचक्र में मानव की कोमल अनुभूतियां व पारस्परिक सौहार्द शुष्क पत्रों की भांति भटक रहे हैं। बुद्धिजीवी युग का मानव अपने कुतर्कों से वास्तविकता को अस्वीकार कर रहा है। नैतिकता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और जीवन की सुख-शान्ति मानिनी की भांति उससे रुष्ट हैं।

तीर्थङ्कर महावीर ने केवलज्ञान के उपरान्त ३२ वर्ष तक अनवरत भ्रमण कर जीवन के वास्तविक सत्यों से जनता का परिचय कराया। उनके ज्ञान-सूर्य की भास्वर रश्मियों ने अज्ञान-तिमिर की पर्तों का भेदन किया। उनके वचन रूपी चन्दन ने तप्त मानवता पर शीतल लेप किया। उन्होंने जातिवाद का निरसन कर कर्म की महत्ता उद्घोषित की। व्यक्ति को ही उसके कर्मों के लिए उत्तरदायी घोषित कर उसे अनुपम और अद्वितीय शक्ति का बोध कराया। उसे अपने में निहित ईश्वरत्व के प्रति सचेत किया। अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य और अनन्त सुख से युक्त अपनी आत्मा के वैभव को पा लेने हेतु प्रेरित किया।

परमज्योति महावीर के सिद्धान्तों में से अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्त रूप त्रिरत्न का आधुनिक युग के बदलते सन्दर्भों के परिप्रेक्ष्य में अवलोकन पर्याप्त है। शस्त्रों की प्रतिस्पर्धा व प्रभुत्व की कामना इस युग में पुनः सजग हो उठी है। अनुपम शस्त्र प्रदान कर विज्ञान ने इस उभरती हुई विकृति को गति दी है। अनेक राष्ट्र इस प्रतिस्पर्द्धा में सम्मिलित हैं, शेष राष्ट्र चिन्तित हैं। युद्ध की विभीषिकायें मानव-समाज के जीवन को अव्यवस्थित और भयत्रस्त किये हुये हैं। शांति की उपलब्धि विश्व की ज्वलन्त समस्या है। युग इसके समाधान की आशा में चारों दिशाओं में निर्निमेष कातर दृग्पात कर रहा है। युग की इसी आवश्यकता ने राष्ट्रसंघ जैसी संस्थाओं को जन्म दिया। शान्ति की इस वर्तमान विकट समस्या का समाधान अहिंसा के सिद्धांत में सन्निहित है। अहिंसा में ही व्यष्टि और समष्टि के उज्ज्वल वर्तमान और मंगलमय भविष्य के दर्शन होते हैं। सभ्यता और संस्कृति के बीज अहिंसा के अनुकूल वातावरण में ही अंकुरित, पल्लवित और पुष्पित होते हैं। हिंसा दुःख की मूल तथा अहिंसा सुख की खान, धर्मों का सार, आत्मा की निधि और जीवन का वरदान है। आचार्य समन्तभद्र ने इसे ही परम ब्रह्म कहा है।

समस्त धर्मों द्वारा अहिंसा की प्राण-प्रतिष्ठा किये जाने पर भी यह सत्य है कि जैन दर्शन में ही इसकी वैज्ञानिक सुव्यवस्थित, क्रमिक और तर्कसंगत विवेचना की गई है। जैनों द्वारा ही प्राचीनकाल से इसका शुद्ध रीति से संरक्षण किया गया है। अहिंसा तत्वज्ञान का सर्वाङ्गीण वर्णन एवं परिपालन जैन संस्कृति की शीतल छत्रछाया में ही हुआ है।

तीर्थङ्कर महावीर की अहिंसा इतनी व्यापक और विस्तृत है कि वह सत्य, अचौर्य, अपरिग्रह आदि व्रतों को अपने में समाहित किये हुये है। अहिंसा हिंसा का निषेध नहीं, वरन् संसार के समस्त चेतन प्राणियों के प्रति हृदय से सतत् प्रवाहित होने वाला स्नेह-निर्झर है। अहिंसक के हृदय में समस्त प्राणियों के प्रति वीतराग प्रेम विद्यमान रहता है। इस अहिंसा के सद्भाव में हिंसा स्वतः दूर हो जाती है।

भगवान् महावीर ने अहिंसा की आवश्यकता मनोवैज्ञानिक दृष्टि से प्रतिपादित की, कि जीवन सभी को, संसार के क्षुद्रतम प्राणी को भी अत्यन्त प्रिय है, मरण नहीं अतः जो बात हमें अप्रिय है, निश्चित ही दूसरों को भी अप्रिय होगी, अतः धर्म का सार यही है—स्वयं को प्रतिकूल प्रतीत होने वाला आचरण दूसरों के प्रति भी न करें।

आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।

प्राणियों के प्राण और शरीर का विच्छेदन मात्र हिंसा नहीं है, अपितु अनुदात्त भावनाओं का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सद्भाव हिंसा है, फिर भले ही वहां प्राणिघात न हो। हिंस्य प्राणी के जीवन-मरण से हिंसा का सम्बन्ध नहीं, उसका सम्बन्ध हिंसक प्राणी की भावनाओं से है। क्रोध का अभाव अहिंसा तथा सद्भाव हिंसा तो सर्वमान्य है, पर जैन आचार्य अभिमान, भय, जुगुप्सा, हास्य, अरति, शोक, काम आदि को भी हिंसा की पर्यायें मानते हैं। क्योंकि इनसे चेतन की निर्मलवृत्ति कलुषित होती है।

कतिपय विद्वानों की धारणा के अनुसार जड़ शरीर और चेतन आत्मा को पृथक् कर देना हिंसा की सत्य व्याख्या नहीं है क्योंकि शरीर और आत्मा सदा से ही भिन्न है। उन्हें पृथक् करने की बात औपचारिक है। निश्चय से कोई जीव मरता नहीं तथा जड़ को मार देने में हिंसा नहीं होती।

अहिंसा के तत्वज्ञान की इसी दुर्बोधता को हृदयंगम करके आचार्य अमृतचन्द्र ने लिखा है कि अहिंसा का तत्वज्ञान अतीव गहन है और इसके रहस्य को न समझने वाले अज्ञों के लिए सद्गुरु ही शरण है, जिनको अनेकान्त विद्या द्वारा प्रबोध प्राप्त होता है।

वस्तुतः द्रव्यार्थिक नय से यह सत्य है कि आत्मा और पुद्गल अनादिकाल से पृथक्-पृथक् द्रव्य हैं, पर्यायार्थिक नय से यह भी उतना ही सत्य है कि कर्मों के कारण आत्मा अनादिकाल से पुद्गल से संयुक्त है। आत्मा की इस अनादि अशुद्ध अवस्था के कारण ही प्राणी जन्म-मरण के बंधनों से बंधा हुआ है। आचार्य अमितगति का कथन है कि भिन्ना-भिन्न–द्रव्यार्थिक नय से कथंचित् भिन्न पर्यायार्थिक कथंचित् अभिन्न आत्मा के शरीर से पार्थक्य होने पर अत्यन्त घोर पीड़ा होती है, अतएव किसी जीव के शरीरघात होने पर हिंसा अवश्य होती है।

भिन्नाभिन्नस्य पुनः पीड़ा संजायतेतरां घोरा।
देहवियोगे यस्मात्तस्मात् निवारिता हिंसा॥

अहिंसा आत्मा का स्वाभाविक गुण है, हिंसा, क्रोध आदि इसके आगन्तुक विकार। जैसे शीतलता जल का स्वाभाविक गुण है, उष्णता अग्नि के सम्पर्क से उत्पन्न विकार। आत्मा अनादिकाल से कषाय से रञ्जित होने के कारण स्वभाव को खो चुका है, उस स्वभाव की प्राप्ति के लिये क्रमिक विकास की आवश्यकता है। इसी विकास-पथ पर अग्रसर होने के लिये आचार्यों ने गृहस्थधर्म और साधुधर्म के दो सोपान निर्मित किये हैं। गृहस्थ धर्म प्रथम सोपान है, इसमें अहिंसाणुव्रत का पालन तथा साधु धर्म में अहिंसा महाव्रत के परिपालन की व्यवस्था इसी व्यावहारिकता का सुपरिणाम है। हिंसा के चार भेदों संकल्पी, विरोधी, आरम्भी और उद्यमी–का निरूपण कर संकल्पी हिंसा को सर्वथा त्याज्य घोषित किया है। अन्य तीन प्रकार की हिंसाओं का सर्वथा परित्याग गृहस्थ के लिये असंभव है। मुनि के लिए चारों प्रकार की हिंसा सर्वथा त्याज्य है।

अहिंसा कायरों का नहीं वीरों का धर्म है। निर्भयता ही वीरता है। अहिंसक स्वयं निर्भय होकर दूसरों में अभयदान का अमृत वितरित करता है। गृहस्थ से मुनितुल्य श्रेष्ठ अहिंसा की आशा रखने पर अव्यवस्था उत्पन्न होगी। शस्त्रोपजीवी क्षत्रिय भी निरर्थक अहिंसा का त्याग कर देने पर अहिंसक है। 'निरर्थकवधत्यागेन क्षत्रियाः व्रतिनो मताः।' कायरता अहिंसा का दूषण है। कायरता-पूर्वक आततायी के समीप से पलायन की अपेक्षा संघर्षरत रहकर मरण प्राप्त करना श्रेयस्कर है।

अहिंसा व्यक्ति के सर्वाङ्गपूर्ण विकास का सिद्धांत है। आत्मा से परमात्मा बनने की प्रक्रिया है। यह प्राणिमात्र को संसार में निर्विघ्न रूप से जीने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का आश्वासन प्रदान करती है। क्रोध, लोभ, मोह, माया, वैमनस्य आदि अनुदात्त प्रवृत्तियों का निषेध करती है। संसार में असंख्य प्राणी हैं, जिनके प्रकार तक की गणना सम्भव नहीं है। अहिंसा इन सभी प्राणियों की जीवनरक्षा की मंगलकामना करती है। अहिंसा में विश्वबन्धुत्व और प्राणिमात्र के प्रति करुणाभाव के दर्शन होते हैं। इसमें विश्व मंगल का भाव स्पष्ट है, अतः यह विश्वधर्म की प्रतीक है। इसी अहिंसा-धर्म के स्तवन में एक जैनाचार्य ने कहा है—जिसे संसार निरन्तर नमस्कार करता है, विनम्राञ्जलि प्रदान करता है, वह तीर्थङ्करों द्वारा निर्दिष्ट सम्पूर्ण संसार का मान्य धर्म अहिंसा है। इस अहिंसा धर्म के एक पार्श्व में स्याद्वाद और दूसरे पार्श्व में अनेकान्तरूप कल्पद्रुम स्थित है, मानों किसी सम्राट् के दोनों ओर दो चामरधारी स्थित हों।

यं लोका असकृन्नमन्ति ददते यस्मै विनम्राञ्जलि,
मार्गस्तीर्थकृतां स विश्वजगतां धर्मोऽस्त्यहिंसाभिधः।
नित्यं चामरधारणमिव बुधाः यस्यैकपार्श्वे महान्,
स्याद्वादः परतो बभूवतु स्थानैकान्तकल्पद्रुमः॥

सांसारिक सुख अर्थमूलक होते हैं अतः अनर्थ-बहुल अर्थ-संचयन की ओर मानव की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। सञ्चय की घातक प्रवृत्ति का संयमन आवश्यक है, अन्यथा मानव के लिये अपनी लालसाओं के संसार को समेटना तथा असीमित आवश्यकताओं को सीमा की परिधि में रखना असंभव हो जायेगा। मानव के वृद्ध होते जाने पर भी तृष्णा नित तरुण होती जाती है। वर्तमान युग में पूंजी के एकत्रीकरण और असमान वितरण की समस्या विषमतर हो गई है। इस युग का सारा आक्रोश, सारा असंतोष अर्थजन्य विषमता से उद्भूत हुआ है। इसी जटिल समस्या से त्राण पाने के लिये समाजवाद और साम्यवाद जैसे सिद्धान्तों का जन्म हुआ किन्तु समस्या फिर भी उतनी ही उग्र रही। वैधनिक प्रावधानों द्वारा भी इसका नियमन संभव नहीं हो सका है। मानव की तीक्ष्ण दुर्बुद्धि अपने अनुरूप मार्ग खोज ही लेती है।

इस समस्या का समाधान तभी सम्भव है, जब मनुष्य स्वयं भौतिक समृद्धि में ममत्व कम कर दे। अपरिग्रह का सिद्धान्त मानव को अर्थ-मोह कम करने की शिक्षा देता है। आसक्ति ही परिग्रह है। मूर्च्छा अर्थात् परद्रव्यों में मोह परिग्रह है। एक निर्धन व्यक्ति भी परिग्रही है, यदि वह अप्राप्य सम्पत्ति के प्रति उत्कट मोह रखता है। धनाढ्य व्यक्ति भी अपरिग्रही है, यदि उसका अपनी अपरिमित सम्पत्ति के प्रति मोह भाव न हो। नीतिमार्ग से असीम सम्पदा प्राप्त नहीं हो सकती, जैसे सरिता स्वच्छ जल से परिपूर्ण नहीं होती, अतः धनलिप्सा को घटाना ही अपरिग्रह है। परिग्रह शब्द परि और ग्रह शब्द की संयुक्ति से व्युत्पन्न है। परि उपसर्ग का अर्थ है परितः अर्थात् सब ओर से, दशों दिशाओं से हर प्रकार से न्याय-अन्याय, योग्य-अयोग्य का विवेक किये बिना परपदार्थों का परिग्रहण परिग्रह है।

अपरिग्रह व्यक्ति को निर्भीक, निराकुल, निराकांक्षी, निज-चैतन्य स्वभाव की ओर उन्मुख करता है। उसके आचरण को नियन्त्रित कर व्यक्ति एवं समाज के मंगलमय भविष्य को आश्वस्त करता है। समाज में सुव्यवस्था तथा संसार में शांति-स्थापना के लिये यह अपरिग्रह जीवनदायी पाथेय है।

भगवान् महावीर ने कहा था कि आवश्यकता से अधिक संग्रह पाप है, सामाजिक अपराध है, आत्म छलना है। ऐसा भी प्राणि वर्ग है जो इसके अभाव में आकुल है, अतः न्याय का मार्ग यही है कि आवश्यकता से अधिक संग्रह न किया जाये। वस्तु के प्रति ममत्व न होने पर व्यक्ति अनावश्यक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संग्रह तो करेंगे ही नहीं आवश्यक वस्तु को भी दूसरों के लिए सहज त्याग देंगे। आज जो संग्रह-जनित व्यावसायिक लाभ की प्रवृत्ति पल्लवित हो रही है, उससे मुक्ति के लिये अपरिग्रह को आत्मसात् करना आवश्यक है।

'व्यक्ति के प्रति भी ममत्व न हो' इस कथन का आशय भी यही है कि व्यक्ति केवल अपने परिवार की ओर न देखे। उसका दृष्टिकोण समस्त मानवता के हित की ओर अग्रसर हो। आज प्रशासन और अन्य क्षेत्रों में जो भ्रष्टाचार एवं अनुचित रीति से धन-संग्रह की प्रवृत्ति व्याप्त है, अपनों के प्रति ममत्व ही उसके मूल में है। ममत्व और परत्व का विगलन तथा समत्व का विकास अपरिग्रह का लक्ष्य है।

विविध सम्प्रदायों और पंथों से भरे इस युग में तीर्थङ्कर महावीर के अनेकान्त की उपयोगिता और अधिक हो गई है। भगवान् महावीर का कथन था कि ज्ञान पूर्णसत्य को एक साथ जान सकता है, किन्तु शब्द उसे एक साथ यथावत् प्रकाशित नहीं कर सकते। ज्ञाता अपने अभिप्राय के अनुसार वस्तु के एक पक्ष को प्राधान्य देता है दूसरा पक्ष गौण हो जाता है। इन कारणों से उत्पन्न हुये विवाद को अनेकान्तवाद द्वारा ही दूर किया जा सकता है। भगवान् महावीर अखण्ड सत्य को अनन्त दृष्टिकोणों से देखने का सन्देश देते थे क्योंकि प्रत्येक वस्तु अनन्तधर्मात्मक है और कथनी सापेक्ष तथा वक्ता की विवक्षा के अधीन होती है। सत्य तक पहुंचने के लिये अनन्तधर्मात्मक वस्तु को अनन्त दृष्टिकोणों से देखना होगा। अनेकान्त शब्द का अर्थ है अनन्त धर्म। एक ही वस्तु में नित्य-अनित्य, अस्ति-नास्ति, एक-अनेक आदि परस्पर विरोधी कहे जाने वाले धर्म विद्यमान रहते हैं। वस्तु का वस्तुत्व ही विरोधी धर्मों के अस्तित्व में है तथा वस्तु सर्वथा सत् ही है अथवा असत् ही है, नित्य ही है, अथवा अनित्य ही है, इस प्रकार के सर्वथा एकान्त के निराकरण का नाम ही अनेकान्त है। यथार्थ में एकान्त अपूर्णदर्शी और अनेकान्त पूर्णदर्शी है। एकान्त मिथ्याभिनिवेश के कारण वस्तु के एक अंश को ही पूर्ण सत्य मानता है, जिससे विरोध उत्पन्न होता है। अनेकान्त विरोधों का परिहार कर उनका समन्वय करता है।

महावीर कालीन दार्शनिक एकान्त मिथ्यात्व अर्थात् आंशिक सत्य को पूर्ण सत्य समझकर अपनी भ्रामक मान्यताओं का प्रतिपादन एवं प्रसारण कर रहे थे। इसी काल में तत्वद्रष्टा अहिंसक हृदय भगवान् महावीर ने वस्तु के विराट स्वरूप का निरूपण कर कहा—वस्तु की अनन्तरूपात्मकता को विस्मृत कर दूसरों के दृष्टिकोण पर मिथ्यात्व का आरोपण मिथ्यात्व है, हिंसक व्यवहार है। यह तत्वज्ञों का कार्य नहीं है। स्याद्वाद इस अनन्त-धर्मात्मक वस्तु के प्रतिपादन का साधन है।

स्याद् शब्द संभावना या सन्देह का मूलक नहीं अपितु किसी अपेक्षा विशेष से वस्तु किस प्रकार की है इस अर्थ (कथंचित्) का बोधक है। यह सत्य को अनावृत करने की प्रक्रिया है। इसके बिना पूर्ण सत्य की शोध सम्भव नहीं। अलबर्ट आइन्स्टीन ने प्रसिद्ध सापेक्षवाद के सिद्धांत की स्थापना कर इस सिद्धान्त को ही स्वीकार किया है। उसका कथन है कि हम केवल आपेक्षिक सत्य को ही जान सकते हैं, सम्पूर्ण सत्य का सर्वज्ञ ही जान सकता है। स्याद्वाद भी यही कहता है कि वस्तु का इन्द्रिय-ग्राही स्वरूप कुछ और होता है और वास्तविक स्वरूप कुछ और। हम उस रूप को देखते हैं, जो इन्द्रियों का विषय है। सर्वज्ञ बाह्य और आन्तरिक स्वरूप को युगपत् देख सकते हैं।

महावीरप्रसाद द्विवेदी का इस स्याद्वाद के विषय में कथन है। 'प्राचीन ढर्रे के बड़े-बड़े

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शास्त्री अब तक नहीं जानते कि जैनियों का स्याद्वाद किस चिड़िया का नाम है। धन्यवाद है जर्मन, फ्रांस, इंग्लैण्ड के कुछ विद्यानुरागी विशेषज्ञों को जिनकी कृपा से इस धर्म के अनुयायियों के कीर्ति-कलाप की खोज की गई और इस ओर भारत के इतरजनों का ध्यान आकृष्ट हुआ। यदि ये विदेशी विद्वान् जैनों के धर्म ग्रन्थों की आलोचना न करते, उनके लेखकों की महत्ता प्रकाशित न करते तो हम लोग शायद आज भी पूर्ववत् अज्ञान के अन्धकार में डूबे रहते।'

वस्तुतः स्याद्वाद तत्वज्ञान की नींव और दर्शन का गूढ़ सिद्धान्त ही नहीं है, अपितु दैनिक लोक-व्यवहार की आवश्यकता है। सम्पूर्ण लोक-व्यवहार सापेक्षिक होता है। स्याद्वाद अनेकान्त-वाद मानव-मस्तिष्क से दुराग्रहपूर्ण विचारों को दूर करता है। उन्हें वैचारिक सहिष्णुता प्रदान कर उनके ज्ञान का विकास करता है। शुद्ध व सत्य विचार के लिये आह्वान करता है।

वर्तमान युग की समस्यायों का समाधान वर्द्धमान महावीर के सिद्धान्तों की सुखद शीतल छाया में ही संभव है। जिस क्षण विश्व भगवान् के इन सिद्धांतों को आत्मसात् करेगा, वह क्षण इतिहास का स्वर्णिम क्षण होगा। राग, द्वेष, हिंसा और विरोध का केवल अतीत होगा न वर्तमान न भविष्य।

---

* महावीर–वाणी 'नियम' बोलती है। *

● श्री लक्ष्मीचन्द्र 'सरोज' एम.ए. (हिन्दी संस्कृत)
बजाजखाना जावरा (म. प्र.)

अहिंसा अमरता लिये डोलती।
और हिंसा घृणा का गरल घोलती।।
अतृष्णा सुसमता सदा तौलती है।
और तृष्णा परिधि का खरल खोलती।
मिलेगा करम-फल धरा बोलती है।
भले को भला यह सदा तौलती है।।
सुधारें असंयम जरा ढोलती है।
अनेकान्त–वाणी सभी बोलती है।।

सभी हैं बराबर 'नीति' बोलती है।
जिओ और जिलाओ जगत, बोलती है।।
नहीं ईश कोई सदा जो लती है।
बनें ईश हम सब मती बोलती है।।
महावीर–वाणी 'नियम' बोलती है।
गले से लगाओ 'समय' खोलती है।।
धरम-देश-बन्धन सदा छोलती है।
आत्मिक अमरता सदा मोलती है।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सन् १९७५ का वर्ष संयुक्त राष्ट्रसंघ के निर्देशों के अनुसार नारी वर्ष के रूप में मनाया गया जिसमें नारी उत्थान और जागरण के विभिन्न कार्यक्रम समायोजित किये गए। यह ही वर्ष भगवान् महावीर के २५०० वें निर्वाण वर्ष के रूप में भी मनाया गया जिसमें भ० महावीर के उपदेशों का व्यापक प्रचार प्रसार किया गया। अतः यह उचित ही है कि भ० महावीर के दर्शन में नारी की क्या स्थिति है और वह कहां तक उसके उत्थान में सहायक हो सकता है इस प्रश्न पर चिन्तन मनन किया जाय। प्रस्तुत है यहां एक महिला के इस सन्दर्भ में तथ्यपूर्ण विचार जिन के अनुसार भ० महावीर के बताए मार्ग का अनुगमन करने से ही महिला समाज अपना अतीत का खोया गौरव पुनः प्राप्त कर सकती है।

प्र० सम्पादक

स्त्री स्वातन्त्र्य और महावीर

● डॉ० श्रीमती राजेश्वरी भट्ट
प्राध्यापिका लालबहादुर शास्त्री कालेज, जयपुर

सन् 1975 का वर्ष न केवल भारतीय नारी के लिए अपितु समस्त विश्व के स्त्री समाज की स्वतन्त्रता के लिए महत्वपूर्ण वर्ष था। संयुक्त राष्ट्र संघ के निर्देशन में समग्र विश्व में नारी स्वातन्त्र्य के विषय में जितने प्रयास इस युग में किये जा रहे हैं आज से 2500 वर्ष पूर्व भ० महावीर ने उन्हें चरितार्थ भी कर दिया था। धार्मिक क्षेत्र में स्त्री को आचार्य पद की प्रतिष्ठा प्रदान करने का श्रेय इन्हीं महामना को है। वर्तमान सन्दर्भ में नारी स्वातन्त्र्य के विषय में प्रयास करते समय यदि हम भगवान् महावीर के सत् आचरणों एवं उपदेशों से दिशा निर्देश प्राप्त कर सकें तो श्रेयस्कर ही होगा।

महावीर युगीन समाज में नारी जाति शोषण, उत्पीड़न एवं महापतन से अभिभूत थी। "अस्वतन्त्रा स्त्री पुरुष प्रधाना" तथा 'स्त्रियो वेश्यास्तथा शूद्राः' नारी कदापि स्वतन्त्र नहीं है वह सदैव पुरुष के अधीन है। स्त्रियां वेश्याओं एवं शूद्रों के समान है आदि वाक्यों से स्पष्ट होता है कि उस समय नारी की स्थिति क्या थी ?

भगवान् महावीर के आविर्भाव के समय नारी जीवन के किसी भी क्षेत्र में आत्मतन्त्र नहीं थी। यहां तक कि उसे धर्म के उपदेशों के श्रवण से भी वंचित रखा जाता था। नारी पुरुष के हाथों की कठपुतली मात्र थी जिसे वह जिस तरह चाहता, नचा देता। बड़े-बड़े श्रेष्ठी एवं सामन्त नारी को अपने भ्रूभंग पर नचाते थे। चन्दन बाला का जीवनचरित इस विषय में साक्षी है।

युग पुरुष भगवान् महावीर से नारी की यह उत्पीड़ित दुर्दशा देखी नहीं गयी। समाज में अन्य दलित वर्गों की भांति महावीर ने नारी को भी परतन्त्रता से मुक्ति दिलाने का हर सम्भव प्रयास किया।

महावीर की दृष्टि में स्वतन्त्रता का वास्तविक अर्थ समस्त रागद्वेष एवं कर्मबन्धन से मुक्त होना ही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। "भावे बन्धः" और "भावे मोक्षः" का सिद्धान्त महावीर के स्वातन्त्र्य बोध को और भी स्पष्ट कर देता है। उनकी वाणी इसी समन्वय के सिद्धान्त को पुष्पित एवं पल्लवित करती है। भगवान् महावीर ने समाज में नारी और पुरुष दोनों को ही समान स्वतन्त्रता का अधिकार दिया है। उन्होंने नारी के अभ्युदय के लिए यथाशक्ति प्रयत्न किये। नारी को उसका अतीत गौरव एवं खोयी हुई प्रतिष्ठा पुनः प्राप्त कराने में भगवान् महावीर निरन्तर तत्परता से लगे रहे।

भगवान् महावीर ने जीवन में प्रत्येक क्षेत्र में नारी को पूर्ण विकास का अधिकारी माना। परिणामस्वरूप तत्कालीन समाज में नारियों को सम्मान पूर्ण स्थान प्राप्त हुआ। नारियां सामाजिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक एवं राजनीतिक सभी क्षेत्रों में पुरुष की सहयोगिनी थीं। उसे अपने व्यक्तित्व के सर्वतोमुखी विकास करने के लिए समस्त अवसर उपलब्ध थे।

जैन धर्म ग्रन्थ इस तथ्य के साक्षी हैं कि आगे जाकर महावीर के जीवन दर्शन से उपकृत होकर अनेक राज महिषियां, श्रेष्ठिकुल की दासियां तथा दलित वर्ग की नारियां अपने जीवन को पावन एवं धन्य बना सकीं।

भगवान् महावीर ने नारी एवं पुरुष में आत्मा की समानता एवं एकरूपता का प्रतिपादन किया। दोनों में एक ही आत्मा है और इसलिए उन्हें समान रूप से विकास करने का अधिकार है। जैन धर्म का मुख्य उद्देश्य 'भावे बन्धः भावे मोक्ष': है। वह यह नहीं देखता कि साधक किस जाति का है, किस सम्प्रदाय का अनुयायी है, किस वर्ण और लिंग का है। अतः नारी को पुरुष से हेय समझना अज्ञान एवं अधर्म है। वासना, विकार एवं कर्मजाल को काट कर पुरुष और नारी दोनों ही समान रूप से मोक्ष के अधिकारी हैं। (दिगम्बर ऐसा नहीं मानते। उनके अनुसार नारी अपनी प्राकृतिक कमजोरियों के कारण अपनी आत्मा का इतना विकास नहीं कर सकती कि वह उसी भव से मुक्तिलाभ कर सके। वर्तमान काल में तो दोनों ही सम्प्रदायों के अनुसार न तो पुरुष मुक्त हो सकता है और न स्त्री। प्र० सम्पादक)

भगवान् महावीर के समय में पुरुषों की भांति स्त्रियों को सभी धार्मिक अधिकार उपलब्ध थे। स्त्रियां निस्संकोच किसी भी सभा में अथवा धार्मिक समवसरण पर अपनी शंकाओं का समाधान कर सकती थीं। महावीर ने अपने समय में प्रचलित दास प्रथा के उन्मूलन के लिए सतत् प्रयास किये। मेघकुमार की सेवा शुश्रूषा के लिए जब देश-विदेश से दासियों का क्रय-विक्रय हुआ तब भगवान् महावीर ने उसकी तीव्र भर्त्सना की। उन्होंने स्त्री विषयक प्राचीन काल से प्रचलित दूषित परम्पराओं पर कुठाराघात किया और सम्भवतः इसीलिए उन्होंने भिक्षुणी संघ की स्थापना की। इसका मुख्य उद्देश्य नारी जाति का उद्धार था। समाज के प्रत्येक वर्ग की स्त्री दीक्षा ग्रहण कर समाज में सम्माननीय पद प्राप्त कर सके। महावीर स्वामी के इस संघ में भिक्षुओं से अधिक भिक्षुणियों का होंना स्त्री जाति के प्रति उनके उदार दृष्टिकोण का परिचायक है। साथ ही इस तथ्य की भी पुष्टि होती है कि स्त्री जाति के हृदय में भगवान् के प्रवचनों के प्रति कितना आदर सम्मान था। उन्होंने न केवल गृहस्थ से दूर रहने वाली स्त्रियों को ही दीक्षित किया अपितु गृहस्थाश्रम में उन्होंने स्त्री को पूर्ण सम्मान दिलाने का प्रयास किया। उन्होंने कहा—सप्पुरुषो पुत्तदारस्स अत्थाए हिताए सुखाए होति। अर्थात् उनकी दृष्टि में सत्पुरुष वही है जो पत्नी के हित का समुचित ध्यान रखता है।

भगवान् महावीर के युग में विधवा स्त्रियों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की स्थिति अत्यन्त शोचनीय थी। समाज में उन्हें हेय समझा जाता था। समाज में उन्हें न्यूनतम सुविधा मात्र उपलब्ध थी। पत्नी को पति की सम्पत्ति पाने का अधिकार नहीं था। भगवान् महावीर ने विधवाओं पर होने वाली यन्त्रणाओं तथा उत्पीडनों को कम करने में अपना पूर्ण सहयोग दिया। उनके इन प्रयत्नों के फलस्वरूप सार्थवाही जैसी अनेक स्त्रियों को उनके पति की मृत्यु के अनन्तर उनकी समस्त सम्पत्ति का स्वामी घोषित किया गया जो तत्कालीन समाज के नियमों के विरुद्ध था।

स्त्री जाति के प्रति उनकी उदार भावनाओं का परिज्ञान इस तथ्य से भी होता है कि उन्होंने स्वयं अभिग्रह धारण किया था कि वे दलित एवं शोषित नारी के हाथ से ही भिक्षा ग्रहण करेंगे। भगवान् की प्रतिज्ञा में 13 बातें सम्मिलित थीं। उनका अभिग्रह था—कोई राजकुमारी दासी बनी हुई हो, उसके हाथ में सूप हो, सूप के कोने में उड़द के बाकुले पड़े हों, वह देहली के बीच खड़ी हो, हाथों में हथकड़ियां और पैरों में बेड़ियां हों, आंखों में आंसू हों, औठों पर मुस्कान हो, सिर मुण्डित हो, वह स्वयं तीन दिन से भूखी हो, भिक्षा का समय बीत चुका हो, ऐसी स्थिति में यदि कोई राजकुमारी दासी बनी हुई भिक्षा देती है तभी मैं आहार ग्रहण करूंगा अन्यथा नहीं। मन में यह संकल्प धारण कर भगवान् 5 मास और 25 दिन तक भ्रमण करते रहे। अचानक चन्दनबाला ने महान् तपस्वी को भिक्षुक के रूप में सामने पाया। इस राजकन्या में ये सारी बातें थी। प्रभु ने आहार ग्रहण किया। चन्दनबाला धन्य हो गयी और धन्य हो गई वे समस्त नारियां जिनका जीवन दलित, शोषित एवं पतित था।

नारी स्वातन्त्र्य के विविध आयाम यदि महावीर के समत्व सिद्धान्त के आधार पर अग्रसर हों तो सम्भवतः जीवन रथ का दूसरा पहिया भी उतना ही सक्षम हो सकेगा।

---

* विदुषी नारी *

विद्यावान् पुरुषो लोके, सम्मतिं याति कोविदैः।
नारी च तद्वती धत्ते, स्त्रीसृष्टेरग्रिमं पदम् ॥ ९८ ॥

—इस लोक में विद्वान् पुरुष विद्वानों द्वारा सम्मानित होता है और यदि नारी विदुषी हो तो उसकी गणना संसार की समस्त स्त्रियों में प्रधान रूप से होती है।

—आदिपुराण पर्व १६

★

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

* महावीर का सन्देश *

● श्री गुलाबचन्द जैन वैद्य, ढाना

भौतिकता की चकाचौंध में भ्रमित हुए जग को,
महावीर स्वामी का शुभ सन्देश सुनाना है ।

नहीं जन्म से कोई, अपितु, कृति से महान होता,
करके हीनाचार स्वयं को देता है धोखा,
जीव जगत् के सभी, आत्मवत् हैं जाने जाते,
सब को पीड़ा दुःख वेदना सभी समाना है ।। १ ।।

करें परस्पर सभी प्रेम से, परहित पर उपकार,
नहीं किसी को मिला, किसी के विनाश का अधिकार,
किसी जीव के प्राणों से, तब क्यों खेले कोई ?
यही अहिंसा सत्य प्रेम, जग में फैलाना है ।। २ ।।

कभी एक क्षण भी प्रमाद, में व्यर्थ नहीं खोना,
रहे अछूना क्यों संयम से, जीवन का कोना ?
दर्शन ज्ञान विवेक प्रगट कर, करें आत्म उत्थान,
वरना फिर फिर जन्म, मरण का ताना बाना है ।।३।

यह मानव तन पुण्य प्रकृतियों, का सुन्दर परिणाम,
इसको नाहक खोना, कितनी नादानी का काम,
काम क्रोध मद मोह लोभ, हैं अधःपतन के द्वार,
इस स्वर्ण अवसर को खोकर फिर पछताना है ।। ४ ।।

जितना कम संभव हो, उतना रखो परिग्रह भार,
अपना घर भर कर मत, छीनो औरों का अधिकार,
स्वच्छ रखो मन संतोषी बन, परिहरि विषय विकार,
विश्व शांति के इस प्रयोग को सफल बनाना है ।। ५ ।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्यारा वीर स्वामी

● श्री भँवरलाल एम. जैन,
शिवगंज

[तर्ज—खमा रे खमा मारा..... फिल्म बाबा रामदेव]

खम्मा रे खम्मा मारा प्यारा वीर स्वामी ने—2
थोने तो ध्यावे आखो सुर लोकरे, आखो नर लोकरे
पाताल रा धणीया.....खम्मा रे खम्मा

माँ त्रिशला रा जाया प्रभु सिद्धार्थ कुलराया
चैत्र सुदी तेरस दिवसे जन्म खुशी मनाया
पलभर वास्ते नारकी लोक भी सुख कुछ पाया
देव देवेन्द्र महोत्सव, मेरु शिखरे ठाठ से कराया
छप्पन दिक् कुमारीका तो नृत्य रास रचाया रे....पाताल रा

सात हाथ शरीर मानने कंचनवरणी काया
क्षत्रियकुण्ड के वासी सिंह लंघन थे पाया
मातंग यक्ष ने यक्षिणी सिद्धा तो कहलाया
चौद हजार साधु ने साध्वी छत्तीस हजार रा राया
ग्यारह गणधर तो थोरी चरणो री छाया रे....पाताल रा

बालपण री लीला थारी भक्तजनों ने लुभाया
गुरुकुल में थारा सु पंडित पण चकराया
भुजंग रूप में देव आया उणने पण भगाया
मात-पितारो सच्चो प्रेमी सुख उणने पहुँचाया
जद तक मात पिता है दीक्षा लेणी नहीं सुहाया रे....पाताल रा

तीस वर्ष री भर जवानी संयम मार्ग अपनाया
साडा बारा वर्ष कठिन तपस्या में बिताया
वैशाख सुदी दशमी ने केवलज्ञान पाया
मोठा-मोठा यज्ञो में होमता पशुओं ने बचाया
"जीओ और जीने दो" का मंत्र तो सुनाया रे....पाताल रा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्जुनमाली, दृढ़प्रहारी, चंडकौशिक को समझाया
ओपणी भूल समझने वीर के शरण में आया
प्रथम साध्वी चन्दना ने शाषन तो चमकाया
सति श्राविका सुलसा रा वीरने गुण गाया
राजाओं में श्रेणिक वीर का भक्त कहलाया रे.....पाताल रा

जन्म थी नहीं कर्म थी महान प्रभु ने बताया
अनेकान्त—अपरिग्रह का पाठ तो पढाया
संग्रह-खोरी—जमाखोरी को पाप बतलाया
लोभ-रिश्वत—राज चोरी को बुरा बताया
लोभ वृति ने छोड़ो, दाण देणो सिखाया रे.....पातान रा

अंत समय में प्रभुजी पावापुरी पधारीया
४८ पहर देशणा सुनवा श्रोताजन जागीया
काती वद ऽऽ दिन शीवधाम थे पामीया
नंदीवर्धन बंधु ने घीके दीपो को रच दिया
"भँवर" भक्तिभाव से वीर गाथा ने गाया रे.....पाताल रा



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भगवान् महावीर की गार्हस्थिक अवस्था में उनका चिन्तन तथा पश्चात् में उनकी आत्म-साधना का संक्षिप्त दिग्दर्शन कराते हुए विद्वान् लेखक ने भगवान् महावीर के उपदेशों में से आधुनिक परम्परा का निर्वाह करते हुए उनके अहिंसा, अनेकान्त और स्याद्वाद तथा अपरिग्रह सिद्धांतों पर प्रकाश डाला है। हमारी समझ में उनके अचौर्य और ब्रह्मचर्य के सिद्धांतों की अवहेलना करके हम जीवन में कभी भी साफल्य लाभ नहीं कर सकते। आत्मोत्थान के लिए ही नहीं स्वस्थ समाज रचना के लिए भी इन व्रतों का परिपालन अत्यावश्यक है जिन पर समानरूप से जोर दिया जाना चाहिये। इनके बिना भ० महावीर के सिद्धांतों का पूर्ण रूप से प्रस्तुतिकरण संभव नहीं है। आज समाज में और देश में जो अभीष्ट परिवर्तन नहीं हो पा रहा उनके मूल में भी इन दो व्रतों को विद्वानों द्वारा गौण कर दिया जाना है।

प्र० सम्पादक

समस्याओं के समाधान में भ० महावीर के उपदेशों का सामर्थ्य

श्री सुभाषचन्द्र दर्शनाचार्य
शान्ति नगर, श्री महावीरजी [राज०]

जब हम अतीत इतिहास के अंधेरे में बहुत दूर तक निकल जाते हैं तब हमें करीब 2500 वर्ष पूर्व एक दिन अलौकिक आलोक के दर्शन होते हैं। वह अलौकिक आलोक हैं तीर्थङ्कर भगवान् महावीर जिन्होंने वैशाली के तत्कालीन नरेश सिद्धार्थ के नन्द्यावर्त राजप्रासाद में राजमहिषी प्रिय-कारिणी त्रिशलादेवी की कोख से जन्म लिया। एक सुप्रतिष्ठित राज-परिवार में जन्म लेने के कारण जिनका लालन-पालन राजकुमारों जैसा होने में कोई कमी नहीं हुई। विपुल वैभव-सम्पदा की घनी छाया में जिनका बचपन बीता, किशोरा-वस्था पर्यन्त जिन्होंने अपने पिताश्री के कन्धे से कन्धा लगाकर उनके राज्य कार्य में सहयोग दिया, किन्तु एक राजपुत्र के नाते नहीं एक हितैषी सखा के समान। जीवन के 30 वसन्तों के अस्त होते होते उन्होंने विपुल ज्ञानाभ्यास के द्वारा समस्त शास्त्रों का दोहन कर लिया था। सिद्धार्थ के राजभवन के अन्दर ही नहीं आस-पास के सभी राज्यों में भी क्या रूप में, क्या विद्या में और क्या बल में वे अतुलनीय थे। राजा और रानी अपने ऐसे असाधारण सर्वगुणसम्पन्न लाल को देख कर प्राकृतिक रूप से कुछ अधिक ही स्वस्थ हो जाया करते थे। एक से एक रूप माधुर्य में अनुपम तरुणियाँ उनसे विवाह करने के लिये उद्यत थीं। अनेकों देशों के राजे-महाराजे उन्हें अपना जवांई बनाने के स्वप्न देखा करते थे। उनकी माता अपने राजप्रासाद में पुत्रवधु के आने के दिन बड़ी ही बेचैनी से गिन रही थी। तभी एक दिन महावीर के समक्ष विवाह का प्रस्ताव रखा जाता है, उनसे विवाह की स्वीकृति माँगी जाती है तब तनिक भी विचलित हुये बिना महावीर कहते हैं—अरे! इस जीव ने अनन्तकाल से इस संसार में अनेकों बार जन्म लेकर विवाह किया और भोगों को भोगा किन्तु इसकी भोगेच्छा अब तक भी समाप्त नहीं हुई। पुनः पुनः जन्म, विवाह, भोग और पुनः यही संसार यह क्रम सदा से चलता आ रहा है किन्तु अब तक जीव का संसार नहीं छूटा है। पर अब तो इस संसार के बन्धन से छूटना ही होगा, इस संसार से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सदा-सदा के लिये ही मुक्त होना होगा, इस नर जन्म को सार्थक करना ही होगा। मैं अब विवाह नहीं करूँगा।

एक दिन महावीर अपने नंद्यावर्त प्रासाद में बैठे विचारों के पारावार में आप्लावित थे कि तभी लौकान्तिक देव आकर उन्हें नमस्कार करते हैं और उनके चरणों में निवेदन करते हैं कि प्रभो! आपने अपने इस मनुष्य भव के ३० वर्ष तो राज्य में रहकर ही व्यतीत कर दिये अपना आत्म-कल्याण अब आप कब करेंगे? जीवन क्षणभंगुर है, इसका क्या भरोसा? समय सरकता ही जा रहा है। आपको अब अपने आत्म-कल्याण में लग ही जाना चाहिये। लौकान्तिक देवों की बात महावीर के हृदय मन्दिर में मानो घर कर गई। यद्यपि महावीर अब तक राज्यकार्य में ठीक उसी तरह से रह रहे थे जिस तरह से जल में कमल रहता है। किन्तु अब महावीर की विचारधारा में एका-एक बहुत बड़ा परिवर्तन आ गया और अब उन्हें एक-एक क्षण भी राज्य में रहना मुश्किल लगने लगा। वैराग्य लक्ष्मी हर समय छाया के समान उनके पीछे लगी उनसे गृहादि परिग्रहों से विरत होने के लिये मानों आग्रह करती रहती।

तभी मंगसिर कृष्णा दशमी का वह शुभ दिन आया जब महावीर ने आन्तरिक और बाह्य सभी प्रकार के परिग्रहों को तिलांजली देकर 28 मूल-गुणों को धारण कर जिन दीक्षा ले ली। अब महावीर जिन साधु हो गये थे, बड़े-बड़े राज-प्रासाद, रमणीक अट्टालिकायें, राज्य की रमणियों के रसभरे हास परिहास व भोगोपभोग की सभी अनुपम वस्तुएँ उनसे सदा-सदा के लिये दूर हो गई थीं। अब अवनि ही जिनकी शय्या, अम्बर ही जिनका ओढ़ना और दिशायें ही जिनके वस्त्र हो गई थीं ऐसे वह परम निर्ग्रन्थ श्रमण महावीर 12 वर्ष तक शाश्वत् सत्य की सतत् खोज में एक स्थान से दूसरे स्थान, एक वन से दूसरे वन में दुर्द्धर्ष तप को तपते हुये साधना की तेज आँच में अपने को तपाते हुये मौन विहार करते रहे। तीन दिन से अधिक कहीं भी एक स्थान पर न ठहरते। वर्षावास में चार मास तक एक ही स्थान पर रहते। अपनी इस अखण्ड अनन्य साधना के दौरान उन्होंने सत्य के अन्वेषण में नये-नये प्रयोग किये, नदी, पर्वत, गुफाओं, श्मशानों आदि जगहों पर दीर्घ-दीर्घ अवधि पर्यन्त अनवरत एकाकी ही रहे। जहाँ देखा और सुना कि अमुक स्थान खतरे से खाली नहीं है ऐसे भयायह स्थानों पर निरन्तर लोगों के मना करने पर भी खतरों में ही विचरे। अज्ञानी और अनार्य लोगों द्वारा भयानक व कष्टप्रद से कष्टप्रद उपसर्गों के किये जाने पर भी सदा समता भाव को धारण किये हुये ध्यान में ही लीन रहे। महावीर के महावीरत्व के सामने उपसर्ग करने वालों को सदा मुंह की ही खानी पड़ी। उनके सामने जो भी आया, चाहे उनकी उपासना करने, चाहे लड़ने या मारने, समता और शांति की सौम्य मुद्रा को देखते ही सबके मस्तक महावीर के चरणों में झुक गये। सभी महावीर के चरण-किङ्कर बन गये। ऐसे उन श्रमण-महावीर की 12 वर्ष की अक्षुण्ण तप की महासाधना के पश्चात् घातिया कर्मरूपी 4 महारिपुओं को आपके सामने हार माननी ही पड़ी और चैत्र कृष्णा चतुर्थी के दिन महावीर को कैवल्यश्री ने वरण किया। अब वे अनन्त ज्ञान के स्वामी हो गये थे, उनका नरजन्म सार्थक हो गया था। वह अनन्त ज्ञानादि गुणों के महापुञ्ज तीर्थङ्कर महावीर निरन्तर 30 वर्षों तक विभिन्न जनपदों में विहार करते रहे और संसार के दुःखों से दुःखी प्राणियों के लिये अमृत के समान अपने उपदेश रूपी मेघों की वर्षा करते रहे। महावीर प्रभु अधिकतर "बिहार" प्रदेश में विहार करते रहे जिस कारण (संभवतः) उस प्रदेश का नाम ही बिहार प्रदेश पड़ गया है। 12 वर्ष तक निरन्तर उपदेश देते

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हुए एक स्थान से दूसरे स्थान को विहार करते हुए अन्त में महावीर इसी बिहार प्रदेश की पावा नामक नगरी में आये और वहीं कार्तिक कृष्णा अमावस्या के दिन शेष 4 अघातिया कर्मों को काट कर मोक्ष पधारे। अब जो कभी भी इस संसार में लौटकर नहीं आवेंगे और मोक्ष में ही जो अनन्त चतुष्टय रूप महालक्ष्मी का भोग करते रहेंगे वे धर्मतीर्थ के प्रवर्तक भगवान् महावीर आज हमारे सामने नहीं हैं। किन्तु शिष्य प्रशिष्य परम्परा से श्रुति और कृति के रूप में आगत उनकी दिव्य-भारती आज भी अस्तित्व में है।

भ० महावीर ने अपने तीस वर्ष के लम्बे देशना-काल के दौरान एक सच्चे लोकशिक्षक के रूप में सांसारिक दुःखों की ज्वाला से झुलसते हुये जीवों को जो उपदेश दिया वही उपदेश यद्यपि उनसे पूर्व तीर्थङ्कर आदिनाथ से लेकर तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ तक 23 तीर्थङ्कर दे चुके थे। किन्तु महावीर के युग में उनसे करीब 275 वर्ष पूर्व हुए तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ के उपदेशों की आवश्यकता इसलिए कुछ धूमिल-सी नजर आने लगी थी, क्योंकि 200–250 वर्षों के एक लम्बे समय के परिवर्तन के साथ-साथ तात्कालिक परिस्थितियों में भी बहुत बड़ा परिवर्तन आ गया था। समाज के अन्दर अनेकों तरह की अर्थहीन विसंगतियाँ व्याप्त हो गई थीं। अतः महावीर ने स्वयुगीन युगबोध को देखा-परखा और अपने कुछ पूर्व हुए तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ के दिये हुये उपदेशों की ही तात्कालिक परिस्थितियों के संदर्भ में एक सर्वश्रेष्ठ, स्वतन्त्र और अभिनूतन व्याख्या समाज के सामने प्रस्तुत की जो इतनी लोकप्रिय हुई कि आज भी जिसकी पूर्णरूपेण वही प्रासंगिकता बनी हुई है जो आज से 2500 वर्ष पूर्व थी। महावीर ने यद्यपि मानव की सर्वोच्च उन्नति के लिये उसके सामाजिक एवं आर्थिक दोनों क्षेत्रों में पूर्ण क्रांति का उन्मेष किया था। स्थानाभाव में उन सारी बातों का पूर्ण सिलसिलेवार उल्लेख करना संभव नहीं है तो भी उसमें से कुछ आवश्यक तथ्यों पर यहाँ विचार किया जा रहा है जो कि आज के भौतिकवाद से आक्रांत अशान्त सामाजिक जीवन में नये मूल्यों की संस्थापना के संदर्भ में अभी भी अपनी पूर्ण महत्ता रखते हुये चिरनवीन बने हुये हैं।

भ० महावीर की क्रांति एक सर्वोदयवादी क्रांति थी। जिनमें व्यक्ति व्यक्ति का, जन-जन का अभ्युदय समाहित था। अपनी सर्वोदय क्रांति के दौरान आदिचरण में उन्होंने अहिंसा पर सर्वाधिक जोर दिया। उन्होंने बतलाया कि संसार में सभी प्राणी जीना चाहते हैं, सुख की सभी इच्छा करते हैं, मरना कोई भी पसन्द नहीं करता, सभी जीव दुःख से घबराते हैं। अतः किसी भी जीव की प्रमादवश हिंसा न करो। जो कार्य तुम दूसरों के द्वारा अपने प्रति करवाना नापसन्द करते हो वैसा कार्य तुम दूसरों के प्रति कभी भी मत करो। जैसी आत्मा तुम्हारी है वैसी ही अन्य सभी दूसरे जीवों की है। अतः किसी भी जीव की हिंसा मत करो, किसी भी जीव को मत सताओ। इतना ही नहीं उन्होंने बताया कि मन, वचन तथा शरीर के द्वारा भी किसी भी प्राणी की हिंसा के करने-कराने या हिंसा का समर्थन करने का विचार भी मन में मत लाओ। यही पूर्ण अहिंसा है। प्रत्येक व्यक्ति में पूर्ण अहिंसक होने की क्षमता विद्यमान है। हरेक व्यक्ति पूर्ण अहिंसक हो सकता है। और यदि कोई मानव पूर्ण अहिंसक हो जाता है तो वह आत्मा से परमात्मा बन सकता है। अनन्त सुख और शांति के महा पारावार में हिलोरें ले सकता है। पूर्ण अहिंसक बन जाने का सफल प्रयोग सबसे पहले उन्होंने स्वयं के ऊपर करके दिखलाया। वर्तमान विश्व-समाज के अन्दर जो अशांति और असन्तोष नजर आ रहा है, जो विषमतायें नजर आ रही हैं उन सभी का मुख्य कारण है हिंसा। यदि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मानव आज हिंसा को सदा सदा के लिये तिलांजलि दे दे और भगवती मङ्गलकारिणी अहिंसा देवी की शरण ले ले तो तुरन्त ही सारी अशांति, असन्तोष व सारी विषमतायें अपने-अपने रास्ते ओझल हो जायेंगी।

अपनी आवश्यकताओं से अधिक वस्तुओं के संग्रह करने की दुष्प्रवृत्ति आधुनिक युग में एक फैशन-सी बन गई है। चारों तरफ एक होड़-सी मची हुई है कि कौन कितनी अधिक वस्तुओं का स्वामी है। व्यक्ति के व्यक्तित्व का मूल्यांकन आज उसके व्यक्तिगत गुणों से न किया जाकर उसके पास उपलब्ध वैभव सामग्रियों से किया जाने लगा है। परिणामस्वरूप समग्र विश्व में आज अन्याय, अत्याचार, शोषण, झूंठ और पाखण्ड का बाजार गर्म है। लोग अपने को मानसिक अशान्ति से नितान्त अशान्त पाते हुए भी अशान्ति की बुनियाद वैभव व उसकी अदम्य लालसा को नहीं त्याग रहे हैं। रोग बढ़ता ही जा रहा है। ठीक इसी तरह की स्थिति महावीर के युग में भी अपना महावितान ताने हुए थी। महावीर ने देखा कि एक तरफ लोग शांति की चाह में भटक रहे हैं तथा दूसरी तरफ उसके विरोधी कारण परिग्रह को छोड़ नहीं रहे हैं। तब कैसे उन्हें शांति मिल सकती है? अशांति की सारी जड़ तो परिग्रह ही है। कहावत भी है कि जोरू, जर, जमीन, झगड़े की जड़ तीन। अर्थात् जब तक परिग्रह को दूर नहीं किया जायेगा तब तक शांति मिलना असंभव है। अतः उन्होंने कहा—संग्रही मत बनो। अपनी आवश्यकताओं को सीमित रखो। आवश्यकताओं से अधिक वस्तुओं को मत रखो और उसमें भी घटाते जाओ। तभी तुम्हें शांति मिल सकती है। कितना पावन था महावीर का अपरिग्रहवाद का वह दिव्य संदेश जिसकी सार्थकता आज भी विश्व समाज में उतनी ही है जितनी कि उस युग में थी।

महावीर ने मानव के आचार को एक ओर जहां अहिंसा और अपरिग्रहवाद की सुदृढ़ नींव पर स्थापित किया वहीं दूसरी ओर उसके विचार एवं अभिव्यक्ति को अनेकांतवाद, स्याद्वाद और सप्तभङ्गवाद की वज्रशिला पर आरोहित किया। जिस प्रासाद की निर्मिति एकान्तवादी शत्रुओं के लिए सर्वथा अजेय और अगम्य है। अनेकान्तवाद के संदर्भ में महावीर ने बताया कि प्रत्येक वस्तु के अन्दर परस्पर सापेक्ष अनन्त धर्म मौजूद है। एक ही बार में किसी वस्तु के समस्त धर्मों का कथन संभव नहीं है। एक बार में किसी वस्तु के एक ही धर्म का कथन संभव है। इसीलिये जब कोई व्यक्ति किसी वस्तु का प्रतिपादन करता है तो हमें यह बात ध्यान में रहनी चाहिये कि वह व्यक्ति एक बार में वस्तु के एक ही विशेष धर्म का ही कथन या प्रतिपादन कर रहा है न कि वस्तु के समग्र धर्मों का। दूसरी बार में वस्तु के अन्य दूसरे धर्मों का अन्य तरह से भी प्रतिपादन सम्भव है। जैसे किसीने कहा कि—"राम दशरथ के पुत्र थे।" इस वाक्य में राम का पूरा कथन तो किया नहीं गया है केवल एक ही पुत्रत्व धर्म को ही विशेषितकर राम का कथन किया गया है। तभी यदि कोई कहे कि राम लक्ष्मण के भाई थे तो यह भी किसी अपेक्षा से सही है। यहां पर राम के भ्रातृत्व धर्म को विशेषितकर कथन किया गया है। इसी तरह राम में विद्यमान अनन्त धर्मों का कथन अन्य धर्मों की अपेक्षा अन्य अन्य तरह से भी संभव है। अतः अनन्तधर्मात्मक वस्तु का पूर्ण प्रतिपादन किसी एक ही बार में सम्भव नहीं है। इसीलिये किसी एक ही दृष्टि से किसी वस्तु के स्वरूप को पूर्ण नहीं मान लेना चाहिये। किसी वस्तु के बारे में किसी एक ही प्रकार का निर्णय नहीं लेना चाहिये। क्योंकि कोई वस्तु एक प्रकार से ऐसी है तो दूसरे प्रकार से वैसी भी है यही है तीर्थङ्कर महावीर का अनेकान्तवाद।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपरोक्त अनेकान्तवादी विचारों को कथन करने के लिये महावीर ने स्याद्वाद की भाषा बतलाई । स्याद्वाद का मतलब है अपेक्षावाद । स्यात् माने अपेक्षा और वाद माने सिद्धान्त अर्थात् अपेक्षा सिद्धान्त अपेक्षावाद का सिद्धांत । स्याद्वाद के द्वारा अनन्त धर्मों वस्तु के प्रतिपादन के समय वस्तु के किसी एक ही पहलू को ध्यान में रखकर उसी का विशेषरूप से (मुख्य रूप से) कथन किया जाता है शेष सारे धर्म या पहलू गौण या सामान्य हो जाते हैं । उदाहरणार्थ जैसे मैं आम का प्रतिपादन करता हूं कि "आम किसी अपेक्षा से हरा होता है ।" यद्यपि आम में अनन्त धर्म मौजूद हैं, पर भी यहाँ पर हरेपन को मुख्य कर आम का प्रतिपादन किया गया है । अतः यहाँ पर आम के प्रतिपादन में आम के हरेपन की अपेक्षा से कथन किया गया है अन्य अपेक्षाओं को सामान्य कर दिया गया है; अन्य अपेक्षाओं से आम मीठा भी हो सकता है, खट्टा भी हो सकता है आदि । इस प्रकार महावीर ने बतलाया कि अनेकान्तवादी विचारों के लिये स्याद्वाद की भाषा परमावश्यक है और स्याद्वाद की भाषा बोलते समय तत्वों के प्रतिपादन करने के लिये जो वचन-व्यवहार होता है उसे सप्तभङ्गी कहते हैं । भङ्ग सात ही होते हैं अतः उन्हें सप्तभङ्गी कहते हैं । विशेष परिज्ञान हेतु जैनागमों का पर्यालोचन करना चाहिये ।

इस तरह से भ० महावीर ने जनसामान्य के सामने यह बात प्रस्तुत की, कि अनेकान्तवादी विचारों को अच्छी तरह से समझने पर स्याद्वाद की भाषा प्रयुक्त करने पर मानव-समाज के अनेकों झगड़े समाप्त हो सकते हैं, विश्वशांति का माहौल संस्थापित हो सकता है । परस्पर एक-दूसरे विचारों को समझने के कारण एक दूसरे की अवमानना की स्थिति भी जाती रहती है क्योंकि अनेकान्तवादी यह भली प्रकार से जानता है कि मुझ से वार्तालाप करने वाला मुझसे जो बात कर रहा है उसकी वह बात उसकी उस विशेष दृष्टि को लेकर वैसी भी है और अन्य तरह की भी है ।

महावीर के उपर्युक्त सिद्धान्तों का भलीभाँति पर्यालोचन करने के बाद हम देखते हैं कि उन्होंने मानव मात्र को जो उपदेश दिये उनमें निहित आचार में अहिंसा, विचारों में अनेकान्त, वाणी में स्याद्वाद और व्यवहार में अपरिग्रहवादी बनने की भावना के दिव्य दृष्टिकोण भौतिकवाद की उपासना से अशांत मानव समाज के लिये आज के युग में भी पूर्ण उदात्त आदर्श हैं । जिनके आधार पर ही साम्यवाद या समाजवाद की कल्पना पूरी हो सकती है, सभी तरह की विसङ्गतियों और विषमताओं की ऊबड-खाबड़ खाई पाती जा सकती है और मानव-मानव अपने चरमोत्कर्ष को प्राप्त कर सकता है ।

———



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वसुधा पर उतरे वर्द्धमान

● श्री ज्ञानचन्द 'ज्ञानेन्द्र' ढाना (सागर)

हिंसा ताण्डव का हुआ अन्त
पाखण्ड हो गया खण्ड खण्ड
चीत्कारों के बाजार बन्द
बलि यज्ञों के पावक प्रचण्ड ।।
कुण्ठित हो गई तीक्ष्ण खड्गें
थक गई रक्त की प्रबल धार
नहीं बैर भाव का रहा लेश
तब सुहृद बन गये शेर स्यार ।।
थे एक घाट ही सिंह गाय
रहते खाने और पीने को
जब त्रिशलानन्दन का गूंजा
स्वर 'जिओ और जीने दो' ।।
निर्धन पर धनिकों और निबल पर
सबलों के सनेह छलके
व ऊंच नीच का छुआछूत का
भूत भग गया भूतल से ।।
सब बने एक ही माटी से
मानव चींटी या हाथी से
....केशी चाण्डाल को 'सन्मति' ने
था स्वयं लगाया छाती से ।।
निर्विष हो गया घोर विषधर
मदमत्त मतंग हुआ निरमद
'चन्दन' के बन्धन टूट गिरे
खुशियां बिखरी 'बाजे अनहद' ।।
हर मनुज जन्म से नहीं
बड़ा छोटा कर्मों से होता है
सुकृत दुष्कृत कर्मों का भी
वह भार स्वयं ही ढोता है ।।
'अहिंसा परमो धर्मः' से
ज्योतिर्मय का सारा जहान
'रत्नत्रय' उमड़ पड़ा जबकि
वसुधा पर उतरे वर्द्धमान ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विश्व में जितने धर्म हैं उनमें जैनधर्म से अधिक उदार दृष्टिकोण रखने वाला शायद ही कोई धर्म हो। जैनधर्म प्राणिमात्र को समान दृष्टि से देखता है। मुक्ति के अधिकार को छोड़कर जो कि स्त्री की प्राकृतिक बनावट के कारण है (श्वेताम्बर परम्परा तो स्त्री को मुक्ति की अधिकारिणी भी बताती है) स्त्री और पुरुष में कोई श्रेष्ठतागत भेद नहीं है इसी प्रकार जैनधर्म में जन्मना कोई जाति नहीं है। किसी जाति में उत्पन्न मनुष्य धर्म पालन कर अपना उत्थान कर सकता है। लिंग, गोत्र अथवा जाति इसमें कोई बाधा नहीं कर सकते। शास्त्रों के विपुल उदाहरणों से आदरणीय वयोवृद्ध विद्वान् ने अपनी सशक्त लेखनी से इसे भली प्रकार प्रमाणित किया है। जब से हमने अपने इस औदार्य का परित्याग किया है तब से ही हम ह्रासोन्मुख हो रहे हैं। यदि हम अपना उत्कर्ष चाहते हैं तो इस औदार्य भावना को हमें अपने में लाना ही होगा।

प्र० सम्पादक

जैनधर्म में स्त्रियों के अधिकार तथा गोत्र-परिवर्तन

● पं० परमेष्ठीदास जैन, न्यायतीर्थ,
सम्पादक 'वीर' ललितपुर।

स्त्रियों के अधिकार—

जैनधर्म की सबसे बड़ी उदारता यह है कि पुरुषों की भांति स्त्रियों को भी तमाम धार्मिक अधिकार दिये गये हैं। जिस प्रकार पुरुष पूजा प्रक्षाल कर सकता है उसी प्रकार स्त्रियां भी कर सकती हैं। यदि पुरुष श्रावक के उच्च व्रतों का पालन कर सकता है तो स्त्रियां भी उच्च श्राविका हो सकती हैं। यदि पुरुष ऊँचे से ऊँचे धर्मग्रन्थों के पाठी हो सकते हैं तो स्त्रियों को भी यही अधिकार है। यदि पुरुष मुनि हो सकता है तो स्त्रियां भी आर्यिका होकर पंच महाव्रत धारण कर सकती हैं।

धार्मिक अधिकारों की भांति सामाजिक अधिकार भी स्त्रियों के लिये समान ही हैं। यह बात दूसरी है कि वर्तमान में वैदिक धर्म आदि के प्रभाव से जैनसमाज अपने कर्तव्यों को और धर्म की आज्ञाओं को भूल गई है। हिन्दूशास्त्रानुसार सम्पत्ति का अधिकारी पुत्र तो होता है, किन्तु पुत्रियां उसकी अधिकारिणी नहीं मानी जातीं।

इस सम्बन्ध में श्रीभगवज्जिनसेनाचार्य ने अपने आदिपुराण (पर्व 38) में स्पष्ट लिखा है—

"पुत्र्यश्च संविभागार्हाः
समं पुत्रैः समांशकैः" ॥154॥

अर्थात् पुत्रों की भांति पुत्रियां भी सम्पत्ति की बराबर-बराबर भाग की अधिकारिणी हैं।

इसी प्रकार जैन कानून के अनुसार स्त्रियों को, विधवाओं को या कन्याओं को पुरुष के समान ही सब प्रकार के अधिकार हैं।

(विशेष जानकारी के लिए विद्यावारिधि जैनदर्शनदिवाकर बैरिस्टर चम्पतराय जैन कृत 'जैनलॉ' नामक ग्रन्थ देखना चाहिये।)

जैन शास्त्रों में स्त्री-सम्मान के भी अनेक उल्लेख पाये जाते हैं। आजकल मूढ़ जन स्त्रियों को पैर की जूती या दासी समझते हैं, तब जैन राजा राजसभा में अपनी रानियों का उठ कर सम्मान करते थे और अपना अर्धासन उन्हें बैठने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को देते थे। भगवान् महावीर की माता महारानी प्रियकारिणी जब अपने स्वप्नों का फल पूछने महाराजा सिद्धार्थ के पास गई तब महाराजा ने अपनी धर्मपत्नी को आधा आसन दिया, महारानी ने वहां बैठकर अपने स्वप्नों का वर्णन किया। यथा—

"संप्राप्तार्द्धासना स्वप्नान् यथाक्रममुदाहरत् ।।"
—उत्तरपुराण।

इसी प्रकार महारानियों का राजसभाओं में जाने और वहां पर सम्मान प्राप्त करने के अनेक उदाहरण जैन शास्त्रों में भरे पड़े हैं। जब कि वैदिक ग्रन्थ स्त्रियों को धर्मग्रन्थों के अध्ययन करने का निषेध करते हुए लिखते हैं कि "स्त्रीशूद्रौ नाधीयाताम्" तब जैनग्रन्थ स्त्रियों को ग्यारह अंग के पठन पाठन करने का अधिकार देते हैं। यथा—

द्वादशांगधरो जातः क्षिप्रं मेघेश्वरो गणीः।
एकादशांगभृज्जाताऽऽर्यिकापि सुलोचना ।।52।।
हरिवंशपुराण सर्ग 12।

अर्थात् जयकुमार भगवान् का द्वादशांगधारी गणधर हुआ और सुलोचना ग्यारह अंग की धारक आर्यिका हुई।

इसी प्रकार स्त्रियां सिद्धान्तग्रन्थों के अध्ययन के साथ ही जिनप्रतिमा का पूजा–प्रक्षाल भी किया करती थीं। अञ्जना सुन्दरी ने अपनी सखी वसन्त-माला के साथ वन में रहते हुये गुफा में विराजमान जिनमूर्ति का पूजन प्रक्षाल किया था। मदनवेगा ने वसुदेव के साथ सिद्धकूट चैत्यालय में जिन-पूजा की थी। मैनासुन्दरी प्रति दिन प्रतिमा का प्रक्षाल करती थी और अपने पति श्रीपाल राजा को गंधोदक लगाती थी। इसी प्रकार स्त्रियों के द्वारा पूजा-प्रक्षाल किये जाने के अनेक उदाहरण पाये जाते हैं।

हर्ष का विषय है कि आज भी जैन समाज में स्त्रियां भगवान् का प्रक्षाल पूजन करती हैं। कहीं कहीं रूढ़िप्रिय लोग उन्हें इस धर्मकार्य से रोकते भी हैं, और उनकी यद्वा तद्वा आलोचना करते हैं। उन्हें यह सोचना चाहिये कि जो आर्यिका होने का अधिकार रखती है वह पूजा प्रक्षाल न कर सके यह कैसी विचित्र बात है? पूजा प्रक्षाल तो आरंभकार्य है अतः वह कर्म बन्ध का निमित्त है जिससे संसार (स्वर्ग आदि) में ही चक्कर लगाना पड़ता है जब कि आर्यिका होना संवर और निर्जरा का कारण है, जिससे क्रमशः मोक्ष की प्राप्ति होती है।

अब विचार कीजिये कि एक स्त्री मोक्ष के कारणभूत संवर और निर्जरा करने वाले कार्य तो कर सकती है किन्तु संसार के कारणभूत बंधकर्ता पूजन प्रक्षाल आदि कार्य नहीं कर सकती! यह कैसे स्वीकार किया जाय?

जैनधर्म सदा से उदार रहा है, उसे स्त्री-पुरुष या ब्राह्मण शूद्र का लिंग-भेद या वर्ण-भेद-जनित कोई पक्षपात नहीं था। हाँ, कुछ ऐसे दुराग्रही व्यक्ति हो गये हैं जिन्होंने ऐसे पक्षपाती कथन करके जैनधर्म को कलंकित किया है। इसी से खेदखिन्न होकर आचार्यकल्प पंडितप्रवर टोडरमलजी ने लिखा था—

'बहुरि केई पापी पुरुषां अपना कल्पित कथन किया है। अर तिनकौं जिन वचन ठहरावे हैं। तिनकौं जैनमत का शास्त्र जानि प्रमाण न करना। तहां भी प्रमाणादिक तैं परीक्षा करि विरुद्ध अर्थ को मिथ्या जानना।"
—मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 307।

तात्पर्य यह है कि जिन ग्रन्थों में जैनधर्म की उदारता के विरुद्ध कथन है, उन्हें जैन ग्रन्थ कहे जाने पर भी मिथ्या मानना चाहिये। कारण कि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कितने ही पक्षपाती लोग अन्य संस्कृतियों से प्रभावित होकर स्त्रियों के अधिकारों को तथा जैन-धर्म की उदारता को कुचलते हुये भी अपने को निष्पक्ष मानकर ग्रन्थकार बन बैठे हैं। जहां शूद्र कन्यायें भी जिनपूजा और प्रतिमा प्रक्षाल कर सकती हैं। (देखो गौतम चरित्र तीसरा अधिकार) वहां स्त्रियों को पूजा प्रक्षाल का अनधिकारी बताना घोर अज्ञान है। स्त्रियां पूजा प्रक्षाल ही नहीं करती थीं, किन्तु दान भी देती थीं। यथा—

श्रीजिनेन्द्रपदांभोजसपर्यायां सुमानसा।
शचीव सा तदा जाता जैनधर्मपरायणा ॥86॥
ज्ञानधनाय कांताय शुद्धचारित्रधारिणे।
मुनीन्द्राय शुभाहारं ददौ पापविनाशनम् ॥87॥

—गौतमचरित्र, तीसरा अधिकार।

अर्थात्—स्थंडिला नाम की ब्राह्मणी जिन भगवान् की पूजा में अपना चित्त लगाती थी और इन्द्राणी के समान जैन धर्म में तत्पर हो गई थी। उस समय वह ब्राह्मणी सम्यग्ज्ञानी शुद्ध चारित्रधारी उत्तम मुनियों को पापनाशक शुभ आहार देती थी।

इसी प्रकार जैन शास्त्रों में स्त्रियों की धार्मिक स्वतन्त्रता के अनेक उदाहरण मिलते हैं।

जहां तुलसीदास जी ने लिख दिया है—

ढोर गंवार शूद्र अरु नारी।
ये सब ताड़न के अधिकारी॥

वहां जैनधर्म ने स्त्रियों की प्रतिष्ठा करना बताया है, सम्मान करना सिखाया है और उन्हें अधिकार दिये हैं। जहां वैदिक ग्रन्थों में वेद पढ़ने की आज्ञा नहीं है (स्त्री-शूद्रौ नाऽधीयाताम्) वहीं जैनियों के प्रथम तीर्थंकर भगवान् आदिनाथ ने स्वयं अपनी ब्राह्मी और सुन्दरी नामक पुत्रियों को पढ़ाया। उन्हें स्त्री जाति के प्रति बहुत सम्मान था। पुत्रियों को पढ़ने के लिये उन्होंने कहा था:—

इदं वपुर्वयश्चेदमिदं शीलमनीदृशं।
विद्यया चेद्विभूष्येत सफलं जन्म वामिदं ॥९७॥
विद्यावान् पुरुषो लोके सम्मतिं याति कोविदैः।
नारी च तद्वती धत्ते स्त्रीसृष्टेरग्रिमं पदं ॥९८॥
तद्विद्या ग्रहणे यत्नं पुत्रिके कुरुतं युवां।
तत्संग्रहणकालोऽयं युवयोर्वर्ततेऽधुना ॥१०२॥

आदिपुराण पर्व १६

अर्थात्—पुत्रियो! यदि तुम्हारा यह शरीर, अवस्था और अनुपम शील विद्या से विभूषित किया जावे तो तुम दोनों का जन्म सफल हो सकता है। संसार में विद्यावान् पुरुष विद्वानों के द्वारा मान्य होता है। अगर नारी पढ़ी लिखी—विद्यावती हो तो स्त्रियों में प्रधान गिनी जाती है। इसलिये पुत्रियो! तुम भी विद्या ग्रहण करने का प्रयत्न करो। तुम दोनों को विद्या ग्रहण करने का यही समय है।

इस प्रकार स्त्री शिक्षा के प्रति सद्भाव रखने वाले भगवान् आदिनाथ ने विधिपूर्वक स्वयं ही पुत्रियों को पढ़ाना प्रारंभ किया।

खेद है कि उन्हीं के अनुयायी कहे जाने वाले कुछ लोग स्त्रियों को विद्याध्ययन, पूजा प्रक्षाल आदि का अनधिकारी बताकर उन्हें पूजा प्रक्षाल करने से आज भी रोकते हैं। और कहीं-कहीं स्त्रियों को पढाना अभी भी अनुचित माना जाता है। स्त्रियों को मूर्ख रख कर स्वार्थी पुरुषों ने उनके साथ पशु तुल्य व्यवहार करना प्रारम्भ कर दिया और मन माने ग्रन्थ बनाकर उनकी भर-पेट निन्दा कर डाली। एक स्थान पर नारी-निन्दा करते हुए एक विद्वान् (?) ने लिखा है—

आपदामाकरो नारी नारी नरकवर्तिनी।
विनाशकारणं नारी नारी प्रत्यक्षराक्षसी॥

जिस प्रकार स्वार्थी पुरुष स्त्रियों के प्रति ऐसे निन्दा सूचक श्लोक रच सकते हैं उसी प्रकार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्त्रियां भी यदि ग्रन्थ रचना करतीं तो वे भी लिख देतीं कि—

पुरुषो विपदां खानिः पुमान् नरकपद्धतिः ।
पुरुषः पापानां मूलं पुमान् प्रत्यक्ष राक्षसः ।।

कुछ जैन ग्रन्थकारों ने भी स्त्रियों के प्रति अत्यन्त कटु और अशोभन बातें लिख दी हैं। कहीं उन्हें विष बेल लिखा है तो कहीं जहरीली नागिन लिख डाला है! कहीं विष बुझी कटारी लिखा है तो कहीं दुर्गुणों की खान लिख दिया! मानो इसी के उत्तर-स्वरूप एक वर्तमान कवि ने निम्न-लिखित पंक्तियां लिखी हैं—

वीर, बुद्ध अरु राम कृष्ण में अनुपम ज्ञानी ।
तिलक, गोखले, गांधी से अद्भुत गुण खानी ।।
पुरुष जाति है गर्व कर रही जिनके ऊपर ।
नारी जाति थी प्रथम शिक्षिका उनकी भू पर ।।
पकड़ पकड़ उंगली हमने चलना सिखलाया ।
मधुर बोलना और प्रेम करना सिखलाया ।।
राजपूतिनी वेष धार मरना सिखलाया ।
व्याप्त हमारी हुई स्वर्ग अरु भू पर माया ।।
पुरुष वर्ग खेला गोदी में सतत हमारी ।
भले बना हो सम्प्रति हम पर अत्याचारी ।।
किन्तु यही सन्तोष हटी नहिं हम निज प्रण से ।
पुरुष जाति क्या उऋण हो सकेगी इस ऋण से ।।

भगवान् महावीर के शासन में महिलाओं के लिए बहुत उच्च स्थान है। महावीर स्वामी ने स्वयं अनेक महिलाओं का उद्धार किया था। चन्दना सती को एक विद्याधर उठा ले गया था, वहां से वह भीलों के पंजे में फंस गई। जब वह जैसे-तैसे छूट कर आई तो स्वार्थी समाज ने उसे शंका की दृष्टि से देखा। एक जगह उसे दासी के स्थान पर दीनतापूर्ण स्थान मिला। उसे सब तिरस्कृत किये हुए थे। ऐसी स्थिति में भी भगवान् महावीर ने उसके हाथ से आहार ग्रहण किया और वह भगवान् महावीर के संघ में सर्वश्रेष्ठ आर्यिका हो गई।

इन सब बातों से सिद्ध है कि जैन धर्म में महिलाओं को उतना ही उच्च स्थान प्राप्त है जितना कि पुरुषों को।

वर्ण और गोत्र परिवर्तन—

कुछ लोगों की ऐसी धारणा है कि जाति भले ही बदल जाय मगर वर्ण परिवर्तन नहीं हो सकता। उनकी यह भूल है, क्यों कि वर्ण परिवर्तन हुए बिना वर्ण की उत्पत्ति एवं उसकी व्यवस्था भी नहीं बन सकती। जिस ब्राह्मण वर्ण को सर्वोच्च माना गया है उसकी उत्पत्ति पर तनिक विचार कीजिये, तो मालूम होगा कि वह तीनों वर्णों के व्यक्तियों में से उत्पन्न हुआ है। आदिपुराण में लिखा है कि जब भरत राजा ने ब्राह्मण वर्ण स्थापित करने का विचार किया था तब राजाओं को आज्ञा दी थी कि:—

सदाचारैर्निजैरिष्टैरनुजीविभिरन्किताः ।
अद्यास्मदुत्सवे यूयमायातेति प्रथक् प्रथक् ।।
(पर्व ३८-१०)

अर्थात्—आप लोग अपने सदाचारी इष्ट मित्रों सहित तथा नौकर चाकरों को लेकर आज हमारे उत्सव में आओ।

इस प्रकार भरत चक्रवर्ती ने राजा प्रजा, नौकर चाकरों को बुलाया था, उनमें क्षत्री, वैश्य और शूद्र सभी वर्ण के लोग थे। उनमें से जो लोग हरे अंकुर को मर्दन करते हुए राज-महल में पहुंच गये उन्हें तो चक्रवर्ती ने निकाल दिया और जो लोग हरे घास का मर्दन न करके बाहर खड़े हो रहे या लौट कर वापिस जाने लगे उन्हें रोककर विधिवत् ब्राह्मण बना दिया। इस प्रकार तीन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वर्णों में से विवेकी और दयालु लोगों को ब्राह्मण वर्ण में स्थापित किया गया।

अब यहां विचारणीय बात यह है कि जब शूद्रों में से भी ब्राह्मण बनाये गये, वैश्यों में से भी बनाये गये और क्षत्रियों में से भी ब्राह्मण तैयार किये गये तब वर्ण अपरिवर्तनीय कैसे माना जा सकता है ?

दूसरी बात यह है कि तीन वर्णों में से छांट कर एक चौथा वर्ण तो पुरुषों का तैयार हो गया, किन्तु उन नये ब्राह्मणों की स्त्रियां कैसे ब्राह्मण हुई होंगी ? कारण कि वे तो महाराजा भरत द्वारा आमन्त्रित की नहीं गई थीं, क्योंकि वे तो राजा लोग और उनके नौकर चाकर आदि ही आये थे। उनमें सब पुरुष ही थे। यह बात इस कथन से और भी पुष्ट हो जाती है कि उन सब ब्राह्मणों को यज्ञोपवीत पहनाया गया था। यथा—

तेषां कृतानि चिन्हानि सूत्रैः पद्माह्वयान्निधेः।
उपात्तैः ब्रह्मसूत्राह्वैरेकाद्यैकादशांतकैः ॥

(पर्व ३८-२१)

अर्थात्—पद्म नामक निधि से ब्रह्मसूत्र लेकर एक से ग्यारह तक (प्रतिमानुसार) उनके चिन्ह किये अर्थात् उन्हें यज्ञोपवीत पहनाया।

यह तो सर्वमान्य है कि यज्ञोपवीत पुरुषों को ही पहनाया जाता है। तब उन ब्राह्मणों के लिये स्त्रियां कहां से आई होंगी ? कहना न होगा कि वही पूर्व की पत्नियां जो क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र होंगी ब्राह्मणी बना ली गई होंगी। तब उनका भी वर्ण परिवर्तन हो जाना निश्चित है। शास्त्रों में भी वर्णलाभ करने वाले को अपनी पूर्व पत्नी के साथ पुनर्विवाह करने का विधान पाया जाता है। यथा—

"पुनर्विवाहसंस्कारः पूर्वं सर्वोऽस्य संमतः।"

आदिपुराण पर्व ३९-६० ॥

इतना ही नहीं, किन्तु पर्व ३९ श्लोक ६१ से ७० तक के कथन से स्पष्ट ज्ञात होता है कि जैन ब्राह्मणों को अन्य मिथ्यादृष्टियों के साथ विवाह सम्बन्ध करना पड़ता था, बाद में वे ब्राह्मण वर्ण में ही मिल जाते थे। इस प्रकार वर्णों का परिवर्तित होना स्वाभाविक सा हो जाता है। अतः वर्ण कोई स्थाई वस्तु नहीं है, यह बात सिद्ध हो जाती है। आदिपुराण में वर्ण परिवर्तन के विषय में अक्षत्रियों को क्षत्रिय होने के सम्बन्ध में इस प्रकार लिखा है:—

"क्षत्रियाश्च व्रतस्थाः क्षत्रिया एव दीक्षिताः।"

इस प्रकार वर्ण परिवर्तन की उदारता बतला कर जैन धर्म ने अपना मार्ग बहुत ही सरल एवं सर्वकल्याणकारी बना लिया है। यदि पुनः इसी उदार एवं धार्मिक मार्ग का अवलम्बन लिया जाय तो जैन समाज की बहुत कुछ उन्नति हो सकती है और अनेक मानव जैनधर्म धारण करके अपना कल्याण कर सकते हैं। किसी वर्ण या जाति को स्थाई या गतानुगतिक मान लेना जैन धर्म की उदारता की हत्या करना है। यहां तो कुलाचार को छोड़ने से कुल भी नष्ट हो जाता है। यथा—

कुलावधिः कुलाचाररक्षणं स्याद् द्विजन्मनः।
तस्मिन्नसत्यसौ नष्टक्रियोऽन्यकुलतां व्रजेत् ॥१८१॥

आदिपुराण पर्व ४०

अर्थ—ब्राह्मणों को अपने कुल की मर्यादा और कुल के आचारों की रक्षा करना चाहिये। यदि कुलाचार-विचारों की रक्षा नहीं की जाय तो वह व्यक्ति अपने कुल से नष्ट होकर दूसरे कुल वाला हो जायगा।

तात्पर्य यह है कि जाति, कुल, वर्ण आदि सभी क्रियाओं पर निर्भर हैं। इनके बिगड़ने-सुधरने पर इनका परिवर्तन हो जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आश्चर्य है कि सदा आगम और शास्त्रों की दुहाई देने वाले कितने ही लोग वर्ण को तो अपरिवर्तनीय मानते ही हैं साथ ही गोत्र की कल्पना को भी स्थाई एवं जन्मगत मानते हैं ! किन्तु जैन शास्त्रों ने वर्ण और गोत्र को परिवर्तन होने वाला बताकर गुणों की प्रतिष्ठा की है तथा अपनी उदारता का द्वार प्राणिमात्र के लिए खुला कर दिया है। दूसरी बात यह है कि गोत्रकर्म किसी के अधिकारों में बाधक नहीं हो सकता। इस सम्बन्ध में यहां कुछ विशेष विचार करने की आवश्यकता है।

सिद्धान्त शास्त्रों में किसी कर्म प्रकृति का अन्य प्रकृति रूप होने को संक्रमण कहा है। उसके ५ भेद होते हैं—उद्वेलन, विध्यात, अधः प्रवृत्त, गुण और सर्व संक्रमण। इनमें से नीच गोत्र के दो संक्रमण हो सकते हैं। यथा—

सत्तण्हं गुणसंकममधापवत्ता य दुक्खमसुहगदी।
संहदि संठाणदसं णीचापुण्णथिरछक्कं च ॥४२२॥
वीसण्हं विज्झादं अधापवत्तो गुणो य मिच्छत्ते॥४२३॥

—गो० कर्मकाण्ड

असातावेदनीय, अशुभ गति, ५ संहनन, ५ संस्थान, नीच गोत्र, अपर्याप्त अस्थिरादि ६, इन २० प्रकृतियों के विध्यात, अधःप्रवृत्त और गुण-संक्रमण होते हैं।

इससे स्पष्ट है कि जिस प्रकार असाता वेदनीय का साता वेदनीय के रूप में संक्रमण (परिवर्तन) हो सकता है उसी प्रकार नीच गोत्र का ऊंच गोत्र के रूप में भी परिवर्तन (संक्रमण) होना सिद्धान्त शास्त्रों से सिद्ध है। अतः किसी को जन्म से मरने तक नीचगोत्री ही मानना दयनीय अज्ञान है। हमारे सिद्धान्तशास्त्र पुकार पुकार कर कह रहे हैं कि कोई भी नीच या अधम से अधम व्यक्ति ऊंचे पद पर पहुंच सकता है और वह पावन बन सकता है।

यह तो सभी जानते हैं कि जो व्यक्ति आज लोकदृष्टि में नीच है वही कल लोकमान्य प्रतिष्ठित एवं महान् हो जाता है। भगवान् अकलङ्कदेव ने राजवार्तिक में ऊंच-नीच गोत्र की इस प्रकार व्याख्या की है :—

यस्योदयात् लोकपूजितेषु,
कुलेषु जन्म तदुच्चैर्गोत्रम् ॥
गर्हितेषु यत्कृतं तन्नीचैर्गोत्रम् ॥
गर्हितेषु दरिद्राऽप्रतिज्ञातदुःखाः,
कुलेषु यत्कृतं प्राणिनां,
जन्म तन्नीचैर्गोत्रं प्रयेतव्यम् ॥

ऊंच-नीच गोत्र की इस व्याख्या से स्पष्ट है कि जो लोकपूजित-प्रतिष्ठित कुल में जन्म लेते हैं वे उच्चगोत्री हैं और जो गर्हित अर्थात् दुखी-दरिद्री कुल में उत्पन्न होते हैं। वे नीच गोत्री हैं। यहां किसी भी वर्ण की अपेक्षा नहीं रखी गई है। ब्राह्मण होकर भी यदि वह निंद्य एवं दीनहीन कुल में है तो नीच गोत्र वाला है और यदि शूद्र होकर भी राजकुल में उत्पन्न हुआ है अथवा अपने शुभ कृत्यों से प्रतिष्ठित हो गया है तो वह उच्च गोत्र वाला है।

[आज भी हरिजन मिनिस्टरों को आदर पूर्वक सहभोज दिया जाता है—और उन्हें जैन मन्दिरों में ले जाया जाता है।]

वर्ण के साथ गोत्र का कोई भी सम्बन्ध नहीं कारण कि गोत्रकर्म की व्यवस्था तो प्राणिमात्र में सर्वत्र है किन्तु वर्ण-व्यवस्था केवल भारतवर्ष के मानवों में ही पाई जाती है। वर्णव्यवस्था मनुष्यों की योग्यता के अनुसार केवल श्रेणीविभाजन है, जबकि गोत्र का आधार कर्म हैं। अतः गोत्र कर्म कुल की अथवा व्यक्ति की प्रतिष्ठा-अप्रतिष्ठा के अनुसार उच्च और नीच-गोत्री हो सकता है। इस प्रकार गोत्र कर्म की शास्त्रीय व्यवस्था स्पष्ट होने पर जैन धर्म की उदारता स्पष्ट ज्ञात हो जाती है। ऐसा होने से ही जैन धर्म पतितपावन या दीनोद्धारक सिद्ध होता है। ★

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भगवान् महावीर के संबंध में कुछ ज्ञातव्य

प्रस्तुतकर्ता—एस. एम. जैन बी. ए., प्रभाकर, जयपुर।

चौवीसवें तीर्थङ्कर भगवान् महावीर स्वामी के संबंध में धर्मशास्त्र एवं जैन ग्रन्थों के आधार पर नीचे लिखे तथ्य प्रकाशित किये जाते हैं—

१. तीर्थङ्कर का नाम.....	श्री महावीर
२. पिछले तीसरे भवके द्वीप का नाम	जम्बू द्वीप
३. पिछले तीसरे भवके क्षेत्र का नाम	भरत क्षेत्र
४. पिछले तीसरे भवके प्रान्त का नाम	×
५. पिछले तीसरे भवके नगरी का नाम	छत्रपुर
६. गर्भकल्याणक के पूर्व गुरु का नाम	प्रौष्ठिल
७. ,, के पूर्व स्वर्ग का नाम	अच्युत स्वर्ग
८. ,, के पूर्व कौन थे	इन्द्र
९. जन्मभूमि का नाम	विदेह
१०. जन्मपुरी का नाम	कुंडलपुर (वैशाली)
११. वंश का नाम	नाथ वंश
१२. पिता का नाम	राजा सिद्धार्थ
१३. माता का नाम	त्रिशला देवी
१४. गर्भ तिथि	आषाढ़ शुक्ला ६
१५. गर्भ समय	अष्टमासिया
१६. गर्भ नक्षत्र	उत्तरहस्ता
१७. जन्म तिथि	चैत्र शु० १३
१८. जन्म नक्षत्र	उत्तरा फा०
१९. जन्म राशि	कन्या
२०. शरीर का वर्ण	तपे हुए सोने के समान
२१. शरीर की ऊँचाई	७ धनुष
२२. भगवान् का चिह्न	सिंह
२३. कुमार काल	३० वर्ष
२४. राज भोगकाल	राज्य नहीं किया
२५. तपकाल में छद्मरूप अवस्था	१२ वर्ष
२६. केवली अवस्था	३० वर्ष
२७. पूर्ण आयु	७२ वर्ष
२८. दीक्षा तिथि	मगसिर कृ० १०
२९. दीक्षा समय	अपराह्न
३०. दीक्षा नक्षत्र	उत्तरहस्ता
३१. दीक्षा पालकी का नाम	चन्द्र प्रभा
३२. दीक्षा तपोवन में नगर का नाम	कुंडलपुर
३३. ,, वन-उद्यानों का नाम	षण्डवन
३४. ,, वृक्ष का नाम	शाल वृक्ष
३५. वृक्ष की ऊँचाई	३२ धनुष

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३६. वैराग्य का निमित्त कारण	जाति स्मरण
३७. उपवास का नियम	तेला उ० बेला
३८. साथ में कितने राजाओं ने दीक्षा ली	अकेले (३००)
३९. दीक्षा के बाद आहार कब लिया	तीन दिन बाद
४०. कौनसा आहार लिया गया	खीर
४१. आहार देने वाले महापुरुष का नाम	नन्दन (विश्वसेन)
४२. पारणा कहाँ किया	कुंडलपुर
४३. तप काल का समय	४२ वर्ष
४४. केवलज्ञान के पहिले उपवास का नियम	बेला
४५. ज्ञान कल्याणक तिथि	वैशाख शु० १०
४६. केवलज्ञान का समय	अपराह्न
४७. नक्षत्र	हस्ता (उत्तरा)
४८. वन उपवन का नाम	मनोहर
४९. केवलज्ञान के समय वृक्ष का नाम	शाल वृक्ष
५०. समव शरण का विस्तार	एक योजन
५१. ,, योजन का प्रमाण	४ कोस
५२. ,, में आसन	पद्मासन
५.३ ,, केवलियों की संख्या	७००
५४. ,, पूर्वधारियों की संख्या	३००
५५. ,, शिक्षकों की संख्या	९९००
५६. ,, विपुलमति ज्ञानियों की संख्या	५००
५७. ,, विक्रियाऋद्धि धारी ऋषियों की संख्या	९००
५८. ,, अवधिज्ञानियों की संख्या	१३००
५९. वादियों की संख्या	४००
६०. कुल संघ की संख्या	१४०००
६१. मुख्य गणधर का नाम	गौतम (इन्द्रभूति)
६२. सारे गणधरों की संख्या	११
६३. मुख्य गणिनी का नाम	चन्दना
६४. गणनीय आर्जिकाओं की संख्या	३६०००
६५. मुख्य श्रोता का नाम	राजा श्रेणिक
६६. श्रावकों की संख्या	१ लाख
६७. श्राविकाओं की संख्या	३ लाख
६८. यक्ष का नाम	मातंग
६९. यक्षिणी का नाम	सिद्धायनी
७०. योग, नियोग, विहार कब बंद किया	आयु के अन्त में २ दिन पहले
७१. मोक्ष प्राप्ति की तिथि	कार्तिक कृ० १५
७२. मोक्ष जाने का समय	प्रभात
७३. ,, नक्षत्र का नाम	स्वाति
७४. निर्वाण क्षेत्र	पावापुरी
७५. निर्वाण क्षेत्र विशिष्ट स्थान	पद्मसरोवर
७६. किस आसन से मोक्ष गये	कायोत्सर्गासन
७७. चौथे काल के अन्त में भगवान् मोक्ष कब गये	जब ३ वर्ष ८ मास १५ दिन बाकी रहे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जगनायक तुम्हें नमन हैं

श्री घासीराम जैन 'चन्द्र', शिवपुरी

विश्ववंद्य सुखकंद धन्य, जग नायक तुम्हें नमन हैं।
जय सन्मति जय वीर, शान्ति के दायक तुम्हें नमन हैं।।

भूतल पर अज्ञान तिमिर के घन जब चहुँ दिश छाये,
तुम त्रैलोक्य-प्रकाश पुंज रवि-किरण-कुंज बन आये।
कुंडलपुर सुरधाम बना तब सुरपति वन्दन आये,
हरषित हृदय विभोर जगत के जीव सभी हरषाये।

चली चतुर्दिश चारु सुगंधित चंचल-चपल पवन हैं।
विश्ववंद्य सुखकन्द धन्य, जग नायक तुम्हें नमन हैं।।

राज भवन में राज पुत्र जब आये वैभव बलशाली,
स्वर्ण-रत्न-मणि पूर्ण धरा थी धन्य हुई वैशाली।
बाल मयंक अंक में भर-भर माँ-त्रिशला हरषाई,
सिद्धारथ नृप के आंगन में सकल सम्पदा आई।

आज गगन में भूमि, भूमि में अथवा नील-गगन हैं।
विश्ववंद्य सुखकन्द धन्य, जगनायक तुम्हें नमन हैं।।

भरा विपुल-नैराश्य व्याप्त थी धरती बलिदानों से,
कुंठित थी जन-जन की वाणी व्याकुल अपमानों से।
अश्वमेघ, गोमेघ और नरमेध यज्ञ कहलाते,
पुण्य बंध के हेतु अग्नि में मानव होमे जाते।

क्रंदन करती थी निष्ठा, श्रद्धा का हुआ दमन है।
विश्ववंद्य सुखकन्द धन्य, जगनायक तुम्हें नमन है।।

पालन हुआ सकल वैभव में स्वर्ण-पालना झूले,
लालन हुआ लाल धरती पर पंकज बनकर फूले।
सौम्य-सरल, सम्यक्, गुण गरिमा भरी बाल वय पाई,
दोयज-'चन्द्र' समान वृद्धि कर पाई नव तरुणाई।

निज स्वभाव में लीन, न भाये जिनको स्वर्ण भवन हैं।
विश्ववंद्य सुखकंद धन्य, जगनायक तुम्हें नमन हैं।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विषय–विभोग विलास-लास करतीं सुन्दर-सुरबाला,
रिझा सकीं किंचित न तुम्हें प्रभु, भवसुख की मधुशाला।
मोह, मान, मद, मत्सर, मिथ्या भवसुख क्षणभंगुर हैं,
नाशवान त्रैलोक्य सम्पदा वैभव राज अथिर हैं।

पतझड़ होता रहा सदा से, गंध भरा उपवन है।
विश्ववंद्य सुखकंद धन्य, जगनायक तुम्हें नमन है।।

हिंसामय था विश्व स्वार्थ के श्याम मेघ घिर आये,
लंपट, निपट-लोलुपी जन ने जन मानस भरमाये।
अविचारी मानव समाज ने, कुटिल कृत्य अपनाये,
तुमने आकर धरा धाम पर ज्ञान सलिल बरसाये।

जन कल्याण हेतु वैभव तज, वन को किया गमन है।
विश्ववंद्य सुखकन्द धन्य, जगनायक तुम्हें नमन है।।

सत्य अहिंसा की मानव को दीं अभिनव–परिभाषा,
अपरिग्रह व अचौर्य शील की जाग्रत की जिज्ञासा।
नवचरित्र-निर्माण राष्ट्रहित सर्वोपरि बतलाया,
'क्षेमं सर्व-प्रजानाम्' का मंगलमय मंत्र जगाया।

कहां रहेगी शांति जगत में, सुखी न जब तक जन है।
विश्ववंद्य सुखकंद धन्य, जगनायक तुम्हें नमन है।।

अर्ध मागधी भाषा में जब दिव्य ज्ञान ध्वनि बरसी,
निज-निज भाषा में जीवों ने समझ सुमति मन सरसी।
कृत-कृत्य हो गई धरा सुन ज्ञान भरी जिनवाणी,
नत मस्तक हो गए विश्व के बड़े-बड़े अभिमानी।

सिंह, गाय, मृग, सर्प, मयूरों को इक चरण शरण है।
विश्ववंद्य-सुखकंद धन्य, जगनायक तुम्हें नमन है।।

आओ ! मिल कर आज अहिंसा के जलधर बरसादें,
राष्ट्र-राष्ट्र में देश-देश में मंत्री भाव जगादें।
मानवीय अधिकारों का दुनियां में नहीं हनन हो,
देश-देश में सुखद वीर वाणी का मधुर मनन हो।

भूले-भटके, प्राणिमात्र को जिनवर धर्म शरण हैं।
विश्ववंद्य सुखकंद धन्य जगनायक तुम्हें नमन हैं।।

———

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मानव-जीवन समस्याओं का घर है। जब से वह इस धरती पर अपने प्रथम चरण रखता है तब से ही उसे कई प्रकार की समस्याओं का सामना करना पड़ता है। इनमें से कुछ समस्याएं तो सार्वत्रिक और सार्वकालिक होती हैं जैसे पेट भरने की समस्या, रहने की समस्या आदि; और कुछ समस्याएं होती हैं सामयिक, क्षेत्रीय अथवा वैयक्तिक यथा-देश पर शत्रु का आक्रमण, महामारी, रुग्णावस्था आदि। ये समस्याएं मानव को निरन्तर दुःखी और संतप्त किये रहती हैं। मानव को ही नहीं विश्व के प्रत्येक प्राणी को कोई न कोई समस्या संतप्त किये ही रहती है और वह उस संताप से छुटकारा पाना चाहता है। विश्व का कोई भी प्राणी दुःखी होना नहीं चाहता। संसार के प्रत्येक धर्माचार्य और दार्शनिक अथवा चिन्तक ने अपनी अपनी दृष्टि से इस समस्या का हल प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। जैन दार्शनिक इन समस्याओं का क्या उपाय बताते हैं अथवा हम हमारे व्यवहारिक जीवन में किस प्रकार इन समस्याओं से जूझ अपने जीवन को और राष्ट्र को सुखी और सम्पन्न बना सकते हैं इस प्रश्न का उत्तर ढूंढने का प्रयत्न विद्वान् लेखक ने अपनी इस रचना में किया है।

प्र० सम्पादक

जैनधर्म की दृष्टि में हमारा जीवन-व्यवहार

● श्री प्रकाशचन्द गोयल,
जयपुर।

मुक्ति मार्ग के सिद्धान्त :

मानव शाश्वत् सुख की प्राप्ति के लिये धर्म का अवलंबन करता आया है। शाब्दिक व्युत्पत्ति के अनुसार "धारणाद्धर्ममिति उच्यते" जो धारण करता है अथवा जिसके द्वारा धारण किया जाता है, वह धर्म है।

जीवन को पवित्र, चरित्रवान् एवं सुखी बनाने के लिए तीर्थंकर भगवान् महावीर ने अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये पांच महान् सिद्धान्त लोक के सामने रखे। व्यावहारिक जीवन में इनके सफल प्रयोग के लिए उन्होंने इन्हें साधु और गृहस्थ जनों को लक्ष्य में रख कर महाव्रत और अणुव्रत के रूप में प्रस्तुत किया। यद्यपि उन्होंने हिंसादि पापों के रंच-मात्र सद्भाव को भी श्रेयस्कर नहीं माना है तथापि उनको जीवन में उतारने के लिए अनेक स्तरों (कक्षाओं, श्रेणियों, प्रतिमाओं का जो ११ हैं) का प्रतिपादन किया है। अतः प्रत्येक व्यक्ति का उन्हें जीवन में अपनाना संभव ही नहीं, वरन् प्रयोग-सिद्ध भी है। जहां साधु के जीवन में हिंसा, परिग्रहादि के पूर्ण त्याग का प्रतिपादन है, वहीं श्रावक व गृहस्थ के जीवन में उनका योग्यतानुसार सीमित ग्रहण का कथन भी है—यद्यपि अंतिम लक्ष्य समस्त बाह्य परिग्रहों तथा संबंधों का त्याग एवं अंतरंग रागद्वेषादि को छिन्न करके स्वात्मानुभूति-लीन दिगंबर साधु होना ही माना गया है, जिसकी अंतिम सीढ़ी है—मोक्ष।

(सम्यक्) दर्शन-ज्ञान-चारित्र, श्रद्धा, सुख आदि अनंत गुणों का पिंड जो यह आत्मा है—वे गुण ही उसको धारण करते हैं, अथवा तो यह आत्मा ही उनको धारण करता है, अतः वे ही आत्म-धर्म हैं। मोह-राग-द्वेष भावों का निमित्त पाकर, आत्म-प्रदेशों के साथ कर्माणु दूध-पानी की तरह एकमेक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होकर बंध जाते हैं, यही प्राणी के दुःख का कारण है। पुण्य-भाव और पाप-भाव इन दोनों के शुभाशुभ परिणामों से पृथक् एवं मोह-राग-द्वेष आदि समस्त विकारी भावों, जो कि संसार एवं दुःख के कारण हैं, से मुक्त हो जाने की जीव की शुद्धावस्था मोक्ष है। अन्तरोन्मुखीवृत्ति द्वारा आत्म-साक्षात्कार प्राप्त करके ही इस स्थिति को प्राप्त किया जा सकता है। यह आत्मानुभूति ही सब धर्मों का सार है। आत्मानुभूति प्राप्त करने के लिए समस्त जगत् यानी आत्मा से भिन्न शरीर, कर्म आदि (जड़) अचेतन द्रव्यों के अथवा आत्मा में प्रति समय उत्पन्न होने वाली (मोह-राग-द्वेषमय) विकारी प्रविकारी पर्यायों से भी, दृष्टि हटा कर अखण्ड त्रिकाली चैतन्य ध्रुव आत्म-तत्व में स्व-दृष्टि को स्थिर करना आवश्यक है। यही एक मात्र प्राप्तव्य है, जिसे कि धर्म कहा गया है। भगवान् महावीर के उपदेशों का केंद्रबिंदु आत्मा का हित ही है। आत्मार्थी को, मुमुक्षु को अपने को पहिचानना चाहिए, अपने में जम जाना चाहिये, रम जाना चाहिये। सच्चा सुख अपने में है, पर में नहीं। पंचेंद्रिय के विषयों में सुख है ही नहीं। अन्त में जो अनन्त आनन्दमय महिमावंत पदार्थ विद्यमान है, उसके मुकाबले में बाह्य विभूति की कोई गिनती नहीं।

भगवान् महावीर के सर्वोदय-तीर्थ (उपदेश) के "वस्तु स्वातंत्र्य और समानता, ये दो प्रबल दीपस्तंभ हैं, जिन पर स्याद्वाद शैली में अभिव्यक्त अनेकान्तात्मक वस्तुस्वरूप सूर्य और चन्द्रमा की भांति प्रकाशित हो रहा है और अहिंसात्मक आचरण की पावन गंगा में प्रवाहित होकर अपरिग्रह के आनन्द-सागर में लहरा रहा है (पृ. ६६.)।"

(ती. भ. म. उ. ख. ती.)

जैनधर्म के अनुसार प्रत्येक जीव आत्मानुभूति के राजमार्ग पर चल कर भगवान् बन सकता है। कोई शक्तिमान् ईश्वर जगत् का कर्त्ता-नियंता नहीं है। यही नहीं, कोई भी द्रव्य किसी दूसरे द्रव्य का कर्त्ता-हर्त्ता भी नहीं है। यह विश्व अनादि अनन्त है– इसे न तो किसी ने बनाया है और न ही कोई इसका विनाश कर सकता है। समस्त जगत् परिवर्तनशील हो कर भी नित्य है और नित्य होकर भी परिवर्तनशील है। परंतु जैन धर्म ऐसी प्राकृतिक व्यवस्था में पूरा विश्वास रखता है, जिसका कोई कर्त्ता-नियंता न होने पर भी जो वैज्ञानिक है, जिसके अन्तर्गत काल परिवर्तन सतत् और स्वतः होता रहता है; ब्रह्मांड का विकास व परिवर्तन, उन्नति-अवनति, निश्चित क्रमानुसार होते रहते हैं। वह स्वर्ग, नरक, मनुष्य आदि लोकों की सत्ता भी मानता है जिनमें जीव अपने कर्मानुसार भ्रमण करते रहते हैं और जब वे समस्त राग-द्वेष-तन्तुओं से मुक्त होकर अपनी आत्मा के वास्तविक स्वरूप में स्थिर-लीन हो जाते हैं तब सदा के लिये मुक्त अथवा सिद्ध हो जाते हैं।

मानव-प्राणियों की शाश्वत् त्रैकालिक समस्या है, दुःख कैसे मिटे और सुख कैसे प्राप्त हो? भगवान् महावीर ने इसका शाश्वत् हल प्रतिपादित किया है स्वात्मानुभूति। प्रत्येक प्राणी स्वतन्त्र है, अपना नियंता है। उसकी उन्नति-अवनति, मुक्ति व बंधन उसके हाथ में हैं। सब कुछ उसके पुरुषार्थ पर निर्भर है। जब पुरुषार्थ का उदय होता है, तब दूसरे सहायक योग भी बैठ जाते हैं। यथा दशभव पूर्व सिंह की पर्याय होते हुए भी दो मुनियों द्वारा भगवान् महावीर के जीव को उद्बोधित किया गया, जिससे उसकी जीवन-धारा ही बदल गई। जैन धर्म किसी भी ईश्वरीय शक्ति को कर्त्ता-नियंता के रूप में नहीं मानता, अतः वह यह भी नहीं मानता कि तीर्थंकर, अर्हन्त, सिद्ध आदि के नाम-जपमात्र में अथवा उनकी अथवा किसी और शक्ति की कृपामात्र से मुक्ति की प्राप्ति हो सकती है। मुक्ति के लिये तो भोगों की आसक्तियों के एवं राग-द्वेषादि विकारों के पूर्णतः त्याग की ओर ले जाने वाला पुरुषार्थ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चाहिए। जैन धर्म के सम्पूर्ण उपदेश आगार धर्म (श्रावक धर्म) के अभ्यास क्रम से लेकर अनगार धर्म की अन्तिम श्रेणी तक का साधना क्रम (मुनि-धर्म) उसी लक्ष्य की ओर ले जाने के लिए है। इस प्रकार जैनधर्म भौतिक भोगमय धारा के विपरीत आध्यात्मिक-त्यागमय धारा का प्रतिपादक है। गृहस्थ जीवन में पूर्ण त्याग को अशक्य मानते हुए आगे बढ़ने की क्रमिक प्रतिमायें निश्चित की गई हैं—परन्तु लक्ष्य तो पूर्ण त्याग का ही है। विविध विरोधी दृष्टिकोणों के संघर्ष से बचा जा सके इसके लिए भगवान् महावीर ने अनेकान्तात्मक वाणी एवं अहिंसात्मक आचरण पर जोर दिया है। इस प्रकार जैन धर्म में सह-अस्तित्व, समन्वय-वृत्ति, सहिष्णुता, व समता-भाव का प्रतिपादन भी मूल रूप में निहित है। ये वे शाश्वत् सिद्धान्त हैं, जिनका अनुसरण कर विश्व में प्राणिमात्र शांतिपूर्वक रह सकते हैं और संघर्ष से बच सकते हैं।

सिद्धांतों का व्यवहार :—जैनधर्म की व्यवहार पक्ष की व्याख्या के अनुसार जहां साधु को पूर्ण अहिंसक एवं अपरिग्रही होना चाहिए, वहीं श्रावकों (गृहस्थों) से इसकी सीमित और क्रमिक अपेक्षा की गई है। गृहस्थ को बिना प्रयोजन चींटी तक का वध नहीं करना चाहिए—परन्तु देश, समाज, घर-बार, माँ-बहिन, धर्म और धर्मसाधन एवं न्यायपथ की रक्षा के निमित्त तलवार उठाने में उसे संकोच नहीं करना चाहिए।

अहिंसा के सिद्धांत को बड़ी बारीकी से स्पष्ट किया गया है :—"वस्तुतः हिंसा-अहिंसा का संबंध पर-जीवों के जीवन-मरण सुख-दुःख से न होकर आत्मा में उत्पन्न होने वाले राग-द्वेष, मोह आदि विकारों के परिणामों से है; पर के कारण आत्मा में हिंसा उत्पन्न नहीं होती" (पृ. १८६)। "आचार्य उमा स्वामी ने 'प्रमत्त योगात् प्राण व्यपरोपणं हिंसा' कहा है। प्रमाद के योग से व्यक्तियों के द्रव्य और भाव प्राणों का घात होना हिंसा है। प्रमाद से आशय मोह-राग-द्वेष आदि विकारों से ही है। अतः उक्त कथन में द्रव्य, भाव में दोनों प्रकार की हिंसा समाहित हो जाती है" (पृ. १६०)। पुनश्च, "यहां एक महत्वपूर्ण प्रश्न हो सकता है कि जब मारने का भाव हिंसा है तो बचाने के भाव का नाम अहिंसा होगा? और शास्त्रों में उसे मारने के भाव की अपेक्षा मंद कषाय एवं शुभ भाव रूप होने से व्यवहार से अहिंसा कहा भी है।.....जैन दर्शन का कहना है कि मारने का भाव तो हिंसा है किन्तु बचाने का भाव भी एक दृष्टि से हिंसा ही भी गिन लिया है; क्योंकि वह भी राग भाव है। यद्यपि बचाने का भाव मारने के भाव की अपेक्षा प्रशस्त है तथापि है तो राग ही। राग तो आग है। आग चाहे नीम की हो या चन्दन की जलायेगी ही। अहिंसा तो वीतराग-परिणति का नाम है,शुभाशुभ राग का नाम नहीं। अन्त में तो अशुभ के साथ शुभ राग को भी छोड़ने से ही वीतरागत्व प्राप्त होता है।

यद्यपि मारने के भाव से पाप बंध होता है और बचाने के भाव से पुण्य का तथापि होता तो बंध ही है; बंध का अभाव नहीं। इसे सरलता से यों समझा जा सकता है। किसी अभाव की अन्तिम मंजिल पर पहुँचने के लिए सीढ़ियों की आवश्यकता है। पर मंजिल पर पहुँचने के बाद सीढ़ियों को भी छोड़ना ही पड़ता है। अगर सीढ़ियों से ही चिपका रहे तो मंजिल पर नहीं पहुंच पायेगा। यही स्थिति लगभग पुण्य की है जो लक्ष्य प्राप्ति का साधन मात्र है लक्ष्य नहीं। धर्म तो बंध का अभाव करने वाला है, अतः बंध के कारण को एकान्ततः धर्म कैसे कहा जा सकता है?

आचार्य अमृतचंद्र ने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय के श्लोक ४२ में कहा है :—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात्सर्वमेव हिंसैतत् ।
अनृतवचनादिकेवलमुदाहृतं शिष्यबोधाय ।।

आत्मा के शुद्ध परिणामों के घातक सभी भाव हिंसा ही हैं; भेद तो मात्र शिष्यों को समझाने के लिए कहे हैं।"

उक्त मार्ग की श्रेष्ठता— जैन धर्म में मुक्ति का मार्ग है—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। इन पांच आधारभूत सिद्धान्तों के आचरण द्वारा अपने जीवन को क्रमिक रूप से निर्मल और पवित्र करते हुए, उपलब्ध सांसारिक भोगों एवं सुविधाओं का दायरा संकुचित करते हुए अपनी आत्मा को उसके वास्तविक शुद्ध स्वरूप की ओर ले जाना। जैन मत स्वतः त्याग का पथ प्रशस्त करता है; अपने अनेकांतात्मक दृष्टिकोण एवं स्याद्वादमयी वाणी द्वारा वह दूसरों की स्वतन्त्रता का सम्मान करता है और उनके विचारों एवं दृष्टिकोण को समझने का प्रयत्न करता है और अहिंसात्मक आचरण द्वारा दूसरे प्राणियों को कष्ट न पहुंचाते हुए और उनकी सुविधा का ध्यान रखते हुए साधक को आगे बढ़ाता है। वह वर्गभेद में नहीं पड़ता। अपने लक्ष्य पर पहुंचने के लिए उसे वर्ग-संघर्ष, रक्त-क्रांति, युद्ध, किसी तरह के संगठन, किलेबंदी आदि की कोई अपेक्षा नहीं है। वहां तो साधक को स्वात्मानुभूति द्वारा अपने निर्मल स्वरूप को प्राप्त करना है। अतः उसका मार्ग एकाकी है। इसके लिये न तो उसे किसी से ईर्ष्या-द्वेष करने की आवश्यकता है—न उससे कोई ईर्ष्या द्वेष करेगा। इस पथ पर अग्रसर होने के लिए उसकी तरफ से सभी प्राणी खुले दिल से आमंत्रित है। उसे तो समाज, परिवार, स्थूल शरीर के ही नहीं, अपने मानस में प्रच्छन्न सूक्ष्म राग तंतुओं को भी छिन्न करना है। उसके लिए गृहस्थाश्रम भी मात्र दिगंबर-मुनि अवस्था तक पहुंचने के लिए सीढ़ी मात्र है। उसे निर्बाध अपनी साधना में लगे रहना है। यदि कोई संकट, उपद्रव, व्यवधान, उसके रास्ते में उपस्थित होते हैं तो उन्हें एक चुनौती समझते हुए परीषहों को निर्लिप्त भाव से शांतिपूर्वक सहना है। उस परिस्थिति को न संघर्ष द्वारा बदलने का प्रयत्न करना है, न बदले की भावना रखना है, न उससे हटना व भागना है। उसे तो आत्मजयी बनना है !! आत्मा के परिप्रेक्ष्य में इससे बड़ा आदर्श क्या हो सकता है ?

उपरोक्त मार्ग की सामयिक दृष्टि से समीक्षा— प्रश्न है क्या आज की परिस्थितियों में व्यक्ति के संपूर्ण जीवन तथा समस्त समाज व देश के प्रति उसके उत्तरदायित्वों की पृष्ठभूमि में भी यही मार्ग आंख बंद करके श्रेयस्कर माना जा सकता है ?

शासनतंत्र व्यवस्था इतनी सशक्त और विश्वसनीय हो कि बाहरी शत्रु-देश का कोई खतरा न हो और आंतरिक व्यवस्था भी इतनी अच्छी हो कि जन-साधारण पूर्ण सुरक्षा का अनुभव करे। देश की अर्थ-व्यवस्था इतनी ठोस हो कि सब की आधारभूत आवश्यकतायें पूरी हो जायें और किन्हीं वर्गों में असंतोष व्याप्त न हो; और देश में वैभव व सम्पत्ति की प्रचुरता हो, शासन-तन्त्र द्वारा पूरा विचार-स्वातंत्र्य हो, सामाजिक मर्यादाओं का पालन किया जाता हो।

हम देखते हैं कि मनुष्य की स्वार्थमूलक एवं हिंसापरक प्रवृत्तियों के कारण एक ही देश के विविध वर्गों में विषम, संघर्षमयी, आर्थिक शोषण पर आधारित असंतोष की स्थितियां पैदा हो जाती हैं। पड़ौसी देशों की एवं विश्व के अन्य शक्तिशाली राष्ट्रों की स्वार्थमयी राजनीति के कारण कठिन संकटकालीन परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, जिनके निराकरण के लिए देश में आंतरिक शांति बने रहने की सतत् आवश्यकता है। राष्ट्र की शक्ति का सर्वाधिक स्रोत उसके नागरिकों की देश के प्रति वह आस्था है, जो संकट के समय देश के हित के लिये उनसे बड़ा से बड़ा बलिदान करा सकती हो। तभी अराजकता, आक्रमण, भीषण संकट, विप्लव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आदि की स्थितियों का मुकाबला किया जा सकता है।

श्रावक श्रेणी के जैन नागरिक अपने तथा अपने परिवार व समाज तथा संपत्ति की रक्षा के लिए शस्त्र-धारण कर सकते हैं। इतिहास और पुराण ऐसे उदाहरणों से भरे पड़े हैं। इस सम्बन्ध में जैनाचार्य जवाहरलालजी महाराज रचित धर्म-व्याख्या पुस्तक सहायक हो सकेगी।

जैन पुराणों में चक्रवर्तियों (सम्राटों) तथा अन्य महापुरुषों के साम्राज्य-निर्माण तथा उनकी विजय यात्राओं तथा युद्धों के अनेकानेक वृत्तान्त मिलते हैं। बाद के उपलब्ध इतिहास में मौर्य सम्राट् चंद्रगुप्त (ई. पू. ३२०) का उल्लेख मिलता हैं जिसने उत्तर भारत में अपना शक्तिशाली साम्राज्य स्थापित किया और विदेशियों से भी लोहा लिया। वह जैन ही था। "कलिंग चक्रवर्ती महाराजा खारवेल (ई. पू. १७४) को उस युग की राजनीति में सबसे अधिक महत्व का व्यक्ति माना जाता है·····उसकी शक्ति भारत के अंतिम छोरों तक पहुँच गई थी। अपनी महाविजय के बाद खारवेल ने जैन धर्म का महा अनुष्ठान किया और भारतवर्ष भर के जैन यतियों, तपस्वियों, ऋषियों, और पंडितों को बुलाकर एक धर्म-सम्मेलन भी किया" (जैन धर्म—कैलाशचंद्र शास्त्री पृ० ३७)। बाद में दक्षिण-भारत में गंग वंश तथा गुजरात में चालुक्य वंश के राज्यों के उल्लेख भी मिलते हैं—जिनके राजवंश जैन थे।

अपने और अपने परिवार के सुख-वैभव का बलिदान कर समूचे राष्ट्र की विपत्ति को अपनी विपत्ति मानने वाले और देश के जीवन-प्रवाह का अपने को अविच्छिन्न अंग मानने वाले अनासक्त कर्मयोगी महापुरुष ही संकट के समय देश का नेतृत्व कर सकते हैं। महात्मा गांधी का समग्र जीवन अन्याय के विरुद्ध प्रतिकार की अपूर्व कहानी है। उनमें वैदिक और जैन-धर्म की विचारधाराओं का अपूर्व समन्वय मिलता है।

उन्होंने ब्रिटिश साम्राज्यवाद से टक्कर लेने की दृष्टि से सुगठित प्रतिकारात्मक आन्दोलन के लिये सत्य और अहिंसा का सत्याग्रह के रूप में सफलता-पूर्वक उपयोग किया है। महात्मा गांधी की ट्रस्टी शिप की व्याख्या स्वेच्छापूर्वक त्याग एवं अपरिग्रह के सिद्धांत की व्याख्या का रूप ही है। इसे भूदान-आंदोलन के रूप में श्री विनोबाजी ने बहुत स्पष्टता और सफलता के साथ लागू किया है। पं० जवाहरलाल नेहरू द्वारा प्रतिपादित 'पंचशील' में भी इसी विचारधारा की छाया देखी जा सकती है।

विभिन्न धर्म और दर्शन के सिद्धान्तों का पृथक २ भूमिका पर से पृथक २ होना स्वाभाविक है। वे मानव की शाश्वत् समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करते आये हैं। परन्तु उनकी उपादेयता तभी संभव है जबकि नदी के निर्मल जल की तरह वे सतत् प्रवाहमान् रहें। जहां जल का प्रवाह अवरुद्ध हो जायेगा वहीं उसमें सड़न पैदा हो जायगी। हमें समग्र जीवन को उसके सतत् गतिशील और परिवर्तनशील होने की पृष्ठभूमि में देखना होगा। एकांगी, एक-पक्षीय और 'स्व' एवं 'स्व' से संबंधित स्वार्थों की परिधि में अपने दृष्टिकोण रूढ़ और अपरिवर्तनीय मान लेने से तो आज के युग में हमारी गति शुतुरमुर्ग की सी हो जायगी।

'सामाजिक—व्यवस्था तब तक नहीं चल सकती जब तक समाज के सदस्य एक उत्तरदायित्वपूर्ण आचरण के कुछ माप-दण्ड निर्धारित नहीं करते। वैसे मूल्य और मान्यतायें चिरस्थायी नहीं होते उनमें सामाजिक परिवर्तन के साथ-साथ त्याग और ग्रहण चलता रहता है। महात्मा गांधी ने भी स्वीकार किया है कि, जीवन में कोई अन्तिम और विफलातीत निष्कर्ष नहीं होते। उनमें अनुभव और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञान के अनुसार कई बार परिवर्तन करने पड़ते हैं। ठीक वैसी ही स्थिति मूल्यों की है।"

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद शिक्षा में 'मूल्यों का स्थान' विषय पर पहली संगोष्ठी १९६७ में शिक्षण-प्रशिक्षण-महाविद्यालय वाराणसी में हुई थी। इस संगोष्ठी के.....प्रतिवेदन के आमुख में डॉ० एस० एन० मुखर्जी ने मूल्यबोध को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखते हुए स्पष्ट किया है कि वैदिक-काल के बाद अर्थात् मध्य-काल में हमारे मूल्यबोध में गिरावट आई। परिणामस्वरूप दसवीं शताब्दी के बाद हमारे देश को बाह्य आक्रमणकारियों की दासता स्वीकार करनी पड़ी।

[सामाजिक परिवर्तन और मूल्य संवेदना; ले० उमरावसिंह चौधरी; नया शिक्षक, अप्रेल-जून '७५; पृष्ठ सं. ३५]

(२) हमें यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि संपूर्ण वट-वृक्ष के सशक्त और समृद्ध रहने की स्थिति में ही यह संभव है कि वृक्ष की कुछ शाखायें अत्यंत ऊंची आकाशोन्मुख हो सकें—इसी प्रकार सशक्त देश और उसकी उत्तरदायित्वपूर्ण समाज-व्यवस्था में ही यह संभव है कि कुछ व्यक्ति नागरिक-उत्तर-दायित्वों से कतई मुक्त होकर आत्मानुभूति के मार्ग का अवलम्बन कर मोक्ष मार्ग के अनुगामी हो सकें। ऐसी स्थिति में शेष समाज व देश का यह कर्त्तव्य होगा कि उनके संपूर्ण भार को वहन करें।

इसमें कोई सदेह नहीं है कि जैन धर्म के सिद्धान्तों में मानवों की शाश्वत् समस्याओं के समाधान के बीज विद्यमान हैं और उनका सामयिक दृष्टि से महात्मा गांधी और विनोबाजी जैसे कर्मयोगी चिन्तकों द्वारा उपयोग किया भी गया है। फिर भी मेरी विनम्र सम्मति में यह कार्य जैन धर्म के प्रकाण्ड-पंडितों का है कि जैन धर्म के शाश्वत् सिद्धान्तों की 'संपूर्ण-जीवन-दर्शन' के रूप में सामयिक व्याख्या प्रस्तुत करें—ताकि एक तरफ तो अपनी भीषण समस्याओं से त्रस्त वर्तमान युग विशेषतः अपना देश उनसे अपना समाधान और मार्ग-दर्शन प्राप्त कर सकें और दूसरी ओर जैनधर्मावलम्बी भी उनसे लाभ उठा सकें और राष्ट्र के उत्थान में अधिकाधिक सक्रिय योगदान कर सकें।

"जयं चरे, जयं चिट्ठे, जयं मासे, जयं सये।
जयं भुञ्जन्तो भासन्तो पावकम्मं न बंधई॥"

'विवेक से चलो, विवेक से रुको, विवेक से बैठो, विवेक से सोओ, विवेक से खाओ, विवेक से बोलो तो पाप नहीं बंधेगा।'

क्या 'विवेक' को काल और परिस्थितियों के रूढिगत बंधनों द्वारा अवरुद्ध किया जा सकता है?

अनेकांत-नमन

जिसमें विरोधों का शमन है,
दुराग्रहों का दमन है,
नाना नयों का चमन है;
अभय तथा अमन है;
ऐसे त्रिभुवन तिलक अनेकांत को
बारंबार नमन है।

श्री मूलचंद पाटनी, बंबई।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अधिकांश भक्तगण प्रायः नित्य ही पूजा करते हैं। कइयों के तो इस बात का नियम ही होता है किन्तु उनमें से ऐसे कितने हैं जो पूजा के वास्तविक रहस्य को समझते हैं। आज तो प्रायः यह एक आम बात हो गई है कि पूजा बड़े उच्च स्वर से लाउडस्पीकर लगा कर गाजे बाजे के साथ की जाती है और कहा जाता है कि बड़े ठाठ-बाट से पूजा हुई। लेकिन क्या पूजा इस प्रकार की जाती है ? क्या पूजा दूसरों को सुनाने के लिए की जाती है ? कई बार तो इस प्रकार की पूजा अन्यों को विशेष कर पढ़ने वाले छात्रों को बड़ी बाधाएं पहुंचाती हैं। पूजा तो मूर्ति की नहीं अपितु मूर्ति के आलम्बन से स्व की प्राप्ति के लिए की जाती है जिसकी प्राप्ति इस प्रकार कभी हो ही नहीं सकती। एक प्रकार से पूजा के इस उद्देश्य को हमने भुला ही दिया है। इसी तथ्य को विद्वान् चिन्तक ने अपनी इस लघु रचना में कितने सुबोध और कलापूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया है जरा पढ़िये तो।

प्र० सम्पादक

खुली आँख से दृश्य दीखते, बन्द आँख से दिखता द्रष्टा।

विद्यावारिधि डॉ० महेन्द्रसागर प्रचंडिया
एम. ए., पी-एच. डी, डी. लिट्., साहित्यालंकार, अलीगढ़

राजस्थान के पुराने मन्दिर के दर्शन करने का मुझे अवसर मिला था। मंदिर जीर्ण था तथापि अपने स्थापत्य-कौशल में वह वस्तुतः बेनजीर था। भीतर अनेक वेदियाँ और एक-एक विशाल वेदी पर अगणित जिन मूर्तियों का स्थापन देखते ही बनता। जितनी मूर्तियाँ थी उसके दशांश दर्शनार्थियों की संख्या मंदिरजी में नहीं दिख रही थी और जो थे भी वे मेरे भीतर प्रवेश करते समय बाहर निकल रहे थे। सुदूर भीतर एक वेदिका पर दीक्षित और दक्ष पुजारी पूजन-अर्चन कर रहे थे। सावधानीपूर्वक मैं उनके पीछे खड़ा हो गया और दर्शन लाभ ले रहा था। पुजारी की पूजा परा-पश्यन्ति से होती हुई मंद-मंद गति से बिखर कर बैखरी का रूप धारण कर रही थी। अचानक मेरी उपस्थिति प्रमाणित हो गई और मैंने देखा-सुना कि पुजारी की पूजा का स्वर दीर्घ हो उठा। भावोद्वोलन के साथ-साथ हावोद्घाटन भी दर्शनीय था। मैं जिन बिम्ब की अपेक्षा जन-कौतुक देखकर अजीब-सा अनुभव कर उठा, और मुझे स्मरण है कि मैं तब कहने सुनने के लोभ का संवरण नहीं कर सका था। मैंने पुजारी से कहा था, "क्यों भाई, आरम्भ में आप पूजा मंदस्वर में कर रहे थे और मेरे आने के भाव को जानकर आप उसे सहसा दीर्घ स्वर में गा उठे, इसका कारण क्या है ?" पुजारी मधुर-मधु मुसकराये और अबोलते बोल में खिसियाने का भाव व्यक्त कर गये ! मैंने पुनः विनम्र किन्तु गम्भीर शैली में यथार्थ जानना चाहा और तब वे बोले, अकेले में किसे सुनाऊँ पूजा के पद, आप आ गये अतः सस्वर पाठ करने लगा था। पुजारी का कथन सच था। यह दयनीय यथार्थ केवल उन पुजारी जन का ही हो ऐसी बात नहीं, हममें से शत-सहस्र पूजा-पाठियों की पूजा सम्बन्धी यही विडम्बना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। मैंने तब कहा था, "भले प्राणी! जिनेन्द्र जागृत हैं और हम भक्तजन सुप्त-प्रसुप्त। यदि सोता हुआ जगे को जगाये तो इससे बड़ी मखौल और क्या होगी।" वास्तविकता यह है कि आँख खोलकर देखने पर दृश्य ही दिखते हैं। दृश्य मोहक-मनोहर होते हैं किन्तु नश्वर और क्षणिक। फिर क्षणिक और नश्वर की आराधना निरी निरर्थकता नहीं तो और क्या है। बन्द आँख से देखने पर दृश्य नहीं द्रष्टा के दर्शन होते हैं। खुली आँख से सपन दिखते हैं और बन्द आँख से अपन के अभिदर्शन हुआ करते हैं। अपन बोध ही आत्म बोध है। पूजा-अर्चन अपनी भीतरी उपस्थिति में सम्पन्न हो तो प्रभुपूजा सार्थक होती है फिर मंद अथवा दीर्घ स्वर में पूजा पाठ करने का प्रश्न गौण हो जाता है। जैनदर्शन में इसलिये भाव-पूजा का महनीय महत्त्व है।

कुछ मुक्तक

● डा० सुरेशचन्द जैन,
लखनादौन (म० प्र०)

(१)

निशाने पर लगे जा कर उसे हम तीर कहते हैं।
जो चमके रण में खुल कर उसे समशीर कहते हैं॥
हमारा सबसे बड़ा शत्रु है संसार की माया।
इसे जो जीत कर दमके उसे महावीर कहते हैं॥

(२)

समय की पुकार पर जिसका कि कान है।
दुनियां के दुख दर्द पर जिसका कि ध्यान है॥
अपने को जीतकर जो आलम को जीतता है।
भगवान वही, वीर वही, वर्धमान वही है॥

(३)

कुटिल हिंसक जगत के सामने रणधीर आया था।
दुखी मानवता पांत्राला का बनकर चीर आया था॥
कि क्रंदन मूक पशुओं का सुना तो उठ दौडा।
पढ़ाने पाठ अहिंसा का जगत में महावीर आया था॥

(४)

अद्भुत था वीर शासन केवल नहीं कहानी।
सिंह-गाय मिलकर पीते थे साथ पानी॥
सम्यक शत चरण से आबद्ध थी प्रजा सब।
था सत्य जिनका राजा थी प्रिय अहिंसा रानी॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपरिग्रह का अर्थ है मूर्च्छा, आसक्ति अथवा ममत्व भाव का त्याग। जो अपरिग्रही होता है वह अपने शरीर को भी अपना नहीं समझता, उसे पर समझता है और उसमें आसक्त नहीं होता। राग द्वेष आदि विकारी भाव पर है अतः वे भी परिग्रह ही हैं। पूर्ण अपरिग्रही तो साधक ही हो सकता है। संसार में रह कर तो परिग्रह के बिना कार्य एक क्षण भी चल ही नहीं सकता तो फिर वर्तमान में उस अपरिग्रह का स्वरूप क्या हो इस पर विशिष्ट दृष्टि से मान्य लेखक की इस रचना में विचारणीय चिन्तन प्रस्तुत किया गया है। उनकी दृष्टि में संग्रह पाप नहीं है यदि उसका उपयोग समाज के लिए हो।

प्र० सम्पादक

अपरिग्रह या श्रम-निष्ठा ?

श्री जमनालाल जैन
श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी

तीर्थंकर महावीर ने अपरिग्रह को धर्म कहा है और वे स्वयं भी असंग थे—इतने कि स्थूल दृष्टि से भी उनका तन शून्य बन गया था। तन को ढोने की विवशता थी, अन्यथा भावक्षेत्र में तो तन भी भार ही था, पराया था। अपरिग्रही की समाज में एक प्रतिष्ठा भी है। परिग्रह अपरिग्रह के चरणों में शरण पाने को तरस उठता है। अपरिग्रह की ऐसी प्रतिष्ठा को निहार कर कभी-कभी ईर्ष्या भी होने लगती है। अनेक बार यह प्रतिष्ठा ही सीमा लांघ कर परिग्रह बन जाती है।

भगवान् महावीर अपरिग्रह को अन्तिम छोर तक खींच ले गये। निर्वस्त्र होकर उन्होंने लज्जा की गाँठ भी तोड़ दी—निर्ग्रन्थ बन गये। तन पर तो गाँठ रखी ही नहीं, मन और वाणी में भी कोई गाँठ नहीं थी। भीतर और बाहर, दोनों ओर से वे कोरे या खालिस हो रहे। ऐसी साधना नितान्त कठिन है और जिसके जीवन में यह सहज बन जाती है उसे नमन ही किया जा सकता है। वे कहीं भी टिक जाते, जो भी मिलता ग्रहण कर लेते। कडवे-मीठे बोल भी उनके अन्तस् को बेध नहीं पाते थे। जो परिस्थिति उनके सामने आती, उसकी गहराई में पैठते और कुछ ऐसा समाधान खोज निकालते कि समस्या में उलझा व्यक्ति त्राण की राह पा जाता। उसमें उनका आग्रह रंच मात्र न होता।

आगम ग्रन्थों या पुराण-ग्रंथों से पता नहीं चलता कि भगवान् महावीर ने शरीर–श्रम का कोई काम किया था। आज शरीर-श्रम की जो परिभाषा प्रचलित है, उस अर्थ में तो नहीं ही किया था। वे राजपुत्र थे और उनके सामने मूलभूत समस्या शरीर–श्रम की नहीं थी। वे आध्यात्मिक दृष्टि से समाज में समता लाना चाहते थे। अध्यात्म दृष्टि के परिपुष्ट हुए बिना सामाजिक विषमता का उन्मूलन करना उन्हें असम्भव लग रहा था। उनका पराक्रम अद्भुत था। उनके जैसा निर्ग्रन्थ पुरुष सुस्त, काहिल या निराश नहीं हो सकता। जिस बात का बीड़ा उन्होंने उठाया, उसके लिए ऐसे ही पराक्रम की आवश्यकता थी कि *व्यक्ति का खाना-पीना, सोना-जागना, पहनना-ओढ़ना* वही बन जाय।

अपरिग्रह की बात करते समय ध्यान बरबस पैसे पर अटकता है। पैसे में ऐसी क्या बात है कि उसको छोड़कर आज कोई विचार ही नहीं टिकता। पैसा केन्द्र में हो तो बाकी सब ठीक है, अन्यथा सब बेकार! जन्म से लेकर मृत्यु के बाद की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्रिया तक पैसा प्रबल हो बैठा है। अर्थ को व्यर्थ सिद्ध करने की शक्ति किस में है, नहीं कहा जा सकता। महावीर स्वयं असंग थे, निर्ग्रन्थ थे, निर्वस्त्र थे, और समाज में समता का आध्यात्मिक मूल्य प्रतिष्ठित करने के लिए कटिबद्ध थे, फिर भी क्या वे समाज में से परिग्रह को मिटा सके ? उनके नाम पर लिखे गये ग्रन्थों में सैकड़ों कहानियां एवं आख्यान ऐसे मिल सकते हैं जिनमें धन की प्रचुरता का दर्शन होता है। धन के त्याग का वर्णन तो है, पर उसीसे यह भी ध्वनित होता है कि धन का महत्व भी कम नहीं है। धन-सम्पत्ति के त्याग का अहसास अगर बना रहता है या कथा-पाठक के मन पर यह छाप पड़ती है कि अमुक ने वैभव का त्याग किया है, तो यह चीज वैभव की प्रचुरता का आकर्षण ही निर्माण करती है।

हमारे ऋषि–मुनि कह सकते हैं कि पैसा बदमाश है, वह आदमी को गिराता है और उससे विवेक नष्ट हो जाता है। यह बात पैसे का महत्व मानकर ही कही जा सकती है। मुझे नहीं लगता कि पैसे में इतनी ताकत है कि मनुष्य पर उसका काबू रहे। पैसे की कीमत है और वह भी राज्य अथवा हमारे द्वारा आंकी गई है। अब यह व्यक्ति पर निर्भर है कि वह पैसे को सिर पर चढ़ाता है या पैरों के तले दबाता है या कि जेब में रखता है। नदी और कुएँ में आदमी डूबकर मर जाता है। यह क्या पानी की शैतानियत है ? पानी न शैतान है, न भगवान्। पानी किसी को मार नहीं डालता, मार नहीं सकता। आदमी अपनी ही कमजोरी, असमर्थता या अज्ञान से डूबता-मरता है। समझ-बूझकर पानी से काम लिया जाय तो सब ठीक है। वह 'जीवन' ही है। पानी न हो तो प्राण तक जा सकते हैं। यही बात पैसे की है। पैसा सिर्फ पैसा है। उसे हम सिर्फ पैसा समझें और समझ बूझकर उसका उपयोग करें तो वह बड़े काम का है।

हमारी मुश्किल यह है कि पैसे को या तो हम शैतान समझते हैं या फिर भगवान् समझते हैं। दोनों स्थितियों में पैसे का महत्व आत्यन्तिक बढ़ जाता है। आदमी अनशन से भी मर सकता है और अधिक खाने से भी मरता है। बाह्य पदार्थ में आत्मा से अधिक शक्ति कदापि नहीं हो सकती, किन्तु शारीरिकता के स्तर से या कि मानसिक स्तर से अधिक मनुष्य की गति नहीं है, इसीलिए अपने बचाव में बाह्य या स्थूल पदार्थों पर सारा दोष मढ़ देता है।

समाज लक्ष्मी की पूजा करता है। लक्ष्मी शब्द के अर्थ की खींचतान करना व्यर्थ है। असल में वह लक्ष्मी की पूजा है। लक्ष्मी को 'मुक्ति' कहना वैसा ही है जैसे साहित्य की सरसता के लिए मुक्ति को 'रमा' कहना। एक ओर तो हम मोक्ष को रमा-विहीन ही मानते हैं और दूसरी ओर स्वयं मुक्ति भी हमारे निकट 'रमा' की उपमा में प्रस्तुत हो जाती है। लक्ष्मी का सीधा-सादा और व्यावहारिक अर्थ 'अर्थ' ही है। और समाज ऐसा करके गलती कहां करता है ? अर्थ-प्राप्ति के लिए जो परिश्रम, प्रयास, पराक्रम करना पड़ता है, जो खून-पसीना एक करना पड़ता है, उसका कोई हिसाब है ? समाज को परिग्रह के लिए दोष देना अपने को धोखे में डालना है। पूरा का पूरा समाज कभी भी अपरिग्रही नहीं बन सकेगा। बल्कि जो लोग परिग्रह की सीमा-मर्यादा बांध लेते हैं, वह भी दोषपूर्ण हो तो आश्चर्य नहीं।

क्या यह बात छिपी है कि हजारों साधु-संन्यासियों और मुनियों के अध्यात्म का सिंचन भी भौतिक पैसे से ही होता रहता है। धन को पाप का घर कहने और समझने वाले लोगों का पुण्य और परलोक उसी पाप पर सुरक्षित होता है। यह कैसी विडम्बना है कि तन को तोड़कर, रात-दिन मेहनत करके जो लोग साधु-संन्यासियों का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भरण-पोषण करते हैं, परलोक सुधारते हैं, वे तो हुए पापी और बैठे-बैठे बिना श्रम के पेट भरने वाले धर्मात्मा। क्या भगवान् महावीर ऐसा धोखे में डालने वाला, आत्मवंचक, दीन बनाने वाला अपरिग्रह प्रतिष्ठित करना चाहते थे ? यह ठीक है कि महावीर ने प्रत्यक्ष रूप से श्रम की प्रतिष्ठा का उद्घोष नहीं किया, न उत्पादक श्रम पर जोर दिया। सिद्धान्तवादी लोग यह भी कह सकते हैं कि कर्म करना मात्र पापपूर्ण है, सावद्य आचार है, आरम्भ में या कि क्रियामात्र में हिंसा है और निर्ग्रन्थ महावीर सावद्य क्रिया का समर्थन नहीं कर सकते थे। फिर भी महावीर जैसा महापुरुष श्रम की महत्ता से आँख नहीं मूंद सकता था। श्रमण शब्द में ही श्रम और संयम की प्रतिष्ठा है।

अभाव में से अपरिग्रह नहीं निपजता। जिसमें संग्रह की शक्ति न हो वह त्याग नहीं कर सकता। जितना पराक्रम संग्रह के लिए आवश्यक है, उससे कम जोर त्याग में नहीं लगता। जिसके पास है नहीं या जो प्राप्त नहीं कर सकता, वह तो अपनी आकांक्षाओं में ही अटक जाता है। इसलिए निर्धनता अपरिग्रह नहीं है। जो है और काबू में है, उसीको व्यर्थ बना छोड़ना अपरिग्रह हो सकता है। जो अपरिग्रह की ओर बढ़ता है, वह श्रम से बचाव नहीं चाहेगा। बल्कि दुगुना-तिगुना भी करेगा। अपरिग्रह अंगीकार करने वाले की सामाजिक चेतना तीव्र हो उठती है और उसमें एक ऐसी व्यापक व्यथा होती है कि वह सबके प्रति सहज उपलब्ध रहता है।

महावीर ने अपने को समाज में व्याप्त कर दिया था। उनका व्यक्तित्व समाज को अर्पित हो गया था। व्यक्ति स्वातन्त्र्य के समर्थक कह सकते हैं कि महावीर ने समाज की परवाह न करके, परम्पराओं की परवाह न करते हुए व्यक्ति के स्वतन्त्र विकास का मार्ग खोला था— यहां तक कि विभुसत्ता से भी इनकार किया था। व्यक्ति का कर्म ही सब कुछ है। हमें यहां दार्शनिक या सैद्धांतिक झमेले में नहीं पड़ना है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि महावीर जैसा तपस्वी और मनस्वी व्यक्तित्व पराकोटि का विनम्र और शून्य ही हो सकता है। ऐसा व्यक्ति समाज पर हावी नहीं हो सकता। साधना उनकी नितांत वैयक्तिक रही, किन्तु थी वह समाज-कल्याण के लिए। सामूहिक और सामूहिक साधना की भूमिका तैयार किये बिना अकेले व्यक्ति की स्वतन्त्रता या साधना का क्या मूल्य ? पाँचों व्रतों का परिणाम समाज में, समाज के लिए और समाज की ओर से ही व्यक्ति के जीवन में प्रतिबिंबित हो सकता है। तभी इनमें गुणात्मक तेजस्विता आ सकती है।

संग्रह और त्याग दो चीजें नहीं हैं। यदि व्यक्ति अपने को समाज का अंग मानता है तो उसका संग्रह समाज का है और उसका त्याग भी ऐसा बीज वपन है जिससे हजार-हजार गुना फसल निकल सकती है। प्रेम और करुणा की भूमिका में से ही सामाजिकता विकसित होती है। अब तक हमारे यहां संग्रह भी व्यक्तिगत रहा और त्याग भी व्यक्तिगत रहा—अध्यात्म भी व्यक्तिगत और भौतिक उपलब्धि भी व्यक्तिगत। एक आदमी घर-बार, जमीन-जायदाद त्याग कर साधु बन जाता है और इस सारी सम्पत्ति का उपयोग पीछे के उत्तराधिकारी करते हैं। साधु अपने वैराग्य में या त्याग के आनन्द में किसी को भागीदार नहीं बनाता और संग्रह का उपयोग करने वाले भी अपनी चीजों को अपने तक सीमित मानकर चलते हैं। यह एक ही भूमिका है और कहना चाहिए कि सामंती ढंग से ही दोनों स्थितियों का विकास हुआ है। किन्तु आज विश्व की परिस्थितियां भिन्न हैं।

परिग्रह को पाप या अधर्म कह देने से अब काम नहीं चलने वाला है। इस तिजोरी का पैसा उस तिजोरी में रख देने से अपरिग्रह नहीं उदित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होता। यह आरम्भ विहीनता या अहिंसा नहीं है कि अन्य लोग दुगुने सक्रिय रहकर महाव्रतीनामी किसी विशिष्ट व्यक्ति की नितांत निष्क्रियता का संवर्धन करते रहें। मन पर से और तन पर से सामन्ती अध्यात्म की चादर उतरे बिना अनासक्ति-पूर्ण परिग्रह को अपरिग्रह में रूपान्तरित नहीं किया जा सकता। आज स्थिति यह है कि संग्रही संग्रह से प्रतिष्ठा पाता है और त्यागी गण उस संग्रह पर सुख की नींद सोकर मोक्ष के सपने देखते हैं।

परिग्रह की प्रतिष्ठा तोड़ने के लिए समाज में और व्यक्ति में श्रम के प्रति निष्ठा उद्भूत होनी चाहिए। संग्रह के प्रति लगाव उसी में होता है जो श्रम से भागता है। सच्चा श्रमिक वह है जो अपने हाथ-पैरों पर सबसे अधिक भरोसा करता है और कल के लिए संग्रह करने की वृत्ति से दूर रहता है। 'कल क्या होगा ?' इसी चिंता में परिग्रह के बीज हैं और श्रम के प्रति तिरस्कार है। बारीकी से देखा जाय तो हर व्यक्ति इस निष्कर्ष पर पहुंच सकता है कि अब तक हमारे धर्म सिद्धांतों का रुख भी संग्रह को प्रतिष्ठा देने का रहा है। श्रमिक अर्थात् आर्थिक दृष्टि से विपन्न व्यक्ति को निर्धन माना गया और इस स्थिति के लिए उसके पूर्व-कर्मों को जिम्मेवार माना गया। किसी भी धर्माचार्य या महापुरुष ने यह नहीं कहा कि गरीबी संग्रह और शोषण का परिणाम है। इस धरा पर कार्लमार्क्स ही पहला व्यक्ति हुआ जिसने वैज्ञानिक ढंग से प्रतिपादित किया कि मनुष्य की अभाव-ग्रस्तता या गरीबी उसके भाग्य का फल नहीं है।

यदि कर्मशीलता हिंसा है, आरम्भ मात्र हिंसा है यानी श्रम करना ही हिंसा है तो फिर अहिंसा को निष्क्रिय होना ही था। अहिंसा की इस कर्म-शून्यतापरक व्याख्या ने अहिंसा को निस्तेज बना दिया है। वह मात्र अभिनय की चीज रह गयी है। मजाक का विषय रह गयी है।

यह अलग बात है कि आज के श्रमिक में भी श्रम के प्रति निष्ठा नहीं है और केवल रोजी-रोटी के लिए श्रम करता है। पत्थर तोड़ने वाला श्रमिक या तो पत्थर ही तोड़ता है या बाल-बच्चों के लिए रोटी कमाता है। इससे आगे बढ़कर वह पत्थर तोड़ने को भगवान् का मन्दिर बनाना नहीं मानता। जिस दिन श्रमिकों में, शिल्पकार में यह दृष्टि आ जायेगी कि उसका श्रम ही सौन्दर्य का सागर है, उसका श्रम ही समाज रूपी भगवान् का मन्दिर है, तो उसका रोजी-रोटी लगाव टूट जायेगा, पत्थर पत्थर न रहकर भगवान् का बिंब बन जायेगा। लेकिन ऐसी स्थिति पैदा न करने का दायित्व उन पर ही है जिन्होंने अब तक श्रम को खरीदने में प्रतिष्ठा और धर्म माना है।

महावीर के नाम पर प्रतिष्ठित धर्मग्रंथों में अथवा कि जिन शासन में अपरिग्रह का जो वर्णन मिलता है, वह तत्कालीन समाज व्यवस्था की परिणति है। उसी को लेकर यदि हम चादर बुनते रहेंगे तो आने वाला युग इस लीक पर चलने वाले अपरिग्रही विरागियों को क्षमा नहीं करेगा।

परिग्रह यानी पदार्थ की विपुलता। यह सृष्टि में रहने ही वाला है। सवाल यह है कि हम अपनी कुशलता और प्रवीणता का कितना लाभ समाज को दे पाते हैं। प्रत्येक प्राणी का विकास दूसरी हजारों परिस्थितियों के कारण होता है। उन हजारों परिस्थितियों के अनन्त उपकार एक-एक व्यक्ति पर होते हैं। व्यक्ति कहीं भी रहे—चाहे लोकांत में ही स्थित हो जाये—तब भी सृष्टि के प्रति उसका उत्तरदायित्व कम नहीं होता। वहां तक पहुंचाने में भी समाज ही सहायक होती है।

अतः संक्षेप में आज आवश्यकता इस बात की है कि हमारे परिग्रह या अपरिग्रह की मान्यताओं का नये सिरे से, वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में पुनर्विचार हो।

—: ० :—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भावना शब्द का अर्थ प्रायः चिन्तन मनन ही समझा जाता है किन्तु वास्तव में भावना का अर्थ यहाँ तक ही सीमित नहीं है। जैन दर्शन में चारित्र को भी भावना ही का रूप दिया गया है। भावना का दूसरा अर्थ होता है अभ्यास। 'भावना' शब्द जब चिन्तन मनन के अर्थ में प्रयुक्त होता है तो अनुप्रेक्षा कहलाता है। द्वादश अनुप्रेक्षा में यह ही अर्थ है क्योंकि वे चिन्तन मनन तक सीमित हैं किन्तु व्रतों की जो भावनाएं आचार्यों ने बताई हैं वे चिन्तन मनन की नहीं अभ्यास की वस्तु हैं अतः वहां अर्थ है अभ्यास। विदुषी लेखिका ने दोनों ही प्रकार की भावनाओं का विस्तृत विवेचन श्वे० परम्परानुसार अपनी इस गवेषणापूर्ण रचना में प्रस्तुत किया है।

प्र० सम्पादक

जैनदर्शन में भावना-विषयक चिन्तन

● डा० (श्रीमती) शान्ता भानावत
जयपुर

भावना : अर्थ और परिभाषा

भावना का जीवन में बड़ा महत्व है। किसी भी विषय पर मनोयोगपूर्वक चिन्तन करना या विचार करना भावना है। चिन्तन करने से मन में संस्कार जागृत होते हैं। जैसा चिन्तन होगा, वैसे ही संस्कार बन जायेंगे। कहा भी जाता है—जैसी नीयत वैसी बरकत। अर्थात् जैसी भावना होगी वैसा ही फल मिलेगा। अतः भावना एक प्रकार का संस्कार अथवा संस्कार मूलक चिन्तन है। इसे हम विचारों की तालीम (ट्रेनिंग) भी कह सकते हैं।

"आवश्यक सूत्र" के प्रसिद्ध टीकाकार आचार्य हरिभद्र ने भावना की परिभाषा देते हुए कहा है—"भाव्यतेऽनयेति भावना" अर्थात् जिसके द्वारा मन को भावित किया जाय, संस्कारित किया जाय, उसे भावना कहते हैं।[1] आचार्य मलयगिरि ने भावना को परिकर्म अर्थात् विचारों की साज-सज्जा कहा है। जैसे शरीर को तेल, इत्र, अंगराग आदि से बार-बार सजाया जाता है, वैसे ही विचारों को अमुक विचारों के साथ बार-बार जोड़ा जाता है।[2] आगमों में कहीं कहीं भावना को अनुप्रेक्षा भी कहा गया है। "स्थानाँग सूत्र" में ध्यान के प्रकरण में चार अनुप्रेक्षाएं बताई गई हैं।[3] वहां अनुप्रेक्षा का अर्थ भावना किया है। अनुप्रेक्षा का अर्थ है—आत्मचिन्तन। आचार्य उमास्वाति ने भी भावना के स्थान पर अनुप्रेक्षा शब्द का प्रयोग किया है और कहा है—भगवद् कथित विषयों पर चिन्तन करना अनुप्रेक्षा है। आचार्य कुन्दकुन्द ने भी भावना के स्थान पर "अणुवेक्खा" शब्द का प्रयोग किया है। उन्होंने बारह भावना पर एक ग्रंथ भी लिखा है, जिसका नाम है "बारस अणुवेक्खा"।

---

1. आवश्यक 4, टीका।
2. बृहत्कल्पभाष्य, भाग 2 गाथा 1285 की वृत्ति, पृ० 397।
3. स्थानाँग 4। 1

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन आचार्यों ने भावना के सम्बन्ध में बड़ा ही गहरा और व्यापक विश्लेषण किया है। सचमुच भावना का क्षेत्र इतना विस्तृत है कि वह सामान्य चिन्तन से प्रारंभ होकर जप और ध्यान की उच्चतम भूमिका तक चला जाता है। आगमों में भावना को कहीं अत्यन्त वैराग्य प्रधान आत्म-विचारणा के रूप में लिया है, कहीं मनोबल को सुदृढ़ करने वाली साधना के रूप में। कहीं चारित्र को विशुद्ध रखने वाले चिन्तन और आचरण को भी भावना के रूप में बताया गया है तथा मन के विविध शुभाशुभ संकल्प-विकल्पों को भी भावना बताया है।

भावना का महत्व

भाव एक नौका है जिस पर चढ़ कर संसार-सागर से पार उतरा जा सकता है। यह धर्म रूप द्वार खोलने की कुंजी है। भाव एक औषध है जिससे भव-रोग की चिकित्सा की जाती है। भाव से रहित आत्मा कितना ही प्रयत्न करे मुक्ति को प्राप्त नहीं कर सकती। शास्त्रों में मोक्ष के चार मार्ग बताये गये हैं— दान, शील, तप और भाव। इनमें अन्तिम मार्ग भाव है। भाव के अभाव में दान, शील, तप आदि केवल अल्प फलदायक होंगे। दान के साथ दान देने की शुद्ध भावना होगी, शील पालने की सच्ची भावना होगी और तप करने के सुन्दर भाव होंगे तभी वे मुक्ति के हेतु बनेंगे। अतः यह बात शत-प्रतिशत सही है कि भावशून्य आचरण सिद्धिदायक नहीं होता। तभी कहा जाता है—जो मन चंगा तो कठौती में गंगा।

सचमुच भगवान् का निवास शुद्ध भावों में ही है। जो लोग भावना की शुद्धि को महत्व न देकर परमात्मा को मन्दिर, मसजिद, गिरजाघर में ढूंढने का प्रयत्न करते हैं, उनसे कबीर कहते हैं—

मुझको कहां ढूंढे बंदे, मैं तो तेरे पास में।
ना मैं मक्का, ना मैं काशी, ना काबे कैलास में।।
मैं तो हूं विस्वास में।।

और परमात्मा को पाने के लिये वे कर का मनका छोड़कर मन का मनका फेरने की बात कहते हैं। मात्र माला के मणियों को फेरने से प्रभु नहीं मिलेंगे, उनसे मिलने के लिये तो मन को शुद्ध करना होगा।

"पद्मपुराण" में भी एक प्रसंग आता है। एक बार नारदजी भगवान् विष्णु से पूछते हैं कि भगवन्! आपका निवास स्थान कहां है? विष्णु ने उत्तर दिया—

नाहं वसामि वैकुण्ठे, योगिनां हृदये च न।
मद् भक्ता यत्र गायन्ति, तत्र तिष्ठामि नारद!।।

अर्थात् न मैं वैकुण्ठ में रहता हूं न शेषशय्या पर और न योगियों के हृदय में, किन्तु मेरे भक्त जहां भावना के साथ मुझे पुकारते हैं, मैं वहीं उपस्थित रहता हूं।

भावना के प्रकार

यों तो भावना के अलग-अलग दृष्टियों से अनेक प्रकार किये गये हैं पर मूलतः भावना के दो भेद हैं—अशुभ भावना और शुभ भावना। शास्त्रीय भाषा में इसे क्रमशः संक्लिष्ट और असंक्लिष्ट भावना भी कहा जाता है।

अशुभ भावना

मन जब राग-द्वेष, मोह आदि के अशुभ विकल्पों में उलझ कर निम्न गति करता है, दुष्ट चिन्तन करता है तब वह चिन्तन अशुभ भावना कहलाता है। यह अशुभ भावना जीव की दुर्गति का कारण बनती है, उसे पतन की ओर ले जाती है। अशुभ भावना बड़े-बड़े तपस्वी मुनियों को भी नरक गति अथवा दुर्गति में ठेल देती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अशुभ भावना के कई भेद किये जा सकते हैं। "उत्तराध्ययन" सूत्र के 36 वें अध्ययन में चार अशुभ भावनाओं का उल्लेख किया गया है। वे हैं—

(1) कन्दर्प भावना (2) अभियोग भावना (3) किल्विषी भावना और (4) आसुरी भावना।

"स्थानांग सूत्र" में चार अशुभ भावनाओं के प्रत्येक के चार-चार भेद करके सोलह प्रकार बताये हैं जो इस प्रकार हैं[1]—

(1) आसुरी भावनाओं के चार भेद—
  (क) क्रोधी स्वभाव,
  (ख) अति कलहशीलता,
  (ग) आहारादि में आसक्ति रखकर तप करना,
  (घ) निमित्त प्रयोग द्वारा आजीविका करना।

(2) अभियोगी भावना के चार भेद
  (क) आत्मप्रशंसा—अपने मुंह से अपनी प्रशंसा करना।
  (ख) परपरिवाद—दूसरे की निन्दा करना।
  (ग) भूतिकर्म—रोगादि की शांति के लिये अभिमंत्रित राख आदि देना।
  (घ) कौतुककर्म—अनिष्ट शांति के लिये मंत्रोपचार आदि कर्म करना।

(3) सम्मोही भावना के चार भेद
  (क) उन्मार्ग का उपदेश देना,
  (ख) सन्मार्ग—यात्रा में अन्तराय या बाधा डालना।
  (ग) काम भोगों की तीव्र अभिलाषा,
  (घ) अतिलोभ करके बार-बार नियाणा (निदान) करना

(4) किल्विषि भावना के चार भेद
  (क) अरिहन्तों की निन्दा करना।
  (ख) अरिहंत कथित धर्म की निन्दा करना।
  (ग) आचार्य, उपाध्याय की निन्दा करना।
  (घ) चतुर्विध संघ की निन्दा करना।

अशुभ भावना के इन रूपों का विवेचन करने का यही अभिप्राय है कि इसके दुष्परिणामों से बचा जाय और अपने अन्तकरण को पवित्र किया जाय।

शुभ भावना

चरित्र को समुज्जवल बनाने के लिये शुभ भावना का बड़ा महत्व है। शुभ भावना के बार-बार चिन्तन से साधक सुसंस्कारी बनता है और कल्याण-मार्ग की ओर प्रवृत्त होता है। वह संसार में रह कर भी सांसारिक कलुषता में डूबता नहीं। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, और अपरिग्रह ये पांच महाव्रत हैं। ये व्रत जीवन में असंयम का स्रोत रोक कर संयम का द्वार खोलते हैं। इन महाव्रतों की निर्दोष परिपालना के लिये यह आवश्यक है कि इन महाव्रतों पर चिन्तन किया जाय। ये भावनाएं चारित्र को दृढ़ करती हैं। इसलिये इन्हें चारित्र भावना भी कहते हैं। "प्रश्न व्याकरण" सूत्र के आधार पर पांच महाव्रतों की भावनाओं का विवेचन इस प्रकार है—

(1) **अहिंसा महाव्रत की पांच भावनाएं**—
  (क) ईर्ष्यासमिति भावना—गमनागमन में सावधानी बरतना।

1. स्थानांग सूत्र, 4। 4, सूत्र 354 (मुनि) श्री कन्हैयालाल कमल द्वारा सम्पादित।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(ख) मनःसमिति भावना—मन को सम्यक् चर्या में लगाना।

(ग) वचन समिति भावना—वाणी पर संयम रखना।

(घ) एषणा समिति भावना—निर्दोष आहार की गवेषणा करना।

(न) आदान निक्षेपण समिति-भावना—विवेकपूर्वक वस्तु ग्रहण करना और रखना।

(2) **सत्य महाव्रत की पांच भावनाएं**—

(क) अनुचित्य समिति भावना—सत्य के विविध पक्षों पर चिन्तन कर के बोलना।

(ख) क्रोध निग्रह रूप क्षमा भावना—क्रोध-त्याग।

(ग) लोभ विजय रूप निर्लोभ भावना—लोभ-त्याग।

(घ) भय मुक्ति रूप धैर्ययुक्त अभय भावना—भय-त्याग।

(न) हास्य मुक्ति वचन संयम भावना—हास्य-त्याग।

(3) **अचौर्य महाव्रत की पांच भावनाएं**—

(क) विविक्तवास समिति भावना—निर्दोष स्थान में निवास का चिन्तन।

(ख) अनुज्ञात संस्तारक ग्रहण रूप अवग्रह समिति भावना—निर्दोष औढना बिछोना।

(ग) शय्या-परिकर्म वर्जन रूप शय्या समिति भावना—शोभा-सजावट की वर्जना।

(घ) अनुज्ञात भक्तादि भोजन लक्षण साधारण पिंडपात लाभ समिति भावना—सामग्री के समान वितरण और संविभाग की भावना।

(न) साधर्मिक विनयकरण समिति भावना—साधर्मिक के प्रति विनय व सद्भाव।

(4) **ब्रह्मचर्य महाव्रत की पांच भावनाएं**—

(क) असम्भक्तवास वसति—ब्रह्मचर्य में बाधक कारणों, स्थानों और प्रसंगों से बचना।

(ख) स्त्री कथा विरति—स्त्री के चिन्तन और कीर्तन से बचना।

(ग) स्त्री रूप-दर्शन विरति—स्त्री के रूप सौन्दर्य के प्रति विरक्ति।

(घ) पूर्वरत—पूर्व क्रीड़ित विरति—विकार-जन्य पूर्व स्मृतियों का चिन्तन न करना।

(न) प्रणीत आहारत्याग—आहार संयम, तामसिक भोजन का त्याग।

(5) **अपरिग्रह महाव्रत की पांच भावनाएं**—

(क) श्रोत्रेन्द्रिय संवर भावना—श्रोत्रेन्द्रिय के मनोज्ञ-अमनोज्ञ विषयों में राग द्वेष न करना।

(ख) चक्षुरिन्द्रिय संवर भावना—चक्षुरिन्द्रिय के मनोज्ञ अमनोज्ञ विषयों में राग द्वेष न करना।

(ग) घ्राणेन्द्रिय संवर भावना—घ्राणेन्द्रिय के मनोज्ञ-अमनोज्ञ विषयों में राग-द्वेष न करना।

(घ) रसनेन्द्रिय संवर भावना—रसनेन्द्रिय के मनोज्ञ-अमनोज्ञ विषयों में राग-द्वेष न करना।

(न) स्पर्शनेन्द्रिय संवर भावना—स्पर्शनेन्द्रिय के मनोज्ञ-अमनोज्ञ विषयों में राग-द्वेष न करना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीवन में पांच महाव्रतों की रक्षा के लिये, उन्हें परिपुष्ट बनाने के लिये और जीवन को सुसंस्कारवान् बनाने के लिये उक्त 25 चारित्र भावनाएं बताई गई हैं। इन भावनाओं के चिन्तन, मनन और जीवन में इनका प्रयोग करने से साधक को त्यागमय, तपोमय, एवं अनासक्त जीवन जीने की प्रेरणा मिलती है। परिणामस्वरूप वह संयम के पथ पर सफलतापूर्वक चल सकता है।

भावना भवनाशिनी

शुभ, भावना मानव को जन्म मरण के चक्रों से मुक्ति दिलाने वाली है। शुभ भावनाओं के प्रभाव से ही प्रसन्नचन्द्र राजर्षि ने केवलज्ञान प्राप्त किया। शुभ भावना के प्रभाव से पशु भी स्वर्गगति के अधिकारी बने हैं। महामुनि बल-भद्र की सेवा में रहने वाला हरिण आहार बहराने की उत्कृष्ट भावना से काल करके पांचवें देवलोक का, चण्डकोशिक सर्प भगवान् महावीर के द्वारा प्रतिबोध प्राप्त कर दया की सुन्दर भावना से ओतप्रोत होकर आठवें देवलोक का, नन्दण मणियार का जीव मेंढ़क के भव में भगवान् के दर्शनों की शुभ भावना से काल कर सद्गति का अधिकारी बना। अतः चाणक्य नीति में ठीक ही कहा है—"भावना भवनाशिनी।"

यों तो प्रत्येक मनुष्य के हृदय में अनेक भावनाएं उठती हैं पर धर्म ध्यान से परिपूर्ण भावना ही उसके कर्मों का नाश करती है। आज के वैज्ञानिक युग में मानव का चिन्तन दिन पर दिन भौतिक सुखों की खोज में भटक रहा है। वह हजारपति है तो कैसे लखपति-करोडपति बन सकता है, एक बंगला है तो दो-तीन और कैसे बन जायें के स्वप्न देखता रहता है। इच्छाएं आकाश के समान अनन्त होती हैं। उन्हीं अनन्त इच्छाओं की पूर्ति के लिये नये-नये रास्ते ढूंढने में वह दिन-रात लगा रहता है। परिणामस्वरूप उसका आध्यात्मिक चिन्तन छूट गया है। आध्यात्मिक चिन्तन के अभाव में आज के मानव में राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ की दुष्प्रवृत्तियां अधिकाधिक घर करती जा रही हैं, परिणामस्वरूप उसका जीवन कुंठाओं से ग्रस्त, निराशाओं से आक्रान्त और अशान्त बन गया है। शुभ भावना से अर्थात् पवित्र भावना से व्यक्ति का मनोबल बढ़ता है। वह मुसीबत आने पर घबराता नहीं वरन् उसका बड़े धैर्य और साहस से मुकाबला करता है। पर आज के मानवीय जीवन में इसका अभाव है। इसीलिये आज व्यक्ति थोड़ी सी मुसीबत आने पर जल्दी टूट जाता है। अखबारों में आत्महत्या के जो किस्से रातदिन पढ़ने को मिलते हैं, उसका एक मात्र कारण शुभ भावना का अभाव है।

बारह भावना

पांच महाव्रतों की 25 चारित्र भावनाओं की भांति बारह वैराग्य भावनाओं का आगम एवं आगमेतर ग्रंथों में बहुत वर्णन मिलता है और इस पर विपुल परिमाण में साहित्य रचा गया है। इस भावधारा का चिन्तन निर्वेद एवं वैराग्योन्मुखी होने से इसे वैराग्य भावना कहा गया है। इस भावना से साधक में मोह की व्याकुलता एवं व्यग्रता कम होती है तथा धर्म व अध्यात्म में स्थिरीकरण होता है। बारह भावनाओं का स्वरूप संक्षेप में इस प्रकार है—

(1) अनित्य भावना

इस भावना का अर्थ यह है कि जगत् में जितने भी पौद्गलिक पदार्थ हैं वे सब अनित्य हैं। यह शरीर, धन, माता, पिता, पत्नी, पुत्र, परिवार, घर, महल, आदि जो भी वस्तुएं हमसे सम्बन्धित हैं या जो भी वस्तुएं हमे प्राप्त हैं वे सब अनित्य हैं, क्षणभंगुर हैं, नाशवान् हैं, फिर इन पर मोह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्यों ? घास की नोंक पर ठहरे हुए ओस कण की भांति जीवन भी आयुष्य की नोक पर टिका हुआ है। आयुष्य की पत्तियां हिलेंगी और जीवन की ओस सूख जायेगी इसलिये व्यक्ति को क्षण भर भी प्रमाद नहीं करना चाहिये। हितोपदेश में भी कहा गया है—

अनित्यं यौवनं रूपं जीवितं द्रव्यसंचयः।
ऐश्वर्यः प्रियसंवासो, मुह्येत तत्र न पंडितः॥

अर्थात् यौवन, रूप, जीवन, धनसंग्रह, ऐश्वर्य और प्रियजनों का सहवास ये सब अनित्य हैं अतः ज्ञानी पुरुषों को इनमें मोहित नहीं होना चाहिये। ऐसा विचारना ही अनित्य भावना है।

भरत चक्रवर्ती के पास वैभव व समृद्धि की क्या कमी थी। एक दिन वे अंगुली में अंगूठी पहनना भूल गये। जब उनकी नजर अंगुली पर गई तो उसकी शोभा उन्हें फीकी लगी। उन्होंने एक-एक करके शरीर के सारे आभूषण उतार दिये तब उन्हें यह समझते देर न लगी कि शरीर बाह्य वस्त्राभूषणों से ही सुन्दर लगता है, बिना वस्त्राभूषणों के स्वयं शोभाहीन है। वे सोचने लगे आज मेरा भ्रम टूट गया, अज्ञान और मोह का पर्दा हट गया। जिस शरीर को मैं सब कुछ समझ रहा था उसकी सुन्दरता-स्वस्थता पराश्रित हैं। इसी अनित्य भावना के चिन्तन में भरत चक्रवर्ती इतने गहरे उतरे कि शीशमहल में बैठे-बैठे उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो गया।

(2) अशरण भावना

इस भावना के अन्तर्गत सांसारिक प्राणी को यह चिन्तन करना चाहिए कि संसार की प्रत्येक वस्तु जो परिवर्तनशील, नाशवान् है वह आत्मा की शरणागत नहीं हो सकती। जिस प्रकार सिंह हरिण को पकड़ कर ले जाता है उसी प्रकार मृत्यु भी मनुष्य को ले जाती है। उस समय माता, पिता व भाई आदि कोई भी जीवन का भाग देकर उन्हें नहीं बचा सकते। इस प्रकार अनाथी मुनि की भांति मोक्षाभिमुख साधक को चिन्तन करना चाहिये कि इस संसार में कोई भी वस्तु शरण रूप नहीं है। केवल एक धर्म अवश्य शरण रूप है जो मरने पर भी जीव के साथ रहता है और सांसारिक रोग, जरा, मृत्यु आदि दुखों से प्राणों की रक्षा करता है।

(3) संसार भावना

जन्म–मरण के चक्र को संसार कहते हैं। प्रत्येक प्राणी जो जन्म लेता है वह मरता भी है। संसार में चार गति, 24 दंडक और चौरासी लाख जीव योनियों में वह भ्रमण करता रहता है। विशेषावश्यक में संसार की परिभाषा यही की है—एक भव से दूसरे में, एक गति से दूसरी गति में भ्रमण करते रहना संसार है।

संसार भावना का लक्ष्य यही है कि मनुष्य संसार की इन विचित्रताओं, सुख-दुःख की इन स्थितियों का चित्र अपनी आखों के सामने लाये। नरक निगोद और तिर्यंच गति में भोगे हुए कष्टों का अन्तर की आंखों से अवलोकन करे और मन को प्रतिबुद्ध करे कि इस संसार भ्रमण से मुक्त कैसे होऊं। संसार भावना की उपलब्धि यही है कि संसार के सुख–दुःखों के स्मरण से मन उन भोगों से विरक्त बने।

(4) एकत्व भावना

एकत्व भावना में केन्द्रस्थ विचार यह है कि प्राणी आत्मा की दृष्टि में अकेला आया है और अकेला ही जायेगा। वह अपने कृत्यों का स्वतंत्र कर्ता, हर्ता और भोक्ता है। इसलिये व्यक्ति को अकेले को ही अपना स्थायी हित करना है। धर्म का आश्रय लेना है। उसे निज स्वभाव में मग्न होकर "एकोऽहम्" मैं अकेला हूं, "नत्थि मम

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कोई" मेरा कोई नहीं है। यह बार-बार विचार कर नमि राजर्षि की भांति परमानन्द को प्राप्त करना चाहिये।

(5) अन्यत्व भावना

अन्यत्व भावना का चिन्तन हमें यह सूत्र देता है—अन्नो जीवो अन्नं इमं सरीरं—अर्थात् यह जीव अन्य है, शरीर अन्य है। जो बाहर में है, दीख रहा है, वह मेरा नहीं है, जो काम भोग प्राप्त हुए हैं वे भी मेरे नहीं है। वे सब मुझ से भिन्न हैं। यदि मैं भिन्न वस्तु में, पर वस्तु में अपनत्व बुद्धि करूंगा तो वह मेरे लिये दुःखों और चिन्ताओं का कारण होगा। इसलिये पर वस्तुओं से आत्मा को भिन्न समझना चाहिये। आत्मगुणों को पहचानने के लिये भगवान् महावीर ने उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है—

सकम्प बीओ अवसो पयाइ,

परं भवं सुन्दर पावगं वा ।।

(उत्त. अ. 13, गा. 24।)

अर्थात् यह पराधीन आत्मा द्विपद, दास-दासी, चतुष्पद-घोड़ा, हाथी, खेत, घर, धन, धान्य आदि सब कुछ छोड़कर केवल अपने किये हुए अच्छे या बुरे कर्मों को साथ लेकर पर भव में जाती है। कहने का तात्पर्य यह है कि ये सब पदार्थ पर हैं अर्थात् साथ जाने वाले नहीं हैं फिर इनमें आनन्द क्यों मनाना? इस शरीर से आत्मा को भिन्न मानना ही अन्यत्व भावना है।

(6) अशुद्धि भावना

यह शरीर अनित्य है, अशुचिमय है, मांस, रुधिर, चर्बी इसमें भरे हुए हैं। यह अनेक व्याधियों का घर है, रोग व शोक का मूल कारण है। व्यक्ति सुन्दर कामिनियों पर मुग्ध हो जिन्दगी बर्बाद कर देते हैं किन्तु उस सुन्दर चर्म के नीचे ये घिनौने पदार्थ भरे पड़े हैं। ऐसा शरीर प्रीति के योग्य कैसे हो सकता है? इस प्रकार अशुचि भावना का चिन्तन कर शरीर की वास्तविकता समझ आत्मा पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिये।

(7) आस्रव भावना

अज्ञान युक्त जीव कर्मों का कर्त्ता होता है। कर्मों के आगमन का मार्ग आस्रव कहलाता है। आस्रव यानि पुण्यपाप रूप कर्मों के आने के द्वार जिसके माध्यम से शुभाशुभ कर्म आत्म प्रदेशों में आते हैं, आत्मा के साथ बंधते हैं। यह संसार रूपी वृक्ष का मूल है। जो व्यक्ति इसके फलों को चखता है वह क्लेश का भाजन बनता है। आस्रव भाव संसार परिभ्रमण का कारण है। इसके रहते प्राणी सद् असद् के विवेक से शून्य रहता है।

आस्रव भावना के चिन्तन से आत्म विकास होता है। परिणामस्वरूप जन्म मरण रूप संसार से मुक्त हो आत्मा अक्षय अव्याबाध सुख मोक्ष प्राप्त करती है।

(8) संवर भावना

आस्रव का अवरोध संवर है। जैसे द्वार बन्द हो जाने पर कोई घर में प्रवेश नहीं कर सकता है वैसे ही आत्मपरिणामों में स्थिरता होने पर, आस्रव का निरोध होने पर आत्मा में शुभाशुभ कर्म नहीं आ सकते। आत्मशुद्धि के लिये कर्म के आने के मार्गों को रोकना आवश्यक है अतः व्रत प्रत्याख्यान रूप संवर को धारण करने की भावना आना ही संवर भावना है। संवर भावना से जीवन में संयम तथा निवृत्ति की वृद्धि होती है।

(9) निर्जरा भावना

तपस्या के द्वारा कर्मों को दूर करना निर्जरा है। निर्जरा दो प्रकार की होती है अकाम और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सकाम। अकाम निर्जरा एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के प्राणी कर सकते हैं। ज्ञानपूर्वक तपस्यादि के द्वारा कर्मों का क्षय करना सकाम निर्जरा है। अज्ञानपूर्वक दुखों का सहन करना अकाम निर्जरा है। दुष्ट वचन, परिषह, उपसर्ग और क्रोधादि कषायों को सहन करना, मानापमान में समभाव रखना, अपने अवगुण की निन्दा करना, पांचों इन्द्रियों को वश में रखना निर्जरा है। इसी प्रकार के शुद्ध विचार निर्जरा भावना है।

(10) धर्म भावना

धर्म शब्द बड़ा व्यापक है। यह डूबते का सहारा, अनाथों का नाथ, सच्चा मित्र और पर भव में साथ जाने वाला सम्बन्धी है। उसके अनेक रूप हैं। जो उसे धारण करता है उसके दुख सन्ताप दूर हो जाते हैं। 'वत्थु सहावो धम्मो' वस्तु का स्वभाव धर्म है। अतः धर्म में दृढ़ श्रद्धा और आचरण में धर्म को साकार करते हुए हमें आत्मा को इह लोक और परलोक में सुखी बनाने का प्रयत्न करना चाहिए।

(11) लोक भावना

लोक का अर्थ है—जीव समूह और उनके रहने का स्थान। जैसे एक घर में रहने वाला सदस्य अपने घर के सम्बन्ध में बातचीत करता है, उसके उत्थान आदि के बारे में चिन्तन करता है वैसे ही मनुष्य इस लोकगृह का एक सदस्य है। अन्य जीव समूहों के साथ उसका दायित्व है, संबंध है क्योंकि लोक में ऐसी कोई जगह नहीं जहां जीव ने जन्म-मरण नहीं किया हो। ऐसे लोक स्वरूप का चिन्तन व्यक्ति को वैराग्य और निर्वेद की ओर उन्मुख करता है।

(12) बोधि दुर्लभ भावना

अनन्त काल तक अनेक जीव योनियों में भ्रमण करते हुए यह मनुष्य भव मिला है। अनेक बार चक्रवर्ती के समान ऋद्धि प्राप्त की है। उत्तम कुल, आर्य क्षेत्र भी पाया परन्तु चिन्तामणि के समान सम्यक्त्व रत्न प्राप्त करना बड़ा दुर्लभ है, ऐसा चिन्तन करना बोधि दुर्लभ भावना है।

शास्त्रों, विद्वानों और सन्तों ने व्यक्ति के जन्म मरण को सुधारने और उसके व्यक्तित्व के विकास के लिये भावना की शुद्धि को जो महत्व दिया है वह सचमुच बड़ा प्रेरक है। आज व्यक्ति यदि अपने भावशुद्धि की ओर ध्यान दे तो उसके अन्तर्मन में छाया राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, मोह आदि कथाओं का कुहरा एकदम समाप्त हो जायगा और उसका जीवन स्वच्छ निर्मल जल की भांति शुद्ध और शीतलता दायक बन जायेगा। शुद्ध भावना से न केवल व्यक्ति को व्यक्तिगत लाभ होगा वरन् इससे पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय सौजन्य का वातावरण भी बनेगा।

महावीर ने कहा

'स्वयं कृतः कर्म यदात्मना पुरा,
फलं तदीयं लभते शुभाशुभम् ।'

—आ० अमितगति, पु० सि० उ०।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्रोध से बढ़कर हमारा कोई शत्रु नहीं। जब इसका प्रवेश होता है तो विवेक भाग जाता है। तब हमें अपने कर्तव्य और अकर्तव्य की पहिचान नहीं रहती। पिता पुत्र को और पुत्र पिता को, माता को मार डालता है। इसीलिए कषायों में इसका सबसे प्रथम स्थान है। क्रोधी कभी आत्मजयी नहीं हो सकता। क्रोध उत्पन्न तब होता है जब हम पर-पदार्थों में इष्ट अनिष्ट की कल्पना करते हैं। यदि हम ऐसा करना छोड़ दें और अपने विवेक को सतत् जागरूक रखें तो सहज ही क्रोध पर विजय प्राप्त कर सकते हैं। यह है प्रसिद्ध चिन्तक की इस रचना का सार संक्षेप।

प्र० सम्पादक

सम्पूर्णता की राह में बाधक : क्रोध

● डा० हुकमचन्द भारिल्ल, जयपुर

यद्यपि यह आत्मा ज्ञान का घनपिंड और आनन्द का कन्द है, स्वभाव से स्वयं में परिपूर्ण है तथापि कुछ विकृतियां, कमजोरियां तब से ही इसके साथ जुड़ी हुई हैं, जब से यह है। उन कमजोरियों को शास्त्रकारों ने विभाव कहा, कषाय कहा और न जाने क्या-क्या नाम दिये। उनके त्याग का उपदेश भी कम नहीं दिया। सच्चे सुख को प्राप्त करने का उपाय भी उनके त्याग को ही बताया। यहां तक कहा---

क्रोध मोह मद लोभ की, जौ लों मन में खान।
तों लों पंडित-मूरखो, तुलसी एक समान॥

महात्माओं के अनेक उपदेशों के बावजूद भी आदमी इनसे बच नहीं पाया।

इन कमजोरियों के कारण प्राणियों ने अनेक कष्ट उठाये हैं, उठा रहे हैं और उठायेंगे। इनसे बचने के भी उसने कम उपाय नहीं किए, पर बात वहीं की वहीं रही। कई बार इसके महत्वपूर्ण कार्य बनते-बनते इन्हीं विकृतियों के कारण बिगड़े हैं।

जिन विकारों के कारण, जिन कमजोरियों के कारण, आदमी सफलता के द्वार पर पहुंच कर कई बार असफल हुआ, सुख और शांति के शिखर पर पहुंच कर उसे प्राप्त किए बिना ही ढुलक गया, उन विकारों में, उन कमजोरियों में सबसे बड़ा विकार, सबसे बड़ी कमजोरी है क्रोध।

क्रोध आत्मा की एक ऐसी विकृति है, ऐसी कमजोरी है जिसके कारण उसका विवेक समाप्त हो जाता है, भले-बुरे की पहिचान नहीं रहती। जिस पर क्रोध आता है, क्रोधी उसे भला बुरा कहने लगता है, गाली देने लगता है, मारने लगता है यहां तक कि स्वयं की जान जोखम में डालकर भी उसका बुरा करना चाहता है। यदि कोई हितैषी पूज्य पुरुष भी बीच में आवे तो उसे भी भला, बुरा कहने लगता है, मारने को तैयार हो जाता है। यदि इतने पर भी उसका बुरा न हो तो, स्वयं बहुत दुःखी होता है, अपने ही अंगों का घात करने लगता है, माथा कूटने लगता है, यहां तक कि विषादि-भक्षण द्वारा मर तक जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लोक में जितनी भी हत्याएं और आत्म-हत्याएं होती हैं, उनमें अधिकांश क्रोधावेश में ही होती हैं। क्रोध के समान आत्मा का कोई दूसरा शत्रु नहीं है।

क्रोध करने वाले को जिस पर क्रोध आता है, वह उसकी ओर ही देखता है, अपनी ओर नहीं देखता। क्रोधी को जिस पर क्रोध आता है, उसी की गलती दिखाई देती है, अपनी नहीं। चाहे निष्पक्ष विचार करने पर अपनी ही गलती निकले, पर क्रोधी विचार करता ही कब है ? यही तो उसका अन्धापन है कि उसकी दृष्टि पर की ओर ही रहती है और वह भी पर में विद्यमान-अविद्यमान दुर्गुणों की ओर ही। गुणों को वह देख ही नहीं पाता। यदि उसे पर के गुण दिखाई दे जावें तो फिर उस पर क्रोध ही क्यों आवे, फिर तो उसके प्रति श्रद्धा उत्पन्न होगी।

यदि मालिक के स्वयं के पैर से ठोकर खाकर कांच का गिलास टूट जावे तो एकदम चिल्लाकर कहेगा—इधर बीच में गिलास किसने रख दिया ? उसे गिलास रखने वाले पर क्रोध आयेगा, स्वयं पर नहीं। वह यह नहीं सोचेगा कि मैं देखकर क्यों नहीं चला। यदि वही गिलास नौकर के पैर की ठोकर से फूटे तो चिल्लाकर कहेगा—देखकर नहीं चलता, अन्धा है। फिर उसे बीच में गिलास रखने वाले पर क्रोध न आकर, ठोकर देने वाले पर आयेगा क्योंकि बीच में गिलास रखा तो स्वयं उसने है। गलती हमेशा नौकर की ही दिखेगी चाहे स्वयं ठोकर दे, चाहे नौकर के पैर की ठोकर लगे, चाहे स्वयं गिलास रखे, चाहे दूसरे ने रखा हो।

यदि कोई कह दे कि गिलास को आप ही ने रखा था और ठोकर भी आपने मारी। अब नौकर को क्यों डांटते हो, तब भी यही बोलेगा कि इसे उठा लेना चाहिए था। उसने उठाया क्यों नहीं ? उसे अपनी भूल दिख ही नहीं सकती क्योंकि क्रोधी, पर में ही भूल देखता है स्वयं में देखने लगे तो क्रोध आयेगा कैसे ? यही कारण है कि आचार्यों ने क्रोधी को क्रोधान्ध कहा है।

क्रोधान्ध व्यक्ति क्या-क्या नहीं कर डालता। सारी दुनियां में मनुष्यों द्वारा जितना भी विनाश होता देखा जाता है, उसके मूल में क्रोधादि भाव ही देखे जाते हैं। द्वारिका जैसी पूर्ण विकसित और सम्पन्न नगरी का विनाश द्वीपायन मुनि के क्रोध के कारण ही हुआ था। क्रोध के कारण सैकड़ों घर-परिवार टूटते देखे जाते हैं। अधिक क्या कहें—जगत् में जो कुछ भी बुरा नजर आता है, वह सब क्रोधादि विचारों का ही परिणाम है। कहा भी है—'क्रोधोदयात् भवति कस्य न कार्यहानिः" क्रोधादि के उदय में किसकी कार्य हानि नहीं होती, अर्थात् सभी की हानि होती ही है।

क्रोध एक शान्ति भंग करने वाला मनोविकार है। वह क्रोध करने वाले की मानसिक शान्ति तो भंग कर ही देता है, साथ ही वातावरण को भी कलुषित और अशान्त कर देता है। जिसके प्रति क्रोध प्रदर्शन होता है, वह तत्काल अपमान का अनुभव करता है। और इस दुःख पर उसकी त्यौरी चढ़ जाती है। यह विचार करने वाले बहुत थोड़े निकलते हैं कि हम पर जो क्रोध प्रकट किया जा रहा है, वह उचित है या अनुचित।

क्रोध का एक खतरनाक रूप बैर है। बैर क्रोध से भी खतरनाक मनोविकार है। वस्तुतः वह क्रोध का ही एक विकृत रूप है। बैर क्रोध का आचार या मुरब्बा है। क्रोध के आवेश में हम तत्काल बदला लेने की सोचते हैं। सोचते क्या हैं तत्काल बदला लेने लगते हैं। जिसे शत्रु समझते हैं क्रोधावेश में उसे भला बुरा कहने लगते हैं, मारने लगते हैं पर जब हम तत्काल कोई प्रतिक्रिया

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यक्त न कर मन में ही उसके प्रति क्रोध को इस भाव से दबा लेते हैं कि अभी मौका ठीक नहीं है प्रत्याक्रमण करने से मुझे हानि हो सकती है, शत्रु प्रबल है। मौका लगने पर बदला लूंगा। तब वह क्रोध बैर का रूप धारण कर लेता है और वर्षों दबा रहता है तथा समय आने पर प्रगट हो जाता है। ऊपर से देखने पर कोध की अपेक्षा यह विवेक का कम विरोधी नजर आता है पर यह है क्रोध से भी अधिक खतरनाक, क्योंकि यह योजनाबद्ध विनाश करता है जबकि क्रोध विनाश की योजना नहीं बनाता। तत्काल जो जैसा सम्भव होता है कर गुजरता है। योजनाबद्ध विनाश सामान्य विनाश से अधिक खतरनाक, और भयानक होता है।

यद्यपि जितनी तीव्रता और वेग क्रोध में देखने में आती है, उतनी बैर में नहीं तथापि क्रोध का काल बहुत कम है जबकि बैर पीढ़ियों दर पीढ़ी चलता रहता है।

क्रोध और भी अनेक रूपों में पाया जाता है। झल्लाहट, चिड़चिड़ाहट, क्षोभ आदि भी क्रोध के ही रूप हैं। जब हमें किसी की कोई बात या काम पसन्द नहीं आता है और वह बात बार-बार हमारे सामने आती है तो हम झल्ला पड़ते हैं। बार-२ की झल्लाहट चिड़चिड़ाहट में बदल जाती है। झल्लाहट और चिड़चिड़ाहट असफल क्रोध के परिणाम हैं। ये एक प्रकार से क्रोध के हल्के-हल्के रूप हैं। क्षोभ भी क्रोध का ही अव्यक्त रूप है।

ये सभी विकार क्रोध के ही छोटे बड़े रूप हैं। सभी मानसिक शान्ति को भंग करने वाले हैं, महानता की राह के रोड़े हैं। इनके रहते कोई भी व्यक्ति महान् नहीं बन सकता, पूर्णता को प्राप्त नहीं हो सकता। यदि हमें महान् बनना है, पूर्णता को प्राप्त करना है तो इन पर विजय प्राप्त करनी ही होगी। इन्हें जीतना ही होगा। पर कैसे ?

महापंडित टोडरमल के शब्दों में—"अज्ञान के कारण जब तक हमें पर पदार्थ इष्ट-अनिष्ट प्रतिभासित होते रहेंगे तब तक क्रोधादि की उन्नति होती ही रहेगी किन्तु जब तत्त्वाभ्यास के बल से पर पदार्थों में इष्ट-अनिष्ट बुद्धि समाप्त होगी तब स्वभावतः क्रोधादि की उत्पत्ति नहीं होगी।" आशय यह है कि क्रोधादि की उत्पत्ति का मूल कारण हमारे सुख-दुःख का कारण दूसरों को मानना है, जब हम अपने सुख-दुःख का कारण अपने में खोजेंगे, उनका उत्तरदायित्व अपने में स्वीकारेंगे तो फिर हम क्रोध करेंगे किस पर ?

अपने अच्छे बुरे और सुख-दुःख का कर्ता दूसरों को मानना ही क्रोधादि की उत्पत्ति का मूल कारण है।

इन विकारों से बचने का एक ही मार्ग है—अपने को जानिये, अपने को पहचानिए और अपने में जम जाइये, रम जाइये अपने में ही समा जाइये।

करके तो देखिए—क्रोधादि की उत्पति भी न होगी और आप पूर्णता को भी प्राप्त होंगे।

जे करम पूरब किये खोटे, सहै क्यों नहीं जीयरा।
अति क्रोध अगनि बुझाय प्रानी, साम्य जल ले सीयरा॥

—महाकवि द्यानतराय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महावीर सन्देश सुनें तो संकट पास न आयें

● श्री कल्याणकुमार जैन 'शशि' रामपुर (उ० प्र०)

(१)

वीर पंथ पर चलें, मिले विपदाओं से छुटकारा
निर्मल भावों भरी बहाओं प्रेम पूर्ण जल धारा
मुक्ति मिलेगी ब्रह्मचर्य चारित्र अहिंसा द्वारा
जिसने बांह धर्म की पकड़ी उसको मिला किनारा
जीवन उपवन को महकाता धार्मिक पुण्य पराग है।
सबसे बड़ा धर्म मानव का हिंसा का परित्याग है।।

(२)

हिंसक मन के क्रियाकाण्ड भ्रम मूलक दिखलावे हैं
ऐसी भ्रष्ट क्रियाएं, ज्वालामुखियों के लावे हैं
सम्यक् दर्शन, ज्ञान चरित तक यह न पहुँच पाते हैं
रथ आगे बढ़ जाता है, हम पीछे रह जाते हैं
वीतराग अविकार दिशा है अति असार अनुराग है ।
सबसे बड़ा धर्म मानव का हिंसा का परित्याग है।।

(३)

अनुचित संग्रह, परिग्रही के, मन की जिज्ञासा है
विश्व हड़पने की अन्तर में पनप रही आशा है
राग, द्वेष, छल, कपट, घृणा से, यदि जीवन प्यासा है
तो सन्मति वाणी में यह, हिंसा की परिभाषा है
इसमें गर्हित राग भेद है किंचित नहीं विराग है ।
सबमें बड़ा धर्म आराधन हिंसा का परित्याग है।।

(४)

नर भव पाया है तो उसको, सार्थक कर दिखलाएं
अदया क्रूर अमानवीयता, इसका दर्प घटाएं
दया अहिंसा का धार्मिक पथ, इसे सदा दुलरायें
महावीर सन्देश सुनें तो संकट पास न आयें
जितना धर्म शील जीवन, सार्थक उतना अनुभाग है ।
सब से बड़ा धर्म आराधन हिंसा का परित्याग है।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपरिग्रही गृहस्थ के लिए पहली आवश्यकता यह है कि वह जो संग्रह करे उसके परिणामों से परिचित हो। अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति वह इस प्रकार करे कि उससे दूसरे के हितों का कम से कम नुकसान हो। दूसरी आवश्यकता यह है कि आपकी प्रामाणिकता अक्षुण्ण रहे, वह खण्ड-खण्ड न हो। यह बताते हुए लेखक ने बताया है कि अब समय आ गया है कि हम अपने आपको भौतिकता की ओर से हटा कर नैतिकता की ओर मोड़ें तब ही हमारा, हमारी समाज का, राष्ट्र का और आगे बढ़ कर विश्व का कल्याण संभव है।

प्र० सम्पादक

अपरिग्रह के नये क्षितिज

● डा० प्रेमसुमन जैन, सहायक प्रोफेसर, प्राकृत,
उदयपुर विश्वविद्यालय, उदयपुर

भौतिकवाद के इस युग में आध्यात्म की चर्चा ने जिस ढंग से जोर पकड़ा है उससे प्रतीत होता है कि मानव को जिस संतोष व सुख की तलाश है, वह धन वैभव में नहीं है। पाश्चात्य देशों के समृद्ध जीवन ने इसे प्रमाणित कर दिया है। भारतीय मनीषा हजारों वर्षों से भौतिकता के दुष्परिणामों को प्रकट करती आ रही है। फिर भी मनुष्य के पास अपार परिग्रह है। उसके प्रति तृष्णा है। साथ ही परिग्रह से प्राप्त आन्तरिक क्लेश व पीड़ा के प्रति छटपटाहट भी। अतः स्वाभाविक हो गया है अपरिग्रह के मार्ग को खोजना। उस दिशा में आगे बढ़ना।

भारतीय धर्म दर्शन में तृष्णा से मुक्ति एवं त्याग की भावना आदि का अनेक ग्रन्थों में प्रतिपादन है। किन्तु अपरिग्रह के स्वरूप एवं उसके परिणामों का सूक्ष्म विवेचन जैन ग्रन्थों में ही अधिक हुआ है। पार्श्वनाथ के चतुर्याम-विवेचन से लेकर पं० आशाधर तक के श्रावकाचार ग्रन्थों में पांच व्रतों के अन्तर्गत परिग्रह-परिभाग व्रत की सूक्ष्म व्याख्या की गई है। उस सबका विवेचन यहां प्रतिपाद्य नहीं है। मूल बात इतनी है कि जैन गृहस्थ अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य का पालन करता हुआ अपरिग्रह व्रत को भी जीवन में उतारे। वस्तुतः यह पांचवां व्रत कसौटी है श्रावक व साधु के लिए। यदि वह अहिंसा आदि व्रतों के पालन में प्रामाणिक रहा है तो वह परिग्रही हो नहीं सकता। और यदि वह परिग्रही है तो अहिंसा आदि व्रत उससे सधे नहीं हैं। अपरिग्रह के इस दर्पण में आज के समाज का मुखौटा दर्शनीय है।

परिग्रह की सबसे सूक्ष्म परिभाषा तत्त्वार्थसूत्र में दी गयी है—"मूर्च्छा परिग्रहः।" भौतिक वस्तुओं के प्रति तृष्णा व ममत्व का भाव रखना मूर्च्छा है। इसी बात को प्रश्नव्याकरणसूत्र आदि ग्रन्थों में विस्तार दिया गया है। अन्तरंग परिग्रह की और बाह्य-परिग्रह की बात कही गयी है। आत्मा के निज गुणों को छोड़कर क्रोध लोभ आदि पर भावों को ग्रहण करना अन्तरंग परिग्रह तथा ममत्व भाव से धन, धान्य आदि भौतिक वस्तुओं का संग्रह करना बाह्य-परिग्रह है। शास्त्रों में परिग्रह को एक महावृक्ष कहा गया है। तृष्णा, आकांक्षा आदि जिसकी जड़ें तथा छलकपट, कामभोग आदि शाखाएं व फल हैं। परिग्रह के तीस नामों का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उल्लेख जैन ग्रन्थों में है, जो उसके स्वरूप के विभिन्न आयामों को प्रगट करते हैं। वस्तुतः परिग्रह में समस्त विश्व एवं व्यक्ति का सम्पूर्ण मनोलोक समाहित है। अपरिग्रह में वह इन दोनों से क्रमशः निर्लिप्त हो कर आत्मा स्वरूप मात्र रह जाता है। जैन दर्शन की दृष्टि से आत्मज्ञान की यह दशा ही चरम उपलब्धि है।

प्रश्न यह है कि जिस परम्परा के चिन्तक परिग्रह से सर्वथा निर्लिप्त होकर विचरे, जिनके उपदेशों में सबसे सूक्ष्म व्याख्या परिग्रह के दुष्परिणामों की की गयी, उसी परम्परा के अनुयायियों ने परिग्रह को इतना क्यों पकड़ रखा है? भौतिक समृद्धि के कर्णधारों में जैन समाज के श्रावक अग्रणी क्यों हैं? भगवान् महावीर के समय में भी श्रेष्ठीजन थे। उनके बाद भी जैन धर्म में सार्थवाहों की कमी नहीं रही। मध्य युग के शाह और साहूकार प्रसिद्ध हैं। वर्तमान युग में भी जैनधर्म के श्रीमन्तों की कमी नहीं है। ढाई हजार वर्षों के इतिहास में देश की कला, शिक्षा व संस्कृति इन श्रेष्ठीजनों के आर्थिक अनुदान से संरक्षित व पल्लवित हुई है। किन्तु इस वर्ग द्वारा संचित सम्पत्ति से पीड़ित मानवता का भी कोई इतिहास है क्या? इनके अन्तर्द्वन्द्व और मानसिक पीड़ा का लेखा-जोखा किया है किसी ने? भौतिक समृद्धि की नश्वरता का आठों पहर व्याख्यान सुनते हुए भी परिग्रह के पीछे यह दीवानगी क्यों है? कौन है इसका उत्तरदायी? इन प्रश्नों के उत्तर खोजने होंगे।

भारतीय समाज की संरचना की दृष्टि से देखें तो महावीर के युग तक वर्णगत व्यवस्था प्रचलित हो चुकी थी। महावीर के उपदेश सभी के लिए थे। किन्तु अहिंसा की उनमें सर्वाधिक प्रमुखता होने से कृषि और युद्ध वृत्ति को अपनाने वाले वर्ग ने जैनधर्म को अपना कुलधर्म बनाने में अधिक उत्साह नहीं दिखाया। व्यापार व वाणिज्य में हिंसा का सीधा सम्बन्ध नहीं था। अतः जैनधर्म वैश्यवर्ग के लिए अधिक अनुकूल प्रतीत हुआ। और वह क्रमशः श्रमिष्ठजनों का धर्म बनता गया। इस तरह श्रीमंतों के साथ व्यापारिक समृद्धि और जैनधर्म दोनों जुड़े रहे दोनों द्वारा विभिन्न प्रकार के परिग्रह संग्रह की अपरोक्ष स्वीकृति मिलती रही।

श्रेष्ठिजनों के साथ जैनधर्म का घनिष्ट सम्बन्ध होने से यह दिनोंदिन मंहगा होता गया। मूर्ति-प्रतिष्ठा, मन्दिर-निर्माण, दान की अपार महिमा, आदि धार्मिक-कार्य बिना धन के सम्भव नहीं रह गये। साथ ही इन धार्मिक कार्यों को करने से स्वर्ग की अपार सम्पदा की प्राप्ति का प्रलोभन भी जुड़ गया। व्यापार बुद्धि वाले श्रावक को यह सौदा सस्ता जान पड़ा। वह अपार धन अर्जित करने लगा। उसमें से कुछ खर्च कर देने से स्वर्ग की सम्पदा भी सुरक्षित होने लगी। साथ ही उसे वर्तमान जीवन में महान् दानी व धार्मिक कहा जाने लगा। इस तरह परिग्रह और धर्म एक दूसरे के बराबर आकर खड़े हो गये। महावीर के चिन्तन से दोनों परे हट गये।

परिग्रह-संचय का तीसरा कारण मनोवैज्ञानिक है। हर व्यक्ति सुरक्षा में जीना चाहता है। सुरक्षा निर्भयता से आती है और निर्भयता पूर्णता से। व्यक्ति अपने शरीर की क्षमता को पहिचानता है। उसे अंगरक्षक चाहिए, सवारी चाहिए, धूप एवं वर्षा से बचाने के लिए महल चाहिए, और वे सब चीजें चाहिए जो शरीर की कोमलता को बनाए रखें। इसीलिए इस जगत् में अनेक वस्तुओं का संग्रह है। शरीर की अपूर्णता वस्तुओं से पूरी की जाती है। शरीर के सुख का जितना अधिक ध्यान है, वह उतनी ही अधिक वस्तुओं के संग्रह का पक्षपाती है। इन वस्तुओं के सामीप्य से व्यक्ति निर्भय बनना चाहता है। धर्म, दान-पुण्य उसके शरीर को स्वर्ग की सम्पदा प्रदान करेंगे इसलिए उसने धर्म

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को भी वस्तुओं की तरह संग्रह कर लिया है। वस्तुओं को उसने अपने महल में संजोया है। धर्म को अपने बनाये हुए मंदिर में रख दिया है। इस तरह इस लोक और परलोक दोनों जगह परिग्रही अपनी सुरक्षा का इंतजाम करके चलता है।

आधुनिक युग में परिग्रही होने के कुछ और कारण विकसित हो गये हैं। भय के वैज्ञानिक उपकरण बढ़े हैं। अतः उनसे सुरक्षित होने के साधन भी खोजे गये हैं। वर्तमान से असंतोष एवं भविष्य के प्रति निराशा ने व्यक्ति को अधिक परिग्रही बनाया है। पहले स्वर्ग के सुख के प्रति आस्था होने से व्यक्ति इस लोक में अधिक सुखी होने का प्रयत्न नहीं करता था। अब वह भ्रम टूट गया। अतः साधन सम्पन्न व्यक्ति यहीं स्वर्ग बनाना चाहता है। स्वर्ग के सुखों के लिए रत्न, अप्सरायें आदि चाहिए सो व्यक्ति जिस किसी तरह से उन्हें जुटा रहा है। और उस अपव्यय को रोक रहा है जो वह धर्म पर खर्च करता था। पहले व्यापार और धर्म साथ-साथ थे अब धर्म में भी व्यापार प्रारम्भ हो गया है।

परिग्रह के प्रति इस आसक्ति के विकसित होने में आज की युवा पीढ़ी भी एक कारण है। पहले पहले व्यक्ति अपने परिवार व सम्पत्ति के प्रति इसलिए ममत्त्व को कम कर देता था कि उसे विश्वास होता था कि उसके परिवार व व्यापार को उसकी सन्तान सम्हाल लेगी। वृद्धावस्था में वह निःसंग होकर धर्म-ध्यान कर सकेगा। कारण कुछ भी हों किन्तु परिवार के मुखिया को आज की युवापीढ़ी में यह विश्वास नहीं रहा। वह अपने लिए तो परिग्रह करता ही है, पुत्र में ममत्व होने से उसके लिए भी जोड़कर रख जाना चाहता है। न केवल पुत्र अपितु दामादों का पोषण भी पुत्री के पिता के उपर आ गया है। ऐसी स्थिति में यदि वह परिग्रह न करे तो करे क्या ? समाज में तो उसे रहना है।

वर्तमान सामाजिक मूल्यों से भी अपरिग्रह-वृत्ति प्रभावित हुई है। चक्रवर्तियों व सामन्तों का वैभव साहित्य में पढ़ते-पढ़ते हमारी आंखें उससे चौंधिया गयीं हैं। समाज में हमने उसे प्रतिष्ठा देनी प्रारम्भ कर दी है जो वैभवसम्पन्न है। नैतिक-मूल्यों के धनी हमारी उंगलियों पर नहीं चढ़ते। युवापीढ़ी के कलाकारों, चरित्रवान् युवकों व चिन्तनशील व्यक्तियों की हमें पहिचान नहीं रही। बनावटीपन की इस भीड़ में महावीर का चिन्तन कहीं खो गया है। जीवन-मूल्य को हमने इतना अधिक पकड़ लिया है कि जीवन-मूल्य हमारे हाथ से छिटक गया है। और जब जीव का, आत्मा का, निर्मलता का मूल्य न रह गया तो जड़ता ही पनपेगी। कीचड़ ही कीचड़ नजर आयेगा।

भगवान् महावीर का चिन्तन यहीं से प्रारम्भ होता है। परिग्रह के इन परिणामों से वे परिचित थे। वे जानते थे कि व्यक्ति जब तक स्वयं का स्वामी नहीं होगा वस्तुएं उस पर राज्य करेंगी। उसे इतना मूर्च्छित कर देंगी कि वह स्वयं को न पहिचान सके। जिस शरीर को उसने धरोहर के रूप में स्वीकार किया है, उस शरीर की वह स्वयं धरोहर हो जाय इससे बड़ी विडम्बना क्या होगी ? अतः महावीर ने आत्मा और शरीर के भेद विज्ञान से ही अपनी बात प्रारम्भ की है। बिना इसके अहिंसा, अपरिग्रह आदि कुछ फलित नहीं होता। अतः अपरिग्रह की साधना के लिए मूर्च्छा को तोड़ना आवश्यक है।

आधुनिक सन्दर्भ में अपरिग्रही होना कठिन नहीं है। समझ का फेर है। साधन-सम्पन्न व्यक्ति आज हर तरह से पूर्ण होना चाहता है निर्भय होना चाहता है। और चाहता है कि उसका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुख अपरिमित हो, कभी न समाप्त होने वाला। इस सबके साथ वह धार्मिक भी रहना चाहता है। समाज में प्रतिष्ठित भी। इस सबके लिए उसने दो रास्ते अपनाकर देख लिए। त्याग का और संग्रह का मार्ग। हजारों वर्षों से वह दान करता आ रहा है, करोड़ों का उसने संग्रह भी किया है। किन्तु छोड़ने और बटोरने की इस आपाधापी में उसने जीवन को जिया नहीं। हमेशा उसका कर्तापन, अहं सिर उठाकर खड़ा रहा है। इसीलिए उसकी अन्य उपलब्धियां बौनी रह गयीं। वह जमाखोर, पूंजीपति पाखण्डी न जाने किन-किन नामों से जाना जाता रहा है। अतः अब ये दोनों रास्ते बदलने होंगे।

सही मार्ग खोजने में महावीर का चिन्तन बहुत उपयोगी है। उन्होंने अहिंसा से अपरिग्रह तक का मार्ग प्रशस्त किया। उनकी पहली शर्त है कि तुम अपना गन्तव्य निश्चित करो। बनावटीपन के रास्ते पर चलना है तो स्वप्न में जीने के अनेक ढंग हैं। और यदि बाहर-भीतर एकसा रहना है तो आत्मा और शरीर की सही पहिचान कर लो। आत्म-ज्ञान जितना बढ़ता जायेगा, उतने तुम अहिंसक होते जाओगे। जगत् के प्राणियों के अस्तित्व को अपने जैसा स्वीकारने से तुम उनके साथ झूंठ नहीं बोल सकते। कपट नहीं कर सकते। शरीर से स्वामित्व मिटते ही चोरी नहीं की जा सकती। क्योंकि तुम्हारी आत्मा के विकास के लिए किसी परायी वस्तु की अपेक्षा नहीं है। सत्य और अस्तेय को जीने वाला व्यक्ति परिग्रह में प्रवृत्त ही नहीं हो सकता है। किसके लिए वस्तुओं का संग्रह? आत्मा निर्भयी है। पूर्ण है। सुखी है। फिर परिग्रह का क्या महत्त्व? यह तो शरीर के ममत्व के त्याग के साथ ही विसर्जित हो गया। यह है महावीर की दृष्टि में अपरिग्रह का महत्त्व। इसी के लिए है—अणुव्रतों और महाव्रतों की साधना।

प्रश्न हो सकता है कि परम्परा में आकंठ डूबे रहने से एकाएक आत्म-ज्ञान की समझ कैसे जागृत हो सकती है? व्यापार-वाणिज्य को अचानक छोड़ देने से देश की अर्थ-व्यवस्था का क्या होगा? अथवा किसी एक या दो व्यक्तियों के अपरिग्रही हो जाने से शोषण तो समाप्त नहीं होगा? प्रश्नों की इस भीड़ में महावीर की वाणी हमें संबल प्रदान करती है।

जैनधर्म को कितना ही निवृत्तिमूलक कहा जाय, किन्तु वह प्रवृत्तिमार्ग से अलग नहीं। उसमें केवल वैराग्य की बात नहीं है। समाज के उत्थान की भी व्यवस्था है। स्थानांग सूत्र में दस प्रकार के जिन धर्मों का विवेचन है वे गृहस्थ के सामाजिक दायित्वों को ही पूरा करते हैं। अणुव्रतों का पालन बिना समाज के सम्भव नहीं है। श्रावक जिन गुणों का विकास करता है, उनकी अभिव्यक्ति समाज में ही होती है। अतः महावीर ने अपरिग्रही होने की प्रक्रिया में समाज के अस्तित्व को निरस्त नहीं किया है।

गृहस्थ जीवन में रहते हुए हिंसा, परिग्रह आदि से बचा नहीं जा सकता, यह ठीक है। किन्तु महावीर का कहना है कि श्रावक अपनी दृष्टि को सही रखे। जो काम वह करे, उसके परिणामों से भली-भांति परिचित हो। आवश्यकता की उसे सही पहिचान हो। जीवन-यापन के लिए किन वस्तुओं की आवश्यकता है, उनको प्राप्त करने के क्या साधन हैं तथा उनके उपभोग से दूसरों के हित का कितना नुकसान है आदि बातों को विचार कर वह परिग्रह करने में प्रयुक्त हो तो इससे कम से कम कर्मों का बन्ध उसे होगा। श्रावक के बारह व्रत एवं ग्यारह प्रतिमाएं आदि का पालन गृहस्थ को इसी निस्पृही वृत्ति का अभ्यास कराता है। इसी से उसके आत्मज्ञान की समझ विकसित होती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपरिग्रही होने के लिए दूसरी बात प्रामाणिक होने की है। उसमें वस्तुओं की मर्यादा नहीं, अपनी मर्यादा करना जरूरी है। सत्य-पालन का अर्थ यह नहीं है कि व्यापारिक गोपनीयता को उजागर करते फिरें। इसका आशय केवल इतना है कि आपने जिस प्रतिशत मुनाफे पर व्यापार करना निश्चित किया है, उसमें खोट न हो। जिस वस्तु की आप कीमत ले रहे हैं, वह मिलावटी न हो। और अस्तेय का अर्थ है कि आपकी जो व्यापारिक सीमा है उसके बाहर की वस्तु का आपमे अनावश्यक संग्रह नहीं किया है। इन अतिचारों से बचते हुए यदि जैन गृहस्थ व्यापार करता है तो वह देश के व्यापार को प्रामाणिक बनायेगा। आवश्यकता और सामर्थ्य के अनुरूप समृद्ध भी। तब उसकी दुकान और मन्दिर में कोई फरक नहीं होगा। व्यापार और धर्म एक दूसरे के पूरक होंगे।

प्रश्न रह जाता है समाज में व्याप्त शोषण व जमाखोरी की प्रवृत्ति को बदलने का। महावीर का चिन्तन इस दिशा में बड़ा संतोषी है। पूरे समाज को बदलने का दिवास्वप्न उसमें कभी नहीं देखा गया। किन्तु व्यक्ति के बदलने का पूरा प्रयत्न किया है। इसलिए महावीर का समाज अशुभ से शुभ की ओर, हेय से उपादेय की ओर जाने में किसी समारोह की प्रतीक्षा नहीं करता। भीड़ का अनुगमन नहीं चाहता। और न ही किसी राजनेता या बड़े व्यक्तित्व के द्वारा उसे उद्घाटन की आवश्यकता होती है। क्योंकि ये सभी मूर्च्छा के कार्य हैं। ममत्व और आकांक्षा के। इसलिए महावीर की दृष्टि से तो कोई भी व्यक्ति, किसी भी स्थिति में बदलाहट के लिए आगे आ सकता है। उसके परिवर्तन की रश्मियां समाज को प्रभावित करेंगी ही।

आज के भौतिकवादी युग में हमारी स्पर्धा भी जड़ हो गयी है। ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में अन्य देशों के साथ बराबरी के लिए प्रयत्न करना ठीक हो सकता है किन्तु भौतिकता एवं इन देशों के तथाकथित जीवन-मूल्यों के साथ भारतीय मनीषा को खड़ा करना अपनी परम्परा को ठीक से न समझ पाना है। अध्यात्म के जिन मूल्यों की थाती हमें मिली है, उसका शतांश भी अन्य देशों के पास नहीं है। फिर हम अपने को गरीब व हीन क्यों समझ रहे हैं? रिक्त तो हम उस दिन होंगे जब भौतिक समृद्धि के होते हुए भी हमें अध्यात्म की खोज में भटकना पड़ेगा। कम से कम भगवान् महावीर की निर्वाण शताब्दी में तो यह ऋणात्मकता की स्थिति न आने दें। महावीर जो हमें सौंप गये हैं उसमें अपनी सामर्थ्य से कुछ जोड़ें ही। भौतिकता का हमने बहुत व्यापार किया अब कुछ नैतिक मूल्यों की बढ़ोतरी का ही व्यापार सही। ★

उत्तम आकिञ्चन्य

भालै न समता सुख कभी नर, बिना मुति मुद्रा धरैं।
धनि नगन परवत नगन ठाड़े, सुरअसुर पायनि परैं॥
घर माह तृष्णा जो घटावे, रुचि नहीं संसार सौं।
बहु धन बुरा ह्वै भला कहिये, लीन पर उपकार सौं॥

—महाकवि द्यानतराय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

* आवाज सुनी, भाग गया । *

● पं० उदयचन्द्र 'प्रभाकर' शास्त्री
जैनदर्शनाचार्य, एम० ए० (रिसर्च स्कालर)
जंवरीबाग नसिया, इन्दौर

चित्रपट देख,
वट वृक्ष की छाह में बैठ गया,
न जाने कब तक
सोचता रहा
शायद ज्ञानरश्मि बिखरेगी
मंद पवन से,
सो गया,
न जाने कहां खो गया ।
सामने,
ओ सिंह ! तुम अभी तक खड़े हो,
मेरी जान लेने पर क्यों तुले हो,
समझा,
महावीर के यार,
मैं लगाना चाहता इश्तहार
सच,
तुम मेरे ही हो न
मगर उत्तीर्ण हो सकोगे
क्यों नहीं,
आवाज सुनी, भाग गया ।

★

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महावीर संस्तवन

● पं० नाथूराम डोंगरीय जैन, न्यायतीर्थ,
इन्दौर ।

[१]

विभो ! तव करते प्रिय गुणगान,
मिटे अंतर का चिर अज्ञान ।
मनुज भव हो जाये धनिधन्य,
आप्त कर वीतराग-विज्ञान ।

[२]

तुम्हारी गुण गरिमा अविराम,
न सुर-गणपति कर सके बखान ।
जिन्होंने द्वादशांग कर पाठ,
किया था प्राप्त सकल श्रुतज्ञान ।

[३]

कहाँ मै मंदमति, कहाँ आप,
अतुल गुण मूर्ति प्रकट अम्लान ।
हृदय हो रहा तथापि अधीर,
भक्ति वश करने तव गुण गान ।

[४]

गर्भ अवतरे न तुम तिस पूर्व
स्वर्ग हर्षाया अपरंपार ।
बिडौजा का पाकर निर्देश,
बरसने लगी रत्न की धार ।

[५]

देव बालाएँ पुलकित गात,
चलीं मां की परिचर्या काज ।
नगर का कर नूतन निर्माण,
सजा धनपति ने अनुपम साज ।

[६]

स्वप्न सोलह माता अवलोक,
गर्भ मंगलमय प्रभु का जान ।
मुदित मन ही मन हुई असीम,
जनों में छाया हर्ष महान् ।

[७]

मास नव बीत गये सानंद,
अंत में आश हुई साकार ।
जान प्रभु जन्म किया प्रस्थान,
इन्द्र ने साज सकल परिवार ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

[८]

निरख तव पावन रूप अनूप,
पुलक कर लोचन किये हजार।
मेरु पर स्वर्ण कलश भर क्षीर,
नीर से न्हवन किया बहुबार।

[९]

शची पुनि किया सुरुचि शृंगार,
हुलस सुरपति ने तांडव नृत्य।
तुम्हारी निरख निराली शान,
सकल जनवृंद हुआ कृतकृत्य।

[१०]

अमरगण धर बालक का रूप,
संग तव की क्रीड़ा मनुहार।
वृद्धि को प्राप्त हुए सानंद,
दूज के चन्द्र समान कुमार।

[११]

चतुर्दिक् छाया हर्ष प्रकर्ष,
हुए घर-घर में मंगल गान।
सजे सब सुख संपति के साज,
दुःखी नहिं रहा कहीं इन्सान।

[१२]

तुम्हें था ज्ञात सनातन सत्य,
कि है सब विधि संसार असार।
अतः किंचित् निमित्त पा धन्य,
तजा सब राज-साज परिवार।

[१३]

दिगम्बर बने, मुक्ति का लक्ष्य,
तपश्चर्या की सतत् कठोर।
साधना रत रह अतुल पवित्र,
हुए जब शुक्लध्यान विभोर।

[१४]

किये तब घातिकर्म चकचूर,
ज्ञान की ज्योति जगी अम्लान।
प्रस्फुरित हुआ शुद्ध चिद्रूप,
अतीन्द्रिय परमाह्लाद निधान।

[१५]

प्राणिहित दिया धर्म संदेश,
हुआ पाखंड़ों का मुँह म्लान।
दिव्यध्वनि द्वारा किया समस्त,
विश्व को सम्यक्ज्ञान प्रदान।

[१६]

अंत में सज कर परम समाधि,
बन गये मुक्ति रमा के कांत।
कर्म बन्धन से बन उन्मुक्त,
हुए गंभीर सिंधु सम शांत।

[१७]

सच्चिदानंद स्वरूपी सिद्ध,
निरंजन निर्विकार निष्काम।
अक्षयानंत ज्ञान दृग वीर्य,
सूक्ष्मता अवगाहन गुणधाम।

[१८]

अगुरुलघु अव्याबाध प्रधान,
सकल प्रकटे गुण रत्न महान्।
हमें भी स्वानुभूति सुख साज,
सजा दो वर्द्धमान भगवान्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'चिन्तामणि' एक इस प्रकार का रत्न होता है जिससे विचारी हुई वस्तु तत्काल प्राप्त हो जाती है। कल्पवृक्ष और कामधेनु भी यह कार्य करते हैं। प्राणी सुखी होना चाहता है। यदि कोई ऐसा पदार्थ उसे मिल जाय जिससे कि उसे शाश्वत् अनन्त आनन्द की प्राप्ति हो जाय तो फिर उसे कुछ भी प्राप्त करने को शेष नहीं रहे। क्या ऐसी कोई चीज है? उत्तर हां में है और वह हमारे पास ही है किन्तु गलती यह हो रही है कि हम उसे जहां वह है वहां न ढूंढ कर अन्यत्र तलाश करते फिरते हैं और इस प्रकार दुःखी होते हैं। वह पदार्थ है हमारा स्वयं का आत्मा। वह ही ध्याता और ध्येय, चिंतक तथा चिन्त्य है। उसे प्राप्त करके ही हम शाश्वत् सुख को प्राप्त कर सकते हैं इसलिए वह ही वास्तव में चिंतामणि है अन्यत्र उसकी तलाश व्यर्थ है।

प्र० सम्पादक

आत्मा चिन्तामणि है

● न्यायप्रभाकर, आर्यिकारत्न श्री ज्ञानमती माताजी

आत्मा क्या है? कब से है? किसने उसे बनाया है? कैसी है? आदि प्रश्न जिसमें उत्पन्न होते हैं उसी का नाम आत्मा है। अत् धातु सातत्य गमन अर्थ में है। वैसे जितने भी धातु गमनार्थक हैं उनके जाना, आना, जानना और प्राप्त करना ऐसे चार अर्थ हुवा करते हैं अतः इस अत् धातु का अर्थ सतत् जानना हो जाता है इसीसे 'अततीति आत्मा' शब्द बना है जिसका अर्थ हो जाता है कि आत्मा हमेशा ज्ञानस्वभावी है। इसे ही जीव कहते हैं जो अभ्यंतर रूप चैतन्य प्राणों से और बाह्य रूप इंद्रिय, बल, आयु तथा स्वासोच्छ्वास इन द्रव्य प्राणों से तीनों कालों में जीता था, जीता है और जीवेगा वह जीव है।

ऐसा यह आत्म तत्त्व शाश्वत् है अर्थात् अनादि काल से है और अनन्तकाल तक रहेगा। इसको बनाने वाला कोई ईश्वर विशेष नहीं है क्योंकि जो ईश्वर भगवान् हैं उन्हें इन प्रपंचों से क्या करना है।

इस जीव का लक्षण है उपयोग। चैतन्यानुविधायी आत्मा का परिणाम उपयोग कहलाता है। इसके भी दो भेद हैं ज्ञान और दर्शन। ज्ञान का कार्य है जानना और दर्शन का कार्य है देखना, अर्थात् यह आत्मा इन दो गुणों से ज्ञाता द्रष्टा है। वैसे आत्मा में अनंतगुण हैं उनमें से अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतवीर्य और अनंत सुख ये चार गुण प्रमुख हैं।

यहाँ प्रश्न यह हो जाता है कि जब ये अनंत चतुष्टय आत्मा के गुण हैं तो हम और आप में क्यों नहीं हैं? हम लोग किंचित् सुख के लिए क्यों तरस रहे हैं? इसी बात को तो समझना है।

अनादि काल से आत्मा के साथ कर्मों का सम्बन्ध चला आ रहा है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अंतराय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ऐसे ये कर्म मुख्यतया आठ हैं तथा इनके उत्तर भेद एक सौ अड़तालीस हैं अथवा प्रत्येक कर्म के असंख्यात लोकप्रमाण भी भेद हो जाते हैं। इनमें से ज्ञानावरण कर्म जीव के ज्ञान गुण को आवृत करता है—ढकता है पूर्ण प्रगट नहीं होने देता है। जैसे जैसे हम लोगों के इस कर्म का क्षयोपशम होता है वैसा वैसा ही ज्ञान तरतम रूप से पाया जाता है। ऐसे ही दर्शनावरण कर्म दर्शन गुण को ढकता है, वेदनीय कर्म जीव को सुख दुःख का वेदन-अनुभव कराता है, मोहनीय कर्म जीव को मोहित कर देता है अपने पराये का भान नहीं होने देता है, आयु कर्म जीव को किसी भी पर्याय में रोक देता है, नाम कर्म से ही नाना प्रकार के शरीर, आकार आदि बनते हैं और नरक आदि गतियों में भी जाना पड़ता है, गोत्र कर्म इस जीव को उच्च या नीच संस्कार वाले कुलों में पैदा करता है तथा अन्तराय कर्म जीव के दान, लाभ, शक्ति, आदि में विघ्न उत्पन्न कर देता है। ऐसे इन कर्मों के निमित्त से जीव संसार में भ्रमण कर रहा है, और दुखी हो रहा है।

इन जीव और कर्म का संयोग संबन्ध है जैसे कि दूध और पानी में संयोग सम्बन्ध होता है अर्थात् सम्बन्ध के मुख्य दो भेद हैं—तादात्म्य और संयोग। उसका उसी में सम्बन्ध तादात्म्य है जैसे अग्नि का और उष्णता का अथवा आत्मा का और ज्ञान का इत्यादि इनमें तादात्म्य सम्बन्ध है। इनको आपस में कभी भी पृथक् नहीं कर सकते हैं। उष्ण गुण के बिना अग्नि का अस्तित्व ही नहीं रहेगा और न ज्ञान गुण के बिना आत्मा ही कुछ रहेगी अतः दूध और पानी के समान जीव और कर्मों का सम्बन्ध है। इसे संयोग सम्बन्ध कहते हैं। यद्यपि यह अनादि है फिर भी इसका अन्त किया जा सकता है। जैसे बीज से वृक्ष और वृक्ष से बीज की परम्परा अनादि है फिर भी बीज को जला देने के बाद उसकी परम्परा की समाप्ति हो जाती है वैसे ही जीव से कर्म को एक बार पृथक् कर देने के बाद इनकी परम्परा समाप्त हो जाने से जीव शुद्ध का शुद्ध रह जाता है वह परमात्मा, भगवान्, ईश्वर, महावीर आदि कहा जाता है।

जैन धर्म का हृदय इतना विशाल है कि यह प्रत्येक प्राणी को परमात्मा बनाने का उपाय बतलाता है और तो क्या यह एकेन्द्रिय जैसे क्षुद्र प्राणियों में परमात्मा बनने के लिए शक्ति रूप चितामणि स्वरूप आत्मा का अस्तित्व मानता है। अब रही बात यह कि एकेन्द्रिय जीवों में यद्यपि हमारे जैसी आत्मा विद्यमान है फिर भी वे कर्म के भार से इतने दबे हुए हैं कि हिताहित विचार रूप और कर्ण आदि इंद्रियों के अभाव में कुछ कर नहीं सकते हैं। केवल कर्मों का सुख, दुःख भोगना, उसका अनुभव करना ही उनके पास है। इस जीव राशि में से जो पंचेंद्रिय मन सहित हम लोग हैं उन्हीं में तत्त्व को समझ कर पुरुषार्थ करने की योग्यता है।

आत्मा के तीन भेद हैं—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। जो जीव नित्यप्रति अपने स्वरूप से पराङ्मुख विषयों में आनन्द मानने वाले हैं शरीर के सुख में सुखी और दुःख में दुखी होते हुए शरीर को ही आत्मा मान रहे हैं। शरीर से भिन्न आत्मा नाम की कोई चीज है जो 'अहं-मैं' इस शब्द से जानी जाती है जो कि चिन्मय चिंतामणि स्वरूप है, उसका जिन्हें बोध नहीं है और जो सच्चे धर्म से, जिनेंद्र भगवान् से व उनकी वाणी से द्वेष करते हैं अथवा उपेक्षा करते हैं वे बहिरात्मा जीव सदा शरीर के सुख साधन में लगे रहते हैं। इनसे विपरीत अन्तरात्मा जीव जिनेंद्र भगवान् को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सच्चा आप्त मान कर उन पर श्रद्धा रखते हुए उनकी वाणी को सरस्वती माता कहते हैं। निर्ग्रंथ वीतरागी गुरुओं को अपना गुरु मानते हैं, कपोल-कल्पित परंपराओं से दूर रहते हैं, सम्यग्दर्शन से पवित्र हो जाते हैं, वे हमेशा शरीर संसार के दुःखों को जन्म मरण का मूल कारण मानकर उससे निर्मम होने का पुरुषार्थ करते हैं। उनकी दृष्टि अंतर्मुखी हो जाती है। वे सदैव देहरूपी देवालय में विराजमान भगवान् आत्मा को चिंतामणि सदृश मानकर उसको प्राप्त करने का पुरुषार्थ करते हैं। उस पुरुषार्थ का नाम ही सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र है। अंतरात्मा जीव सम्यक्दृष्टि होते हुए सम्यक्ज्ञानी होते हैं और सम्यक्चारित्र को अपनी शक्ति के अनुसार अणुव्रत या महाव्रत रूप ग्रहण करके उनका अनुष्ठान करते हुए क्रम से परमात्मा बन जाते हैं।

परमात्मा पूर्ण सुखी है। चार घातिया कर्मों से रहित अनंत चतुष्टय से सहित जन्म जरा मरण आदि अठारह दोषों से रहित अर्हंत भगवान् अथवा आठों कर्मों से रहित लोकशिखर पर विराजमान सिद्ध भगवान् परमात्मा हैं।

प्रमाण और नय—

वस्तु के स्वरूप को ठीक से समझने के लिए जैन सिद्धांत में प्रमाण और नय माने गये हैं। प्रत्येक वस्तु अनंत धर्मात्मक है। अस्ति, नास्ति; नित्य, अनित्य; एक, अनेक आदि अनेकों धर्म कहलाते हैं। ऐसी अनंतधर्मा वस्तु के प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से अथवा सर्व रूप से या क्षयोपशम अस्पष्ट ज्ञान से जानने वाला ज्ञान प्रमाण कहलाता है। यह ज्ञान आत्मा का गुण है। आत्मा में ही पाया जाता है। ऐसे ही प्रमाण के द्वारा जानी हुई वस्तु के एक-एक अंश को अर्थात् धर्म को जानने वाला नय कहलाता है। यह वस्तु के एक धर्म को ग्रहण करते हुए दूसरे धर्मों का निषेध न करके उन्हें गौण कह देता है तब सापेक्ष होने से सम्यक् नय होता है और जब एक धर्म को ग्रहण कर अन्य धर्मों का सर्वथा निषेध कर देता है। तब मिथ्या नय दुर्नय या कुनय कहलाता है जैसे द्रव्यार्थिक नय कहता है वस्तु नित्य है पर्यायार्थिक नय कहता है कि अनित्य है। ये दोनों नय परस्पर में सापेक्ष होने से सम्यक् हैं और परस्पर निरपेक्ष होने से मिथ्या हैं।

निश्चय नय से प्रत्येक जीवात्मा अनादिकाल से शुद्ध है सिद्धों के सदृश है, चैतन्य स्वरूप है, अनंत ज्ञानादि से सहित है, अनंतगुणों का पुंज है अविनाशी है और परम आनंदमय है। व्यवहार नय से यही आत्मा अनादि पर्यायों से सहित हो रहा है तथा जब रत्नत्रय रूप पुरुषार्थ कर्मों का नाश कर देता है तब सिद्ध बन जाता है। यह निश्चय नय शक्ति को बतला देता है तब व्यवहार नय उसको प्रकट करने का प्रयत्न करता है।

जो सब तरह से आत्मा को बंधा हुआ संसारी अशुद्ध ही समझेगा तो उसको मुक्त और शुद्ध होने का प्रयत्न कैसे करेगा। अतः निश्चय नय से आत्मा को शुद्ध समझना चाहिए।

यह आत्मा चिंतामणि रत्न है। जो कुछ भी आप चिंतवन करेंगे आपको मिल जायेगा। आप चाहें दुर्व्यसन, पाप रूपी विचारों से, क्रियाओं से नरक निगोदावास को प्राप्त करलें, चाहें तो धर्म के चिंतन से, शुभक्रियाओं से स्वर्ग को प्राप्त करलें और चाहें तो आत्मा को शुद्ध समझकर तथा उसी शुद्धात्मा का ध्यान करके कर्म कलंक से रहित अकलंक शुद्ध भगवान् बन जावें। हां इतना अवश्य है कि शुद्ध आत्मा का ध्यान वीतरागी मुनि ही कर सकते हैं, परिग्रहों से घिरे हुए मनुष्य उसकी भावना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करते हैं अतः शुद्धात्मा के ध्यान के लिए व्यवहार नय के आश्रय से व्यवहार चारित्र ग्रहण करना आवश्यक है। यह चिंतामणि स्वरूप आत्मा प्रत्येक व्यक्ति के घट में विराजमान है उसका फायदा उठाना चाहिए।

पूज्यपाद स्वामी ने कहा भी है कि–

इतश्चिंतामणिर्दिव्यः इतः पिण्याकखंडकं।
ध्यानेनचेदुभे लभ्ये क्वांद्रियंतां विवेकिनः ।।

इधर चिंतामणि रूप दिव्यरत्न है और दूसरी तरफ खली का टुकड़ा है। यदि ध्यान से दोनों ही मिलते हैं तो विवेकीजन किसमें आदर करेंगे? अर्थात् पंचेंद्रियों के विषयसुख खली के टुकड़े के सदृश हैं तथा धर्म चिंतामणि रत्न है और उस धर्म से परिणत हुई आत्मा भी स्वयं चिंतामणि रत्न है।

जाचें सुरतरु देय सुख चिंतित चिंतारैन [2]।
बिन जाचे विन चिंतये धर्म सकलसुख देन ।।

यह धर्मरूपीचिंतामणि रत्न बिना चिंतवन के ही संपूर्ण सुखों को देने वाला है अतः आत्मा को धर्ममय बना लेना चाहिए।

1. कल्पवृक्ष। 2. चिंतामणि।

जीव की अज्ञान दशा*

यह प्राणी संसार दशा में,
भूल रहा शुद्धात्म स्वरूप।
देह तथा रागादि भाव को,
भ्रमवश मान रहा निज रूप ।।
मेरी हैं रागादि विवृतियां,
कर्मजन्य पुद्गल परिणाम।
यो भ्रमबुद्धि बनी रहने तक,
अप्रतिबुद्ध हैं आतमराम ।।

*समयसार वैभव से साभार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समस्त विश्व में जैनधर्म ही एकमात्र ऐसा धर्म है जो अनाग्रही है। आग्रह को उसमें किसी प्रकार का कोई स्थान नहीं है। यहां तक कि उन्हें अपने तीर्थंकरों के प्रति भी कोई आग्रह, कोई पक्षपात नहीं है। वे महावीर के तथा अन्य तीर्थंकरों के उपदेशों को इस कारण सही और अनुकरणीय नहीं मानते कि वह उनका कहा हुवा है अपितु उनके ऐसे मानने का कारण यह है कि उनके वचन युक्ति और तर्क की कसौटी पर बावन तोला पाव रती शत प्रतिशत सही उतरते हैं, वे अखण्डनीय तथा पूर्वापर विरोध से रहित होते हैं। और इसका एकमात्र कारण यह है कि वे 'ही' का प्रयोग न कर 'भी' के प्रयोग द्वारा विभिन्न दृष्टिकोणों और वादों का वैज्ञानिक तरीके से समन्वय तथा एकीकरण करते हैं। यह सम्पूर्ण विवादों के हल का एक मात्र तरीका है जिसे अपना कर आज विश्व युद्ध के भय से मुक्तिलाभ कर सकता है।

प्र० सम्पादक

जैनदर्शन में समन्वय-भावना*

● डा० नरेन्द्र भानावत, जयपुर।

यह बड़े आश्चर्य की बात है कि 'जैन' शब्द आगम ग्रन्थों में नहीं मिलता। वहां 'समण'या' श्रमण शब्द का प्रयोग हुआ है। श्रमण शब्द समभाव, श्रमशीलता और समन्वय भावना का परिचायक है। जैन शब्द परवर्ती आचार्यों का दिया हुआ है। जिन्होंने राग-द्वेष रूपी शत्रुओं को जीत लिया है, वे जिन कहे गये हैं और उनके अनुयायी 'जैन।' इस प्रकार जैन धर्म किसी विशेष व्यक्ति, सम्प्रदाय या जाति का परिचायक न होकर उन उदात्त जीवन-आदर्शों और सार्वजनीन भावों का प्रतीक है जिनमें संसार के सभी प्राणियों के प्रति आत्मोपम्य मैत्री भाव निहित हो। दूसरे शब्दों में जैन धर्म व्यक्तिपूजक या जातिपूजक न होकर गुणपूजक है। यही कारण है कि जैनियों का जो नमस्कार मंत्र है उसमें न महावीर का नाम लेकर वंदना की गई है, न पार्श्वनाथ का नाम लेकर। उसमें पंच परमेष्ठियों को नमन किया गया है-णमो अरिहन्ताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोएसव्वसाहूणं।

अर्थात् जिन्होंने अपने शत्रुओं पर विजय प्राप्त करली है उन अरिहन्तों को नमस्कार हो, जो संसार के जन्म-मरण के चक्र से छूटकर शुद्ध परमात्म बन गए हैं उन सिद्धों को नमस्कार हो, जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप आदि आचारों का स्वयं पालन करते हैं और दूसरों से करवाते हैं उन आचार्यों को नमस्कार हो, जो आगमादि ज्ञान के विशिष्ट व्याख्याता हैं और जिनके सान्निध्य में रहकर दूसरे अध्ययन करते हैं, उन उपाध्यायों को नमस्कार हो, लोक में जितने भी सत्पुरुष हैं उन सभी साधुओं को नमस्कार हो चाहे वे किसी जाति, धर्म, मत या तीर्थ से सम्बन्धित क्यों न हो। कहना न होगा कि नमस्कार मंत्र का यह गुणनिष्ठ आधार जैनदर्शन की उदारचेता समन्वयवादी भावना का मेरुदण्ड है।

जैन दर्शन की समन्वय भावना विचार और आचार दोनों क्षेत्रों में देखने को मिलती है। विचार-समन्वय की दिशा में अनेकान्त दृष्टिकोण अत्यन्त महत्वपूर्ण देन है। जैन दर्शन की मान्यता के अनुसार

* आकाशवाणी, जयपुर द्वारा प्रसारित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जगत् में जड़ और चेतन दो पदार्थ हैं। सृष्टि का विकास इन्हीं पर आधारित है। जीव का लक्षण चैतन्यमय कहा गया है। जीव अनन्त हैं और उनमें आत्मगत समानता होते हुए भी संस्कार, कर्म और बाह्य परिस्थिति आदि अनेक कारणों से उनके शारीरिक एवं मानसिक विकास में बहुत ही अन्तर आ जाता है। इसी कारण सबकी पृथक् सत्ता है और सब अपने कर्मानुसार फल भोगते हैं। उनका सुख-दुःख किसी परोक्ष सत्ता के क्रोध और अनुग्रह पर अवलम्बित नहीं। वे स्वयं अपने भाग्य के नियंता हैं। स्वयं अपनी साधना और पुरुषार्थ के बल पर वे विषयकषायों और कर्मबंध से मुक्त हो, परमात्मा बन सकते हैं।

अनन्त जीवों का पृथक्-पृथक् अस्तित्व होने तथा कर्मों की विविध वर्गणाओं के कारण उनके विचारों में विभिन्नता होना स्वाभाविक है। अलग अलग जीवों की बात छोड़िये, एक ही मनुष्य में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के अनुसार अलग-अलग विचार उत्पन्न होते रहते हैं। अतः दार्शनिकों के समक्ष सदैव यह एक जटिल प्रश्न बना रहा कि इस विचारगत विषमता में समता कैसे स्थापित की जाये ?

जैन तीर्थंकरों ने और विशेषतः भगवान् महावीर ने इस प्रश्न पर बहुत ही गंभीरतापूर्वक चिन्तन किया और निष्कर्ष रूप में कहा—प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। वह उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य युक्त है। द्रव्य में उत्पाद और व्यय से होने वाली अवस्थाओं को पर्याय कहा गया है। गुण कभी नष्ट नहीं होते और न अपने स्वभाव को बदलते हैं किन्तु पर्यायों के द्वारा अवस्था से अवस्थान्तर होते हुए सदैव स्थिर बने रहते हैं। जैसे स्वर्ण द्रव्य है। किसी ने उसके कड़े बनवा लिए और फिर उस कड़े से कंकण बनवा लिए तो यह पर्यायों का बदलना कहा जायेगा पर जो स्वर्णत्व गुण है वह हर अवस्था में स्थायी रूप से विद्यमान रहता है। ऐसी स्थिति में किसी वस्तु की एक अवस्था को देखकर उसे ही सत्य मान लेना और उस पर अड़े रहना हठवादिता या दुराग्रह है। एकान्त दृष्टि से किसी वस्तु विशेष का समग्र ज्ञान नहीं किया जा सकता। सापेक्ष दृष्टि से, अपेक्षा विशेष से देखने पर ही उसका सही व संपूर्ण ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। यह सोचकर व्यक्ति को अनाग्रही, उदार और निर्मल चित्तवृत्ति वाला होना चाहिए। उसे यह मानकर चलना चाहिए कि वह जो कह रहा है, वह सत्य है पर दूसरे जो कहते हैं, उसमें भी सत्यांश है। इस दृष्टिकोण के आधार पर भगवान् महावीर ने जीव-अजीव, लोक-द्रव्य आदि की नित्यता-अनित्यता, द्वैत-अद्वैत, अस्तित्व-नास्तित्व और विकट दार्शनिक पहेलियों को सरलतापूर्वक सुलझाया और समन्वयवाद की आधारभित्ति के रूप में कथन की स्याद्वाद शैली का प्रतिपादन किया।

जब व्यक्ति में इस प्रकार की वैचारिक उदारता का जन्म होता है तब वह अहं, भय, घृणा, क्रोध, हिंसा आदि भावों से विरत होकर सरलता, प्रेम, मैत्री, अहिंसा और अभय जैसे लोकहितवाही मांगलिक भावों में रमण करने लगता है। उसे विभिन्नता में अभिन्नता और अनेकत्व में एकत्व के दर्शन होने लगते हैं।

आचार समन्वय की दिशा में जैन दर्शन ने मुनि धर्म और गृहस्थ धर्म की व्यवस्था दी है, प्रवृत्ति और निवृत्ति का सामञ्जस्य किया है। मुनि धर्म के लिये महाव्रतों के परिपालन का विधान है। वहां सर्वथा प्रकारेण हिंसा, झूंठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह के त्याग की बात कही गई है। गृहस्थ धर्म में अणुव्रतों की व्यवस्था दी गई है जहां यथाशक्य इन आचार नियमों का पालन अभिप्रेत है। प्रतिभाधारी श्रावक वानप्रस्थाश्रमी की तरह और मुनि संन्यासाश्रमी की तरह माना जा सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सांस्कृतिक एकता की दृष्टि से जैन दर्शन के समन्वयवाद की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। उसने सम्प्रदायवाद, जातिवाद, प्रान्तीयतावाद आदि सभी मतभेदों को त्याग कर राष्ट्र-देवता को बड़ी उदार और आदर की दृष्टि से देखा है। प्रत्येक धर्म के विकसित होने के कुछ विशिष्ट क्षेत्र होते हैं। उन्हीं दायरों में वह धर्म बंधा हुआ रहता है पर जैन धर्म इस दृष्टि से किसी जनपद या प्रान्त विशेष में ही बंधा हुआ नहीं रहा। उसने भारत के किसी एक भाग विशेष को ही अपनी श्रद्धा का, साधना का और चिन्तना का क्षेत्र नहीं बनाया। वह सम्पूर्ण राष्ट्र को अपना मान कर चला। धर्म का प्रचार करने वाले विभिन्न तीर्थंकरों की जन्मभूमि, दीक्षा-स्थली, तपोभूमि, निर्वाणस्थली आदि अलग-अलग रही हैं। भगवान् महावीर विदेह उत्तर-बिहार में उत्पन्न हुए तो उनका साधना क्षेत्र व निर्वाण स्थल मगध दक्षिण बिहार रहा। तेईसवें तीर्थंकर पार्श्व-नाथ का जन्म तो वाराणसी में हुआ पर उनका निर्वाण स्थल बना सम्मेदशिखर। प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव अयोध्या में जन्मे पर उनकी तपोभूमि रही कैलाश पर्वत और भगवान् अरिष्टनेमि का कर्म व धर्म क्षेत्र रहा गुजरात। भूमिगत सीमा की दृष्टि से जैन धर्म सम्पूर्ण राष्ट्र में फैला। देश की चप्पा चप्पा भूमि इस धर्म की श्रद्धा और शक्ति का आधार बनी। दक्षिण भारत के श्रवणबेलगोला व कारकल आदि स्थानों पर स्थित बाहुबली के प्रतीक आज भी इस राष्ट्रीय चेतना के प्रतीक हैं।

जैन धर्म की यह सांस्कृतिक एकता भूमिगत ही नहीं रही। भाषा और साहित्य में भी उसने समन्वय का यह औदार्य प्रकट किया। जैनाचार्यों ने संस्कृत को ही नहीं अन्य सभी प्रचलित लोक भाषाओं को अपनाकर उन्हें समुचित सम्मान दिया। जहां-जहां भी वे गए वहां-वहां की भाषाओं को, चाहे वे आर्य परिवार की हों, चाहे द्रविड़ परिवार की, अपने उपदेश और साहित्य का माध्यम बनाया। इसी उदार प्रवृत्ति के कारण मध्ययुगीन विभिन्न जानपदीय भाषाओं के मूल रूप सुरक्षित रह सके हैं। जैनाचार्यों की यह भाषागत उदारता अभि-नन्दनीय ही नहीं, अनुकरणीय भी है।

जैन धर्म अपनी समन्वय-भावना के कारण ही सगुण और निर्गुण भक्ति के झगड़े में नहीं पड़ा। गोस्वामी तुलसीदास के समय इन दोनों भक्ति-धाराओं में जो समन्वय दिखाई पड़ता है उसके बीज जैन भक्ति काव्य में आरम्भ से मिलते हैं। जैन दर्शन में निराकार आत्मा और वीतराग साकार भगवान् के स्वरूप में एकता के दर्शन होते हैं। पंचपरमेष्ठी महामंत्र में सगुण और निर्गुण भक्ति का कितना सुन्दर मेल बिठाया है। अर्हन्त सकल परमात्मा कहलाते हैं। उनके शरीर होता है, वे दिखाई देते हैं। सिद्ध निराकार हैं, उनके कोई शरीर नहीं होता, उन्हें हम देख नहीं सकते। एक ही मंगलाचरण में इस प्रकार का समभाव कम देखने को मिलता है।

साधना–मार्ग में भी ज्ञान, भक्ति और क्रिया पर समान बल देकर प्रचलित विवाद को शालीनता पूर्वक सुलझाया गया है। जैन साधना में एकान्त ज्ञान, भक्ति, या क्रिया को महत्व नहीं दिया गया है। वहां 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' कहकर रत्नत्रय आराधना का युगपत् विधान किया गया है।

साहित्य की दृष्टि से भी जैनधर्म का समन्वयपरक राष्ट्रीय स्वरूप हमारे सामने आता है। मौलिक साहित्य-सर्जना में जैन साहित्यकारों ने प्रचलित धार्मिक लोक मान्यताओं और विशिष्ट कथानक रूढ़ियों की कभी उपेक्षा नहीं की। वैष्णव साहित्य के लोकप्रिय चरित्रनायकों राम और कृष्ण को जैन साहित्य में सम्मान का स्थान दिया गया है। कथा-नक की दृष्टि में दृष्टिकोण का अन्तर भले ही रहा हो फिर भी त्रेसठशलाका पुरुषों में इन्हें स्थान दे देना कम गौरव की बात नहीं। ये चरित्र जैनियों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के अपने बन कर आये हैं। यही नहीं वैदिक परम्परा में जो पात्र घृणित और बीभत्स दृष्टि से चित्रित किये गये हैं वे भी यहां उचित सम्मान के अधिकारी बने हैं। इसका कारण शायद यह रहा है कि जैन साहित्यकार अनार्य भावनाओं को किसी प्रकार की ठेस नहीं पहुंचाना चाहते थे। यही कारण है कि वासुदेव के शत्रुओं को भी प्रतिवासुदेव का उच्च पद किया गया है। नाग-यज्ञ आदि को भी तीर्थंकरों का रक्षक माना है और उन्हें देवालयों में स्थान दिया है। छन्दों में तो इतना वैविध्य है कि सभी धर्मों, परम्पराओं और अनुष्ठानों से वे सीधे खींचे चले आ रहे हैं। कथा प्रबन्धों में जो राग-रागिनियां प्रयुक्त हुई हैं, उनकी तर्जे वैष्णव साहित्य से ली गई हैं।

साहित्य निर्माण के साथ-साथ साहित्य-संरक्षण में जैनियों की बड़ी उदार दृष्टि रही है। जैनेतर विषयों पर स्वतंत्र ग्रन्थ-निर्माण के साथ-साथ जैनेतर साहित्यकारों द्वारा रचित जैनेतर ग्रंथों पर विस्तृत प्रशंसात्मक टीकाएं भी इन्होंने लिखी हैं। इस संदर्भ में बीकानेर के पृथ्वीराज राठौड़ कृत क्रिसन रुकमणी री वेलि पर जैन विद्वानों द्वारा लिखित लगभग ७० टीकाओं का उल्लेख किया जा सकता है। आज जितने भी जैन ग्रंथ भंडार हैं, उनमें कई प्राचीन महत्वपूर्ण जैनेतर ग्रंथ भी संरक्षित हैं। जैन यतियों ने महत्वपूर्ण जैनेतर ग्रन्थों को लिपिबद्ध करना भी अपना पुनीत कर्त्तव्य समझा। यही कारण है कि बीसलदेव रासो की लगभग समस्त प्राचीन प्रतियां जैन यतियों द्वारा लिखित उपलब्ध होती हैं।

दार्शनिक और साहित्यिक समन्वय तभी प्रभावशाली बनता है जब वह आर्थिक और सामाजिक समन्वय की प्रक्रिया को गति प्रदान करे। भगवान् महावीर ने जिस समतामूलक समाज रचना की ओर संकेत किया है, वह सर्व धर्म समभाव, सर्व जाति समभाव और सर्व जीव समभाव पर आधारित है। वहां जाति, रंग, लिंग आदि के आधार पर कोई छोटा-बड़ा नहीं है। वहां बड़प्पन की कसौटी है उसका आचरण। भगवान् महावीर ने पुरुष के समान स्त्री को सामाजिक अधिकार ही नहीं दिये वरन् आध्यात्मिक अधिकार भी दिये। दासी बनी हुई चन्दना से उन्होंने भिक्षा ही ग्रहण नहीं की वरन् उसे दीक्षित कर छत्तीस हजार साध्वियों का नेतृत्व सौंपा। इसी प्रकार अपने साधु संघ में उन्होंने शूद्रकुलोत्पन्न हरिकेशी और मेतार्य को सम्मिलित कर सामाजिक और आध्यात्मिक समानता की दिशा में क्रान्तिकारी कदम बढ़ाया। इतना ही नहीं उन्होंने मानव से भी आगे बढ़कर प्रणिमात्र के कल्याण के लिए साधना का मार्ग प्रस्तुत किया। इस दृष्टि से वे जनतंत्र से भी आगे प्राणतंत्र की भावभूमि प्रतिष्ठित करते हैं।

आर्थिक समन्वय की दिशा में भगवान् महावीर ने अपरिग्रह का सूत्र दिया जिसका फलितार्थ है कि व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं से अधिक सामग्री का संचय न करे, अपनी आवश्यकताओं को सीमित करे और जरूरतमन्द लोगों में प्राप्त सामग्री को बांट दे। जो यह कार्य नहीं करता उसकी मुक्ति नहीं होती—असंविभागो ण हु तस्स मोक्खो।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि जैनदर्शन की समन्वय भावना का फलक अत्यन्त व्यापक और गहरा है। उसका स्वर जीवन-आस्था और जीवन-सम्पूर्णता का स्वर है। उसकी दृष्टि सदैव सत्य-शोधक की दृष्टि रही है। इसी भाव को आचार्य हरिभद्र ने व्यक्त करते हुए कहा है :—

पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद् वचनं यस्य, तस्य कार्यं : परिग्रह : ।।

अर्थात् महावीर के प्रति मेरा पक्षपात नहीं है और कपिल आदि के प्रति मेरा द्वेष नहीं है। मैं उसी वाणी को मानने के लिए तैयार हूं—जो युक्तियुक्त है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आज हमारी समाज में निश्चय और व्यवहार को लेकर दो दल से हो गए हैं और एक दल दूसरे को शास्त्रों का आधार लेकर गलत सिद्ध करने का प्रयत्न कर रहा है किन्तु उनके लेखों को और वक्तव्यों को जब कोई पढ़ता है तो सामान्य पाठक यह ही समझता है कि ये ठीक कहते हैं। उसे समझ ही नहीं पड़ता कि मतभेद कहां है ? क्योंकि जिस अपेक्षा से एक विद्वान् कोई बात कहता है तो वह उस अपेक्षा से एकदम सही होती है किन्तु वही बात दूसरी अपेक्षा से गलत मालूम होती है। यदि अपेक्षाभेद के इस रहस्य को ठीक तौर से समझ लिया जाय तो कहीं कोई मतभेद रह ही नहीं सकता। यही स्याद्वाद है और जो जैनों की एक विशेष थाती है। वह विभिन्न सापेक्ष सत्यों को एकत्र कर एक पूर्ण सत्य का निर्माण करता है और विभिन्न मत मतान्तरों का समन्वय कर उन्हें एक माला में पिरोता है। स्याद्वाद के इस सिद्धान्त को भली प्रकार हृदयंगम कर उसे अपने जीवन में उतारने की आज महती आवश्यकता है।

प्र० सम्पादक

सन्मति का समन्वयात्मक सिद्धांत स्याद्वाद

डॉ० कन्छेदीलाल जैन एम० ए०
(संस्कृत हिन्दी) साहित्याचार्य, साहित्य काव्यतीर्थ, पी० एच० डी० आदि।
राजकीय संस्कृत महाविद्यालय, शहडोला

प्रत्येक पदार्थ अनेक गुण वाला होता है इसलिए सन्मति महावीर ने अनेक अन्तों (धर्मों) के कारण वस्तुओं को अनेकान्तात्मक स्वीकार किया है। उन अनेक धर्मों या गुणों में से वक्ता जन अपने दृष्टिकोण से एक धर्म या गुण का प्रतिपादन करता है, और उस समय दूसरे धर्मों के रहते हुए भी उनका प्रतिपादन नहीं किया जाता है। प्रतिपादन की इस शैली का नाम स्याद्वाद है। उदाहरण के लिए एक प्रश्न किया गया कि आम कैसा है। एक आदमी आम के रूप की विवक्षा समझ कर उसे पीला बताता है, दूसरा आदमी उसके रस की विवक्षा समझकर मीठा बताता है, तीसरा आदमी उसके स्पर्श की विवक्षा समझकर आम को कोमल बताता है। चौथा आदमी गन्ध की विवक्षा समझकर सुगन्धित बताता है। पांचवां आदमी उसके मूल्य की विवक्षा समझकर 'मंहगा है' कहता है। आम में ये सभी बातें हैं, अतएव सभी का कथन अपने अपने दृष्टिकोण से सही है।

विज्ञान के क्षेत्र में आइंस्टीन ने एक सापेक्षवाद का सिद्धांत स्वीकृत किया है। विज्ञान का यह सिद्धांत स्याद्वाद के सिद्धांत से मिलता जुलता है। यद्यपि विज्ञान के क्षेत्र में यह सिद्धान्त अभी का अर्थात् बहुत बाद का है

सापेक्षवाद (Relativity) का सिद्धान्त विज्ञान ने स्वीकृत किया है वह भौतिक पदार्थों के सम्बंध में ही लागू होता है। अनेकान्त के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की दृष्टि से चार भेद होते हैं। विज्ञान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का क्षेत्र पौद्गलिक पदार्थों से सम्बन्धित होने के कारण, सापेक्षवाद में द्रव्य, क्षेत्र और काल ये तीन भेद अनेकान्त दर्शन में किसी प्रकार समाहित हो जाते हैं परन्तु भाव नामक चौथा भेद सापेक्षवाद की अपेक्षा अनेकान्तवाद की व्यापकता को व्यक्त करता है।

सन्मति महावीर के जीवन की दो तीन कथाएं इस सम्बन्ध में प्रचलित हैं। जिनके माध्यम से उन्होंने सरल ढंग से इस सिद्धान्त को लोगों को समझाया था।

एक बार महावीर अपने नन्द्यावर्त प्रासाद की चौथी मंजिल पर थे, नन्द्यावर्त प्रासाद 7 मंजिल वाला था। उनके खिलाड़ी मित्रों ने आकर माता त्रिशला से पूछा कि महावीर कहाँ हैं? त्रिशला ने कहा—ऊपर हैं। मित्र ऊपर के खण्ड में पहुंचे, वहाँ महावीर नहीं थे। मित्रों ने वहाँ उनके पिता सिद्धार्थ से पूछा महावीर कहाँ हैं, सिद्धार्थ ने बताया कि महावीर नीचे हैं। मित्र पुनः नीचे आए, महावीर वहाँ थे ही नहीं, मित्र हैरान हो गए, बाद में सभी मंजिलें देखने पर मित्रों ने महावीर को चौथी मंजिल में पाया। मित्रों ने महावीर से कहा,—हम लोगों के पूछने पर तुम्हारी माता ने तुम्हें ऊपर तथा पिता ने नीचे बताया था, परस्पर विरोधी बातें सुनकर हम हैरान थे।

महावीर ने कहा मित्रो! तुम यह बताओ कि कौवा कैसा होता है। मित्रों ने तपाक से उत्तर दिया कि कौवा काला होता है। इस उत्तर को सुनकर महावीर ने कहा कि कौवे के पंख काले होते हैं, खून लाल होता है और हड्डियां सफेद होती हैं। इस प्रकार एक ही वस्तु अनेक धर्मात्मक होने से, जिस धर्म की विवक्षा होती है उसकी दृष्टि से वह उस का रूप है। दूसरे धर्म की विवक्षा होने पर दूसरा रूप भी हो सकता है। चूंकि इस प्रासाद में मैं चौथी मंजिल पर था अतः नीचे की मंजिल की अपेक्षा ऊपर और ऊपर की मंजिल की अपेक्षा नीचे बताया जाना सत्य था।

जैसे एक बीस वर्षीय लड़के को 16 वर्षीय की अपेक्षा बड़ा और 24 वर्षीय की अपेक्षा छोटा बताना सत्य है।

इसी प्रकार मथुरा नगर को इन्द्रप्रस्थ (देहली) की अपेक्षा दक्षिण में, ग्वालियर की अपेक्षा उत्तर में, जयपुर की अपेक्षा पूर्व में और लखनऊ की अपेक्षा पश्चिम में कहना सत्य है। यद्यपि चारों दिशाओं में मथुरा की स्थिति बताना विरोधात्मक है, परन्तु अनेकान्तात्मक होने से चारों दिशाओं में उस अपेक्षा से स्थिति सत्य है। स्याद्वाद के कथन की शैली से जिस दिशा में बताया गया है उस दिशा में सत्य है।

कहते हैं एक बार राजा श्रेणिक के दरबार में एक प्रकरण आया। कुलकर नामक नित्यवादी व्यक्ति ने मृगचक्षु नामक अनित्यवादी के ऊपर घातक प्रहार किया। मृगचक्षु ने श्रेणिक के दरबार में कुलकर के विरुद्ध शिकायत प्रस्तुत की। जब कुलकर से पूछा गया कि तुमने मृगचक्षु के ऊपर घातक प्रहार क्यों किया? नित्यवादी कुलकर ने उत्तर दिया कि मृगचक्षु का सिद्धान्त अनित्यवाद का सिद्धान्त है। अनित्यवाद की यह मान्यता है कि क्षण-क्षण में प्रत्येक वस्तु बदलकर दूसरे रूप में भिन्न हो जाती है। ऐसी परिस्थिति में जिस मृगचक्षु के ऊपर प्रहार किया गया, वह मृगचक्षु तो बदल चुका है, शिकायत करने वाला मृगचक्षु जिस मृगचक्षु पर प्रहार किया गया उससे भिन्न है, बदला हुआ है। तथा प्रहार करने वाला कुलकर भी इनके सिद्धांत से बदलकर भिन्न हो चुका है। ऐसी परिस्थिति में घातक प्रहार करने वाला मैं नहीं, मुझसे भिन्न कोई दूसरा कुलकर रहा होगा, जो अपराधी है दण्ड भी उसे ही मिलना चाहिए था।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसी समय श्रेणिक के सामने दूसरा प्रकरण स्थित हुआ। मृगचक्षु अनित्यवादी के लड़के ने यवादी के लड़के को मार डाला है। जब चक्षु से पूछा गया तो मृगचक्षु ने उत्तर दिया कुलकर नित्यवादी है, अर्थात् प्रत्येक वस्तु अप-वर्तित ज्यों की त्यों रहती है, नष्ट नहीं होती है, प्रकार कुलकर की मान्यता है। नित्यवादी की ष्टि में किसी का मरना जीना कैसा ? जब इनके द्धान्त में मरना संभव नहीं है तो मारने वाले कल्पना करना भी व्यर्थ है।

इसी समय श्रेणिक के सामने तीसरा प्रकरण स्थित किया गया। कौलिक नाम के द्वैतवादी अद्वैतवादी प्रभाकर की स्त्री से बलात्कार या है। इस कुकृत्य के कारण द्वैतवादी कौलिक राधी एवं दण्डनीय है। कौलिक द्वैतवादी ने ाव की दृष्टि से कहा—प्रभाकर अद्वैतवादी है। ार की सभी वस्तुओं में एक अखण्ड सत्ता को ानता है। अद्वैतवाद की दृष्टि में मुझ कौलिक वं प्रभाकर में भेद (भिन्नता) ही नहीं है। ऐसी ति में व्यभिचार कैसा ? संसार में दिखाई वाले सभी पदार्थ इनकी मान्यता के अनुसार या हैं, असत्य हैं, असत्य पदार्थों के आधार पर ड देने का क्या औचित्य हो सकता है।

कौलिक ने कहा—इस प्रकरण को लेकर यदि के दण्डित किया जाता है तो प्रभाकर ने इसके एक लड़के को मारा है उस अपराध में उसे भी ण्डित किया जाना चाहिए।

प्रभाकर से जब पूछा गया तो उसने उत्तर या कि कौलिक द्वैतवादी है, कौलिक की मान्यता है कि शरीर और आत्मा भिन्न-भिन्न हैं, जब रीर और आत्मा द्वैतवादी की दृष्टि में स्वतः न्न हैं तो मारना, मरना कैसा ?

राजा श्रेणिक चारों प्रश्नों को सुनकर सन्देह पड़ गया। कहते हैं सन्मति महावीर से पूछा गया कि ऐसे प्रकरण में क्या किया जाय। सन्मति महावीर ने उपाय बताया कि चारों अपराधियों से यह कहा जाय कि यदि तुम्हें मृत्युदण्ड दिया जाय तो तुम्हारी एकान्त मान्यता की दृष्टि से तुम्हारी क्या हानि होगी ? अर्थात् कोई हानि नहीं होगी ?

राजा श्रेणिक ने चारों अपराधियों से क्रमशः कहा कि हे मृगचक्षु, तुम अनित्यवादी हो, तुम्हारे दृष्टिकोण से प्रत्येक पदार्थ क्षण-क्षण में बदलकर दूसरा हो जाता है। तुम्हें यदि मृत्युदण्ड दिया जाय तब भी बदल कर वही भिन्नता आनी है जो तुम मानते ही हो, इसलिए मृत्युदण्ड देने पर भी तुम्हारी कोई क्षति नहीं होगी। ऐसी स्थिति में सन्मति महावीर के कथन पर ध्यान दो कि संसार के पदार्थ सर्वथा अनित्य ही नहीं नित्य भी हैं। जब इन्हें नित्य भी मानोगे तो तुम्हें मृत्युदण्ड से हानि प्रतीत होगी और तुम उससे बचना अभीष्ट समझोगे।

श्रेणिक ने नित्यवादी कुलकर को भी समझाया कि यदि तुम्हें या तुम्हारे लड़के को मृत्युदण्ड दिया जाय तो नित्यवादी होने से, तुम्हारी दृष्टि में मरण तथा नाश होता ही नहीं, परन्तु तुम मरण से डरते हो, ऐसी स्थिति में सन्मति महावीर के कथन पर ध्यान दो कि संसार की वस्तुएं केवल नित्य ही नहीं होती हैं बल्कि विनाशशील भी होती हैं। विनाशशील होने की मान्यता भी सच होने से तुम्हें मृत्युदण्ड से हानि दिखाई देती है।

राजा श्रेणिक ने अद्वैतवादी प्रभाकर से कहा कि शरीर और आत्मा कथंचिद् भिन्न भी है। यदि इनको सर्वथा अभिन्न ही मानते हो तो मृत्युदण्ड मिलने पर शरीर से आत्मा पृथक् होने की शंका कर दुःखी क्यों होते हो ? इसलिए सन्मति महावीर के कथन पर ध्यान दो कि संसार में शरीर और आत्माएँ किसी दृष्टि से भिन्न-भिन्न भी हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्त में श्रेणिक ने द्वैतवादी कौलिक से कहा कि यदि तुम्हें फांसी का दण्ड दिया जाय तो तुम पहिले से ही शरीर तथा आत्मा को अलग-अलग मानते हो, मृत्यु दण्ड से उनके वास्तविक रूप में अलग हो जाने पर तुम्हारी मान्यता के अनुसार कुछ हानि नहीं होगी। तुम भी सन्मति महावीर के कथन पर ध्यान दो कि शरीर और आत्मा किसी दृष्टिकोण से अभिन्न भी हैं।

चारों व्यक्तियों को समझ में आया कि सन्मति महावीर का अनेकान्त दर्शन समन्वयवादी है और यह भी बताता है कि नित्यता अद्वैतभाव और द्वैतभाव भी अपने-अपने दृष्टिकोण से सही हैं। चारों की मान्यता को 'केवल ऐसा ही है' इस तरह एकांगी मान लेने पर मृत्यु होने पर भी किसी की कोई क्षति नहीं होती थी परन्तु दूसरे पक्ष को भी सत्य माना जाय तो सभी की क्षति थी।

सन्मति महावीर के इस अनुपम सिद्धांत अनेकान्त तथा स्याद्वाद पर ध्यान देते हैं तो स्पष्ट हो जाता है कि यह सिद्धांत सहिष्णुता का पाठ पढ़ाता है तथा दूसरों के दृष्टिकोण को समझने की प्रेरणा देता है।

समाज में उपादान, निमित्त तथा निश्चय और व्यवहार को लेकर जो खींचतान चल रही है, उससे लगता है कि एक दूसरे के दृष्टिकोण को नहीं समझा जा रहा है। अनेकान्त और स्याद्वाद भेद में अभेद का रास्ता दिखाते हैं जबकि समाज में अभेद में भेद होता जा रहा है। एकान्तवाद के कारण समाज के लोगों में कषाय की भावना बलवती होती जा रही है, अपने आप में एक दूसरे को मिथ्यादृष्टि तथा अज्ञानी समझते व कहते हैं। यह बात समाज के हित में नहीं है। ●

इंसां कहाने का

डॉ० विजय जैन 'आनन्द'

इतना बरस बादल कि डूब जाये धरती,
शौक खत्म हो जाय गंगा में नहाने का।
धुल के एक हो जाय मंदिर और मस्जिद,
दफन हो जाय हर किस्सा जमाने का।
इस मिट्टी से पैदा हो फिर इन्सान ऐसा
हक रख सके जो इंसां कहाने का॥



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'दिगम्बर' शब्द का अर्थ है शरीर पर किसी प्रकार का कोई आवरण, आच्छादन आदि का न होना। यह कार्य प्रकृति करती है अर्थात् दिशाएं ही उनका परिधान होता है। भगवान् महावीर ऐसे चौबीस तीर्थंकरों की परम्परा में अन्तिम थे जिनकी ऐतिहासिकता सन्देह से परे है। सामान्य जन के लिए दिगम्बरत्व असभ्यता का परिचायक है। यदि कोई नंगा होकर अन्यों के सामने आता है तो लोग उसे असभ्य और बेशर्म कहते हैं। प्रश्न है जैन मुनि ही नहीं जैनेतर देव तथा सन्त यथा शिव परमहंस आदि भी क्यों नग्न दिगम्बर रहते हैं इस प्रश्न का उत्तर आप पायेंगे विद्वान् रचनाकार की इस लघु रचना में।

प्र० सम्पादक

महावीर का दिगम्बरत्व

● डॉ० निजामउद्दीन
श्रीनगर (कश्मीर)

दिगम्बर मुनि नग्न रहते हैं—सर्वथा नग्न। यही नग्नता समाज में अशिष्टता, असभ्यता की सूचक है। वनों में जो जातियां नग्न अथवा अर्द्ध नग्न रहती हैं उन्हें हम असभ्य ही तो कहते हैं, समझते भी हैं। इससे यही जाहिर होता है कि जहां नग्नता होती है वहीं असभ्यता, अनैतिकता है, वह घृणित है, सावद्य है। इसी बुराई को सामने रखकर हम बहुधा इस मुहावरे का प्रयोग करते हैं—'नंगा करना' या 'नंगा होना'। इनमें अर्थ की गम्भीरता है, जब हम किसी को 'नंगा करते' हैं तो उसके सारे पोशीदा राज खोल देते हैं, न बतलाने वाली बातें भी बतला देते हैं और इससे उस व्यक्ति की बदनामी, बेइज्जती खूब होती है—मानों उसे अपने काली करतूतों का बदला मिल रहा है। यों तो हम सभी जानते हैं कि हमारे कपड़ों के अन्दर क्या है ? लेकिन सबके सामने तो कपड़े उतार कर रखे नहीं जा सकते। यह हिम्मत की बात नहीं, बेगैरती व बदतमीजी है। कहने का अभिप्राय यही है कि 'नग्नता' एक दोष है, बुराई है जिसे छिपाने के लिए— सामाजिकता की और सामाजिक दायित्व पूरा करने के लिए हम वस्त्र धारण करते हैं। किसी विगतबुद्धि, पागल को नग्नावस्था में देखकर बच्चे उसका ईंट-पत्थर से स्वागत करते हैं—बड़े भी नाकभौं चढ़ाकर चलते हैं। नग्नता में जब इतनी बुराइयां है तो दिगम्बर मुनि नंगे क्यों रहते हैं, आखिर मजबूरी भी क्या है ? आज जहां नये-नये, बढ़िया से बढ़िया 'फेबरिक क्लोथ' चल रहे हैं, कितने स्निग्ध व कितने पारदर्शी ! फिर तो उन्हें भी धारण कर अपनी नग्नता की रक्षा की जा सकती है और साथ में सामाजिकता की रक्षा भी हो जायगी। मेरे इतने सब कुछ से यही स्पष्ट होता है कि नग्नता एक सामाजिक दोष है, इससे न केवल अशिष्टता, अश्लीलता जाहिर होती है वरन् व्यभिचार, दुश्चरित्रता को फलने फूलने का रास्ता मिलता है। ज्ञान–विज्ञान के क्षेत्र में मनुष्य आशातीत उन्नति और सफलता प्राप्त कर रहा है, चांद पर पहुंचकर अन्य ग्रहों–उपग्रहों तक पैर बढ़ाने के लिए प्रयत्नशील है, सुपरसोनिक विमानों पर बैठकर यात्रा कर रहा है, पानी के अन्दर प्रवेश कर सैकड़ों मीटर की गहराई से तेल निकालने में जुटा है फिर भी नग्नता को पसंद करेगा क्या ?

नग्नता देखने को मिलती है नंगे नाचघरों में, 'सनबाथ' करते समय। यहां अधिक स्वच्छन्दता और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कामुकता की भावना काम करती है। नग्नता में और दिगम्बरत्व में बाह्य दृष्टि से, अर्थ की दृष्टि से कोई भेद शायद साधारण रूप में किसी को नजर न आये लेकिन इनमें भारी अन्तर है। नग्नता में भौतिकता है, दिगम्बरत्व में आध्यात्मिकता। नग्नता के पीछे वासना की भावना है, दिगम्बरत्व में आत्मिक विकास की, त्याग की भावना है। नग्नता में अशिष्टता, अश्लीलता और बेशर्मी होती है, दिगम्बरत्व में शिष्टता, श्लीलता, और शर्म-ओहया होती है। नग्नता में हम दूसरे की नग्नता में (उसके आंगिक आकर्षण में) प्रवेश करते हैं जबकि दिगम्बरत्व में अपने में प्रवेश किया जाता है—आत्मा में प्रवेश करने की ओर अभ्योन्मुखी हुआ जाता है। नग्नता में भौतिकता होने के कारण वैभव-विलास का जजबा मौजूद रहता है, दिगम्बरत्व में आध्यात्मिकता होने के कारण आत्मिक विलास का सागर तरंगित होता है। नग्नता में मन की कलुषता की पंक भरी रहती है, दिगम्बरत्व में मन की पवित्रता के पंकज विकसित होते हैं। नग्नता भोग का, दिगम्बरत्व त्याग का प्रतीक है। इस प्रकार दोनों में जमीन व आसमान का अन्तर है। नग्नता नीचे की ओर खींचती है—अधमता की ओर, दिगम्बरत्व आकाश की ओर ले जाता है—ऊर्ध्वोन्मुखी है, आत्मा के ऊपर उठने की दशा है। महावीर इसी दिगम्बरत्व की साकार प्रतिमा हैं।

महावीर का दिगम्बरत्व वीतरागजन्य है, उनकी वीतरागमुद्रा ही दिक् अम्बर है—गगनपरिधान है, वहां राग कहां, इन्द्रिय-धर्म कहां ? सम्पूर्ण त्याग है, निःकांक्षा है, निःस्पृहा है। सत्य एवं तपोनिष्ठ महावीर का दिगम्बरत्व था—'मोक्षमार्गमवाग्-विसर्गं वपुषा निरूपयन्तम्'। उनके दर्शन ही—दिगम्बरत्व को देखकर ही ऐसा अनुभव होता है कि वह मोक्षमार्ग का अनुगमन कर रहे हैं। ब्रह्मचर्य एवं तपाग्नि में अपना सब कुछ भस्म करके—विषय-वासना, इच्छा-कामना की आहुति देकर मोक्षमार्ग पर जो निकल पड़े उसे किस पाथेय की आवश्यकता होगी ? वह दिगम्बरत्व नहीं होगा तो क्या होगा ? जो सर्वांग ज्ञान की खोज में भरा-पूरा घर क्या पूरा राज्यवैभव ठुकराकर अकिंचन और आत्मनिष्ठ होकर निकलेगा वह क्या संसार की जड़ता को देखेगा, उसे छाती से लगाएगा ? यह दिगम्बरत्व ही उनकी अपार सम्पदा थी। दर असल दिगम्बरत्व अपने में एक दर्शन है, ऐसा दर्शन जो सब से सरल व सुबोध, लेकिन व्यवहारतः सबसे अधिक दुष्कर, कठिन।

डा० इकबाल कहते हैं 'मन गुलाम आंके बरखुद काहिर अस्त' यानी मैं उस व्यक्ति को आदरणीय-अभिनन्दनीय समझता हूँ जो अपनी ख्वाहिशात को अपने काबू में रख सकता है अर्थात् जो अपने 'नफ्स' पर कादिर है। अपने नफ्स पर अधिकार रखना, इन्द्रियजयी बनना कोई साधारण उपलब्धि नहीं। कुरान में उल्लिखित है—'मन अराफा नफसाहू फकद अरफा रब्बाहुँ—जिसने अपने 'नफ्स' की मारिफत हासिल करली उसने अपने रब (ईश्वर) की मारिफत हासिल करली। और यही मारिफत तो मुक्ति है, मोक्ष है। दिगम्बरत्व के मोक्षोन्मुखी मार्ग पर चलना तलवार की धार पर अनुधावन करना है। सच्चा प्रेमी ही ऐसे विलक्षण मार्ग का पथिक बन सकता है। इस मार्ग पर चलना ऐरे-गैरे के बूते की बात कहां ?

कश्मीर की प्रसिद्ध कवयित्री (१३ वीं शती में) नंगी ही फिरती थी। हिन्दू उसे 'लल्लद्य' और मुसलमान 'लल आरिफा' कहते हैं दोनों धर्मों के अनुयायी उसका समान आदर करते हैं। हिन्दू उसके 'वाक्' मन्दिरों में सस्वर उच्चरित करते हैं तो मुसलमान मस्जिदों में पढ़ते हैं। उसने अपने समय भी लोगों से आदर प्राप्त किया था। एक योगिनी थी वह, निर्गुण भगवान् की उपासिका।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आध्यात्मिकता की वह कश्मीर में गंगा बहाने वाली थी, उसका नग्नत्व किसी की दृष्टि में हेय न था, न अब माना जाता है। उस नग्नत्व में पवित्रता की तरंगें उठती थीं। महावीर के नग्नत्व के आध्यात्मिक सागर में भी पवित्रता की तरंगें मचलती हैं। यहां मैं खजूरोहो की नग्न मूर्तियों की चर्चा करके विषय को अधिक तूल न देकर इतना ही अर्ज करना चाहूंगा कि उन्हें देखकर किस दर्शन की दृष्टि कलुषित या पापमय हो जाती है ? वहां का वातावरण ही अकलुष होता है और महावीर के नग्नत्व से भरा वातावरण भी निष्कलुष तथा निष्पाप होता है, पवित्रता की कलिकाएँ वहां विकसित होती हैं।

वृक्ष विंशतिका

हास्य कवि—पं० प्रेमचन्द्र दिवाकर
धर्मालंकार, बी. काम.

तीन ऋतु के परिषह--जय से, सेवा सबकी करते।
सेवा से मेवा, न मानव दया वृक्ष पर करते ।।१।।

बिना पल्ली के शीत सहें हम, विन पंखे के गर्मी।
बिन छतों के, बिन भवनों के, बरषा भी बेशर्मी ।।२।।

वर्षा से उद्वेलित नदियां नौका पार लगाते।
हमी बारगा बन के रक्षक, ढोर फसल न खाते ।।३।।

शीत लहर से कंपते तुमको चाय तुम्हें गरमाये।
सौंप संतरे तरबूजे फल गर्मी तुम्हें खिलाये ।।४।।

रात-दिवस जब हो जाते हैं, जुही कमल मुस्काये।
किया प्रसन्न नेहरू को हमने किसे गुलाब न भाये ।।५।।

रोगी को निरोग करायें स्वयं दवाई बनके।
कुटते पिसते चुरते छनते जर पत्ती फल बीजे ।।६।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तुम्हें सुनायें मोहन बंशी, छेद वंश में होते ।
लाज सिखाई लजवन्ती ने सिया दशानन लूटे ।।७।।

अरि मारते राम धनुषसेमूर्छितता भी खोवें ।
पूंछा हमसे राम सिया को रावण-घर में रोवे ।।८।।

बच्चे होत मारते पाथर, पात जात फल फूटे ।
डाली तोड़ पीड को काटें खोद जड़ों को देते ।।९।।

तुम्हें खिलाते तुम्हें पिलाते, तुम्हें बिठाते कुर्सी ।
तुम्हें झुलाते और सुलाते, तुम्हें जलाते गुर्सी ।।१०।।

फूल हँसातें, फल उत्साहित देव चढ़ाने देते ।
पुष्प हार से स्वागत करते, सुरभित चन्दन टीके ।।११।।

खाम खिलौने वस्त्र पांवड़ी कई कलाकृति वाले ।
करीं चोखटें चौका पटिये, नरनारी रंग वाले ।।१२।।

कठपुतली निष्प्राण है पुतला तुम हो प्राणों वाले ।
ढोल बजा के नाचते कैसे संयम वाले ? ।।१३।।

गिल्ली बन में रोज खिलाता डंडे सर पर पड़ते ।
ये अन्याय समझ न आया मुड़ी मूड़ पर ओले ।।१४।।

हम ही तेरे द्वारपाल हैं हम ही बन्दनवारे ।
घोड़ा हाथी शेर कैंची से केश कतर ज्यों डारे ।।१५।।

दूब समझ नर छाती रुदें वृक्षक मारे जाते ।
कभी न तुमको गाली दी है मौन रहा, मतवाले ।।१६।।

वन के वन कटवा लेते हो, न मानें मानव होके ।
शव-दाह करें औ संग न छोड़े दग्ध हमें करवाके ।।१७।।

वसु ने किया सिद्ध जीवन को हम पादप ही ठहरे ।
असमझ समझे तो समझायें नार न नर से होवें ।।१८।।

अनोखी कथा कहूं क्या कहना ? लोग हंसी ही करते ।
दुःख मेंटते गले लगाते नर विरले ही होते ।।१९।।

हम वृक्षों के बाग बगीचे नन्दन कानन सोहें ।
जैसी कृपा वास दो सन्मति तुम जीयो हम जीवें ।।२०।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत्येक जीव की केवल एक ही इच्छा होती है वह सुखी हो किन्तु जिसे वह सुख समझकर ग्रहण करता है वह वास्तव में सुख न होकर दुःखों की परम्परा को बढ़ाने वाला होता है। जीव की यह भूल ही उसे अनन्त काल से संसार सागर में रुला रही है। यदि जीव सच्चे सुख का स्वरूप समझ उसकी प्राप्ति का सद्प्रयत्न करे तो उसे उसकी प्राप्ति होना सहज है। जीव की ऐसी अवस्था जिसमें किसी अन्य तत्व का सम्मिश्रण न हो अनन्त सुखमय होती है। इसकी प्राप्ति का उपाय करने से पूर्व यह जानना आवश्यक है कि वह जीव है क्या ? तब ही तो उस दिशा में प्रयत्न हो सकेगा। इसीलिए प्रयोजनभूत सात तत्वों में जीव का प्रथम स्थान है और मुक्ति के मार्ग पर चलने की सबसे पहली शर्त है जीव के शुद्ध स्वरूप का श्रद्धान। उस जीव के संबंध में कुछ जानकारी जैन शास्त्रों के आधार से उदीयमना लेखिका दे रही हैं अपनी इन पंक्तियों में।

प्र० सम्पादक

जैन-दर्शन में जीव-द्रव्य का स्वरूप

● कुमारी प्रीति जैन, एम० ए०,
जयपुर

समस्त मानवीय विचारधारा को मुख्यतः दो धाराओं में विभक्त किया जा सकता है-प्रथम आध्यात्मिक एवं द्वितीय-भौतिकवादी। आध्यात्मिक विचारधारा की आधारभित्ति "आत्मवाद" है और भौतिकता का मूलमन्त्र है "अनात्मवाद"। प्रायः सभी भारतीय-दार्शनिकमत आध्यात्मिक विचार-धारा से ओतप्रोत हैं, उनका समवेत स्वर है-आत्मा ही दर्शनीय, श्रवणीय, मननीय और ध्यान करने योग्य है, क्योंकि सभी आध्यात्मिक दर्शनों का प्रारंभ आत्मा से और अन्त मोक्ष (आत्मा की चरम परिणति अथवा आत्मा के लक्ष्य की प्राप्ति) से होता है। जैन-दर्शन, भारतीय-दर्शनवृक्ष की पूर्ण पल्लवित शाखा है, अतः वह इसका अपवाद नहीं है।

जैन-दर्शन का ध्येय है-आध्यात्मिक अनुभव, आत्मा की अनुभूति होना। आत्मा, जिसे "जीव" भी कहा गया है, जैन-दर्शन में स्वतन्त्र, मौलिक द्रव्य माना गया है, जिसका असाधारण लक्षण चेतना है। सामान्यतः सभी आत्मवादी दार्शनिकों ने जीव (आत्मा) को नित्य, चैतन्ययुक्त स्वीकार किया है। जैनों के अनुसार जीव ज्ञान-चैतन्य स्वरूप तथा सदा प्रकाशयुक्त है, इन्हीं विशिष्टताओं के कारण वह समस्त जड़ द्रव्यों से अपना पृथक् अस्तित्व रखता है। ज्ञान जीव का एक विशिष्ट गुण अथवा शक्ति है, जिसके कारण जीव की (कुछ) जानने की प्रवृत्ति होती है। यथार्थ रीति से वस्तु को जानना ही ज्ञान है, दूसरे शब्दों में सत्यार्थ का प्रकाश करने वाली शक्ति का नाम ज्ञान है। परन्तु ज्ञान को जीव का गुण मानने से यहां एक प्रश्न उपस्थित होता है कि ज्ञान जीव का औपाधिक गुण है अथवा स्वाभाविक गुण है ? अथवा जीव व ज्ञान में सांयोगिक (किसी संयोग

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्वारा उत्पन्न) सम्बन्ध है–अथवा तादात्म्य। मोहन व डण्डा ये दो पृथक् वस्तुयें हैं, जब मोहन डण्डे को हाथ में लेता है तब वह डण्डे के संयोग अथवा सम्बन्ध से "दण्डी" कहलाने लगता है, जैसा सम्बन्ध मोहन व डण्डे में है, क्या ऐसा ही सम्बन्ध जीव व ज्ञान में है ? नहीं, जीव व ज्ञान में ऐसा सम्बन्ध नहीं अपितु जीव व ज्ञान, गुणी व गुण है। जैनों के अनुसार गुणी व गुण पृथक्–पृथक् नहीं हैं, गुण सदैव गुणी में ही पाये जाते हैं, गुणी से भिन्न कोई गुण अस्तित्वशील नहीं है। जिस प्रकार मिठास, मिष्ठ वस्तु का गुण है, वह (मिठास) किसी भी मिष्ठ वस्तु (शक्कर, गुड़ अथवा मिष्ठान्नादि) में ही प्राप्त होता है, किसी भी मिष्ठ वस्तु से पृथक् मिठास प्राप्त नहीं हो सकता अर्थात् "मिष्ठता" मिष्ठान्नादि का स्वभाव है उसी प्रकार ज्ञान जीव का स्वभाव है, जीव से पृथक् ज्ञान की उपलब्धि असम्भव है, अतः ज्ञान जीव का औपाधिक गुण न होकर स्वाभाविक गुण है, कथंचित् गुणी व गुण (जीव व ज्ञान) में तादात्म्य सम्बन्ध है।

प्रवचनसार में भी कहा गया है–

ज्ञानं आत्मेति मतं वर्तते ज्ञानं विना न आत्मानम्, तस्मात् ज्ञानात्मा आत्मा ज्ञानं वा अन्यद्वा। 27।

अर्थात्–आत्मा (जीव) के बिना ज्ञान नहीं होता इसलिये ज्ञान आत्मा है और आत्मा ज्ञान है। प्रत्येक आत्मा ज्ञान स्वरूप है अन्तर केवल मात्रा का है।[3] ऐसा कोई क्षण नहीं हो सकता जब आत्मा चैतन्य अथवा ज्ञान शून्य हो जाये, क्योंकि वस्तु स्वभाव शून्य कदापि नहीं होती और ज्ञान चैतन्य आत्मा का स्वभाव है।

जीव का स्वरूप श्री नेमिचन्द्राचार्य द्वारा प्रणीत द्रव्यसंग्रह की निम्न गाथा से स्पष्ट होता है–

"जीव उपयोगमय अमूर्तिकर्ता स्वदेहपरिमाणः भोक्ता संसारस्थ सिद्धः सः विस्रसा ऊर्ध्वगति।2।

अर्थात् जो जीता है, उपयोगमय है, अमूर्तिक है, कर्त्ता भोक्ता है, स्वदेह परिमाण वाला है, संसारस्थ है, सिद्ध होने की शक्ति रखता है तथा स्वभाव से ऊर्ध्वगति को जाने वाला है वही जीव है।

---

(1) **तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा** :
ले० डा० नेमिचन्द्र जैन, ज्योतिषाचार्य, पृ० 332

(2) (अ) **जैन धर्म** लेखक—पं० कैलाशचन्द्र
(ब) **नयचक्र** : लेखक—माइल्लधवल पृ० प्रस्तावना 22 प्र०—भारतीय ज्ञानपीठ
(स) **प्रवचनसार**—श्री कुन्दकुन्दाचार्य
हिन्दी अनुवाद—पं० परमेष्ठी दासन्यायतीर्थ, गाथा 27.
(द) **पंचस्तिकाय संग्रह**-श्री कुन्दकुन्दाचार्य, प्र० – सोनगढ गा० 12
(क) **स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा**—गाथा 178–180

(3) क्योंकि जैन दर्शन में आत्मा की अनेकता को स्वीकार किया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीव : व्यवहार नय[4] से जो तीन काल में इन्द्रिय, बल–आयु और श्वासोच्छ्वास इन चार प्राणों से जीता है वह जीव[5] है और निश्चय नय से जिसमें चेतना है वही जीव है।[6]

उपयोगमय–देखने व जानने की शक्ति को उपयोग कहते हैं[7]। तत्वार्थसूत्र (2/8) के अनुसार उपयोग जीव का लक्षण है। उपयोग दो प्रकार का है (1) दर्शनोपयोग एवं (2) ज्ञानोपयोग। वस्तु की सत्ता मात्र के ज्ञान का नाम "दर्शन" है। जब वस्तु का बोध होने लगता है कि यह क्या है? तब वह "ज्ञान" कहलाता है। दर्शन निराकार एवं ज्ञान साकार होता है।

अमूर्तिक–वे पदार्थ मूर्तिक कहलाते हैं जिनमें रूप, रस, गंध एवं स्पर्श गुण हों, जिनमें ये गुण नहीं हैं वे पदार्थ अमूर्तिक कहलाते हैं। सामान्य रूप से जो वस्तु इन्द्रियों से जानी जा सके वह वस्तु मूर्तिक कहलाती है। जीव में रूप, रस, गंध एवं स्पर्श का अभाव है तथा वह इन्द्रियातीत है अतः वह अमूर्तिक है। आचार्य कुन्दकुन्द के अनुसार–

"अरस अरूपमगन्धमव्यक्त चेतनागुणमशब्दम्
जानीह्यलिंगग्रहणं जीवमनिर्दिष्टसंस्थानम् ।172।"

अर्थात्–जिसमें न कोई रस है, न कोई रूप है और न किसी प्रकार की गंध है अतएव जो अव्यक्त है, शब्द रूप भी नहीं है, किसी भौतिक चिह्न से भी जिसे नहीं जाना जा सकता और न जिसका कोई निर्दिष्ट आकार ही है उस चैतन्यगुण विशिष्ट द्रव्य को जीव कहते हैं।

किन्तु व्यवहार नय से, क्योंकि जीव कर्म बन्धनों में बंधा हुआ है (कर्म पुद्गल है, मूर्तिक है) कर्म बंधन के कारण वह देहधारी हो रहा है, देह मूर्तिक है अतः संसारी जीव को मूर्तिक कहा जा सकता है।[8]

कर्ता–भोक्ता : किसी भी प्रकार के कार्य करने वाले को कर्त्ता कहा जाता है। और उन कार्यों के परिणाम भोगने वाले को भोक्ता कहा जाता है। यहां जीव के कर्त्तापन को तीन रूप में समझा जा सकता है।

(1) शुद्ध निश्चय नय
(2) अशुद्ध निश्चय नय और
(3) व्यवहार नय।

रागद्वेष आदि भाव जीव के निज भाव नहीं हैं, जीव ज्ञान और दर्शन से रागद्वेष के बिना ही सब वस्तुओं को जानने वाला है, यही जीव का शुद्ध स्वभाव है और शुद्ध निश्चय नय से जीव ऐसे शुद्धभावों का कर्त्ता है।

---

(4) वस्तु के स्वरूप का कथन जैन-दर्शन में 'नय शैली' मुख्यतः निश्चयनय और व्यवहारनय के माध्यम से किया गया है। निश्चयनय वस्तु के शुद्ध स्वभाव का कथन करने वाली शैली है और व्यवहारनय वस्तु के अशुद्ध (किसी अन्य वस्तु के संयोग से बना) रूप का कथन करने वाली शैली है।

(5) **पंचास्तिकाय संग्रह**-गा० 30

(6) **द्रव्य संग्रह**-बाबू सूरजभानु वकील की टीका गा० 16

(7) **सिद्धान्तसार संग्रह**-नरेन्द्र सेनाचार्य पृ० 112 अध्याय 5

(8) **द्रव्य संग्रह**-गा० 7

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निज स्वभाव न होते हुये भी कर्मवश जीव में क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषाय उत्पन्न होती हैं, ये कषायें चैतन्य में ही उत्पन्न हो सकती हैं, जड़ पदार्थ में नहीं, इस कारण अशुद्ध निश्चय-नय से जीव इन कषायों आदि का करने वाला है।

क्रोध, मान, माया आदि कषायों के करने से कर्म का बंध जीव के साथ होता है, कर्मों के उदय से ही जीव देहधारी होता है। उस देह के माध्यम से जीव अनेक प्रकार की क्रिया करता है—जैसे—भवनादि निर्माण कार्य, भ्रमणादि क्रिया, चलना-फिरना, उठना–बैठना, इन सब क्रियाओं का करने वाला जीव ही है। परन्तु ये सब क्रियायें शरीर तथा कर्म के माध्यम से ही होती हैं, इसलिये इन क्रियाओं का कर्ता जीव को केवल व्यवहार नय से ही माना जाता है।[9]

जो कर्ता है वह भोक्ता अवश्य होगा। कार्य को करने वाला जीव (चेतन) ही है अतः उसका परिणाम भोगने वाला भी वही जीव होगा। व्यवहार दृष्टि से जीव अपने कर्मों के फल का भोक्ता है और निश्चय से वह अपने चेतन भावों का ही भोक्ता है।[10] वस्तुतः जीव के कर्ता एवं भोक्ता होने के कारण कोई भी परोक्ष शक्ति जीव के लिये किसी भी प्रकार का कार्य नहीं करती।

स्वदेह परिमाण : कर्तृत्व–भोक्तृत्व के बारे में विचार करने के पश्चात् जीव के परिमाण के बारे में प्रश्न उठता है। क्या जीव का निश्चित परिमाण है? जैन दर्शन में जीव स्वदेह परिमाण माना गया है। जो आकार देह का है वही आकार उस देह में व्याप्त जीव का है। कर्मानुसार प्राप्त छोटे-बड़े शरीर (देह) के अनुसार संकोच और विस्तार शक्ति से देह के परिमाण वाला होता है। (समुद्घात की स्थिति के अलावा) तत्वार्थ सूत्र (5|16) में इसकी तुलना प्रज्वलित दीपक से की गई है—"प्रदेशसंहारविसर्पाभ्यां प्रदीपवत्" जो एक समान रहकर भी जिस छोटे या बड़े स्थान अथवा कक्ष में रखा होता है, उसके अन्दर के पूर्ण स्थान को प्रकाशित करता है।

आनुभविक स्तर पर भी जीव को अपनी देह में होने वाले सुख-दुःख का ही अनुभव होता, देह से बाहर होने वाले सुख-दुःख का अनुभव नहीं होता। अतः जीव स्वदेह परिमाण ही है।[11]

किन्तु उपर्युक्त कथन कर्म संयुक्त जीव (व्यवहार नय) की अपेक्षा से है क्योंकि पुद्गल देह का योग पुद्गल कर्मों के कारण है। जब पुद्गल कर्मों का नितान्त अभाव होगा तब पुद्गल देह का योग अथवा साहचर्य किसी भी अपेक्षा से संभव नहीं है, अतः शुद्ध जीव का परिमाण कैसा है? इसके लिये जैन मान्यता है कि जीवकी अन्तिम देह की अन्तिम अवगाहना के परिमाण से किंचित् न्यून जीव के प्रदेश रहते हैं।

संसाररूप : कहने का तात्पर्य यह है कि (लोक का) प्रत्येक जीव या तो संसारी रह चुका है अथवा संसारी है, अर्थात् कोई भी जीव ऐसा नहीं है जो संसारी न रहा हो, मुक्त जीव भी कभी संसारी अवश्य था, जीव सांसारिक दशा भोग कर ही मुक्त होता है। कोई जीव ऐसा नहीं है जो सदा मुक्त (बिना प्रयत्नों के, अनादि काल से मुक्त) हो।[12]

---

(9) **द्रव्य संग्रह**-गा० 8 (10) **अर्हत् प्रवचन**-ले० पं० चैनसुखदास न्यायतीर्थ द्रव्यसंग्रह गा० 9

(11) (अ) **द्रव्य संग्रह** गा० 10 (ब) **जैन धर्म** पृ० 82 (स) **कार्तिकेयानुप्रेक्षा** पृ० 81 (द) **नयचक्र** पृ० 64

(12) **अर्हत्प्रवचन** प्रस्तावना पृ० 8

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सिद्ध : "सिद्ध" कहने का तात्पर्य है—समस्त कर्मादि से मुक्त होना। जीव को "सिद्ध" कहने का अभिप्राय है कि जीव में समस्त कर्मादि से मुक्त होने की शक्ति है—अर्थात् प्रत्येक जीव अपने कर्म बन्धन का क्षय कर "सिद्ध" अवस्था प्राप्त कर सकता है।[13] जैन दर्शन प्राणिमात्र को सिद्ध (मुक्त) बनने का अधिकार देता है, जैन–दार्शनिक जीव के नैसर्गिक अनन्त सामर्थ्य में गंभीर विश्वास करते हैं।

जीव के स्वरूप पर विचार करने के पश्चात् जीव के सन्दर्भ में कुछ और भी जिज्ञासायें उत्पन्न होती हैं यथा–जीव एक है अथवा अनेक, स्वयं ही अपना प्रभु है अथवा किसी अन्य सत्ता पर आश्रित है? आदि।

जीव की अनेकता—जैन दर्शन में जीव की अनेकता को स्वीकार किया गया है।[14] आनुभविक स्तर पर हमें सुख-दुःख, जन्म-मरण, रोग-शोक, वैभवादि विभिन्नताओं का अनुभव होता है, यह विभिन्नता जीवकी अनेकता को सिद्ध करती है, यदि वस्तुतः एक ही जीव का अस्तित्व होता तो उस जीव के दृष्टिगोचर अनेक प्रतिरूपों में से एक प्रतिरूप को मोक्ष प्राप्त होते ही समस्त प्रतिरूपों को मोक्ष प्राप्त हो गया होता। एक ही जीव के अनेकों प्रतिरूपों में रूप, कार्य, रुचि, आदि की अपेक्षा विभिन्नता क्यों है? इन सब तथ्यों को ध्यान में रखते हुये जीवों की अनेकता की मान्यता बहुत समीचीन है।

जीव की प्रभुत्व शक्ति—जैन दर्शन में जब जीव को स्वतन्त्र द्रव्य माना गया है तो यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि तब क्या वह अपने सुख-दुःख, जन्म-मरण, मोक्ष आदि के लिये किसी पर आश्रित है अथवा इन सब सन्दर्भों में भी वह पूर्ण स्वतन्त्र है? इसका तर्क संगत समाधान होगा कि जब जीव स्वतन्त्र सत्ता है तब क्यों अपने सुख-दुखादि के लिये किसी अन्य सत्ता पर आश्रित रहे। जैनों की भी यही मान्यता है, उनके अनुसार जीव अपने समस्त कर्म–कर्मफल, ज्ञान, मोक्षादि के लिये पूर्ण-रूपेण स्वतन्त्र है। जीव स्वयं ही प्रभु अर्थात् स्वामी है। जीव का बन्धन एवं मुक्ति किसी की कृपा अथवा रोष का परिणाम नहीं है अपितु स्वयं के कर्तृव्य का परिणाम है। प्रभुत्व शक्ति से युक्त जीव सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान व सम्यक्चारित्र के द्वारा चार घातिकर्मों को नष्ट करके जब अनन्त चतुष्टय युक्त होता हुआ अर्हन्तदशा को प्राप्त होता है तब उसमें प्रभुत्व शक्ति का पूर्ण विकास होता है और जब वह शेष चार अघाती कर्मों को भी नष्ट करके सिद्ध-मुक्त हो जाता है तब वह साक्षात् प्रभु ही हो जाता है।[15]

जीव के भेद—मूलतः जीव का मौलिक स्वरूप एक-सा है किन्तु कर्मों की अपेक्षा स्थूल रूप से जीवों के दो भेद हैं (1) संसारी और मुक्त।[16]

---

(13) **अर्हत् प्रवचन**, प्रस्तावना पृ० 9

(14) **जैन धर्म** पृ० 86

(15) (अ) **पंचास्तिकाय संग्रह** गा० 27

(ब) **जैन धर्म** पृ० 81

(स) **नयचक्र** पृ० 64

(16) **तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा**, पृ० 364

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर्म बन्धन से बद्ध एक गति से दूसरी गति में जन्म और मरण करने वाले जीव संसारी जीव कहलाते हैं।[17] और जो कर्म बन्धनों से मुक्त हो संसार से तिर चुके हैं वे मुक्त कहलाते हैं। मुक्ति अथवा मोक्ष शब्द का अर्थ छुटकारा है। जीव का समस्त कर्म बन्धनों से छुटकारा पा लेना ही मोक्ष प्राप्त होना है।[18] संसारी एवं मुक्त इन दो स्तरों के अलावा यदि विस्तृत दृष्टिकोण से देखें तो जीव के अनेक स्तर हैं। मुक्तावस्था में तो जीव अपने शुद्ध स्वरूप में स्थित होता है, अतः वहाँ किसी भी प्रकार का स्तर अथवा भेद नहीं है, किन्तु सांसारिक जीवों में अनेक भेद हैं, वह भेद एवं भिन्नता (जो सांसारिक जीवों में दृष्टिगोचर होती है) औपाधिक है। कर्मों के आवरण की तारतम्यता के कारण ही जीवों में पारस्परिक भेद दृष्टिगत होते हैं। सांसारिक जीवों के भेद निम्न प्रकार हैं—

(1) विकास दशा की दृष्टि से तीन भेद हैं—

(अ) **बहिरात्मा**—

जो देह व जीव के पृथक्त्व को नहीं समझता अर्थात् जो मिथ्यादृष्टि है वह बहिरात्मा है।[19]

(ब) **अन्तरात्मा**—

जो देह व जीव के भेद को समझते हैं अर्थात् जो सम्यग्दृष्टि हैं वे अन्तरात्मा हैं।[20]

(स) **परमात्मा**—

जो सर्वद्रष्टा है, केवलज्ञानी है वह परमात्मा है।[21] यह आत्मा का चरमोत्कर्ष है अतः मुमुक्षु प्राणियों के लिये परमात्मा साध्य है और अन्तरात्मा बनने के लिये साधन है।

(2) गति की अपेक्षा जीव के चार भेद हैं—

(अ) मनुष्य गति में उत्पन्न होने वाले जीव

(ब) देवगति में उत्पन्न होने वाले जीव

(स) तिर्यञ्चगति (पशु आदि) में उत्पन्न होने वाले जीव और

(द) नरक गति में उत्पन्न होने वाले जीव।

(3) इन्द्रिय अपेक्षा से जीव के पांच भेद हैं—

(1) एकेन्द्रिय—जिनके केवल स्पर्शनइन्द्रिय ही होती है इसके भी पांच भेद हैं—

(अ) पृथ्वीकायिक

(ब) जलकायिक

(स) तेजसकायिक

(द) वायुकायिक

(ई) वनस्पतिकायिक

(2) दो-इन्द्रिय—जिनके स्पर्शन व रसना (जिह्वा) इन्द्रिय होती है, जैसे शंख, सीपी आदि।

(3) तीन-इन्द्रिय—जिनके स्पर्शन रसना एवं घ्राण इन्द्रिय होती है जैसे, जूं, चींटी खटमल आदि।

(4) चार इन्द्रिय—जिनके स्पर्शन, रसना, घ्राण एवं चक्षु इन्द्रिय होती है जैसे मक्खी, भंवरा आदि।

---

(17) (अ) **पंचास्तिकाय संग्रह**, गा० 109

(ब) **तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य हरम्परा**, पृ० 345

(18) **जैन धर्म** पृ० 226 (19) **अर्हत् प्रवचन** पृ० 13

(20) **अर्हत् प्रवचन** पृ० 14 (21) **अर्हत् प्रवचन** पृ० 15

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(5) पंचेन्द्रिय–जिनके स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु तथा कर्णेन्द्रिय होती हैं वे जीव पंचेन्द्रिय होते हैं।

मनुष्य गति, देव गति एवं नरक गति के सभी जीव पंचेन्द्रिय होते हैं। पंचेन्द्रिय के भी दो भेद है—संज्ञी पंचेन्द्रिय एवं असंज्ञी पंचेन्द्रिय। 'मन सहित' पंचेन्द्रिय जीव संज्ञी पंचेन्द्रिय कहलाता है और 'मनरहित पंचेद्रिय' जीव असंज्ञी पंचेन्द्रिय कहलाते हैं।

इस प्रकार जैन–दर्शन में जीवद्रव्य के अन्तर्गत केवल मानवजाति का ही नहीं अपितु पशु-पक्षी, कीट पंतगों, पेड पौधों सूक्ष्मकायिक से स्थूलकायिक जीवों तक समस्त जीवों का वर्णन किया गया है।

मुक्तावस्था—

आत्मवादी दर्शन होने के कारण जैनों के चिन्तन का लक्ष्य मोक्ष है, वही अवस्था जीव की पूर्णता की अवस्था है। मोक्ष का अर्थ जीव का अभाव अथवा विनाश नहीं है अपितु शुद्ध स्वरूप में अपनी स्वतन्त्र सत्ता लिये हुये स्थित रहना ही मोक्ष है। सांसारिक अवस्था में तो कर्मबन्धन के कारण जीव विभाव रूप में रहता है किन्तु जब पुरुषार्थ द्वारा कर्मों का क्षय कर देता है तब जन्म मरण के चक्र से मुक्त हो जीव स्व-भाव में स्थित हो जाता है और वही उसकी चरम परिणति है।[22]

संक्षेप में जैन-दर्शन जीव का चैतन्य ज्ञान स्वरूप अनेकत्व, स्वदेह परिमाणत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, सांसारिक दशा की अनिवार्यता, जीव को सिद्धत्व शक्ति एवं प्रभुत्व शक्ति युक्त मानता है।

(22) पंचास्तिकाय संग्रह गा० 28-29

युगकी चाल

● कुंवर प्रेमिल,
जयपुर

हर युग
आहिस्ता-आहिस्ता आता है।
एक नई समस्या लाता है
तो एक छीन ले जाता है।
जैसे-धन-धन करते
मेंहदी के बीजों को
सन-सन करती हवा
अलग करती---
बिखेर देती है।
फिर, वही हवा पानी ला-लाकर
पनपाती, बड़ा बनाती है
यही चाल चलती है निरन्तर
प्रकृति भी दीवानी
कहीं बनाती है पतझर तो
कहीं मधुमास निखरता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अहिंसा के अंकुर

● श्री शर्मनलाल 'सरस' सकरार (झाँसी)

अधःपतन की ओर अग्रसर, अब का भारत,
डगर डगर कर रहीं जहाँ, कुंठाएं रोदन,
सही गति दे कौन आज, विपरीत प्रगति को–
अकुलाए हैं, वर्तमान के, व्याकुल लोचन।

अतः अहिंसक बढ़ो, अवनि अवलम्ब चाहती,
अब विलम्ब के लिए, वक्त कुछ शेष नहीं है,
बतलादो जो वैज्ञानिक, यंत्रो पर फूले–
भारत केवल भौतिकवादी देश नहीं है।

यहाँ भोग के लिए नहीं, जन्मा करता जन,
भारत का अध्यात्म वाद से, चिर नाता है,
सिर्फ राग गा रास नहीं रचते हैं ये कर?
बैरागी वेश बनाना, भी आता है।

खड़ी हुई बुनियाद आज, जिसकी विराग पर,
बतलादूं यह किस कृपा की, कोर किरण है,
हिंसा की शक्ति ने, जिससे हार मानली,
परम अहिंसा इस सुदेश का, प्रथम चरण है।

यह क्या कहते आप? अहिंसा में कायरता,
बुजदिल होने का इसमें इतिहास छिपा है,
प्रगट नहीं होने देती, यह पूर्ण वीरता–
दुर्बल होने का इसमें, आभास दिखा है।

लेकिन यह भ्रम है धोका है आत्महीनता,
लगता इसकी गहराई का ज्ञान नहीं है,
एक चोट हिंसक हो सकता, यहां अहिंसक-
कायरता के लिए, कोई स्थान नहीं है।

वह हिंसा है क्षम्य देश के प्रति होती जो,
जन समाज के लिए, कदम कब रुक सकता है!
कभी चनों के धोके में, मत मिर्च चबाना?
स्व रक्षा के लिए, हाथ हर उठ सकता है।

बंधु-बैर का अगर अन्त करना है तुमको,
कभी आग से आग भूल कर नहीं बुझावो,
हिंसा हो जायेगी पानी, तुम्हें देख कर–
'सरस' अहिंसा के अंकुर मन में उपजाओ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि की बहुत सी क्रियाएं बाह्य दृष्टि से देखने पर समान ज्ञात होती हैं किन्तु उनका फल भिन्न-भिन्न क्यों होता है यह बताते हुए विद्वान् लेखक ने कहा है कि जैन समाज यदि विश्व को अपने सिद्धान्तों की ओर आकृष्ट करना चाहता है तो उसे स्वयं प्रयोगशाला बनना होगा। तभी वह कह सकेगा कि हमारे पास वह शक्ति है जो संसार की समस्त समस्याओं को सुलझा सकती है। खेद यह है कि ऐसी बात पर आज कान कौन देता है ?

प्र० सम्पादक

जैन--दृष्टि

● डा० इन्द्रचन्द्र शास्त्री
10/17 शक्तिनगर, दिल्ली–7

जैन धर्म का कथन है कि जो बात सम्यक्–दृष्टि में उत्थान का कारण है वही मिथ्यादृष्टि में पतन का कारण बन जाती है। सम्यक्दृष्टि का ज्ञान सम्यक्ज्ञान है और मिथ्यादृष्टि का मिथ्या। सम्यक्दृष्टि का चारित्र सम्यक्चारित्र है और मिथ्यादृष्टि का मिथ्या। इसका अर्थ यह है कि वस्तु का मूल्य उसके उपयोग पर निर्भर है। सम्यक्-दृष्टि जिस वस्तु का उपयोग स्व पर कल्याण के लिए करता है, मिथ्यादृष्टि उसी के द्वारा अपने अहंकार की पुष्टि करने लगता है। दूसरे को हानि पहुंचाता है और स्वयं पापी बनता है। सज्जन अपने शारीरिक बल को दूसरों की रक्षा के उपयोग में लाता है, दुर्जन उसी के द्वारा दूसरों को तंग करता है। सज्जन अपने धन बल द्वारा अभाव पीड़ितों की सहायता करता है, दुर्जन उसका मिथ्या प्रदर्शन करके दूसरों में ईर्ष्या उत्पन्न करता है। पश्चिम ने वैज्ञानिक प्रगति की और अणुशक्ति के रूप में बहुत बड़ा बल प्राप्त कर लिया। किन्तु उसका लक्ष्य मानव कल्याण के स्थान पर विनाश बन गया। संहार की विशाल योजनाएं बनने लगीं और भयंकर परीक्षण होने लगे। फलस्वरूप जो शक्ति विश्व के लिए वरदान बन सकती थी वही अभिशाप बन गई। देवता, राक्षस हो गया। उपयोगिता के आधार पर मूल्यांकन के इस सिद्धांत को पाश्चात्य दर्शन में (उपयोगितावाद) कहा जाता है। उसका प्रतिपादन सर्वप्रथम अमरीकी दार्शनिक विलियम जेम्स ने किया था। उनके पश्चात् अनेक विचारकों ने उसका विकास किया। इस समय यह सिद्धांत समस्त अमरीका पर छाया हुआ है। राष्ट्रीय मनोवृत्ति का निर्माण और जीवन का संचालन इसी सिद्धांत के आधार पर किया जा रहा है। जैन दर्शन ने हजारों वर्ष पहले इस सिद्धांत को अर्थक्रियाकारित्व के रूप में प्रस्तुत किया। उसका कथन है कि घड़े को घड़ा तभी कहना चाहिए जब वह अपना काम करे। यदि उसमें पानी नहीं रखा जा सकता तो उसे घड़ा कहना ठीक नहीं है। इसी दृष्टि को सामने रखकर हमें सामाजिक शक्ति का पर्यालोचन करना चाहिए। धनबल, जनबल, विद्या बल, चारित्रबल, तपोबल आदि शक्ति के अनेक रूप हैं। हमें यह देखना है कि हमारे पास उनका कितना संग्रह है और उपयोग किस दिशा में हो रहा है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सर्वप्रथम हम धनबल को लेते हैं। जैन समाज का स्थान भारत की समृद्ध जातियों में है। उसमें बड़े–बड़े उद्योगपति हैं। साधारण जनता का जीवन स्तर भी अपेक्षाकृत ऊंचा है। किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि वह अपने धन का उपयोग भी ठीक रास्ते पर कर रही है। दरिद्र बहिन भाइयों की सहायता, विद्याप्रचार, साहित्य निर्माण अथवा आध्यात्मिक उत्थान के लिए जो धन खर्च होता है हम उसे सदुपयोग कह सकते हैं। इसके विपरीत मिथ्या प्रदर्शन, परस्पर आक्षेप–प्रत्याक्षेप, लड़ाई–झगड़े तथा झूंठे अहंकार के पोषण में जो व्यय किया जाता है वह धन का दुरुपयोग है।

इन प्रदर्शनों का सबसे बड़ा कुप्रभाव यह हो रहा है कि धर्म संस्था का लक्ष्य त्याग से हटकर परिग्रह की ओर जा रहा है। जो साधु जितना बाह्य आडंबर रच सकता है, वह उतना ही ऊंचा समझा जाने लगा है। जिन पर्वों की आराधना तपस्या तथा आत्म-चिंतन द्वारा की जाती थी, उनमें उत्तरोत्तर मिथ्या आडंबर की वृद्धि हो रही है। बाह्य प्रतिष्ठा का आकर्षण बढ़ रहा है और उसने धर्म की आत्मा को ढक लिया है।

सामाजिक शक्ति का दूसरा रूप जनबल है। संगठित जनशक्ति बहुत बड़ी ताकत होती है किन्तु हमें यह सोचना है कि धर्म संस्था इस शक्ति का संग्रह किसलिए करती है। धन के समान संगठन का भी मूल्य उसके उपयोग पर निर्भर है। लोक सेवक जिस संगठन का उपयोग दूसरों की सेवा तथा सुख वृद्धि के लिए करता है, डाकू तथा अत्याचारी शासक उसी का उपयोग दूसरों को लूटने के लिए करता है। इस दृष्टि से संगठनों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। पहला रूप आक्रामक संगठनों का है। सेना तथा डाकुओं के गिरोह इसी लक्ष्य को सामने रखकर संगठित होते हैं। गिरोह के सदस्यों में परस्पर सद्भावना होती है। किन्तु उसके द्वारा जो सामूहिक शक्ति प्राप्त होती है, उसका लक्ष्य दूसरे का उत्पीडन होता है। वर्तमान युग में व्यापारी भी इस प्रकार का संगठन कर रहे हैं। जिसके फलस्वरूप वस्तुओं का मूल्य उत्तरोत्तर बढाते चले जाते हैं। साधारण जनता बिलखती रह जाती है। मजदूर तथा कारीगर अपनी मांगें पूरी कराने के लिए संघर्ष करना चाहते हैं और उसके लिए संगठित होते हैं। धर्म संस्था का लक्ष्य उन सबसे भिन्न प्रकार का है। वहां दो साधक आध्यात्मिक उन्नति करना चाहते हैं और परस्पर सहायता के लिए संगठित होते हैं। साधु अपना सारा समय आत्मसाधना में लगाना चाहता है। श्रावक उसकी शारीरिक आवश्यकताओं का ध्यान रखता है। दूसरी ओर साधु श्रावक की धार्मिक चेतना को जाग्रत रखता है। दोनों मिलकर विश्व कल्याण के मार्ग पर अग्रसर होते हैं।

इसके विपरीत यदि वे दूसरों पर आक्रमण, अहंकार पूर्ति या प्रतिस्पर्द्धा के लिये संगठित होते हैं तो आक्रामक या हिंसक बन जाते हैं। ऐसी स्थिति में वह संगठन धर्म के स्थान पर राजनीतिक अथवा सैनिक रूप लेता है।

परस्पर आक्रमण में शक्ति का जो अपव्यय होता है यदि उसे बचाकर सदुपयोग किया जा सके तो उससे दोनों पक्षों को बहुत बड़ा लाभ हो सकता है। दोनों ज्ञान, दर्शन और चारित्र की वृद्धि कर सकते हैं। आत्मकल्याण के साथ समाज को भी समुन्नत बना सकते हैं।

विद्या या ज्ञान आत्मविकास का बहुत बड़ा साधन है। किन्तु अहंकार से अभिभूत होने पर वही राग-द्वेष और कालुष्य का पोषक बन जाता है। धर्माचार्यों में परस्पर जो शास्त्रार्थ हुए उनका इतिहास हमारे सामने है। प्रतिवादी को चुप करने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के लिए जब युक्ति से काम नहीं चला तो छल, जाति, निग्रहस्थान आदि के रूप में वाक्जाल का उपयोग होने लगा। जब उससे भी काम नहीं चला तो गालियाँ प्रारंभ हुई। और अन्त में वाक्दंड, शरीरदंड में परिणत हो गया। तत्वनिर्णय के लिए बौद्धिक चर्चा का स्थान मल्लयुद्ध ने ले लिया।

आवश्यकता इस बात की है कि ज्ञान का उपयोग दूसरे पर आक्रमण के स्थान पर आत्म-विश्लेषण में किया जाय।

हम देख रहे हैं कि आध्यात्मिक साहित्य का अध्ययन लुप्तप्राय होता जा रहा है। उसके स्थान पर ऐसे साहित्य का अधिक प्रचार हो रहा है जो जन साधारण को आकृष्ट कर सके। व्याख्यानों में आत्मा तथा विश्व के वास्तविक स्वरूप का प्रतिपादन करने के स्थान पर साम्प्रदायिक भावनायें उभारने की बातें अधिक कही जाती है। जिस का लक्ष्य प्रायः अपने को ऊंचा और दूसरे को नीचा दिखाने का होता है। आत्मविकास के लिए प्रोत्साहित करना नहीं।

जैनधर्म त्याग और तप पर बहुत बल देता है। उन्हें जीवन शुद्धि का सर्वोत्तम उपाय मानता है और यह ठीक भी है। किन्तु जब पूजाप्रतिष्ठा के लिए उनका प्रदर्शन होने लगता है तो वे अपने स्थान से गिर जाते हैं। उत्थान के स्थान पर पतन का कारण बन जाते हैं।

विकास के लिए यह आवश्यक है कि हम अपनी प्रत्येक शक्ति को ठीक रास्ते पर लगाएं। ऐसा होने पर ही जैन समाज अपना और विश्व का कल्याण साध सकेगा। **हम यह दावा करते हैं कि अनेकांत और अहिंसा के द्वारा विश्व की समस्त समस्याएं सुलझ सकती हैं। किन्तु जब तक उनके द्वारा हम निजी समस्याओं को सुलझाना नहीं सीखते तब तक इस दावे का कोई अर्थ नहीं है। जैन समाज यदि विश्व को अपने सिद्धांतों की ओर आकृष्ट करना चाहता है तो उसे स्वयं प्रयोगशाला बनना होगा। तभी वह कह सकेगा कि हमारे पास वह शक्ति है जो संसार की समस्त समस्याओं को सुलझा सकती है।**

महावीर ने कहा था

कामा दुरति कम्मा
इच्छाएं अपार होती हैं।

अप्पाणं पि न कोवए।
अपने पर भी क्रोध मत करो।

न हि वेरेन वेरानि सम्मतीध कदाचन।
वैर से वैर कभी नहीं मिटता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पंच मुक्तक

● श्री लाडलीप्रसाद जैन पापड़ीवाल, स. माधोपुर

अपना कर्तव्य निभाले तो,
सदियों की पीडा मिट जावे।
भगवान वीर की वाणी को,
पाले तो भव से तिर जावे ।।१।।

जीवो और जीने दो जग को,
साकार मन्त्र जो अपना ले।
वह स्वयं सुखी तो होगा ही,
जग को सुख में वह बदला दे ।।२।।

तृष्णा पिशाचिनी जिसके पीछे,
पड़ती, उस को कब सांस मिली।
दिन रात हविस बढ़ते-बढ़ते,
जीवन की घड़ियां बीत चली ।।३।।

नवकार मन्त्र का जाप करो,
सुख शांति सुधा मिल जावेगा।
जो राग-द्वेष को जीत लिया,
तो वीतराग बन जावेगा ।।४।।

वे वीतराग थे वीर प्रभु,
महावीर नाम सन्मति पाया।
अतिवीर बने वे वर्द्धमान,
जिन का सुयश जग ने गाया ।।५।



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लेखक आधुनिक राजनीति शास्त्र के विद्वान् हैं किन्तु शायद वर्तमान राजनीति में युद्ध की विभीषिका से संत्रस्त मानव जाति के निस्तार का कोई उपाय उपलब्ध नहीं हुआ। वे सही ही इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि इस कष्टप्रद स्थिति से छुटकारा दिलाने में भगवान् महावीर के सिद्धान्तों का अनुगमन ही एक मात्र समर्थ उपाय है न कि छल, कपट, फरेब, भय और हिंसा पर आधारित वर्तमान राजनीतिक दांव-पेच।

प्र० सम्पादक

भगवान् महावीर और उनका सन्देश

● प्रो० सिताबचन्द्र सोगानी,
अध्यक्ष राजनीति विज्ञान विभाग, अग्रवाल कालेज,
जयपुर

सदियों में कोई एक महापुरुष पैदा होता है जो भटके हुये संसार को सन्मार्ग दिखलाता है। ऐसे ही थे भगवान् महावीर जो वीर, अतिवीर, सन्मति और वर्द्धमान के नाम से भी जाने जाते हैं।

राजकुल में जन्म लेकर भी तीस वर्ष की अल्पायु में उन्होंने घर छोड़ दिया और बारह वर्ष तक निर्जन वन में तपस्या की। धर्म के नाम पर पशु बलि होती थी और सर्वत्र हिंसा का ताण्डव था। महावीर इससे बहुत क्षुब्ध थे। इसीलिये उन्होंने अहिंसा का प्रचार करने का व्रत लिया। उन्होंने कहा—मोह, राग और द्वेष को जीत लिया तो अपने को जीत लिया और अपने को जीत लिया तो जग जीत लिया और अपने को जान लिया तो जग जान लिया। महावीर केवल जैनों के ही नहीं थे, वे तो सब के थे। उनकी नजर में छोटे-बड़े का कोई भेद नहीं था, न जाति-पांति का भेद था। वे तो प्राणिमात्र से प्रेम करना सिखाते थे। क्योंकि उनमें भी प्राण हैं। भगवान् महावीर के अनुसार संसार में श्रेष्ठ वही है जिसका आचार और विचार श्रेष्ठ है और इसके लिये अहिंसा आवश्यक है। महात्मा गांधी भगवान् महावीर के अहिंसा सम्बन्धी विचारों से बहुत प्रभावित थे और इसलिए जीवन भर वे अहिंसा के पुजारी बने रहे। भारत अहिंसा के रास्ते से ही स्वाधीन बना। सब जीवों का उदय ही भगवान् महावीर का लक्ष्य था। महात्मा गांधी के अनुयायियों द्वारा आचार्य विनोबा भावे के नेतृत्व में चलाया जा रहा सर्वोदय आन्दोलन शायद भगवान् महावीर के विचारों से ही प्रेरित है। सब लोगों को समान अवसर और सुविधायें दिलाने की बात जो आज हम कर रहे हैं, भगवान् महावीर ने उस समय में ही यह जान लिया था कि यह आवश्यक है। महावीर का स्पष्ट मत था कि दूसरों का बुरा चाहकर कोई अपना भला नहीं कर सकता। भगवान् महावीर स्त्री-पुरुषों की समानता में भी विश्वास करते थे। आज के तथाकथित सभ्य समाज में आज भी यह लक्ष्य कोसों दूर है। आज भी समाज पुरुष-प्रधान है। विश्व को इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए पिछले वर्ष अन्तर्राष्ट्रीय महिला वर्ष मनाना पड़ा और जब यह देखा गया कि एक वर्ष में कोई विशेष सफलता नहीं मिली तो अन्तर्राष्ट्रीय महिला दशाब्दी मनाने का निश्चय किया गया।

अनेकान्तवाद, स्याद्वाद, अहिंसा व अपरिग्रह भगवान् महावीर के चार प्रमुख सिद्धान्त हैं। प्रथम तीन आचार्यों व पंडितों की व्याख्या के विषय हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपरिग्रह आज के युग में बहुत आवश्यक है परन्तु दुर्भाग्य से आज मानव बिल्कुल इसके विपरीत चल रहा है। वस्तुओं को जुटाने की होड़ लगी हुई है, देखा-देखी ने घर के बजट को अस्त-व्यस्त कर रखा है। आज मनुष्य ईर्ष्या व घृणा से पीड़ित है, झूंठी शान के लिये अपनी हैसियत से ज्यादा खर्च करता है और फिर उस खर्च को पूरा करने के लिए मारा-मारी करता है। अगर स्वयं के घर में सोफा-सेट या स्कूटर नहीं है तो वह हीन भावना से ग्रस्त हो जाता है। इसके लिये दूसरे लोग भी जिम्मेदार होते हैं जो उसे रात-दिन ताने कसते रहते हैं। अमरीकी समाज आज हर प्रकार के भौतिक साधन जुटा चुका है परन्तु फिर भी मन की शांति के लिये भटक रहा है। हिप्पीवाद उसका एक नमूना है। आज समाज में व्याप्त अनेक बुराइयों का यह एक प्रमुख कारण है। समाज में व्यक्ति की प्रतिष्ठा आज उसकी संचय शक्ति से आंकी जाती है इसीलिए प्रत्येक व्यक्ति का एक ही लक्ष्य है कि वह अधिक से अधिक भौतिक साधन जुटाये और समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त करे। इसके लिये वह जायज-नाजायज दोनों तरीकों से अपने लक्ष्य की प्राप्ति करता है, चाहे उसे मिलावट करनी पड़े या कम तोलना पड़े या झूंठ बोलना पड़े। खाद्य पदार्थों और दवाइयों में मिलावट तो मनुष्य की जान भी ले लेती है। और तो और भगवान् महावीर के अनुयायी भी इसे हिंसा नहीं मानते।..... आज कथनी और करनी में कितना अन्तर है? हम मन्दिर जाते हैं, धार्मिक सभाओं में व्याख्यान सुनते हैं, भगवान् महावीर की प्रति वर्ष जयन्ती मनाते हैं और विशाल जुलूस निकालते हैं लेकिन उस महान् आत्मा के विचारों को हृदय से नहीं अपनाते। क्या यह केवल ढोंग और पाखण्ड नहीं है? क्या यह केवल लकीर पीटना नहीं है?

आज दुनियां विकास और विनाश के कगार पर खड़ी है। मनुष्य ने एटम बम, हाइड्रोजन बम अन्तर्महाद्वीपीय प्रक्षेपास्त्र व मिसाइलों से युक्त पनडुब्बियों का निर्माण कर लिया है। ऐसा लगता है मनुष्य ने अपने विनाश के सभी सामान जुटा लिये हैं और परस्पर तनावपूर्ण वातावरण में जी रहा है। आज की परिस्थितियों में भगवान् महावीर का 'जीवो और जीने दो' तथा 'अहिंसा परम धर्म है' का सन्देश अधिक सार्थक है। सह-अस्तित्व व सहिष्णुता के विचार के बिना आज जीना दूभर है। निशस्त्रीकरण की दिशा में उल्लेखनीय प्रगति नहीं हुई है। महाशक्तियों के बीच आज भी तनाव बना हुआ है जो कभी भी मनुष्य को विनाश के गर्त में ले जा सकता है। प्रसन्नता इस बात की है कि इतिहास में पहली बार भगवान् महावीर के उपदेशों का प्रचार विश्व में करने हेतु कई लोग विदेश गये हैं जिनमें मुनिश्री सुशीलकुमारजी एवं उनके सहयोगी मुख्य हैं। आशा है यह प्रयास भगवान् महावीर के उपदेशों को विश्व-व्यापी बनाने में सफल होगा और विश्वशांति स्थापित करने में सहायक सिद्ध होगा।

महावीर ने कहा

पासम्मि बहिणिमायं सिसुंपि हणेइ कोहंधो।
क्रोध में अन्धा मानव मां, बहन और बच्चे को भी मार डालता है।

जीवदया अप्पणो दया होइ।
पर जीवों पर दया करना अपने पर ही दया करना है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भगवान् महावीर ने सम्यक्चारित्र की कसौटी अहिंसा को रखा। अहिंसा के अभाव में चारित्र की कल्पना बालू में तेल निकालने अथवा अंधकार को प्रकाश कहने के समान है। अहिंसा का जैन तथा जैनेतर दर्शनों में क्या स्वरूप अथवा महत्व है यह प्रदर्शित है यहां अत्यन्त संक्षिप्त रूप में इन कुछ पंक्तियों में।

प्र० सम्पादक

भगवान् महावीर की अहिंसा का असली रूप

● श्री व्योहार राजेन्द्रसिंह
जबलपुर।

भगवान् बुद्ध और महावीर दोनों ही महापुरुषों के सिद्धांतों में अद्भुत समता मिलती है। यहां हम दोनों के तुलनात्मक विचारों को उद्धृत करने का प्रयास नहीं करेंगे। केवल भगवान् महावीर के सिद्धांतों की चर्चा करेंगे। सभी लोग जानते हैं कि इनके सिद्धांतों में अहिंसा सर्वोपरि है। इसके संबंध में भगवान् महावीर का सीधा-साधा तर्क यह है कि सब प्राणियों को अपना जीवन प्यारा है। सुख सबको अच्छा लगता है और दुःख बुरा। मृत्यु सबको अप्रिय है और जीवन प्रिय है। सब प्राणी जीना चाहते हैं। कुछ भी हो सबको जीवन प्रिय है अतः किसी प्राणी की हिंसा नहीं करना चाहिये।

गीता ने इसी को आत्मौपम्य बुद्धि कहा है— जिसे महावीर स्वामी ने इतने सरल शब्दों में समझा दिया है। कभी-कभी उन्होंने हिंसा को आरम्भ भी कहा है। जैसे—जो (आरम्भी हिंसा) से उपरत है वही प्रज्ञावान् बुद्ध है। इस वाक्य में उनका भगवान् बुद्ध के प्रति आदर भी प्रगट होता है। कभी-कभी उन्होंने हिंसा को शस्त्र और अहिंसा को अशस्त्र भी कहा है जैसे :—

'शस्त्र एक से एक बढ़कर हैं। परन्तु अशस्त्र से बढ़कर नहीं हैं। अर्थात् अहिंसा की साधना से बढ़ कर कोई दूसरी साधना नहीं है।'

अहिंसा की भावना तभी दृढ़ हो सकती है जब हम आत्मा को शरीर से पृथक् समझें। भोग-लिप्सा से हिंसा उत्पन्न होती है। इसलिये उन्होंने कहा— "आत्मा को शरीर से पृथक् जानकर भोग-लिप्सा को धूल डालो।"

कुछ लोगों ने उन पर यह आक्षेप लगाया कि उन्होंने शरीर की नितांत उपेक्षा की है। उनका असली अर्थ कुछ दूसरा ही है जो कि नीचे लिखे वाक्य से प्रगट होता है :—

"अपने को कृश करो। तन-मन को हल्का करो। अपने को जीर्ण करो। भोग वृत्ति को जर्जर करो।"

वास्तव में अद्वैत भावना ही अहिंसा का मूलाधार है। स्वरूप की दृष्टि से सब चेतन एक समान हैं। भगवान् महावीर के इन वाक्यों पर विचार कीजिये।

"जिसे तू मारना चाहता है वह तू ही है। जिसे तू शासित करना चाहता है वह तू ही है। जिसे तू

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिताप देना चाहता है वह तू ही है।" अहिंसा का पूर्ण विवरण और विस्तार उनके निम्न वाक्यों में मिलता है :—

"हम ऐसा कहते हैं–ऐसा बताते हैं, ऐसा निरूपण करते हैं। ऐसी प्रज्ञापना करते हैं—

'किसी भी प्राणी, किसी भी भूत, किसी भी जीव और किसी भी सत्व को न मारना चाहिये, न उन पर अनुचित शासन करना चाहिये, न उन को गुलामों की तरह पराधीन बनाना चाहिये, न उन्हें परिताप देना चाहिये और न उनके प्रति किसी प्रकार का उपद्रव करना चाहिये।

उक्त अहिंसा धर्म में किसी प्रकार का दोष नहीं है यह ध्यान में रखना चाहिये।"

आत्मा के स्वरूप के संबंध में सनातन और जैन धर्म में अद्भुत एकरूपता है। आचारांगसूत्र कहता है—

"आत्मा के बंधन में सबके सब निवृत्त हो जाते हैं, समान हो जाते हैं। वहां तर्क की गति ही नहीं है और न बुद्धि ही उसे ठीक से ग्रहण कर पाती है।"

उपनिषद भी कहता है—वहां न वाणी जा सकती है न मन जा सकता है।

यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।

तुलसीदासजी इसी वाक्य को दुहराते है।

मन समेत जिहि जान न वाणी।
तरकिहि न सकहि सकल अनुमानी॥

इसी कारण सभी महापुरुषों ने समत्व बुद्धि को महत्व दिया है।

सभी महापुरुषों ने समभाव में धर्म कहा है। भागवत तो यहां तक कहती है—समत्व ही भगवान् की सच्ची आराधना है—

समत्वमाराधनमच्युतस्य।

कहते हैं कि समभाव उसको कह सकते हैं जो अपने को हर किसी भय से मुक्त रखता है।

समग्र विश्व को जो समभाव से देखता है वह न किसी का प्रिय करता है और न किसी का अप्रिय अर्थात् समदर्शी अपने-पराये की भेदबुद्धि से परे होता है।

अहिंसा के विरोधियों को निरुत्तर करने के लिये भगवान् महाबीर का यह तर्क बड़ा कारगर होगा—

"सर्वप्रथम विभिन्न मत मतान्तरों के प्रतिपाद्य सिद्धांतों को जानना चाहिये और फिर हिंसा के प्रतिपादक मतवादियों से पूछना चाहिये कि—

हे प्रवादियो! तुम्हें सुख प्रिय लगता है या दुःख।

हमें दुःख अप्रिय है सुख नहीं यह सम्यक् स्वीकार कर लेने पर उन्हें स्पष्ट कहना चाहिए कि तुम्हारे ही विश्व के समस्त प्राणी जीव, भूत और सत्वों को दुःख अशान्ति व्याकुलता देने वाला है, महाभय का कारण है और दुःख रूप है।

तीर्थंकरों की वाणी है कि पर सुख से हम प्रकाश से प्रकाश की ओर जाते हैं और पर पीड़ा में लगे हुए जीव अन्धकार से अन्धकार की ओर जाते हैं। ज्ञानी होने का लक्षण क्या है? ज्ञानी होने का सार यही है कि किसी भी प्राणी की हिंसा न की जाय। अहिंसा मूलक समत्व ही धर्म का सार है।

"सामाजिक संस्थाए ही समाज का दपर्ण है"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्वितीय खण्ड

कला, इतिहास, साहित्य, तथा पुरातत्व

महावीर जयन्ती स्मारिका, 1976

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



अहिंसायाः पूर्वपीठिका

(१)

[1]अन्योन्यं प्रतिकूलशास्त्रपठनाल्लब्धावबोधा बुधाः
संख्यातीतपरम्पराश्रितधियो जातास्तदा सर्वतः।
स्वस्वग्रन्थविभूषितस्य वचसस्ते मेनिरे सत्यतां
तद्भिन्नस्य न सत्यतेति कथने नित्यं प्रवृत्तास्तथा ।।

(२)

सत्यस्यापि मदीयशास्त्रवचसोऽसत्यत्वमुद्घोष्यते
यैस्ते युक्तिपुरस्सरं स्वकथनं संसाधयन्त्वन्यथा।
अद्यैव प्रविशन्तु मृत्युवदनं नश्चण्डदण्डाहताः
श्रुत्वैवं दृढमानसाः कतिपये शास्त्रार्थभूमिं श्रिताः ।।

(३)

योग्यस्थाननिवेशिताखिलजने प्राज्ञाभिरम्ये स्थले
शास्त्रार्थाय समुत्सुका उभयतस्तस्थुर्जयाशाशयाः।
तत्तर्कप्रतितर्कवज्रपतनान्नो निर्णयोऽजायत
तत्क्रोधात्करचण्डदण्डनिकरैश्चक्रुः प्रहारं मिथः ।।

---

१. छन्दांसि—शार्दूलविक्रीडितम् (१, २, ३, ४, ७, ९, १०); स्वागता (५–६); उपजातिः (८); इन्द्रवज्रा (११); अनुष्टुप् (१२)।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(४)

केचिद्भीतिसमन्विता द्रुतपदं दूरं ययुः केचन
तस्थुस्तत्कलहावसक्तमनसः सद्यः फलं लेभिरे।
मर्माघातगतासवो यमपुरं प्रापुर्विलापाश्रयाः
केचिद्रक्तसरित्प्रवाहपतिताः स्थानान्तरं प्रापिताः ।।

(५)

हन्त हन्त विबुधा अपि सन्तः स्वाग्रहग्रहवशाद्विवदन्तः।
हिंसनेऽपि विदुषां प्रसजन्ति तद्वचः सुनितरां च हसन्ति ।।

(६)

आकलय्य मनसेति स धीरः संजगाद जनतामतिवीरः।
नैकदृष्टिपरिदर्शनगम्यं वस्तुरूपकथनं परिरम्यम् ।।

(७)

शास्त्रार्थप्रभवां विनिन्द्यविषयां शास्त्रार्थिहिंसां सुधीः
दूरीकर्तुमुरीकरोतु मनसा स्याद्वादविद्यामिमाम्।
नानादृष्टिसमन्वयेन सुतरां या दर्शयेत्सत्यतां
तस्यां कः कलहोऽथवा सुमनसां हिंसाप्रसङ्गोऽधमः ।।

(८)

निशम्य तद्वाचमुवाच लोकः समागतो यः पुरतः स्थितश्च।
स्याद्वादविद्या परिशीलनीया शास्त्रार्थिना सत्यगवेषकेण ।।

(९)

धूमस्पर्शभियेव वासरमणिर्लिल्ये क्वचिद्व्योमनि
संजात प्रलयभ्रमाद्दश दिशो दिक्पाललोकान् ययुः।
लोका व्याकुलमानसाश्च सहसा वीरं विभुं संश्रिताः
स प्राह प्रलयः कुतः ? प्रसृमरो यज्ञाग्निधूमो महान् ।।

(१०)

भेतव्यं न मनाग् यदत्र भविता यज्ञोऽश्वमेधाभिधः
स श्लाघ्यो यदि हिंसया बलिजया हीनो भवेत्सर्वथा।
हिंसाऽधर्म इतीह सर्वविदितं धर्मश्च तद्वर्जनं
तस्मान्मानवमात्रमत्र यजनं धर्माश्रयं संश्रयेत् ।।

(११)

वीरस्य तद्वागमृतं निपीय हर्षप्रकर्षं समवाप लोकः।
तत्याज यज्ञप्रभवां च हिंसां यज्ञेषु तत एव रुद्धा ।।

(१२)

अहिंसायाः परः पन्थाः स्याद्वादसरणिस्तथा।
दर्शिता येन वीरेण वन्दनीयः स सन्ततम् ।।

श्री अमृतलाल जैनः
वाराणस्याः

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सन्देशकाव्यों में पार्श्वाभ्युदय का स्थान

● डॉ० रमेशचन्द्र जैन
जैन मन्दिर के पास, बिजनौर, उ० प्र०

सन्देश या दूतकाव्य लिखने की परम्परा बहुत प्राचीन है। सन्देशकाव्यों में कालिदास का मेघदूत सबसे प्राचीन माना जाता है। उसी के आधार पर बाद में अनेक कवियों ने सन्देशकाव्यों का प्रणयन किया। ८वीं ९वीं शताब्दी ईस्वी के आचार्य जिनसेन ने अमोघवर्ष के शासनकाल में पार्श्वाभ्युदय नामक काव्य की रचना की। यह काव्य ३६४ मन्दाक्रान्ता वृत्तों में मेघदूत के श्लोकों के चरणों की समस्यापूर्ति के लिए लिखा गया है और जैन सन्देशकाव्यों की परम्परा में प्रथम स्थान रखता है। इसके श्लोकों का अवलोकन करने पर ९वीं शताब्दी में मेघदूत का पाठ कैसा था? इसका निर्धारण सहज हो जाता है। इस काव्य में चार सर्ग हैं प्रथम सर्ग में ११८, द्वितीय में ११८, तृतीय में ५७ और चतुर्थ में ७१ श्लोक हैं। इसके कर्ता जिनसेन द्वितीय के नाम से प्रख्यात हैं। पार्श्वाभ्युदय के अन्त में जिनसेन स्वामी ने कहा है—

श्रीवीरसेमुनिपादपयोदभृङ्ग
श्रीमानभूद्विनयसेनमुनिर्गरीयान्।
तच्चोदितेन जिनसेनमुनीश्वरेण
काव्यं व्यधायि परिवेष्टितमेघदूतम् ॥४।७१

अर्थात् श्री वीरसेनमुनि के चरण कमलों के भौंरे के समान तपोरूप लक्ष्मी से युक्त, श्रेष्ठतर विनयसेन मुनि हुए। विनयसेन मुनिवर की प्रेरणा से जिनसेन मुनि ने मेघदूत नामक खण्डकाव्य से परिवेष्टित काव्य की रचना की। उक्त श्लोक से पूर्व जिनसेन ने कालिदास तथा उनके मेघदूत काव्य का बड़े आदर के साथ स्मरण कर राजा अमोघवर्ष द्वारा पृथ्वी की सदैव रक्षा किए जाने की कामना की है। इस जानकारी से ज्ञात होता है कि जिनसेन के गुरु वीरसेन थे तथा विनयसेन गुरु भाई थे। विनयसेन की प्रेरणा से जिनसेन ने पार्श्वाभ्युदय की रचना की थी। उस समय राजा अमोघवर्ष शासन करते थे। अमोघवर्ष शक सं० ७३६ (वि० सं० ८७१) में राजगद्दी पर बैठे थे। ये पराक्रमी राष्ट्रकूट राजा थे और जिनसेन के उपदेश से जैन धर्म में दीक्षित हो गए थे। पार्श्वाभ्युदय का उल्लेख हरिवंश पुराण के कर्ता आचार्य जिनसेन प्रथम (शक सं० ७०५ ई० सन् ७८३) ने किया है। इस आधार पर विद्वानों का कहना है कि इसकी रचना आठवीं शती में हो चुकी थी।

अनुशीलन—

पार्श्वाभ्युदय में समस्यापूर्ति के काव्यकौशल द्वारा समस्त मेघदूत को ग्रथित कर लिया गया है। यद्यपि दोनों काव्यों का कथा भाग सर्वथा भिन्न है, तथापि मेघदूत की पंक्तियाँ पार्श्वाभ्युदय में बड़े ही सुन्दर और स्वाभाविक ढंग से बैठ गई हैं। समस्यापूर्ति की कला कवि पर अनेक नियन्त्रण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लगा देती है, तथापि जिनसेन ने अपनी रचना को ऐसी कुशलता और चतुराई से संभाला है कि पार्श्वाभ्युदय के पाठक को कहीं भी यह सन्देह नहीं हो पाता कि उसमें अन्यविषयक व भिन्न प्रसङ्गात्मक एक पृथक् काव्य का भी समावेश है। इस प्रकार पार्श्वाभ्युदय जिनसेन के संस्कृत भाषा पर अधिकार तथा काव्यकौशल का एक सुन्दर प्रमाण है। उन्होंने जो कालिदास के काव्य की प्रशंसा की है, उससे तो उनका व्यक्तित्व और भी ऊंचा उठ जाता है। महान् कवि ही अपनी कविता में दूसरे कवि की प्रशंसा कर सकता है[1]। इस काव्य के सम्बन्ध में प्रो० के०बी० पाठक का मत है कि पार्श्वाभ्युदय संस्कृत साहित्य की एक अद्भुत रचना है। वह अपने युग की साहित्यिक रुचि की उपज और आदर्श है। भारतीय कवियों में सर्वोच्च स्थान सर्वसम्मति से कालिदास को मिला है तथापि मेघदूत के कर्ता की अपेक्षा जिनसेन अधिक प्रतिभाशाली कवि माने जाने के योग्य हैं।[2]

पार्श्वाभ्युदय विश्व के समस्त काव्यों में अप्रतिम है। आध्यात्मिक शक्ति के सामने संसार की सारी भौतिक शक्तियाँ तुच्छ हैं, वे उसका कुछ भी नहीं बिगाड़ सकती हैं, यह दर्शाना यहाँ कवि का अभिप्रेत है। पार्श्व के प्रति दग्धवैर शम्बरासुर सोचता है—चूंकि मेघ का दर्शन होने पर सुखी व्यक्ति का भी चित्त अन्य प्रकार की प्रवृत्ति वाला हो जाता है, अतः तिरस्कर करता हुआ मैं गर्जनाओं से भयङ्कर ध्वनि युक्त, विद्युत् के उद्योत से भासमान शरीर वाले मेघों से इसके चित्त में क्षोभ उत्पन्न करूंगा, अनन्तर प्रकम्पित धैर्यवाले इसे विचित्र उपाय से मार डालूँगा[3]। ऐसा सोचकर उसने उपद्रव प्रारम्भ किया। जिनसेन उसकी मूढ़ता का परिहास करते हुए कहते है—

क्वायं योगी भुवनमहिते दुर्विलङ्घ्यस्वशक्तिः
क्वासौ क्षुद्रः कमठवनुजः क्वेभराजः क्ववंशः
क्वाऽऽसद्ध्यानं चिरपरिचितध्येयमाकालिकोऽसौ
धूमज्योतिः सलिलमरुतां सन्निपातः क्वमेघः ।।
पार्श्वा. १।१७

अर्थात् जिसकी आत्मशक्ति का उल्लंघन करना कठिन है ऐसा यह योगी कहाँ और अधम कमठ का जीव दैत्य कहाँ ? कहां तो गजराज और कहां वन मक्खी ? जिसका ध्येय अपरिचित है और पूर्णरूप से जिसका ध्यान शोभन है ऐसा वह योगी कहां और धुआं, अग्नि, जल तथा वायु का समुदाय यह मेघ कहां ?

वायु में धुयें के रूप में सूक्ष्मातिसूक्ष्म रजकण छाए रहते हैं। मरुत् के संघर्ष से ये कण विद्युत् से परिएहीत हो जाते हैं। तब वाष्प रूप में अन्तरिक्ष में व्याप्त जल को अपने ऊपर आकृष्ट कर लेते हैं। इस प्रकार मेघ बनकर जल वृष्टि के योग्य हो जाता है[4]। वास्तविक रूप में ऐसा मेघ

---

१. उत्तर पुराण (प्रास्ताविक) पृ० ११ (ज्ञानपीठ प्रकाशन)
२. जर्नल बाम्बेब्रांच, रायल एशियाटिक सोसायटी संख्या ४९ व्हा० १८ (१८९२) तथा पाठक द्वारा संपादित मेघदूत द्वि० सं० पूना भूमिका पृ० २३ आदि।
३. मेघैस्तावत्स्तनितमुखरैर्विद्युदुद्योतहासैः
चित्तक्षोभान्द्विरदसदृशैरस्यकुर्वे निकुर्वन् ।
पश्चाच्चैनं प्रचलितधृतिं ही हनिष्यामि चित्रं ।
मेघालोके भवति सुखिनोऽप्यन्यवृत्तिचेतः ।। पार्श्व. १।११
४. वासुदेवशरण अग्रवालः मेघदूत एक दृष्टि पृ० ६।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सन्देशादि ले जाने के कार्य को सम्पन्न करने में असमर्थ है, किन्तु कालिदास यक्ष को कामुक के रूप में चित्रित करते हैं और कामुक व्यक्ति अपनी उत्कण्ठा के कारण चेतन-अचेतन के विवेक से हीन हो जाते हैं, अतः यक्ष उसी अचेतन मेघ से याचना करने लगता है। जिनसेन ने आत्मिक शक्ति के सामने मेघरूप अचेतन पदार्थ की तुच्छता को पूरी तरह स्वीकार किया है अतः पार्श्वनाथ उसकी शक्ति को किसी भी रूप में स्वीकार नहीं करते। भौतिक शक्ति का आश्रय लेकर दूसरे को पराभूत करने की चेष्टा करने वाले को जिनसेन क्षुद्र कहने से नहीं चूकते। कालिदास अचेतन प्रकृति को भी मनोभावों के सम्पर्क से चेतन बनाने का कौशल व्यक्त करते हैं, जिनसेन आत्मिक शक्ति के सामने जड़ प्रकृति की तुच्छता के यथार्थ को स्वीकार करने में जरा भी नहीं हिचकते। शम्बर के माध्यम से मेघ के रूपों तथा उसके प्रतिफलों को जिनसेन ने अत्यधिक विस्तार से कहलाया है, किन्तु वे सारे रूप, वे सारे फल पार्श्व को निस्सार दिखाई देते हैं। इस प्रकार पार्श्व का याचक रूप नहीं, समर्थ रूप सामने आता है। अचेतन को चेतन मानने का भाव बन्धन का भाव है और मिथ्यापरिणति के कारण जीव इस संसार चक्र में भ्रमण कर रहा है। अचेतन को अचेतन और चेतन को चेतन मानने का विवेक जिसके अन्दर जाग्रत होता है, वह रत्नत्रय मार्ग के द्वारा मोक्ष के सम्मुख पहुंचता है। इस प्रकार की साधना का पथिक अनुपमेय है, दुर्जेय है, इस बात का विचार न कर दुष्ट पुरुष बुद्धि की उद्धतता से उससे मायायुद्ध की याचना करता है[5]। ऐसा व्यक्ति यदि देव भी है तो भी पशु के तुल्य है, जिसे जिनसेन ने 'गुरुसुरपशु' कहा है[6]।

संसार में लोग वस्तुओं और घटनाओं को अपने-अपने अभिप्राय और सामर्थ्य के अनुसार देखते हैं। शम्बरासुर पार्श्व के तप के अभिप्राय को समझ नहीं पाया। अतः उन्हीं से पूछ बैठता है—मन की अपनी अन्तरात्मा में रखकर वह (ध्यानी रूप में प्रसिद्ध) आप कहिए। क्या आप कर्मों के नष्ट हो जाने पर सिद्धावस्था को प्राप्त आत्मद्रव्य में मन को लगा रहे हैं अथवा (आपके) कष्ट में आलिङ्गन की इच्छा रखने वाली दूरवर्ती प्रिया में मन लगा रहे हैं[7]। प्रायः शम्बरासुर यही सोचता है कि मुनि पार्श्व सुन्दर-सुन्दर स्त्रियाँ पाने के लिए तपस्या कर रहे हैं। अतः वह बार-बार दिव्यस्त्रियों की प्राप्ति का प्रलोभन देता है[8]। अप्सराओं के लोभ से तलवार के द्वारा मृत्यु प्राप्त करना[9] भी वह एक बड़े सौभाग्य की बात मानता है। इस प्रकार बकवाद को सुनकर भी पार्श्वयोगी चुप ही रहते हैं, ध्यान से किञ्चिन्मात्र भी च्युत नहीं होते हैं। उस समय उनकी धीरता देखकर यक्ष को भी आश्चर्य होता है। लेकिन उसके अहं को यह स्वीकार करने में भी कठिनाई होती है और प्रत्युत्तर न देने के कारण वह पार्श्व को स्त्रीम्मन्य मानता है[10]। यक्ष को एक बार भ्रम होता है कि चूंकि पार्श्व के कान उसके द्वारा कहे गए विशद अभिप्राय वाले समीचीन भाषण को नहीं सुनते हैं

---

५. माया युद्ध मुनिपमुपमाक्षीण को दुर्जयोऽयं
इत्यौत्सुक्यादपरिगणयन् गुह्यकस्तं ययाचे ॥ पार्श्वा. १।१६.
६. वही १।१८
७. पार्श्वा. १।१२.
८. पार्श्वा. १।२७, २६, ४।२५,२४.
९. पार्श्वा. १।२६.
१०. पार्श्वा. १।३२, ४।१३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अतः वे निष्ठुर वायुओं से दूषित हैं। स्त्रियों का गान इस प्रकार के कानों की अचूक औषधि है, अतः स्त्रियों का गान सुनने से प्रसन्न हुआ योगी अवश्य ही उसका प्रत्युत्तर देगा[11]। इस प्रकार स्त्री प्रलोभन के अनेक प्रसङ्ग पार्श्वाभ्युदय में हैं। किन्तु अन्त में हमें ज्ञात होता है कि तीर्थंकर पार्श्व को ये प्रलोभन नहीं लुभा सके और प्रलोभन देने वाले वैरी को उनके समक्ष झुकना पड़ा, उनकी शरण लेनी पड़ी[12]। इससे यह अभिप्राय द्योतित होता है कि जिनसेन वासनाजन्य प्रेम के पक्षपाती नहीं हैं। वासनाजन्य क्षणभंगुर प्रेम का फल दुःख और क्लेश के अतिरिक्त और कुछ नहीं। काम-वासनाओं को जलाए बिना आत्मतत्व की उपलब्धि नहीं हो सकती। बिना तपस्या के आत्मस्नेह परिनिष्ठित नहीं हो सकता, यही पार्श्वाभ्युदय का अमर सन्देश है। अन्य जैन सन्देशकाव्यों में भी प्रायः यह सन्देश दिया गया है। इस प्रकार शृंगार के वातावरण में शांतरस की अवतारणा हुई है। इसी की ओर लक्ष्य कर स्वर्गीय डा० नेमिचन्द्र शास्त्री ने कहा था—'शृंगार के वातावरण में चलने वाली काव्य परम्परा को अपनी प्रतिभा से शांत रस की ओर मोड़ देना कम महत्वपूर्ण नहीं है। त्याग में विश्वास रखने वाले जैन मुनियों ने श्रमण संस्कृति के उच्चतत्वों का विश्लेषण पार्श्वनाथ और नेमिनाथ जैसे महापुरुषों के जीवन चरितों में अंकित किया है। जैन सन्देशकाव्यों में साहित्यिक सौन्दर्य के साथ दार्शनिक सिद्धांत भी उपलब्ध होते हैं। विषय के अनुसार मन और शील को दूत नियुक्त करना और शीतलता तथा शांति का वातावरण उत्पन्न कर देना सर्वथा नवीन प्रयोग हैं। संयम, सदाचार एवं परमार्थतत्व का निरूपण काव्य की भाषा और शैली में होने से (ये) काव्य सहृदयजन आस्वाद्य बन गए हैं[13]।

यद्यपि पार्श्वाभ्युदय में जैन धर्म के किसी सिद्धांत का विशेष रूप से प्रतिपादन नहीं किया गया है, तथापि मेघदूत के अनेक प्रसङ्गों को आचार्य जिनसेन ने जैनमत के अनुकूल ढालने का प्रयास किया है। उदाहरणतः मेघदूत में उज्जयिनी के महाकाल मन्दिर का वर्णन है तथा उसके अन्दर शिव का अधिष्ठान बताया है। पार्श्वाभ्युदय में महाकाल वन में कलकल नामक जिनालय[14] का वर्णन किया गया है। पशुपति शब्द का यहां पशु आदि प्राणियों के रक्षक भगवान् जिनेन्द्र अर्थ व्यञ्जित होता है[15]। जैन ग्रन्थों में हिमवन् आदि पर्वतों से गंगा आदि नदियों का निर्गम बतलाया गया है पार्श्वाभ्युदय में भारतवर्ष की गंगा आदि नदियों को उन नदियों की प्रतिनिधि कहा गया है। प्रतिनिधि होने के कारण उनमें स्नान करने में कोई दोष नहीं है, क्योंकि तीर्थ के प्रतिनिधि भी पापों को नष्ट करने वाले कहे जाते हैं। मेघदूत में गङ्गा को जह्नु कन्या तथा सगरपुत्रों को जाने के लिए स्वर्ग की सीढ़ियों रूप में चित्रित किया गया है। जैन परम्परा इन पौराणिक कहानियों का

---

११. मन्ये श्रोत्रं पवनपरुषैर्दूषितं ते मदुक्तां
व्यक्ताकूतां समरविषयां सङ्कथां नो शृणोति।
तत्पारुष्य प्रहरणमिदं भेषजं विद्धि गेयं
श्रोष्यत्यस्मात्परभवहितं सौम्य ! सीमन्तिनीनाम् ।। पार्श्वा. ४।१६

१२. पार्श्वा. ४।६०

१३. डा. नेमिचन्द्र शास्त्री : संस्कृत काव्य के विकास में जैनकवियों का योगदान पृ० ४७१, ४७२.

१४. पार्श्वा. २।८

१५. वही २।१५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समर्थन नहीं करती है, अतः कवि ने उसे इस रूप में वर्णित किया है कि वह लौकिक रूढ़ि के अनुसार जह्नु की कन्या के रूप में प्रसिद्ध तथा सगरपुत्रों को जाने के लिए स्वर्ग की सीढ़ियों के तुल्य है। लौकिक श्रुति के रूप में स्वीकार करने पर आर्ष-परम्परा से उसका कोई विरोध नहीं है। मेघदूत में गङ्गा का वर्णन करते हुए कहा गया है कि गंगा ने पार्वती के मुख में स्थित भ्रूभंङ्ग को मानों फेनों से हंसकर तरङ्ग रूप हाथों को चन्द्रमा के ऊपर लगाकर शिव के केशों को पकड़ लिया[16]। जैन परम्परा मानती है कि हिमवन् पर्वत के प्रपात पर गंगाकूट है वहां भगवान् आदिनाथ की जटाजूटयुक्त प्रतिमा है, उसी के समीप गंगा बहती है। इसी परम्परा का पोषण करते हुए जिनसेन ने कहा है—जिस गंगा (हिमवान् पर्वत के पद्मसरोवर से निकली हुई) महानदी ने तरंग रूप हाथों को चन्द्रमा के ऊपर लगाते हुए श्वेतवर्ण फेनों से भौंहों की टेढ़ी रचना पर मानों हंसकर अथवा गौरवर्ण स्त्रियों के भ्रूभङ्ग पर मानों हंसकर हिमवान् पर्वत के प्रपात पर गंगाकूट की निवासिनी देवी की प्रतिनिधि होकर अर्हन्त भगवान् त्रैलोक्याधिपति आदिदेव के केशों को पकड़ लिया (अर्थात् जिसने भगवान् आदिनाथ की प्रतिमा के ऊपरी भागों में स्थित जटाजूटों को पकड़ लिया) उसी इस नदी को जानो अर्थात् इस नदी को उस गंगा महानदी के समान आदर दो[17]। मेघदूत में चर्मण्वती नदी को गौवों के मारने से उत्पन्न तथा पृथ्वी में प्रवाह रूप से परिणत रन्तिदेव की अकीर्ति कहा है[18]। पार्श्वाभ्युदय में इन्हीं विशेषणों के साथ इसे रन्तिदेव की अकीर्ति स्वरूप कहा गया है[19]। मेघदूत में किन्नरियों द्वारा त्रिपुरविजय के गीत गाने का उल्लेख है, पार्श्वाभ्युदय में त्रिपुरविजय से तात्पर्य औदारिक, तैजस और कर्मण तीनों शरीरों के विजय का गीत है[20]। मेघदूत में गौरी शब्द का का प्रयोग पार्वती के लिए किया गया है, पार्श्वाभ्युदय में यह गौरी स्त्री अथवा ईशान दिशा के स्वामी की पत्नी के अर्थ में व्यञ्जित हुआ है[21]। मेघदूत में मेघ से कहा गया है कि वह शिवजी के हाथ का सहारा देने पर चलने वाली पार्वती के पैदल चलने पर अपने भीतर जल प्रवाह को रोककर अपने शरीर को सीढ़ियों के रूप में परिणत कर दे। पार्श्वाभ्युदय में गौरी के स्थान पर देवभक्ति के कारण पूजा करने की इच्छुक जैन मन्दिर को आती हुई इन्द्राणी के लिए अपने शरीर को सीढ़ी रूप में परिवर्तित करने की मेघ से प्रार्थना की गई है।[22]

जिनसेन का जिनभक्ति में अटूट विश्वास है। नागराज धरणेन्द्र तीर्थंकर पार्श्वनाथ की स्तुति करते हुए कहते हैं हे भगवान्! आपके विषय में थोड़ी

---

१६. गौरीवक्त्रमृ कुटिरचनां या विहस्येव फेनैः।
शम्भोः केशग्रहणमयरोदिन्दु कालोर्मिहस्ता ॥ मेघदूत १।५०

१७. पार्श्वा. ५३

१८. कालिदास : मेघदूत १।४५

१९. पार्श्वा. २।३६

१९. पर्श्वा. २।३६

२० मेघदूत १।५६, पार्श्वा. २।६७

२१ मेघदूत १।६०, पार्श्वा. २।७५

२२. मेघदूत १।६०, पार्श्वा. २।७६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी भक्ति विपुल पुण्य को उत्पन्न करती है[23]। भक्ति के प्रभाव से मुझे पत्नी के साथ यह कठिनाई से प्राप्त करने योग्य (दुर्लभ) नागेन्द्र पद प्राप्त हुआ और जिसके माहात्म्य से भक्ति के अनुकूल आचरण करने के लिए मैं विहार छोड़कर रत्नत्रय के धारी भगवान् ऋषभदेव के मन्दिर के शिखर से युक्त उस कैलाश पर्वत से लौटा हूँ[24], वह (धरणेन्द्र पद को प्रदान करने वाली) भक्ति आपकी सेवा करती हुई मेरे कल्याण के लिए हो। हे देव! उत्तम सम्पदा को देती हुई यह आपके चरणों की भक्ति इस जन्म में और परलोक में भी मेरे लिए सब प्रकार से सुखदायी हो।[25] इस प्रकार पश्चात्तापयुक्त हृदय वाला शम्बरासुर भगवान् के प्रति अपने हार्दिक उद्गार व्यक्त करता है—हे भगवन्! राशीभूत अथवा विनश्वर मेघ शब्द नहीं करके भी जैसे चातकों को जल देता है। उसी प्रकार प्रार्थना किए जाने पर मौन को धारण किए हुए भी आप हम लोगों को अभीष्ट कल्याण प्रदान करते हो। यदि भव्य जीवों के एकमात्र मित्र आपसे भक्त इष्टफल निश्चित रूप से प्राप्त करता ही है तो अच्छा है अर्थात् यदि मौन होकर भी कुछ देते हैं और भक्त इष्टफल प्राप्त करता ही है तो आपका मौन श्रेयस्कर है। कल्पवृक्ष क्या संसार के लिए शब्दों से (उत्तरों से) फलते हैं? याचकों के अभीष्ट प्रयोजन का सम्पादन करना ही सज्जनों का उत्तर होता है[26]। हे प्राणिमात्र के प्रति दया-भाव रखने वाले! विनम्र होकर मैं तुमसे आज दीनतासहित याचना करता हूं। सौहार्द से अथवा पाप से भयभीत या दुःखाकुल होने से अथवा मेरे प्रति अनुकम्पाभाव रखकर अशरण, निर्दय, अत्यन्त प्रौढ़मायायुक्त, दुष्टाभिलाषी (एवं) पश्चात्ताप के कारण चरणों में गिरे हुए मुझे पापरहित करो[27]। हे मुनिमित्र पार्श्व जिनेन्द्र! भक्ति से चरणों में झुके हुए मेरे भगवान् के चरण-कमलों के प्रसाद से मूढ़ता के कारण न्याय का उल्लंघन किए हुए मैंने जो वाणी से अनेक प्रकार की चेष्टा की वह मिथ्या हो, निन्दितात्मा मेरे पापकर्म भी मिथ्या हों। इस प्रकार क्षण भर भी मेरा आत्मस्वरूप ज्ञान से वियोग न हो।[28]

उपर्युक्त विवरण से भक्ति के सम्बन्ध में निम्नलिखित बातें स्पष्ट होती हैं—

१. थोड़ी सी भी जिनभक्ति बहुत पुण्य उत्पन्न करती है।

२. भक्ति उत्तम सम्पदा को देने वाली और कल्याणकारिणी होती है। वह इस लोक और परलोक में सुखदायक होती है।

३. भक्ति का फल स्वतः प्राप्त होता है।

४. भक्ति जीवों को पापरहित करती है।

५. भगवान् से प्रार्थना करते समय व्यक्ति यह भावना करता है कि क्षणभर के लिए भी उसका आत्मस्वरूप ज्ञान से वियोग न हो।

---

२३. श्रेयस्सूते भवति भगवन्भक्तिरल्पाप्यनल्पम् ।। पार्श्वा. ४।५४
२४. पार्श्वा. ४।५५
२५. वही ४।५६
२६. पार्श्वा. ४।६०–६१
२७. पार्श्वा. ४।६३
२८. पार्श्वा. ४।६५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पार्श्वाभ्युदय में दो प्रकार के तपों का चित्रण प्राप्त होता है—(१) सांसारिक आकांक्षा की पूर्ति के लिए किया गया तप। (२) कर्म के क्षय के लिए किया गया तप। इन दो तपों में से जैन धर्म में दूसरे प्रकार के तप को स्वीकार किया गया है; क्योंकि पहले तप का प्रयोजन संसार है और दूसरे तप का प्रयोजन मोक्ष है। आचार्य समन्तभद्र ने कहा है—

अपत्यवित्तोत्तरलोकतृष्णया, तपस्विनः केचन
कर्म कुर्वते।
भवान् पुनः जन्म जरा जिहासया त्रयी प्रवृत्तिं
समधीरनारुणत् ॥

हे भगवन्! कितने ही सन्तान प्राप्त करने के लिए, कितने ही धन प्राप्त करने के लिए तथा कितने ही मरणोत्तरकाल में प्राप्त होने वाले स्वर्गादि की तृष्णा से तपश्चरण करते हैं, परन्तु आप जन्म और जरा की बाधा का परित्याग करने की इच्छा से इष्टानिष्ट पदार्थों में मध्यस्थ हो मन, वचन, काय की प्रवृत्ति को रोकते हैं। पार्श्वाभ्युदय में इस प्रकार के तप का आचरण करने वाले भगवान् पार्श्व हैं, जिनके सामने कठिनाई के पहाड़ उपस्थित होते हैं, फिर भी जो जरा भी विचलित नहीं होते है, फलतः शम्बरासुर को विफलप्रयास वाला होना पड़ता है[29]। इसके विपरीत कमठ मन[30] से तपस्या करता है। अपने भाई की पत्नी इत्वरिकातुल्य वसुंधरा से अलग हुआ वह शुष्क वैराग्य के कारण जिसका तलभाग पत्थरों से ऊंचा नीचा था, जिसके प्रदेश दावाग्नि से दग्ध थे, जहां शुष्क वृक्ष होने के कारण उपभोग के योग्य नहीं थे, अनेक प्रकार के कांटों से वेष्टित होने के कारण जो गमन करने योग्य नहीं थे, ऐसे भूताचल पर गर्मी के दिन बिताता है।[31] इतना सब करने के बाद भी उसका अपने भाई के प्रति वैर शांत नहीं होता है और वह भगवान् पार्श्व पर तरह तरह के उपसर्ग करता है, अतः कमठ के जन्म में किया गया तप उसकी आत्मप्राप्ति में कुछ भी सहायक नहीं होता है।

भारतवर्ष के साहित्य की एक प्रमुख विशेषता कर्म तथा उसके फल में विश्वास है। प्रत्येक पुरुष को अपने कर्म का शुभाशुभ फल भोगना पड़ता है।[32] यहां के समस्त शास्त्र बंधन से मुक्त होने का उपाय बतलाते हैं। पार्श्व पर किया गया शम्बरासुर का उपसर्ग उनके पूर्वकृत कर्मों का फल था, जिसे तीर्थंकर होने पर भी उन्हें भोगना अनिवार्य था। उनकी साधना बन्धन से मुक्त होने का उपाय थी। पार्श्वाभ्युदय का मेघ सांसारिक बाह्य आकर्षण का प्रतीक है। इस आकर्षण से सभी सांसारिक प्राणी आकर्षित होते हैं। शम्बरासुर चाहता है कि बाह्य आकर्षणों में पड़कर पार्श्व अपनी तपः साधना को भूल जांय अतः मेघ के माध्यम से सारे सांसारिक

---

२९. पार्श्वाभ्युदय ४।४५

३०. वही १।३

३१. यस्मिन् ग्रावास्थपुटिततलोदावदग्धाः प्रदेशाः
शुष्का वृक्षा विविधवृत्तयो नोपभोग्यान गम्याः
यः स्म ग्रष्मान् नयति दिवसा शुष्क वैराग्यहेतोः
तस्मिन्नद्नौ कतिचिदबलाविप्रयुक्तः सकामी ॥ पार्श्वा. १।५

३२. स्वयं कृतं कर्म यदात्मा पुरा
फलं तदीयं लभते शुभाशुभम् ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आकर्षणों, सृष्टि की उमंगों, तरङ्गों, कोमल संवेदनाओं और अभिलाषाओं को सामने रखता है। उज्जयिनी और अलका की बड़ी-बड़ी अट्टालिकाओं, उद्यानों, दीर्घिकाओं, पण्यस्थलों, मनोहर अङ्गनाओं, रास्ते के उद्दाम प्राकृतिक दृश्यों और लुभावनी वस्तुओं के ललित वर्णनों के बीच पार्श्व के हृदय में शांति और निरासक्ति की एक अपूर्व आह्लादमयी धारा है। आत्मा में निरन्तर जागरण का कार्य चल रहा है और इस जागरण का फल यह होता है कि उसकी शक्ति से अनुपमेय दिव्य सुखों में लीन धरणेन्द्र जैसे देवों के आसन भी कम्पायमान हो जाते हैं। शत्रु को पलायमान होना पड़ता है। उसे अपनी भूल मानकर हृदय से क्षमा याचना करना पड़ती है। इस प्रकार एक अपूर्व विजय की प्राप्ति होती है। अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग शत्रुओं का अब नाश हो गया है। जो कुछ भोगना था, वह भोग लिया अब कुछ भोगना बाकी नहीं रहा, संसार के सारे आकर्षणों का अन्त आ गया और आत्मा में अपूर्व सुख की धारा बह रही है। संसार के सभी प्राणी ऐसी महान् आत्मा के गुणानुवाद अथवा नाममात्र लेने से भवोच्छेदन की आशा बाँध रहे हैं। भक्ति के रस का संचार हो रहा है। इस प्रकार पार्श्वाभ्युदय के बाह्य रूप की अपेक्षा उसका आन्तरिक रूप करोड़ों गुना अत्यधिक महत्व रखता है।

शम्बरासुर और पार्श्व का संघर्ष इन्द्रियज्ञान और अतीन्द्रियज्ञान के बीच का संघर्ष है। शास्त्रकारों ने कहा है कि इन्द्रिय के द्वारा जो जानकारी प्राप्त होती है वह तुच्छ है, अतीन्द्रियज्ञान से जो जानकारी प्राप्त होती है, वह विपुल है, पूर्ण है। एक में असमग्रता है, दूसरे में समग्रता है। असमग्र को सब कुछ मानने वाला संसार की ऊपरी चाकचिक्य में ही रमण करता है, उसे चाहिए बाह्य प्रकृति का मनोरम वातावरण, काम का उद्दाम वेग और उसकी पूर्ति का साधन सुन्दर ललनायें अथवा पुरुष। दूसरी ओर समग्रता की आराधना करने वाला इन वस्तुओं को वैराग्यशील भिक्षु की निगाहों से देखता है, उसकी दृष्टि में ये सब वस्तुयें और मनोभावना बाह्य हैं, शारीरिक हैं, मूर्तिमान हैं, क्षणभंगुर हैं। इन सबके बीच में जो अमूर्तिक आत्मा विद्यमान है वह उसकी खोज करता है। काम, क्रोध, मद आदि के आवेश से उस आत्मत्व की उपलब्धि नहीं हो सकती है। कहा भी है—

मदेन मानेन मनोभवेन क्रोधेन लोभेन ससम्मदेन।
पराजितानां प्रसभं सुराणां वृथैव साम्राज्यरुजा परेषाम्॥

शम्बरासुर काम, क्रोध और मद से युक्त है, उसकी दृष्टि सरागी है, अतः इन्द्रियप्रत्यक्ष से उसे जो अनुभव हो रहा है वही उसके लिए लोभनीय अथवा अलोभनीय है। जो लोभनीय है वह वस्तु उसके लिए राग का कारण है और जो अलोभनीय है वह वस्तु उसके द्वेष का कारण है। राग और द्वेष ये दोनों संसार को छोड़ने के लिए विसर्जित करने पड़ते हैं, वीतरागी बनना पड़ता है, निश्छल समाधि की ओर बढ़ना पड़ता है। पार्श्व इसी वीतरागात्मा और निश्छल समाधि की ओर बढ़ रहे हैं अतः इन्द्रियों के माध्यम से जो कुछ देखा जा सकता है, अनुभव किया जा सकता है, उसकी तरफ उनका लक्ष्य नहीं हैं, क्योंकि इन्द्रियों की विषयों में प्रवृत्ति रागद्वेष की जनक है। वीतरागता के पथ के पथिक को इष्टवस्तु के प्रति न राग है और न अनिष्ट वस्तु के प्रति द्वेष है। जहां राग और द्वेष है वहां संसार है। संसार छोड़ने के लिए आत्मत्व का सहारा लेना पड़ेगा और अतीन्द्रिय ज्ञान की उपलब्धि करनी होगी। अतीन्द्रियज्ञान जिसके पास है, वही सच्चा योगी है। शिशुपालवध में माघ ने नारद को 'अतीन्द्रियज्ञानधि' कहा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है[33]। कालिदास ने पूर्वमेघ के ५५वें श्लोक में कहा है कि शिव के चरणों में भक्ति रखने वाले करणविगम के अनन्तर शिव के गणों का स्थिर पद प्राप्त करने में समर्थ होते हैं। इस करणविगम शब्द का प्रयोग पार्श्वाभ्युदय में भी हुआ है। वहां कहा गया है कि अर्हन्तभगवान् के चरण-चिह्नों को देखने पर जिनके पाप नष्ट हो गए है ऐसे भक्ति का सेवन करने वाले करणविगम के अनन्तर सिद्ध क्षेत्र की स्थापना करते हैं।[34] उपर्युक्त करण विगम शब्द का अर्थ प्रायः सभी टीकाकारों ने शरीर त्याग किया है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इसकी नई व्याख्या की है। उनके अनुसार करणविगम का सीधा सादा अर्थ है, इन्द्रियों को उल्टी दिशा में मोड़ना, अर्थात् इन्द्रियों को बाहरी विषय की ओर से मोड़कर अन्तर्मुखी करना[35]। पार्श्वाभ्युदय में पार्श्व भी करणविगम की इस प्रक्रिया में लगे हुए हैं।

३३. शिशुपाल वध १।११
३४. पार्श्वा. २।६६
३५. हजारीप्रसाद द्विवेदी : कालिदास की लालित्य योजना पृ. १०७.



आत्म-विजेता महावीर

● श्री राजमल जैन 'बेगस्या', जयपुर

मेरे महावीर ने इस दुनियां को जीता है,
अस्त्र–शस्त्र से नहीं, वो इनसे तो रीता है।
हिंसा से दुनियां को जीता वो मारे गये,
अपने को जीतले वो हरदम ही जीता है।।

अपने को जीतकर ही बीर महावीर हुये,
गगन सम विशाल सिन्धु जैसे गम्भीर हुये।
राज–पाट, सेना और ठाट बाट त्याग दिये,
तन से फकीर आत्मा से अमीर हुये।।

आत्मा का जो अमीर वो ही भगवान् है,
वो ही महावीर और उसका ही गान है।
राज–पाट, वैभव के धारी न पूज्य हुये,
आत्म विजेता ही जग में महान् है।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मानवता की ज्योति जगादे

● श्री अनूपचन्द न्यायतीर्थ, जयपुर

महावीर ! अति वीर ! सुसन्मति !
वर्द्धमान त्रिशला के नन्दन !
पतितोद्धारक परम पूज्य हे !
महामनीषी ! शत शत वन्दन ।।

अपने पथ से भटक गये हम अब हमको सन्मार्ग दिखादो ।।म०।।

राग द्वेष से मलिन हुआ मन,
क्रोध मान माया ने घेरा ।
लोभ कषाय बढ़ी अन्तर में,
फैल रहा अज्ञान अन्धेरा ।।

भला बुरा पहिचान सके ना अब विवेक का दीप जलादो ।।म०।।

सत्य अहिंसा स्याद्वाद औ,
अनेकान्त का गूंजे नारा ।
साम्य भाव से बने समुज्ज्वल,
त्रसित क्षुब्ध जीवन की धारा ।।

आग्रह छोड़ समन्वय करल सबके प्रति सम्मान सिखादो ।।म०।।

इच्छाएँ बढ़ रहीं निरन्तर,
यही दुःख का निश्चित कारण ।
आशा गर्त्त बढ़े दिन दूना,
कैसे होवे कष्ट निवारण ।।

परिग्रह की ममता को तज दें संग्रह की आदत छुड़वादो ।।म०।।

राष्ट्र विरोधी मनोभावना,
नहीं हृदय में घर कर जावे ।
द्वेष ईर्ष्या और कलुषता,
मानवता को डिगा न पावे ।।

अनुशासन कर्त्तव्यनिष्ठता सर्वोपरि हो पाठ पढ़ा दो ।।म०।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सांगानेर में रचित अज्ञात जैन महाकाव्य

स्थूलभद्रगुणमाला

● डॉ० सत्यव्रत
गवर्नमेन्ट कालेज, श्रीगंगानगर

खरतरगच्छीय सूरचन्द्र का स्थूलभद्रगुणमाला-काव्य संस्कृत महाकाव्य के ह्रासयुग की प्रतिनिधि रचना है। हरविजय, कप्फिणाभ्युदय, आदि महाकाव्यों के समान स्थूलभद्रगुणमाला में भी वर्णन की भित्ति पर महाकाव्य की अट्टालिका का निर्माण किया गया है। इसके उपलब्ध साढ़े पन्द्रह सर्गों में नन्दराज के महामन्त्री शकटार के पुत्र स्थूलभद्र तथा पाटलीपुत्र की वेश्या कोश्या के प्रणय की सुकुमार पृष्ठभूमि में मन्त्रिपुत्र की प्रव्रज्या का वर्णन करना कवि को अभीष्ट है। स्थूलभद्र की गुणावली का वर्णन तो यहां नाम मात्र को हुआ है। इस दृष्टि से काव्य का यह आकर्षक शीर्षक इसके वर्णित विषय के अनुकूल नहीं हैं। शायद काव्य के अनुपलब्ध अंश में नायक के व्यक्तित्व के इस पक्ष को अधिक महत्व दिया गया हो।

स्थूलभद्रगुणमाला की एक प्रति (संख्या 27) केसरियानाथजी का मन्दिर, जोधपुर में स्थित ज्ञान भण्डार में विद्यमान है। दुर्भाग्यवश वह हस्तलेख अधूरा है। इसमें न केवल प्रथम दो पत्र अप्राप्त हैं, अन्तिम से पूर्ववर्ती तीन पत्र भी नष्ट हो चुके हैं। पत्र संख्या देने में लिपिकार ने प्रमाद किया है। छठे के बाद वाले पत्र की संख्या आठ दी गई है, यद्यपि कथानुक्रम में कोई व्यवच्छेद नहीं है। सब मिलाकर प्रस्तुत प्रति में साढ़े दस इञ्च लम्बे तथा सवा चार इञ्च चौड़े सत्ताईस पत्र हैं। प्रत्येक पत्र पर बाईस पंक्तियाँ और प्रत्येक पंक्ति में लगभग 55 अक्षर हैं। प्रति का आरम्भ सत्ताईसवें पद्य से होता है। पत्र के आकार को देखते हुई यह अनुमान सहज ही किया जा सकता है कि अनुपलब्ध दो पत्रों में 126 पद्य थे। यह प्रति मुझे महोपाध्याय विनयसागरजी के सत्प्रयत्न से प्राप्त हुई थी। प्रस्तुत विवेचन उसी हस्तप्रति पर आधारित है।

कविपरिचय तथा रचना काल—

प्रथम सर्ग की पुष्पिका के अनुसार स्थूलभद्रगुणमाला के रचयिता कविवर सूरचन्द्र खरतरगच्छीय वीर कलश के शिष्य थे। जैनतत्वसार में यद्यपि उन्होंने अपना शाखा रूप सम्बन्ध जिनभद्रसूरि से स्थापित किया है, किन्तु अन्य साधनों से विदित होता है कि वे आचार्य जिनदत्त सूरि की परम्परा में थे[1]। सूरचन्द्र विश्रुत विद्वान् व प्रतिभा सम्पन्न कवि थे। पंचतीर्थस्तव उनकी विद्वत्तापूर्व प्रौढ़ रचना है, जिससे उन्होंने अपने चित्रकाव्य-कौशल का परिचय दिया है। संस्कृत के अतिरिक्त राजस्थानी में भी उनकी कई कृतियां उपलब्ध हैं। उनकी राजस्थानी रचना शृंगाररासमाला सम्वत्

१. द्रष्टव्य : श्री अगरचन्द नाहटा—युगप्रधान जिनदत्तसूरि, पृ० ६६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

1659 सन् (1602) में लिखी गई थी। यह सूरचन्द्र की प्रथम महत्वपूर्ण कृति प्रतीत होती है। यदि यह अनुमान सत्य है तो उनके जन्म तथा दीक्षा का समय सोलहवीं शताब्दी ई० का अन्तिम चरण माना जा सकता है। जैनतत्वसार का रचना काल सम्वत् 1679 (सन् 1622) सुनिश्चित है। स्थूलभद्रगुणमाला कवि की सबसे प्रसिद्ध तथा प्रौढ़ कृति है। इसकी रचना आचार्य जिनराजसूरि के विजय राज्य में अर्थात् सम्वत् 1675 तथा 1680 (सन् 1618–23) के मध्य सम्पन्न हुई थी। घाणेराव भण्डार में विद्यमान स्थूलभद्रगुणमाला की एक पूर्ण प्रति की प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि कवि ने इस काव्य की पूर्ति जयपुर नरेश जयसिंह के शासन काल में, सम्वत् 1680 (1623) ई०, पौष तृतीया को, जयपुर के उपनगर सांगानेर (संग्रामपुर) में की थी।

पूर्णाष्टरसचन्द्राब्दे पौषतृतीयिकादिने।
पुष्पार्केऽपूर्यथं ग्रन्थो मया देवगुरुस्मृतेः ।। २९५
संग्रामनगरे तस्मिन् जैन प्रासादसुन्दरे।
काशीवत्काशते यत्र गंगेव निर्मला नदी ।। २९६
राज्ये श्री जयसिंहस्य मानसिंहसन्ततेः।
महाराजाधिराजारख्याश्रितः साहिशासनात् ।।२९८

कथानक—

स्थूलभद्रगुणमाला के वर्तमान कलेवर में दूसरे से पन्द्रहवें तक चौदह सर्ग (अधिकार) अविकल विद्यमान हैं। तथा प्रथम एवं सोलहवें सर्ग का कुछ भाग उपलब्ध है।

कथानक के नाम पर स्थूलभद्रगुणमाला में वर्णन का जाल बिछा हुआ है। दो तीन सर्गों में सौंदर्य चित्रण करना तथा स्वतन्त्र सर्गों का ऋतु वर्णन पर व्यय कर देना कवि की कथा-विमुखता का उग्र प्रमाण है। भोग की अति की परिणिति अनिवार्यतः भोग के त्याग में होती है, अपने इस सन्देश को कवि ने सरस काव्य के परिधान में प्रस्तुत किया है, किन्तु उसे अधिक आकर्षक बनाने के आवेश में वहां काव्य में सन्तुलन नहीं रख सका। ऋतु वर्णन वाले पांच सर्गों का काव्य में यत्किञ्चित् कथानक से कोई विशेष सम्बन्ध है, यह नहीं कहा जा सकता। उन्हें बिना कठिनाई के आवश्यकतानुसार किसी भी काव्य में खपाया जा सकता है। अन्तिम दो अधिकारों में भी वर्णनों की ही प्रबलता है। काव्य में वर्णित सभी उपकरणों सहित इसे 6–7 सर्गों में सफलतापूर्वक समाप्त किया जा सकता था। किन्तु सूरचन्द्र की संतुलनहीनता तथा वर्णनात्मक अभिरुचि ने इसे 17 सर्गों का वृहद् आकार दे दिया है। किसी विषय से सम्बन्धित अपनी कल्पना का कोश जब तक वह रीता नहीं कर देता, वह आगे बड़ने का नाम नहीं लेता। यह सत्य है कि इन वर्णनों में कवि प्रतिभा का भव्य उन्मेष हुआ है, किन्तु उनके अतिशय विस्तार ने प्रबन्धत्व को नष्ट कर दिया है। खेद है, सूरचन्द्र समवर्ती काव्यधारा के घातक आघात से न बच सके।

प्रकृति चित्रण—

सूरचन्द्र ने अपने प्रकृति चित्रण-कौशल का काव्य में यथेष्ट परिचय दिया है। स्थूलभद्रगुणमाला के प्रकृति चित्रण को ऋतुवर्णन कहना अधिक उपयुक्त होगा, क्योंकि—समाप्ति वेश्या के प्रति बोध तथा स्थूलभद्र के गुणगान व स्वर्गारोहण से होती है।

"……श्री स्थूलभद्रस्य गुणमालानामनि चरिते वेश्याप्रतिबोधन श्राविकीकरण श्री गुरुपादमूलसमागत श्री स्थूलातिप्रशंसना····स्थूलभद्रस्वर्गमन····गुणमाला समर्थन वर्णनो नाम सप्तदशोऽधिकारः सम्पूर्णः ।।" यह प्रशस्ति हमें समीक्षा लिखने के बाद श्री अगरचन्द नाहटा के सौजन्य से प्राप्त हुई थी।

इसमें ऋतु वर्णन का प्राधान्य है। काव्य के वर्तमान रूप में प्रकृति के किसी अन्य तत्व का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अधिक चित्रण नहीं हुआ है। प्रकृति वर्णन की परम्पराबद्ध प्रणाली से हट कर किसी अभिन्न मार्ग की ऊद्भावना करना सूरचन्द्र के लिए सम्भव नहीं था। उसके प्रकृति चित्रण की विशेषता यदि इसे विशेषता कहा जाये–यह है कि उसने ऋतुओं के न केवल हर संभव तथा कल्पनीय उपकरण का व्यापक चित्रण किया है अपितु उन में होने वाले पर्वों का भी अनिवार्यतः चित्रण किया है। ये वर्णन कवि की काव्य प्रतिभा को प्रतिष्ठित करने में समर्थ हैं, किन्तु संतुलन तथा अनुपात का उसे विवेक नहीं, इसलिए मात्र विस्तार के कारण इनमें पिष्टपेषण भी हुआ है और पाठक के धैर्य की विकट परीक्षा भी हुई है। 224 पद्यों में पावस का सांगोपांग वर्णन करने के पश्चात् कवि का यह कथन—

नभोनभस्यमासौ द्वौ वर्षर्तुरेष भाषितः।
एवमस्य ऋतोः किञ्चित्स्वरूपमुपवर्णितम् ।।

पाठक की सहनशीलता पर कितना क्रूर व्यंग्य है।

अप्रस्तुत योजना में दक्षता के कारण सूरचन्द्र ने बहुधा प्रकृति का आलंकारिक चित्रण किया है। प्रकृति के स्वाभाविक रूप के प्रति उसका ममत्व निश्छल है, किन्तु उसकी कल्पनाशीलता उसे प्रकृति का संश्लिष्ट चित्र अंकित करने को विवश करती है। सूरचन्द्र के पास कल्पनाओं की अपरिमित निधि है। वह प्रकृति के सामान्य से सामान्य तत्व के लिए भी सरलता से आठ दस अप्रस्तुत जुटा सकता है। फलतः स्थूलभद्रगुणमाला में प्रकृति अधिकतर सहज-अलंकृत रूप से प्रकट हुई है। निस्सन्देह कवि की उर्वरता कल्पना से उसके वर्णन चमत्कृत हो उठे हैं। परन्तु अप्रस्तुतों के बाहुल्य के कारण स्वयं प्रकृति गौण-सी हो गई है।

वसन्त में चारों ओर टेसू के लाल फूल दिखाई देते हैं। कवि की कल्पना है कि नवोढ़ा वनभूमि ने विवाह का लाल जोड़ा पहन लिया है अथवा पति वसन्त के पास जाकर वह लज्जा से लाल हो उठी है, अथवा यह शरत् रूपी हाथी के रक्त से रंजित वनसिंह की नखराजि है अथवा अटवी गणिका अपनी अरुण अंगुलियों से युवकों को सहर्ष आमन्त्रित कर रही है।

स्पष्टाटवी वधूटीयं रक्ताम्बरधरा किमु।
किं वासावेव सुरभिं पतिं प्राप्यारुणानना ।।
किं वा वनमृगेन्द्रस्य दृश्यते नखरावली।
शीतर्तुमत्तमातंग भिन्नकुम्भासृजारुणा ।।
किंवाटवीपण स्त्रीयं स्वकीयांगुलिकालिभिः।
तरुणानावाह्ययन्तीव क्रीडितु निजकान्तिके ।।
१३/२५–२७

कल्पनायें सभी रोचक हैं किन्तु अन्तिम दो कुछ दूरारूढ़ प्रतीत होती है।

शरत् का यह हृदयग्राही वर्णन भी कल्पना की आभा से तरलित है। उसके अप्रस्तुतविधान-कौशल से शरत्काल का हर उपकरण सजीव हो गया है। पूनम का चांद स्वर्गंगा में खिला हुआ कमल प्रतीत होता है। उसका कलंक ऐसा लगता है मानों रोहिणी से रमण करते समय लगी हुई काजल की बिन्दिया हो। नील गगन में तारे ऐसे चमक रहे हैं, जैसे इन्द्रनीलमणियों के थाल में रखे हुए मोती हों, अथवा काली धरती पर गिरे हुए तण्डुल हों या रजनीलता की कुसुमावली हो।

यद्वा वियन्नदीमध्ये पुण्डरीकं चलाचलम्।
संदृश्यते मधुभृतं मृगसंगमरंगितम् ।। ११/२७
रोहिण्या रममाणस्य किंवा कज्जलमलगत्।
किंवा शरीरकार्श्येण किञ्चिच्छायापतत्तनौ ।।११/३९
तमालतालभे व्योम्नि शुभ्रास्तारा विदीपिरे।
मुक्ता इव हरिद्रत्नस्थाले कालकेलये ।। ११/६९
कृष्णभूमेरथवा देशे तण्डुलाः पतिता इव।
किंवा विभावरीवल्ल्या दृश्यते कुसुमावली ।।११/७०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकृति की विविध अवस्थाओं तथा मुद्राओं से सूरिचन्द्र की गम्भीर परिचिति है। उसकी दृष्टि में प्रकृति भावशून्य अथवा मानव जीवन से निरपेक्ष नहीं है। उसमें मानव हृदय की प्रतिच्छाया दृष्टि गोचर होती है, परिणामतः वह मानवीय भावनाओं से ओतप्रोत है तथा उसके समान नाना चेष्टाओं में रत है। मानव मन के सहज ज्ञान तथा प्रकृति के सूक्ष्म पर्यवेक्षण के कारण सूरचन्द्र प्रकृति तथा मानव में रोचक तादात्म्य स्थापित करने में सफल हुआ है। उसकी शरत् काल की रेशमी साड़ी तथा हंसों के नूपुर पहन कर नव वधू के समान प्रकृति के आंगन में आती है। कमल उसका सुन्दर मुखड़ा है, चकवे पयोधर तथा शाली छरहरा शरीर है।

काशवस्त्राम्बुजमुखा नीलोत्पलदलाम्बिका।
स्वच्छविप्रनदुर्लभ्या निनदद्हंसनूपुरा॥
शालियष्ट्यायता चक्रपयोधरा भवनेशं।
प्रतीच्छन्ती वधूरिव शरद्··· बभौ॥ ११/१३-१४

अन्य ह्रासकालीन काव्यों की तरह स्थूलभद्र गुणमाला में प्रकृति उद्दीपन पक्ष को अधिक पल्लवित नहीं किया गया है। केवल एक दो स्थानों पर ही प्रकृति मानव की भावनाओं को आन्दोलन करती हुई चित्रित हुई है। वर्षा काल में बादल की मन्द्र मधुर गर्जना तथा बिजली की दमक कामिनियों को नायकों की मनुहार करने को विवश कर देती है।[1]

सौन्दर्य चित्रण:—

सूरचन्द्र ने जिस मनोयोग से प्रकृति का चित्रण किया है, सौन्दर्य वर्णन में भी उस की वही तत्परता दिखाई देती है। स्थूलभद्रगुणमाला में स्त्री तथा पुरुष दोनों के शारीरिक सौन्दर्य का चित्रण समान सफलता से किया है। मानव सौन्दर्य को रूपायित करने में कवि ने संस्कृत-काव्य की लोकप्रिय नखशिखप्रणाली का आश्रय लिया है। अपने सौन्दर्य-वर्णन को प्रेषणीय बनाने के लिए वह नये-नये उपमान जुटाने में दक्ष है, वास्तविकता तो यह है कि अन्य वर्णनों के समान सौन्दर्य-चित्रण में भी सूरचन्द्र ने अपने अप्रस्तुतों के भण्डार का उदारता पूर्ण प्रयोग किया है। वह एक-एक अंग के लिए बड़ी सरलता से एकाधिक उपमानों की योजना कर सकता है। कोश्या के स्तनों का ही वर्णन उसने सत्ताईस उपमानों के द्वारा किया है। यह अनावश्यक विस्तार सदैव कवित्व का हितैषी नहीं किन्तु इससे कवि-कल्पना की उर्वरता का परिचय अवश्य मिलता है।

नारी सौन्दर्य के चित्रण में अपना कौशल प्रकट करने के लिये सूरचन्द्र ने कोश्या का वर्णन लगभग 200 पद्यों के पूरे एक सर्ग में किया है। वेणी से लेकर उसके पांवों के नखों तक को वर्णन का विषय बनाया गया है। उसके श्वास को भी कवि नहीं भुला सका। विस्तृत होते हुए भी वर्णन में यदि रोचकता बराबर बनी रहती है, इसका समूचा श्रेय कवि की कल्पना शक्ति को है, जो निरन्तर एक से एक अनूठे उपमान ग्रथित करती जाती है। प्रस्तुत अंश से यह बात स्पष्ट हो जायगी—

कबरीमध्यगैः पुष्पैर्यस्या भाति स्म बन्धुरैः।
मन्ये कामेन जित्राय तूणो बाणैर्भृतः किमु॥३/६
वेणीमूले शिरोरत्नं यस्याः प्रशस्यते भृशम्।
स्मरेण स्त्रीनिधिं पातुं धृतः किं मणिभृत्फणी॥
३/१०
सर्वतः कुन्तलाः कृष्णा रक्तसीमन्तसंगताः।
जाने लावस्य पाथोधौ ज्वलज्वालोऽस्ति वाडवः॥
३/९२
रमण्या रोमराजीयं सुरूपा परिपेशला।
मन्ये लावण्यवाहिन्या बालसेवालमञ्जरी॥३/१६९

१, स्थूलभद्रगुणमाला—१०/१०२,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुरुष सौन्दर्य का चित्रण युवा स्थूलभद्र के वर्णन के अन्तर्गत हुआ है। यहां भी सूरचन्द्र ने उपर्युक्त विधि को ग्रहण किया है। सन्तोष यह है कि स्थूलभद्र का सौन्दर्य चित्रण अपेक्षाकृत अधिक सन्तुलित है, यद्यपि उसका भी आपादमस्तक समूचे अंगों का चित्रण किया गया है।[1]

रस विधान—

वर्तमान रूप में स्थूलभद्रगुणमाला शृंगार-प्रधान काव्य है। शृंगार में भी संयोग की अपेक्षा वियोग का अधिक चित्रण हुआ है। कोश्या का भाग्य कुछ ऐसा है कि उसे मिलन के सुख की अपेक्षा विरह का दुःख अधिक झेलना पड़ता है। स्थूलभद्रगुणमाला में विप्रलम्भ की कई स्थानों पर अभिव्यक्ति हुई है। स्थूलभद्र के प्रव्रज्या ग्रहण करने पर कोश्या के विरह वर्णन में तथा उसके प्रेमपत्र में विप्रलम्भ की टीस है। किन्तु उसकी तीव्रतम व्यञ्जना कोश्या के पूर्वराग-वर्णन से हुई है। राजपाटी में मन्त्रिपुत्र स्थूलभद्र को देखकर कोश्या कामविह्वल हो जाती है। दासी पद्मिनी द्वारा वर्णित उसकी विकलता हृदय को छूने में समर्थ है।

तवैकसंगमिच्छन्ती दीना हीना परक्रिया।
कोश्या मे स्वामिनी स्वामिन् वर्तते व्याकुलाबला ।।
२/१५६

वेल्लमानास्ति वल्लीव तरुसंगमवर्जिता।
क्षीणप्राणा गतत्राणा निरम्बु संवरीव वा ।।२/१५७
स्वामिन् सा यदि सद्रीचीं कथंचिद् वीक्षतेक्षणम्।
तदाप्यर्धनिमीलाक्षी त्वदन्येक्षणाशंकया ।। २/१६०
सख्या अपिवचः श्रुत्वा सा शृणोति न सादरा।
एवं जानाति मां मान्यस्त्वद्रूपा भ्रमयेज्जनः ।।२/१६१

विरह वर्णन में तो विप्रलम्भ अपनी मार्मिकता के कारण करुणरस की सीमा तक पहुंच गया है। पक्ष, मास, वर्ष आते हैं और चले जाते हैं, किन्तु कोश्या का प्रिय आने का नाम भी नहीं लेता। हृदय में उठती हुई हूकों ने उसे जर्जर बना दिया है।

चित्रशाला विशालेयं चन्द्रशाला च शालिनी।
प्रतिशाला मरालाश्च शल्यायन्तेऽद्य त्वद्विना ।।
६/१३१

पक्षमासर्तुवर्षाणि मुहुरायान्ति तान्यपि।
पुनरेको न मे नाथो हला एति यतः सुखम् ।।६/१३५
किं करोमि क्व यामि कस्याग्रे पूत्करोम्यहम्।
वदामि कस्य दुःखानि वियुक्ता प्रेयसा सह ।।
६/१३६

सम्भोग के अन्तर्गत कोश्या तथा स्थूलभद्र के समागम के अतिरिक्त कवि ने नायिका के सात्विक भावों का भी रोचक वर्णन किया है। चिर विकलता के पश्चात् स्थूलभद्र को सहसा अपने सम्मुख देखकर कोश्या उल्लास से पुलकित हो जाती है। उसमें सात्विक भावों का उदय होता है, जो उसकी कामातुरता को व्यक्त करने में समर्थ है।[2]

शान्तरस शृंगार का सहायक बनकर आया है। जैसा पहले कहा गया है, स्थूलभद्रगुणमाला का पर्यवसान कदाचित् शान्तरस में ही हुआ था, किन्तु सामूहिक रूप में भी वह शृंगार की तीव्रता को मन्द नहीं कर सकता। अपनी विषयासक्ति की पृष्ठभूमि में पिता के वध का समाचार पाकर स्थूलभद्र का मन आत्मग्लानि से भर जाता है। उसे सुख, संपदा, वैभव, भोग, समूचा जीवन तथा जगत् भंगुर एवं प्रवंचनापूर्ण प्रतीत होने लगता है। प्रव्रज्या में ही वह सच्चा सुख पाता है।[3]

भाषा—

भरतेश्वरबाहुबलिमहाकाव्य की भांति स्थूलभद्रगुणमाला की भाषा में गरिमा तथा सरलता

---

१. वही, २/११, ३३, ३८, ७३.
१. वही, ५/२६, २९, ३०, ३३.
१. वही, ८/१३, १६, २६.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का मनोरम समन्वय है। उस जैसा भाषा सौष्ठव तो यहां नहीं मिलता किन्तु इसमें प्रांजलता बराबर बनी रहती है। ह्रासकालीन महाकाव्यों की अन्य प्रवृत्तियों को प्रायः यथावत् ग्रहण करके भी इन कवियों ने अपनी भाषा को अलंकृति तथा क्लिष्टता से आच्छादित नहीं किया।

स्थूलभद्रगुणमाला की भाषा की मुख्य विशेषता यह है कि वह सदैव भाव के अनुकूल चलती है। काव्य में स्थितियों का वैविध्य अधिक नहीं है, किन्तु उसमें उदात्त गम्भीर तथा भव्य-अभव्य जो भी भाव हैं, उसकी भाषा उन सबको यथोचित पदावली में व्यक्त करने में समर्थ है। कवि का भाषा पर यथेष्ट अधिकार है। इसीलिए वह प्रसंग की प्रकृति का उल्लंघन नहीं करती।

स्थूलभद्र को देखकर मूर्छित हुई कोश्या की स्थिति के वर्णन तथा उसकी सखियों की चिन्ताकुल प्रतिक्रिया में जो भाषा प्रस्तुत हुई है, वह मानसिक विकलता को बिम्बित करती है। कोश्या के मूर्छित होने पर वे विवाद में डूब जाती हैं, और होश में आते ही वे हर्ष से पुलकित हो जाती हैं।

न शृणोतीक्षते नेयं संजानीते न वक्ति च।
बद्ध्वास्ते दन्तशकटं वेल्लते नो न चेष्टते ।।

२/११७

उवाच काचिदित्येवं दोषोऽस्याः कोऽपि दृश्यते।
शाकिन्या वाथ डाकिन्या यद्वाम्बुस्थलदेवयोः ।।

२/११६

किंचिदंगमचालीत्सा यावज्जहर्षुरालयः।
पद्मिनी तास्तदा स्वालीः स्तं स्वंगेहममोचयत् ।।

२/१२३

स्थूलभद्र के साधुत्व स्वीकार करने पर कोश्या के तरुणहृदय की अभिलाषाएं अधूरी रह जाती हैं। उसके ऊपर अनभ्र वज्रपात होता है। उसके बिरह के चित्रण में विप्रलम्भ अपने आवेग के कारण करुण रस से बहुत निकट पहुंच जाता है। उसकी व्यथा की व्यञ्जना करुणरसोचित कोमल, स्निग्ध तथा मसृण पदावली के द्वारा की गई है। समासाभाव तथा दैन्यपूर्ण भाषा उसकी कातरता को सहसा प्रतिबिम्बित कर देते हैं। वियोग ने उनके हृदय को इतना तोड़ दिया है कि उठना, बैठना, सोना, चलना आदि अनिवार्य कृत्य भी उसके लिये भार बन गये हैं।[1]

इन विषादपूर्ण भावों के विपरीत सूरचन्द्र ने कोश्या की हर्षोत्फुल्लता का चित्रण तदनुरूप भाषा में किया है। चिरविरह के पश्चात् प्रिय के आगमन का समाचार सुनकर वेश्या आनन्द से आप्लावित हो जाती है। उसे मिलने को अधीर कोश्या की त्वरा तथा उत्सुकता का वर्णन करने के लिये प्रवाहपूर्ण समासहीन पदावली का प्रयोग किया गया है। यह अपने वेगमात्र से उसकी अधीरता को मूर्त कर देती है।

कुत्र कुत्रेति जल्पन्ती दधावे धनिकं प्रति।
कोश्या प्रेमवशासंज्ञा वात्याहतेव तूलिका ।।

न स्पृशन्ती भुवा पद्भ्यां निषेधंती निमेषकान्।
उद्यांती वदृशे कोश्या सखी भिरमरीव सा ।।

१५/१०६–१०७

प्रिय को आँख भर कर देखने की बलवती स्पृहा है यह, जिसने उसे देवांगना बना दिया है।

सूरचन्द्र का झुकाव भाषा की सरलता की तरफ अधिक है। काव्य को सुबोध बनाने के लिये ही उसने कहीं-कहीं लोक भाषा की संस्कृत छाया मात्र प्रस्तुत कर दी है, जो संस्कृत भाषा के प्रतिकूल है किन्तु लोक में प्रचलित होने के कारण सर्व विदित तथा प्रभावपूर्ण है। 'खादितुं नाथ धावति

१. वही, ९/१३६–१३८.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(६/१२५)—घर खाने को दौड़ता है, 'आतपो निपतति' (१२/३)—धूप पड़ती है, 'एवमेकस्य पृष्ठे किं त्वं कोश्ये पतिता जडे' (१०/७)—एक ही के पीछे क्यों पड़ी है ? आदि कई प्रयोग हैं। काव्य में कोट्ट, खाला, जंजाल, ठगविद्या, गुलाल, लप्रश्री, लड्डुकाः, पर्प्पट (पापड़) आदि देशी शब्दों को उदारतापूर्वक स्थान दिया गया है। काव्य की प्रभावशालिता में वृद्धि करने के लिये सूरचन्द्र ने कुछ लोकोक्तियों का भी प्रयोग किया है। उनमें से कुछ बहुत मार्मिक है।

१—महतां वृत्तं श्रुतं भवति शर्मणे । ७/४
२—दृष्टा बहि- शुद्धा हृदिद्रो हपराः । १०/१५६
३—रागिणो न विचारिणः । १२/१६
४—स्थानभ्रंशो महद्दुःखम् । १५/४७

व्याकरण ज्ञान और शाब्दी क्रीड़ा--

स्थूलभद्र गुणमाला में पाण्डित्य-प्रदर्शन के लिये कोई स्थान नहीं है। यह कवि को अभीष्ट भी नहीं। किन्तु विचित्र बात है कि विरह वर्णन जैसे कोमल प्रसंग में उसे व्याकरण एवं शाब्दी क्रीड़ा द्वारा अपना रचना कौशल प्रदर्शित करने की धुन सवार हुई है।

सामुद्रलावण्य अण् प्रत्यय के बिना समुद्र लवण बन जाता है। कोश्या के मानसिक उल्लास तथा वेदना की व्यञ्जना अण् के सद्भाव एवं अभाव के आधार पर की गई है। प्रियतम के संयोग में उसके लिये सामुद्रलावण्य दो स्वतन्त्र पद थे। अर्थात् उसका शरीर अतिशय लावण्य से परिपूर्ण था। उसके वियोग में अण् प्रत्यय के बिना वह एक पद बन गया है। उसके लिये अब सब कुछ क्षार रूप हो गया है।

सति सामुद्रलावण्ये अभूतां द्वे भिदा त्वयि ।
ते प्रत्ययं बिनायातामेकं पद्यं गते च मे ।। ६/११५

निम्नोक्त पंक्तियों में केवल क्यच् प्रत्ययान्त क्रियाएँ प्रयुक्त की गई हैं।

रक्षा रक्षायते शीर्षे येणी वेणचिते शुचा ।
त्वां बिना देव देवान्मे विग्रहो विग्रहायते ।। ६/१२६

वेश्या की व्यथा का संकेत करने के लिये कवि ने शब्दों के साथ खिलवाड़ भी किया है। सन्तोष यह है कि ऐसे पद्य संख्या में अधिक नहीं है और न ही उनमें क्लिष्टता है। प्रस्तुत पद्यों में कुछ अक्षरों का लोप करके ही कोश्या की विरहावस्था का भान होता है।

इभयानोन्नतकुचा राजीवपाणिरीश्वरी ।
तथा शिखरदशनाऽमृतवाक् मनोरमा ।। ६/१२२
सति त्वयीदृशी स्वामिन्न भवं तु गते त्वयि ।
सप्तानामादिवर्णोप्यगमदेषां क्षणादपि ।। ६/१२३

अलंकार योजना--

यह कहना अत्युक्ति न होगा कि स्थूलभद्र गुणमाला काव्य की अलंकार योजना अप्रस्तुत विधान की नींव पर अवस्थित है। सूरचन्द्र के अप्रस्तुतों के भण्डार का ओर-छोर नहीं। उसकी उर्वर कल्पनाएँ, कुशल कलाकार (बनकर) की तरह निरन्तर अप्रस्तुतों का जाल बुनती जाती है। उसके अधिकांश अप्रस्तुत लोक व्यवहार, प्रकृति, परम्परा आदि जीवन के विविध पक्षों से गृहीत हैं। कुछ कवि के अनुभव तथा पर्यवेक्षण शक्ति से प्रसूत हुए हैं। अप्रस्तुतों का यह निपुण विधान कवि कल्पना को घोषित करता है तथा भावाभिव्यक्ति को सघन बनाता है। सूरचन्द्र के अप्रस्तुत उपमा, अतिशयोक्ति, रूपक आदि के रूप में प्रकट हुए हैं, किन्तु उन्होंने अधिकतर उत्प्रेक्षा का परिधान धारण किया है। उपर्युक्त विविध प्रसंगों में सूरचन्द्र की उत्प्रेक्षाओं के सौन्दर्य का यथेष्ट परिचय मिलता है।

छन्द--

स्थूलभद्र गुणमाला आलोच्य युग का एकमात्र ऐसा महाकाव्य है, जिसमें प्रारम्भ से अन्त तक, अनुष्टुप छन्द का ही प्रयोग हुआ है। सर्गान्त में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

छन्द परिवर्तन का नियम कवि को मान्य नहीं। हेमचन्द्र तथा विश्वनाथ ने अपने लक्षणों में कुछ ऐसे काव्यों का उल्लेख किया है, जिनकी रचना आद्यन्त एक ही छन्द में हुई थी। स्थूलभद्र गुणमाला उन्हीं की परम्परा में है।

स्थूलभद्र गुणमाला का महत्व इसके वर्णनों तक सीमित है, किन्तु ये इसके लिये घातक भी बने हैं। कवि की सन्तुलनहीनता ने उसकी कवित्वशक्ति का गला घोंट दिया है। सूरचन्द्र की काव्य प्रतिभा प्रशंसनीय है, परन्तु उसने अधिकतर उसका अनावश्यक क्षय किया है। सारा काव्य अप्रस्तुतों के असह्य भार से दबा पड़ा है।

चारित्र

●श्री राजमल जैन 'बेगस्या' जयपुर

भोगों की लालसा, मृगतृष्णा विशाल है,
भटक गया इसमें तो, जल का अकाल है।
शीघ्रातिशीघ्र निकल जा इस प्रदेश से,
चारित्र वन में जा, निर्मल जहां ताल है।।

चारित्र पारस है, छूले वो सोना है,
चारित्र खो दे तो रोना ही रोना है।
धन जाये, तन जाये कुछ भी नहीं खोता है,
चारित्र जाये तो खोना ही खोना है।

अग्नि से ताप पृथक होता न कभी कहीं,
चारित्रवान से चारित्र कभी नहीं।
अग्नि जले कहीं चाहे, चारित्र पले कहीं,
अपने स्वरूप को दोनों छले नहीं।।

मणि रत्न बिकते हैं, सदा ऊंची कीमत पर,
किन्तु परीक्षायें होती हैं, पग पग पर।
हीरे रत्न मणियों को जौहरी ही परखें हैं,
चारित्र पालक तो रहते हैं हर डग पर।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अहिंसा के तीन प्रमुख प्रचारक

● विद्याभूषण **श्री हीरालाल जैन** 'कौशल' न्यायतीर्थ,
अध्यक्ष जैन विद्वत्समिति, दिल्ली

ईसा से ६०० वर्ष पूर्व का समय विश्व के इतिहास में महान् क्रान्ति का युग था। विचारक लोग भौतिकवाद के चिन्तन क्षेत्र से निकलकर जीवन की समस्याओं तथा आत्मचिन्तन की ओर झुक रहे थे। विश्व में क्रान्ति की नई लहर सी आ रही थी। भारत में महावीर और बुद्ध के अतिरिक्त जैनग्रन्थों में उस समय ३६३ तथा बौद्ध-ग्रन्थ त्रिपिटक में ६२ मतों के प्रचलन का उल्लेख है। उनमें पूर्ण कश्यप, मक्खली गोशाल, अजित केशकम्बली, प्रकुथ कात्यायन तथा संजय वेलाट्ठि-पुत्त आदि के नाम प्रमुख हैं। भारत से बाहर चीन में कनफ्युशस और लाओत्से ईरान में जरथुस्त, यूनान में पैथोगोरस, फिलस्तीन में मूसा आदि अनेक प्रसिद्ध दार्शनिक और विचारक विश्व के विभिन्न भागों में अपने-अपने विचारों का प्रचार कर रहे थे। इन सबके उपदेश का रूप मानव के महत्व तथा सदाचार पर जोर देना था।

जिस प्रकार हम सुख और शान्ति चाहते हैं उसी प्रकार संसार के अन्य प्राणी भी चाहते हैं। यदि हमें सुई चुभाने से कष्ट का अनुभव होता है तो दूसरों को होना भी स्वाभाविक है। अतः दूसरों को मारना, सताना या कष्ट पहुंचाना हिंसा है—पाप है और उसका त्याग अहिंसा है। अहिंसा को सभी विचारकों ने 'अहिंसा परमोधर्मः' के रूप में माना है।

हमारे देश में महावीर स्वामी, गौतम बुद्ध और महात्मा गांधी के रूप में अहिंसा के तीन महान् समर्थक और प्रचारक हुये हैं। उन्होंने अपने ढंग से अहिंसा का प्रचार किया। महावीर और बुद्ध समकालीन थे। दोनों ने अपने जन्म से बिहार प्रदेश को सुशोभित किया। पहले इस प्रान्त का नाम मगध था। विद्वानों का विचार है कि इनके यत्र-तत्र बिहार के कारण ही इस प्रान्त का नाम बिहार पड़ गया। इन दोनों ने धार्मिक मान्यताओं में क्रान्ति की। तात्कालिक यज्ञादि क्रिया-काण्डो का विरोध किया, पारस्परिक भेद-भाव को मिटाकर मानवता के उत्थान का प्रयत्न किया और अहिंसा पर जोर दिया। फिर भी दोनों के दृष्टिकोण में पर्याप्त अन्तर है।

महावीर स्वामी :—

महावीर स्वामी जैन तीर्थंकरों की परम्परा में चौबीसवें (अन्तिम) तीर्थंकर थे। उनका जन्म ईसा से ५९९ वर्ष पूर्व चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को बिहार प्रान्त में वैशाली के पास क्षत्रिय कुण्ड ग्राम में गणतन्त्र के नेता सिद्धार्थ की पत्नी त्रिशलादेवी के उदर से हुआ था। इनका प्रारम्भिक नाम वर्द्धमान था। बाल्यकाल से ही यह अत्यन्त धीर-वीर गम्भीर और शांत प्रकृति थे। अनुपम वीरता तथा योग्यता के कारण आप वीर, अतिवीर, सन्मति, महावीर आदि अनेक नाम से विख्यात हुये। निरीह पशुओं का यज्ञों में होम, मानव—मानव में ऊंच नीच का भेद, नारियों की दुर्दशा तथा धर्म के नाम पर बढ़ता हुआ ढोंग और आडम्बर देख-देखकर साँसारिक के मोहमाया

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में आपका मन नहीं लगता था। आप घर में रहते हुये भी भोगों से विरक्त थे। अन्त में ३० वर्ष की आयु में गृह त्यागकर वन में तपस्या और आत्म-चिन्तन में लवलीन हो गये।

आवश्यकता होने पर आप दिन में एक बार आस-पास की बस्ती में आकर शुद्ध निर्दोष आहार ले लेते तथा पुनः वन में जाकर आत्मध्यान में लग जाते। इस बीच आपने सांसारिक दुःख तथा उनसे छूटने के उपाय, आत्मशक्ति तथा बन्धन-मुक्ति आदि विषयों पर अत्यन्त शांति और गम्भीरता से मनन और चिन्तन किया। महावीर ने ईसा से ५५७ वर्ष पूर्व ४२ वर्ष की आयु में काम क्रोध, राग-द्वैष मोहादि को पूर्णतया जीतकर पूर्ण-ज्ञान (केवल ज्ञान) प्राप्त किया। अपनी आत्मा से कर्मशत्रु का नाश करने के कारण 'अरिहन्त' और दूसरे शब्दों में कर्मों पर विजय प्राप्त करने के कारण 'जिन' कहलाये। आपने अपने उपदेश में उन्हीं सिद्धान्तों पर प्रकाश डाला जिनको उनके पूर्ववर्ती २३ तीर्थङ्कर अपने-अपने समय में बतला चुके थे।

उनका सबसे बड़ा उपदेश था कि सब जीव (आत्मायें) समान है। वे अपने-अपने पुण्य पाप के कारण भिन्न-भिन्न योनियों में भ्रमते तथा सांसारिक सुख-दुःख उठाते हैं पर वास्तव में उनमें कोई अन्तर नहीं। उन सब में समान शक्ति है तथा धीरे-धीरे आत्म विकास कर अन्त में सभी सांसारिक बन्धनों को काटकर पूर्ण स्वतन्त्रता (मोक्ष) प्राप्त कर सकते हैं। ३० वर्ष तक अहिंसा अपरिग्रह, अनेकान्त, कर्म सिद्धान्त आदि सर्व-प्राणि समानता के सुनिश्चित और उपयोगी सिद्धान्तों का प्रतिपादन कर अन्त में ७२ वर्ष की आयु में ईसा से ५२७ वर्ष पूर्व कार्तिक कृष्ण अमावस्या को प्रातः काल शरीर का त्यागकर निर्वाण प्राप्त किया।

महावीर अत्यन्त संयमी, कष्टसहिष्णु तथा गम्भीर विचारक थे। आपने अहिंसा का सूक्ष्म विश्लेषण किया। आपने कहा कि मारना सताना और दुःख देना तो हिंसा है ही ऐसा करने की प्रेरणा, अनुमोदन तथा विचार भी हिंसा हैं। मुनि तो हिंसा के मन-वचन-काय से पूर्णत्यागी होते ही हैं, गृहस्थ को भी किसी जीव की हिंसा का इरादा नहीं करना चाहिये। यह महापाप है। धीवर घर से यह विचार करके चलता है कि आज तालाब से बहुत सी मछलियां मारकर लाऊंगा। भले ही उसके जाल में एक भी मछली न फंसे फिर भी वह भारी हिंसा और पाप का भागी है।

हिंसक जानवरों के विषय में आपने बताया कि सांप, बिच्छू, शेर आदि को भी नहीं मारना चाहिये। वे तो बेचारे नासमझ है, मानव जैसे समझदार तो नहीं। हमें पापी के पाप से घृणा करना चाहिये उसके जीवन से नहीं। महावीर स्वामी ने बताया कि हिंसा और जीववध चाहे धर्म, बलिदान, भेंट, यज्ञ, शिकार या भोजन किसी भी काम के लिये क्यों न किया जाय, पाप है और अन्याय है। इसी का यह परिणाम था कि यज्ञों में मारे जाने वाले लाखों पशुओं के प्राण बच गये। वेदों के महान् विद्वान् लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने यह माना है कि यज्ञों से हिंसा दूर करने का श्रेय महावीर की अहिंसा को है।

महावीर के द्वारा हिंसा के विरुद्ध ऐसा वातावरण बना जिससे देश में मांसाहार के प्रति आदर भाव नहीं पाया जाता। यद्यपि आज करोड़ों व्यक्ति मांसाहार करते हैं पर वे स्वयं जानते हैं कि वे जो कुछ कर रहे हैं वह निन्द्य हैं, नैतिक अपराध है। यह महावीर का अनुपम प्रभाव है। उनका स्वभाव पिता जैसा था। वे दृढ़ सिद्धांतवादी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तथा अटल व्यक्ति थे। उन्होंने जीवन के किसी भी क्षेत्र में हिंसा के साथ कोई समझौता नहीं किया। उनकी अहिंसा वीरों की अहिंसा हैं। चन्द्रगुप्त मौर्य सम्प्रति, सम्राट खारबेल, सेनापति चामुंडराय, महाराज कुमारपाल आदि अनेक जैन वीर हुये जिन्होंने बड़ी वीरता से शत्रुओं के छक्के छुड़ाये और देश की रक्षा की।

गौतम बुद्ध :—

आपका जन्म बिहार प्रान्त में नैपाल की सीमा के समीप स्थित कपिलवस्तु के शाक्य वंशी राजा शुद्धोदन की रानी महाभग्या के गर्भ से हुआ था। जब रानी प्रसव के लिये अपने पीहर जा रहीं थीं तब मार्ग में ही लुम्बनी वन में इनका जन्म हो गया था। इनका बचपन का नाम सिद्धार्थ था। ये बचपन से ही गम्भीर और विचारशील थे तथा ज्योतिषियों ने साधु बन जाने की आशंका प्रकट की थी। अतः पिता ने सभी साधन महलों में ही एकत्रित कर दिये थे और सिद्धार्थ को बाहर नहीं जाने दिया जाता था। यौवनावस्था आने पर पिता ने यशोधरा नाम की एक अत्यन्त सुन्दरी राज-कुमारी के साथ इनका विवाह कर दिया और इनके राहुल नाम का एक पुत्र भी हुआ। अब पिता ने इनको राज्य देने का विचार किया तथा प्रजा और राज्य की स्थिति देखने के विचार से इनको बाहर घूमने फिरने की स्वतंत्रता मिल गई। अपने सारथी छन्दक के साथ रथ में नगर भ्रमण को जाते समय आपको, रोगी, वृद्ध और मृतक को देखकर संसार से वैराग्य हो गया जिससे वे किसी से बिना कुछ कहे रात को चुपचाप महल से निकलकर वन में चले गये और सन्यासी बन गये।

प्रारम्भ में वे भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा के जैन साधु पिहिताश्रव के शिष्य बने। मज्झिम निकाय आदि बौद्धग्रन्थों से स्पष्ट है कि प्रारम्भ में उन्होंने जो तपश्चरण का मार्ग अपनाया वह जैन मार्ग था। पर वह उनको कठिन लगा। अतः उसे त्याग कर मध्यम मार्ग का अनुसरण किया जो न गृहस्थों जैसा सरल था और न साधुओं जैसा कठिन। गया नगर के बाहर एक पीपल के वृक्ष के नीचे ध्यान में बैठे हुये उन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ जिससे वे बुद्ध (ज्ञानी) और तथागत (आदर्शरूप) कहलाये। उन्होंने सांसारिक लोगों को दुःख निवारणार्थ उचित तथा आवश्वक उपदेश दिया। उनके जीवन और सिद्धान्तों पर जैन धर्म का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। हां दार्शनिक और तात्विक उलझनों में उन्होंने उलझना नहीं चाहा और ऐसे प्रश्नों को अनुपयोगी समझते थे।

गौतम बुद्ध अहिंसा के प्रचारक थे। उनका स्वभाव माता जैसा ममतापूर्ण था। वे पर दुःख से इतने विकल-निकल हो जाते थे कि सिद्धान्तों को ढीला करने में भी संकोच न करते थे। उन्होंने अंगुलिमाल को अहिंसा से जीता, दीन दुःखियों को गले लगाया। वे यज्ञादि के भी विरोधी थे। पर दूसरों के द्वारा तैयार किये गये मांस-भक्षण को बौद्धधर्म में उचित माना गया। इसी का यह फल हैं कि अहिंसा के अनुयायी कहे जाने वाले श्रीलंका, बर्मा, चीन, जापान आदि सभी देश मांसाहारी हैं। कुछ समय पूर्व श्रीलंका की सरकार ने भारत से कुछ कसाई मांगे थे। क्योंकि वहाँ के लोग मांस खाते तो हैं पर तैयार करने वाले चाहिये। यह कैसी बिडम्बना है कि अहिंसक मांस खावे। फिर सर्व प्राणि समानता और सर्व समभाव कहां रहा।

डा० ल्यूमान ने महावीर और बुद्ध की तुलना करते हुये लिखा था कि "महावीर साधु ही नहीं तपस्वी भी थे। किन्तु बुद्ध को ज्ञान प्राप्त होने पर वे तपस्वी न रहे, मात्र साधु रह गये। बुद्ध ने अपना पुरुषार्थ जीवन धर्म पर लगाया। इस प्रकार महावीर का उद्देश्य आत्मधर्म हुआ तो बुद्ध का लोकधर्म।"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गौतमबुद्ध की अहिंसा का क्षेत्र मानव तक सीमित प्रतीत होता है। जब कि महावीर का प्राणि मात्र तक विशाल है। कहा भी है—

"आप तुले पयासु" जैनग्रंथ सूत्र कृतांग १, ११, ३ अर्थ-सभी प्राणियों को अपने समान समझो।

जई मज्झकारणा एए, हम्मंति सुबहूजिया।
नमे एयं तु निस्सेसं परलोगे भविएसेई॥
उत्तराध्ययन सूत्र २२, १४

अर्थ—यदि मेरे कारण से बहुत से जीवों का घात होता है तो यह इस लोक और परलोक के लिए किंचित भी श्रेयस्कर नहीं है।

फिर अहिंसक का मांसाहार से सम्बन्ध कैसे उचित ठहराया जा सकता है ?

गौतम बुद्ध ने ८० वर्ष की आयु में शरीर त्याग किया। उनके समय के विषय में इतिहासकारों में मतभेद है पर बहुमान्य आधुनिक मतानुसार उनका समय ईसा पूर्व ५६३ वर्ष से ४८३ वर्ष तक माना जाता है।

महात्मा गांधी—

वे आधुनिक युग की विभूति थे। आपका जन्म २ अक्टूबर सन्, १८६९ ई० को गुजरात प्रान्त की तत्कालीन पोरबन्दर रियासत के दीवान करमचन्द गांधी की पत्नी पुतलीबाई के गर्भ से हुआ था। इनका नाम मोहनदास था। घर में धार्मिक वातावरण के कारण बचपन से ही इन पर अच्छा प्रभाव पड़ा। भारत में शिक्षा प्राप्तकर बैरिस्टरी पास करने इंग्लैण्ड गये। वहां से वापिस आने पर तत्कालीन सुप्रसिद्ध आध्यात्मनेता शतावधानी श्रीमद्राजचन्द जैन के सम्पर्क में अहिंसा और सर्व समभाव का महत्व समझा। गांधी ने स्वयं अपने चरित्र में श्रीमद्राजचन्द के अनुपम प्रभाव को माना। २० वर्ष से भी अधिक समय तक गांधी जी ने दक्षिणी अफ्रीका में रहकर वहाँ भारतीयों के कष्ट निवारण के लिए अहिंसा के प्रयोग किये भारत। आने पर धीरे-धीरे देश के स्वतन्त्रता–आन्दोलन की डोर संभाली और अहिंसा द्वारा देश में नवचेतना जाग्रत करते हुये अन्त में सन् १९४७ में भारत को स्वतन्त्र कराया। ३० जनवरी १९४८ को देहली में प्रार्थना सभा में जाते समय नाथूलाल गोडसे की गोली से आपका स्वर्गवास हो गया।

गांधी के पूर्व अहिंसा केवल धर्म और सम्मान की वस्तु रह गई थी और उसका सम्बन्ध केवल परलोक से समझा जाता था। कुछ लोग अहिंसा को भारत की परतन्त्रता का कारण मानते थे। गांधीजी ने इस भ्रांति को हटाया और महावीर की भांति उसे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उपयोगी बनाया। उनका सत्याग्रह अहिंसा पर आधारित था, वे एक भी अंग्रेज की हत्या करके स्वतन्त्रता नहीं चाहते थे। भारत के अतिरिक्त अन्य कई देशों ने भी अहिंसा से ही स्वतन्त्रता प्राप्त की और विश्व शाँति के कार्य में भी उससे सहायता मिली। उन्होंने सभी क्षेत्रों में अहिंसा का आग्रह किया तथा जीवन भर उस पर चले। वे दुबले–पुतले होने पर भी अहिंसा के बल पर निर्भय थे।

पर गांधी जी की अहिंसा को देश ने राजनैतिक अस्त्र के रूप में अपनाया। वह धर्म नहीं बन सकी। नेता मांसाहारी ही बने रहे तथा देश के खानपान में भी सुधार नहीं हुआ।

क्या ही अच्छा हो कि हम अहिंसा के वास्तविक रूप को पहिचानें और उसके प्रत्येक पहलू को समझकर उससे सच्चा प्रकाश प्राप्त कर अपने जीवन और विश्व को आलोकित करें।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हिन्दी वाङ्मय में तीर्थंकर महावीर

● डा० लक्ष्मीनारायण दुबे
सागर विश्वविद्यालय, सागर, [म० प्र०]

वीरगाथा काल में तीर्थङ्कर महावीर

हिन्दी साहित्य के वीर गाथाकाल (सम्वत् १०५०–सम्वत् १३७५) में अनेक रासो काव्य लिखे गये। तीर्थङ्कर महावीर पर सर्वप्रथम रास सम्वत् १३०७ में उपाध्याय अभय तिलक ने 'महावीर रास' के नाम से लिखा। इसका प्रकाशन 'जैन गुर्जर' ग्रन्थ में हो चुका है। यह ऐतिहासिक महत्व का छोटा किन्तु सुन्दर काव्य है। सन् १२०० के लगभग आसगु कवि ने जालौर में पैंतीस छंदों तथा करुण रस से परिप्लावित एक लघु खण्ड काव्य 'चंदन बाला रास' की रचना की थी जिसमें महावीर का भी चरित्र परिगणित है।

वीरगाथा काल के समस्त वाङ्मय का संबंध राजस्थान से रहा है। राजस्थानी भाषा में तेरहवीं शताब्दी से ही महावीर स्वामी पर रचनाएं मिलने लगती हैं परन्तु उनमें से अनेक अपभ्रंश से विशेष रूप से प्रभावित हैं। इस प्रकार की महावीर बोलिका, महावीर स्तोत, कलश, जन्माभिषेक आदि की अधिकांश रचनाएं तेरहवीं तथा चौदहवीं शताब्दी में मिलती हैं।

पन्द्रहवीं शताब्दी से महावीर सम्बन्धी अनेक स्तवन-स्तोत्र आदि राजस्थानी में मिलने लगते हैं। श्रावण लखमण का 'महावीर चरित्र चौपाई,' समरचंद का 'महावीर स्तवन', सकलचन्द्र उपाध्याय के 'वीर वर्द्धमान जिनबेलि,' 'महावीर हींच' तथा 'वीरजिन-स्तवन,' हंसराज का 'पंच कल्याण स्तवन-ढाल' आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। सत्रहवीं शताब्दी की एक महत्वपूर्ण कृति 'महावीर विवाह-ला' या 'महावीर धवल' है। इसी शताब्दी के दो राजस्थानी कवियों लाल विजय और देवीदास ने महावीर पर विशाल स्तवन-काव्य लिखे थे। समय सुन्दर का 'वीर स्तवन' काव्य प्रकाशित हो चुका है।

जयपुर में विशाल जैन-साहित्य के लेखन की सुदीर्घ तथा सुपुष्ट परम्परा रही है। बुधजन ने 'वर्द्धमान पुराण' का अनुवाद किया। खुशालचंद काला ने 'उत्तर पुराण' का पद्यानुवाद किया जिसमें अन्य तीर्थङ्करों के साथ अंतिम तीर्थङ्कर महावीर का जीवन-चरित्र भी वर्णित है।

राजस्थान की कवयित्रियों में जैन कवयित्री सती जड़ावजी (सम्वत् १८९८–१९७२) का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। उनके काव्य 'चौबीसी' में नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर स्वामी को ही विशेष रूप से अपना गेय विषय बनाया गया है।

राजस्थान के लोक सपना-साहित्य में रानी त्रिशला के चौदह स्वप्नों की चर्चा आयी है। एक अन्य सपना गीत में ऋषभदेव जी के केसर, नेमिनाथ जी के फूल, पार्श्वनाथ जी के केवड़ा, महावीर स्वामी के नारियल, गौतम स्वामी के सुपारी, शांतिनाथ के खार में चढ़ाकर उनकी उपासना करने की बात अत्यन्त सुन्दर रूप में कही गयी है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भक्तिकाल में तीर्थङ्कर महावीर :

भक्तिकाल (सम्वत् १३१५ से १७०९) में अनेक जैन कवियों के पद-साहित्य में महावीर स्वामी की स्तुति गायी गयी है। बनारसीदास, पाण्डेय रूपचन्द, जगजीवन, भैया भगवतीदास, भूधरदास, द्यानतराय, दौलतराम कासलीवाल, टोडरमल, जयचंद छाबड़ा, सदासुख कासलीवाल आदि यद्यपि भक्तिकाल की सीमा-रेखाओं को अतिक्रमित कर जाते हैं परन्तु उनका मूल काव्य-विषय भक्ति ही था इसलिए वे भक्तिधारा के सृष्टा के रूप में यहां चिरवन्दनीय हैं। इन सबने चौबीस तीर्थङ्करों के अन्तर्गत अंतिम तीर्थङ्कर महावीर का स्तवन किया है और श्रेष्ठ पद-साहित्य की रचना की है। डा० कस्तूरचंद कासलीवाल द्वारा सम्पादित ग्रंथ 'प्रशस्ति-संग्रह' तथा 'हिन्दी पद संग्रह' में महावीर विषयक अनेक पद मिलते हैं।

सम्वत् १६०० के आसपास पद्म कवि ने 'महावीर' काव्य लिखा था जो कि अभी तक अप्रकाशित है।

रीतिकाल में तीर्थङ्कर महावीर :

रीतिकाल (सम्वत् १७०० से १९०० तक) में यद्यपि पचास-साठ जैन कवि हुए परन्तु इस काल में राजुल-नेमिनाथ की कथा को सर्वाधिक लोकप्रियता मिली। इस काल के प्रसिद्ध बेलि-काव्य में 'वीर चरित्र बेलि' (ज्ञान उद्योत) उल्लेखनीय है। विवाहलो काव्य में 'महावीर विवाह लो' चर्चित है। 'महावीर जी को नखशिख' (मान १७६० के लगभग) प्रसिद्ध नख-शिख काव्य है।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में ग्वालियर निवासी पण्डित भागचंद यद्यपि हिन्दी के कवि और मर्मज्ञ विद्वान् थे परन्तु उन्होंने संस्कृत में 'महावीराष्टक' लिखा था।

इसी काल में ही नवलराय खण्डेलवाल ने 'वर्द्धमान चरित्र' लिखा।

आधुनिक काल में तीर्थङ्कर महावीर :

आधुनिक काल में श्रमण तीर्थङ्कर महावीर को लेकर शताधिक रचनाएं लिखी गयी। हम उनका अनुशीलन निम्न उप-शीर्षकों के अन्तर्गत कर सकते हैं—

(क) प्रबंध काव्यों में तीर्थङ्कर महावीर :

सम्पूर्ण हिन्दी वाङ्मय में भगवान महावीर स्वामी के जीवन को मुख्य प्रतिपाद्य विषय बनाकर निम्नलिखित प्रबंध काव्य लिखे गये—

१. महाकाव्य :

(१) 'वर्द्धमान पुराण'—कविवर नवलशाह (सम्वत् १८२५)।

(२) 'वर्द्धमान'—अनूप शर्मा (सन् १९५१)।

(३) *'वीरायण'—मूलदास मोहनदास नीमावत* (सन् १९५२)।

(४) 'परम ज्योति महावीर'—धन्यकुमार जैन 'सुधेश' (सन् १९६१)।

(५) 'तीर्थङ्कर भगवान् महावीर'—वीरेन्द्र कुमार जैन (सम्वत् २०१६)।

(६) 'तीर्थङ्कर श्री वर्द्धमान'—यति मोतीहंस जी (सम्वत् २०१६)।

(७) 'महावीर'—श्री हरिजी (अप्रकाशित)।

(८) 'विश्वज्योति महावीर'—श्री गणेश मुनि (सन् १९७५)।

(९) 'वीरायण'—रघुवीर शरण 'मित्र' (सन् १९७५)।

(१०) 'तीर्थङ्कर महावीर'—डा० छैलबिहारी गुप्त 'राकेश' (सन् १९७५)।

२. खण्ड काव्य :

(१) 'विराग'—धन्यकुमार जैन 'सुधेश' (सम्वत् २००७)।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३. स्फुट काव्य :

(१) 'वीरायण'–धन्यकुमार जैन 'सुधेश' (सन् १९५२)

(२) भगवान् महावीर–आचार्य विद्याचन्द्र सूरि।

(३) भगवान् महावीर–पन्नालाल जैन, दिल्ली।

(४) महावीर–कमलकुमार 'कुमुद', खुरई।

(५) महावीर–वीरेन्द्र कुमार जैन।

(६) हे निर्ग्रन्थ–लक्ष्मणसिंह चौहान 'निर्मम', सागर।

(७) महावीर चालीसा–मुनि श्री कन्हैयालाल।

(८) महावीर–दोहावली–मुनि श्री नवरत्नमल।

महाकाव्यों में तीर्थङ्कर महावीर :

हिन्दी में भगवान् महावीर स्वामी पर प्रथम महाकाव्य बुन्देलखण्ड के कविवर नवलशाह ने लिखा था। नवलशाह और उनके पुत्र ने मिलकर आचार्य सकलकीर्ति के वर्धमान-पुराण के आधार पर अपने महाकाव्य की रचना की थी। उस समय महाराज छत्रसाल के पौत्र और रामसिंह के पुत्र हिन्दुपति का शासन था। इनके पिता का नाम सिंघई देवाराय और माता का नाम प्रानमती था। प्रस्तुत ग्रन्थ में सोलह अधिकार मिलते हैं। इसके अनुशीलन से नवलशाह की काव्य-प्रतिभा और सिद्धान्त-ज्ञान का सम्यक् बोध होता है। वे कवि होने के अतिरिक्त चारों अनुयोगों के निष्णात पण्डित थे। ग्रन्थ के अंत में प्राप्त प्रशस्ति के अनुसार वे गोलापूर्व जाति के थे और उनका बैंक चंदेरिया और गोत्र बड़ था। इसके सम्पादन, पाठालोचन तथा प्रस्तुतीकरण का श्रेय सागर के डा० पन्नालाल साहित्याचार्य को है। पहले यह ग्रन्थ सूरत से प्रकाशित हुआ था परन्तु हाल ही में फिर से हिन्दी अनुवाद-सहित सचित्र रूप में आचार्य देशभूषण के 'भगवान् महावीर और उनका तत्व-दर्शन' नामक विशाल ग्रन्थ में प्रकाशित हुआ है।

जैनेतर कवियों में अनूप शर्मा और मूलदास मोहनदास नीमावत के महाकाव्यों का विशेष महत्व है। हिन्दी साहित्य के इतिहास तथा तत्सम्बन्धित शोध प्रबंधों में सिर्फ अनूप शर्मा के 'वर्द्धमान' की ही चर्चा मिलती है—शेष कृतियों का नामोल्लेख भी नहीं मिलता।

स्थानकवासी, मुनिश्री की प्रेरणा से सौराष्ट्र के कवि मूलदास ने अनेक वर्षों के अथक परिश्रम एवं साधना से 'रामचरितमानस' की शैली पर 'वीरायण' नामक महाकाव्य लिखा परन्तु इसका जैन-समाज में विशेष प्रचार-प्रसार नहीं हो सका।

धन्यकुमार जैन 'सुधेश' का 'परम ज्योति महावीर' इन्दौर की फूलचंद जवरचंद गोधा जैन ग्रन्थमाला से प्रकाशित हुआ है।

वीरेन्द्र कुमार जैन के 'तीर्थङ्कर भगवान् महावीर' में आठ सर्गों में काव्य विभक्त है। इसके दो सचित्र संस्करण श्री अखिल विश्व जैन मिशन, अलीगंज से प्रकाशित हो चुके हैं।

श्वेताम्बर यति मोतीहंस के 'तीर्थङ्कर महावीर' में एकादश सर्ग हैं परन्तु सम्प्रति सिर्फ प्रथम दो सर्ग प्रकाशित हो पाये हैं। प्रथम सर्ग च्यवन कल्याणक ७५ पद्यों तथा द्वितीय सर्ग जन्म कल्याण ११५ पद्यों का है। इसका शुरू का अंश श्री जैन श्वेताम्बर संघ, भोपाल से प्रकाशित हुआ है। कवि ने पण्डित कल्याण विजय के 'श्रमण महावीर' को अपनी रचना का आधार बनाया है।

ललितपुर के कवि हरिजी का महाकाव्य न तो पूर्ण है और न प्रकाशित ही।

राजस्थान के श्री गणेश मुनि शास्त्री का 'विश्वज्योति महावीर' प्रकाशित हो चुका है।

हिन्दी के जाने-पहिचाने रससिद्ध कवि रघुवीर-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शरण 'मित्र' ने २५०० वें महावीर निर्वाणोत्सव की एक अपूर्व स्मृति तथा सम्पूर्ति के रूप में, भगवान् महावीर के मार्मिक जीवन-प्रसंगों पर अप्रतिम महाकाव्य 'वीरायण' लिखा है। इसे मेरठ की वीर निर्वाण भारती ने प्रकाशित किया है। कवि ने इस काव्य को अथक परिश्रम से भगवान् के जन्म, तप और निर्वाण-स्थलों की खोजपूर्ण यात्राओं से प्राप्त तथ्यों, साक्ष्यों और प्रमाणों के आधार पर तैयार किया है।

हाल ही में उज्जैन के डा० छैल बिहारी गुप्त 'राकेश' ने महावीर पर एक महाकाव्य लिखा है जो कि अभी अप्रकाशित है।

इस प्रकार भगवान् महावीर पर हिन्दी में लिखित दस महाकाव्यों का पता चलता है।

खण्ड काव्य में तीर्थङ्कर महावीर :

धन्यकुमार जैन 'सुधेश' का 'विराग' नामक खण्ड काव्य पांच सर्गों का है जिसे भारतीय दिगम्बर जैन संघ, मथुरा ने प्रकाशित किया।

स्फुट काव्य में तीर्थङ्कर महावीर :

हिन्दी वाङ्मय में महावीर को लेकर लिखे गये स्फुट काव्य की सूची बनाना दुष्कर कार्य है।

धन्यकुमार जैन 'सुधेश' ने अपने लघु काव्य 'वीरायण' को रावेश्याम-रामायण की तर्ज पर बनाया और उसके दो संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं।

श्वेताम्बर जैनाचार्य विद्याचन्द्र सूरि के सचित्र काव्य में २५१ पद्य हैं और इसे शीघ्र ही प्रकाशन का आलोक मिलने वाला है।

पन्नालाल जैन का महावीर सम्बन्धी काव्य भी सचित्र रूप में प्रकाशित हो चुका है।

कमलकुमार 'कुमुद' के काव्य में २४६ पद्य हैं जिसे दिल्ली के पन्नालाल जैन आर्किटेक्ट ने हाल ही में प्रकाशित किया है।

वीरेन्द्रकुमार जैन की महावीर पर स्फुट काव्य की लघु पुस्तिका है।

लक्ष्मणसिंह चौहान 'निर्मम' ने मुक्त छंद में महावीर पर लघु पुस्तिका लिखी है।

मुनि श्री कन्हैयालाल का 'महावीर-चालीसा' 'जैन भारती' के 'भगवान् महावीर २५०० वां निर्वाण महोत्सव-विशेषांक' में प्रकाशित हुआ है।

इस प्रकार मुनि श्री नवरत्नमल की 'दोहावली' भी इसी विशेषांक में प्रकाशित हुई है जिसे मोतीलाल कोठारी ने सम्पादित किया है।

महावीर-काव्य को जैन साध्वियों की देन :

जैन साध्वियों ने महावीर पर सुन्दर और सरस रचनाएं हिन्दी को प्रदान की हैं। उनमें साध्वी श्री आनन्द, साध्वी श्री जतन कुमारी, साध्वी श्री कानकुमारी, साध्वी श्री विनयवती, साध्वी श्री भीखां, साध्वी श्री कला श्री आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इन्होंने स्फुट काव्य में महावीर स्वामी का स्तवन किया है। साध्वी श्री अणिमाश्री की महावीर-गीतिका में वन्दे महावीरम् का स्वर अनुकरणीय है।

महावीर-काव्य को मुस्लिम कवियों की देन :

हिन्दी में कतिपय मुस्लिम कवियों ने महावीर-साहित्य के सृजन तथा उन्नयन में विशेष योगदान दिया है। तीर्थङ्कर महावीर के सन्दर्भ में नईम के तीन नवगीत द्रष्टव्य हैं। नईम ने नवीनतम काव्य विधा नवगीत के माध्यम से महावीर को वर्तमान सन्दर्भों में अनुस्यूत करने का सफल प्रयास किया है।

राजस्थान के एक कृषक-कवि बशीर अहमद 'मयूख' ने श्रमण-सूक्तों के अनुवाद कर 'अर्हत' नामक ग्रंथ प्रकाशित किया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महावीर-साहित्य के निर्माण में डा० निजामुद्दीन का नाम भी अविस्मरणीय है। उनकी पुस्तक 'जितेन्द्र महावीर' सरल सुबोध भाषा तथा सीधी-सुलझी शैली में लिखी गयी है।

बोध-साहित्य :

हाल ही में हिन्दी में भगवान् महावीर स्वामी के तत्व-चिंतन को परोक्षरूप में छोटी-छोटी कविताओं और लघु आख्यायिकाओं में सफलता तथा सार्थकतापूर्वक पिरोया गया है। इस दिशा में दिनकर सोनवलकर, वीरेन्द्रकुमार जैन, नईम, नेमीचंद पटोरिया, कन्हैयालाल सेठिया आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

विचार-मासिक 'तीर्थङ्कर' (इन्दौर) बोध-साहित्य को हिन्दी में लाने का सर्वप्रथम पुरोधा है।

मिनी कविताएं :

तीर्थङ्कर महावीर के व्यक्तित्व और उनके सिद्धांतों को मिनी कविताओं के माध्यम से आज के संघर्षरत, व्यस्त, आकुल-व्याकुल तथा संत्रस्त मानव के समक्ष उपस्थित किया गया है। मुनि रूपचन्द्र, दिनकर सोनवलकर, जयकुमार 'जलज,' नईम इत्यादि ने इस दिशा में सार्थक कविताएं लिखी हैं। मुनि रूपचन्द्र के कविता संग्रह 'भीड़ भरी आँखें' (सन् १९७५) की कविताओं में युगीन जीवन की विसंगतियों का यथार्थ चित्रण मिलता है और पुनः मानव-मूल्यों की प्राण-प्रतिष्ठा की गयी है। इसकी अनेक मिनी कविताएं हृदय को कचोटती हैं और अपना अमिट प्रभाव छोड़ देती हैं। इनमें कहीं अध्यात्म की चर्चा है तो कहीं इन्सान की दुर्बलताओं की। कवि की दृष्टि अत्यन्त पैनी और कहीं-कहीं व्यंग्यमयी है।

गीति-काव्य में तीर्थङ्कर महावीर :

हिन्दी के सर्वथा नए और ताजे साहित्य में महावीर को गीति काव्य के प्रचुर प्रसाधनों से सुरुचिपूर्वक अलंकृत किया गया है। गीतकार राम भारद्वाज की पुस्तक 'महावीर-गीतिका' एक महत्वपूर्ण कृति है। इसमें मार्मिक गीतों में निबद्ध भगवान् महावीर के जीवन-प्रसंग चित्रित किये गये हैं। यह गीति काव्य काव्य की शोभा-श्री और लोक गीतों की सहज-चारुता से सर्वथा सम्पन्न है। गीतों की क्रमबद्धता में एक सम्पूर्ण अभिनव कार्यक्रमों का प्रस्तुतीकरण मिलता है। यह हिन्दी में एक सर्वथा नूतन प्रयास है।

जैन साध्वियों ने भी महावीर को अपने सुमधुर और ललित गीतों में पिरोया है। साध्वी श्री अणिमा श्री की 'महावीर-गीतिका' का उल्लेख उपर हो चुका है। मुनि श्रीधनराज (प्रथम) का राजस्थानी में 'भगवान् महावीर री जीवन-झांकी' गीत अतीव मधुर है। अणुव्रत परामर्शक मुनि श्रीनगराज डी० लिट्० ने अपने गीत-संग्रह 'मंजिल की ओर' में वर्द्धमान स्तुति, वीर जिनेश्वर और महावीर जयंती नामक तीन गीत लोक धुनों पर लिखे हैं।

मुक्तक काव्य में तीर्थङ्कर महावीर :

तीर्थङ्कर महावीर के जीवन प्रसंगों तथा प्रभाव सूत्रों को लेकर हिन्दी में बड़े पैने, सुबोध तथा मर्मस्पर्शी मुक्तक लिखे गये हैं। मुनि श्रीरूपचन्द्र, साध्वी श्री भीखां, मुनि श्री चौथमल आदि के मुक्तक प्रसिद्ध हैं।

मुनि चौथमल के महावीर-विषयक मुक्तकों को बड़ी लोकप्रियता मिली है।

अनुवाद-साहित्य में तीर्थंकर महावीर :

कतिपय कविमनीषियों ने तीर्थङ्कर महावीर की वाणी को पद्यानुवाद रूप में प्रस्तुत किया है। भगवान् महावीर की अमृत वाणी को हिन्दी पद्यानुवाद में प्रस्तुत करने का सफल प्रयास मुनि श्री मोहनलाल 'शार्दूल' ने किया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मुनि श्री मांगीलाल 'मुकुल' ने उत्तराध्ययन सूत्र के दसवें अध्ययन का सरस पद्यानुवाद प्रस्तुत किया है जिसका शीर्षक है : भगवान् महावीर की अंतिम वाणी ।

वैद्य चुन्नीलाल धामी ने गुजराती भाषा में तीर्थङ्कर महावीर पर एक उपन्यास लिखा है जिसका अनुवाद हिन्दी में हो चुका है ।

संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश के अनेक ग्रन्थों का हिन्दी अनुवाद हो चुका है ।

गद्य-वाङ्मय में तीर्थंकर महावीर :

काव्य-साहित्य की भांति हिन्दी के गद्य-वाङ्मय में भी तीर्थङ्कर महावीर की यशोगाथा पुनीत रूप में विराजमान है । प्रायः समस्त गद्य की विधाओं में महावीर पर रचनाएं मिलती हैं जिनका आकलन निम्नलिखित उपशीर्षकों के अन्तर्गत किया जा रहा है :

(क) नाटकों में तीर्थंकर महावीर :

भगवान् महावीर को लेकर नाटक के निम्न भेदों में रचनाएं लिखी गयी हैं ।

संगीत नाटिका : (१) ज्योतिपुरुष महावीर : ध्यानसिंह तोमर 'राजा' (२) जयंती जोशी-प्रेम-सौरभ : संगीत नाटिका ।

रेडियो रूपक—(३) मान स्तम्भः कुंथा जैन, दिल्ली ।

छंद-नृत्य-नाटिका—(४) दिव्य ध्वनि : कुंथा जैन ।

मंच नाटक—(५) वीतराग : कुंथा जैन । (६) आत्मजयी महावीर (मूल उपन्यासकार वीरेन्द्र कुमार जैन के उपन्यास 'अनुत्तर योगी' का मंचीय नाटक-रूप)—डा० शीतला मिश्र ।

साहित्यिक नाटक—(७) वर्द्धमान महावीर—ब्रजकिशोरनारायण । (८) महासती चंदनबाला—महेन्द्र जैन ।

'वर्द्धमान-रूपायन' के रूप में कुंथा जैन ने उपरिलिखित तीन रूपक प्रस्तुत किये हैं । ये विभिन्न महोत्सवों पर मंच पर खेले जाने योग्य नाट्य रूपक हैं जिनका सम्बन्ध भगवान् महावीर के अलौकिक जीवन, उनके उपदेश तथा सिद्धान्तों के विश्वव्यापी प्रभाव से हैं । ये कथ्य तथा शैली-शिल्प में सर्वथा नूतन हैं । इनमें रंग-सज्जा और प्रकाश-छाया के प्रयोगों की चमत्कारी भूमिका का निर्वाह किया गया है । इनमें कुंथा जैन के काव्य-सौष्ठव का निखार भी दृष्टव्य है ।

उपरिलिखित पुस्तक (सन् १९७५) महावीर निर्वाण-शताब्दी-वर्ष की एक उल्लेखनीय कृति है । अपनी शैली, शिल्प तथा विषय की दृष्टि से इस पुस्तक को पृथक् से निरखा-परखा जा सकता है । विदुषी लेखिका की भाषा परिमार्जित तथा शैली सधी हुई है । तीर्थङ्कर महावीर स्वामी के जीवन की दिव्यता, उनकी कठोर तपस्या-साधना, वैज्ञानिक दृष्टिकोण एवं चिरंतन परहित के आलोक से मंडित प्रेरक उपदेशों को इस पुस्तक में परम अनुभूतिमयी एवं आत्मीय अभिव्यंजना मिली है ।

उपरिलिखित तीनों नाट्य रचनाओं में 'दिव्य ध्वनि छंद' (संगीत नृत्य-नाटिका) का सर्वोपरि स्थान है । इसमें स्वामी महावीर की जीवन साधना तथा उनके उपदेशों को चिरंतन महत्व तथा सर्वयुगीन भावना के साथ अत्यन्त कलात्मक रूप में सम्प्रक्त किया गया है । यह गागर में सागर है । इसका प्रथम दृश्य उदात्त तथा महान् है ।

उपर्युक्त पुस्तक की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण और सारगर्भित है । उसमें बौद्धिकता तथा आधुनिकता से समन्वित अनेक प्रकरणों की विवेचना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की गयी है। श्रीमती कुंथा जैन के शब्दों में ही हम कह सकते हैं : इसलिए ये रचनाएं अपनी खूबी और खामियों सहित यदि पठनीय और मंचीय दृष्टि से सफल हुई तो समझूंगी कि भगवान् के चरणों में प्रेषित श्रद्धांजलि स्वीकृत हुई। डा० महेन्द्र भानावत के पुतली एकांकी 'चंदना की वंदना' में छः दृश्य है और महावीर के नारी-उद्धार के प्रसंग को भास्वर बनाया गया है।

उपन्यास-साहित्य में तीर्थङ्कर महावीर :

महावीर स्वामी को लेकर निम्नलिखित उपन्यास लिखे गये हैं—

(१) अनुत्तर योगी : तीर्थङ्कर महावीर—(अ) प्रथम खण्ड—वैशाली का विद्रोही राजकुमार (ब) द्वितीय खण्ड—असिधारापथ का यात्री—वीरेन्द्र कुमार जैन (सन् १९७४ तथा १९७५ ई०)।

(२) चितेरों के महावीर—डा० प्रेमसुख जैन (सन् १९७५)।

(३) बंधन टूटे-रूपान्तरकार : मुनि दुलहराज।

(४) आत्मजयी—महावीर कोटिया।

वीरेन्द्र कुमार जैन का महावीर पर लिखित 'अनुत्तर योगी' हिन्दी तो क्या भारतीय भाषाओं का एक श्रेष्ठ उपन्यास है। उसकी भूमिका अत्यन्त प्रखर तथा विचारोत्तेजक है। उसमें अनेक महत्व-पूर्ण प्रश्न उठाए गए हैं और उपन्यासकार ने अपनी मान्यताओं को बेलाग—दो टूक रूप में हमारे समक्ष उपस्थित कर दिया है। उन्होंने उसमें इस कथा के जन्म की कलाकार की भूमिका को सर्वथा स्पष्ट किया है।

महावीर के जीवन और उपदेशों को सरल तथा सुबोध शैली में सजाया गया है। इसमें बत्तीस स्वतंत्र लेख भी मिलते हैं। इसमें तटस्थ वृत्ति का सम्यक् निर्वाह मिलता है। इस कृति में नई पीढ़ी की प्रभावशाली प्रतिनिधित्व भावना मिलती है। यह पुरस्कृत भी हो चुकी है।

गुजराती भाषा में वैद्य चुन्नीलाल धामी ने 'बंधन टूटे' नामक उपन्यास लिखा था जिसका सफल हिन्दी रूपान्तरण मुनि दुलह राज ने किया है। इसके तीन भाग और कुल ७५९ पृष्ठ हैं। इसमें भगवान् पार्श्वनाथ और तीर्थङ्कर महावीर स्वामी के युगीन इतिहास, मंत्रतंत्र के प्राधान्य, नगरवधू की परिपाटी और महासती चंदन बाला की रोचक गाथा का सरस विश्लेषण है।

हिन्दी कथा-साहित्य में तीर्थङ्कर महावीर :

भगवान् महावीर के जीवन तथा सिद्धान्तों को लेकर आजकल हिन्दी में अनेक छोटी-छोटी कहानियां लिखी जा रही हैं जिन्हें 'बोध कथा' कहा जाता है। इनको प्रकाश में लाने का मुख्य श्रेय मासिक 'तीर्थङ्कर' को है। कतिपय प्रमुख कहानियां इस प्रकार हैं—

(१) वर्द्धमान के जीवन में सेवा भाव—रति लाल मफाभाई शाह। (२) जन्म-जन्मान्तरों का चक्र और जीव-भ्रमण यात्रा-आचार्य आनन्द ऋषि। (३) स्वप्न, सिद्धि और सूर्योदय—डा० रांगेय राघव। (४) कैशोर्य के सोपानों पर—दीनदयाल 'कुन्दन'। (५) अभिनिष्क्रमण—श्रीचंद सुराणा 'सरस'। (६) परिषह-विजेता—पुरुषोत्तम छंगाणी। (७) परिषह-विजेता-देवेन्द्रमुनि शास्त्री। (८) *अविचल महावीर-चंदनमल 'चांद'*। (९) *दिव्यदान*-राजेन्द्र नगावत। (१०) उमेशमुनि 'अनु-गर्भस्थ महावीर' (११) अगरचंद नाहटा—भगवान् महावीर के स्थिरीकरण का एक भव्य प्रसंग। महान् चिंतक जैनेन्द्र कुमार ने अपनी कतिपय कहानियों में जैन तत्व तथा महावीर को प्रथम बार आधुनिक आलोक में उपस्थित किया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपरिलिखित स्फुट कहानियों के अतिरिक्त निम्नलिखित कथा-संकलन भी महत्वपूर्ण हैं —

(१) महावीर के पावन प्रसंग-श्री रमेश मुनि। (२) धार्मिक कहानियाँ–आचार्य श्री हस्तीमल जी महाराज (३) जैन कहानियां भाग १ से २५–मुनि श्री महेन्द्र कुमार जी प्रथम (४) जैन कथा माला–भाग १ से ६ : श्री मधुकर मुनि (५) लो कहानी सुनो, *लो कथा कहदूं–श्री भगवती मुनि 'निर्मल'* (६) कथा कल्पतरु मुनि श्री छत्रमल।

आत्मकथा तथा संस्मरण–साहित्य में तीर्थङ्कर महावीर :

श्री सत्य भक्त ने 'महावीर का अन्तस्थल' नाम से आत्मकथा लिखी और मुनि श्री महेन्द्रकुमार 'कमल' ने 'भगवान् महावीर के प्रेरक संस्मरण' पद्य में लिखे।

इसी प्रकार तीर्थङ्कर महावीर को लेकर हिन्दी में अनेक गद्य-काव्य तथा पद्य-गीत भी लिखे गये हैं।

गद्य-काव्य में तीर्थङ्कर महावीर : सोहनराज कोठारी–'महावीर : मेरी अनुभूतियों में'।

समीक्षा-साहित्य में तीर्थङ्कर महावीर–

सृजनात्मक अथवा ललित साहित्य के पश्चात् समीक्षात्मक साहित्य आता है जिसमें महावीर की जीवनी, उनके जीवन दर्शन का सम्यक् परिचय और समीक्षादि की प्राप्ति होती है। हिन्दी में भगवान् महावीर को लेकर शताधिक ग्रन्थ लिखे गये हैं परन्तु उनमें से प्रमुख तथा प्रतिष्ठित ग्रन्थों की सूची अधोलिखित रूप में है—

(१) स्वर्गीय डा० नेमिचन्द्र शास्त्री ज्योतिषाचार्य-तीर्थङ्कर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा (चार खण्ड)। (२) स्वामी सत्यभक्त–चतुर महावीर। (३) मुनि जयंत विजय मधुकर-महावीर ने क्या कहा ? (४) डा० हुकुमचन्द भारिल्ल–तीर्थङ्कर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ। (५) डा० नरेन्द्र भानावत द्वारा सम्पादित : भगवान् महावीर : आधुनिक सन्दर्भ में। (६) श्री देवेन्द्र मुनि-भगवान् महावीर : एक अनुशीलन। (७) मुनि श्री नथमल-भगवान् महावीर की साधना का रहस्य, श्रमण महावीर। (८) डा० शांता भानावत–महावीर री-ओलखाण। (९) मुनि श्री नगराज-महावीर और बुद्ध की समसामयिकता। (१०) आचार्य श्री तुलसी-भगवान् महावीर। (११) आचार्य श्री रजनीश-महावीर : मेरी दृष्टि में। (१२) जैन विद्या मनीषी श्री श्रीचंद रामपुरिया-तीर्थङ्कर वर्द्धमान। (१३) मुनि कल्याण विजयजी-श्रमण भगवान् महावीर। (१४) उपाध्याय अमर मुनि-महावीर सिद्धांत और उपदेश (१५) जयभिक्खु भगवान् महावीर। (१६) पद्मचंद शास्त्री-तीर्थङ्कर भगवान् महावीर (१७) ऋषभदास रांका-महावीर: व्यक्तित्व, उपदेश और आचार मार्ग। (१८) आर्यिका ज्ञानमती-तीर्थङ्कर महावीर और धर्मतीर्थ, भगवान् महावीर कैसे बने ? (१९) मधुकर मुनि-भगवान् महावीर का दिव्य जीवन, भगवान् महावीर के शिक्षा पद। (२०) सुपार्श्व कुमार जैन-महावीर वाणी। (२१) डा० भगवानदास तिवारी-महावीर वाणी। (२२) केशरचंद धूपिया-श्रमण भगवान्-महावीर का आत्म विज्ञान। (२३) डा० हीरालाल जैन-महावीर युग और जीवन-दर्शन। (२४) जैनाचार्य विजयेन्द्र सूरि-तीर्थङ्कर महावीर (भाग १ व २)। (२५) बेचरदास दोषी-महावीर-वाणी। (२६) डा० देवेन्द्र कुमार शास्त्री-तीर्थङ्कर महावीर (२७) डा० नेमीचंद जैन-वैशाली के राजकुमार। (२८) जयकिशन प्रसाद खण्डेलवाल-तीर्थङ्कर वर्धमान महावीर। (२९) मुनि श्री यशोविजय-भगवान् महावीर और उनका तत्व-दर्शन। (३०) श्री राजेन्द्र मुनि-भगवान् महावीर की १००८ सूक्तियां। (३१) श्रीगणेश मुनि-भगवान् महावीर के हजार उपदेश। (३२) जयप्रकाश शर्मा-कुण्डलपुर के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

राजकुमार : भगवान् महावीर। (३३) डा० गोकुल चंद जैन-तीर्थङ्कर भगवान् महावीर। (३४) आचार्य आनन्द ऋषि, मुनि मिश्रीमल, अमर मुनि इत्यादि-तीर्थङ्कर महावीर (पांच खण्ड)। (३५) डा० प्रद्युम्नकुमार जैन-तीर्थङ्कर : जीवन दर्शन। (३६) डा० निजामुद्दीन-जिनेन्द्र महावीर। (३७) मुनि विद्यानंद-तीर्थङ्कर भगवान् महावीर। (३८) जमनालाल जैन-मानवता के मंदराचल: भगवान् महावीर। (३९) मिश्रीलाल जैन-वर्द्धमान महावीर एवं देवशास्त्र पूजा। (४०) डा० विद्याधर जोहरापुरकर तथा डा० कस्तूरचंद कासलीवाल-वीर शासन के प्रभावक आचार्य। (४१) डा० कैलाशचन्द्र जैन-भगवान् महावीर : अपने समय में। (४२) म से महावीर तक : सुरेश सरल। (४३) पन्यास कल्याण विजयगणि-श्रमण : भगवान् महावीर (४४) मुनि श्री रत्नप्रभ विजय-श्रमण भगवान् महावीर (५ भाग)। (४५) सुमेरचंद दिवाकर-महाश्रमण महावीर। (४६) डा० ज्योतिप्रसाद जैन-द्वारा सम्पादित भगवान् महावीर स्मृति ग्रन्थ। (४७) बुद्धि सागर सूरि-काल्पनिक महावीर (तीन खण्ड)। (४८) भूरचंद जैन-भगवान् महावीर की कहानी।

पुस्तिका-साहित्य में तीर्थंकर महावीर :

भगवान् महावीर स्वामी को लेकर हिन्दी में शताधिक छोटी-छोटी पुस्तिकाओं का प्रकाशन हुआ है। जैन धर्म-परिचय पुस्तक माला (भारत जैन महामण्डल प्रकाशन) के अंतर्गत--(१) मुनि श्री रूपचन्द्र--महावीर, मार्क्स और गांधी। (२) चिमनभाई सी० शाह- भगवान् महावीर : जीवन और दर्शन। (३) आचार्य श्री तुलसी--भगवान् महावीर, महावीर ने कहा आदि पुस्तिकाएं प्रकाशित हुई हैं। उनके अतिरिक्त। (४) महेन्द्रकुमार फुसकेले-तीर्थङ्कर महावीर : एक अध्ययन। (५) प्रेमचंद 'दिवाकर'-भगवान् महावीर : सामाजिक एवं आध्यात्मिक संघर्ष के सफल सेनानी। (६) डा० विद्याधर जोहरापुरकर चौबीसवें तीर्थङ्कर दिगम्बर महावीर (७) डा० हुकुमचंद भारिल्ल-तीर्थङ्कर भगवान् महावीर। (८) ठाकुर लक्ष्मण सिंह चौहान 'निर्मम' हे निर्ग्रन्थ। (९) विपिन जारोली-भगवान् महावीर-जीवन और उपदेश। (१०) प्रेमचंद जैन 'विद्यार्थी'-अनन्त ज्योति महावीर। (११) मुनि नथमल-महावीर क्या थे। भगवान् महावीर के सिद्धांत। (१२) मोहनलाल बांठिया-श्रमण भगवान् महावीर। (१३) रतनकुमार जैन-मार्गद्रष्टा महावीर। (१४) वीरेन्द्र कुमार जैन-आधुनिक बोध और महावीर। (१५) हुकुमचंद जैन 'अनिल'-महावीर की मानवता (१३ भगवान् महावीर और उनकी अहिंसा इत्यादि शीर्षक पुस्तिकाएं भी मूल्यवान हैं।

स्मारिका-साहित्य में तीर्थङ्कर महावीर :

भगवान् महावीर के २५००वें महापरिनिर्वाणोत्सव के उपलक्ष में अनेक प्रदेशों तथा संस्थानों से विशेष 'स्मारिकाओं' का प्रकाशन हुआ है जिनमें तद्विषयकप्रभूत सामग्री मिलती है। इनमें तुलसी कन्या मण्डल ग्वालियर, शोलापुर निर्वाण महोत्सव-समिति, रीवा सम्भागीय क्षेत्रीय दिगम्बर-समिति, श्री महावीर साहित्य-प्रकाशन, दमोह, श्री जिनेन्द्र पंच कल्याण-प्रतिष्ठा एवं गजरथ महोत्सव समिति, सतना, जैन भारती प्रकाशन, बड़ौत, अखिल भारतीय दिगम्बर भगवान् महावीर २५०० वां निर्वाण-महोत्सव सोसायटी, मध्यप्रदेश प्रांतीय-समिति, इंदौर, महावीर निर्वाण शताब्दी, उदयपुर, आदि की 'स्मारिकाएं' विशेष उल्लेखनीय हैं।

राजस्थान जैन सभा, जयपुर की स्थापना सन् १९५२ में हुई थी। इसकी ओर से सन् १९६२ में पं० चैनसुखदास न्यायतीर्थ के सम्पादन में सर्वप्रथम 'महावीर-जयंती स्मारिका' का प्रकाशन हुआ। इसके पश्चात् प्रतिवर्ष अनवरत रूप से यहां से श्रेष्ठ 'स्मारिका' का प्रकाशन हो रहा है। 'स्मारिका' के प्रधान सम्पादक भंवरलाल पोल्याका हैं। सम्पादक-मण्डल में प्रतिवर्ष परिवर्तन होता रहता है। इस

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'स्मारिका' का ऐतिहासिक महत्व है। यह अपने आप में सन्दर्भ ग्रंथ बन गयी है।

राजस्थान प्रांतीय भगवान् महावीर २५०० वां निर्वाण महोत्सव महासमिति, जयपुर द्वारा प्रकाशित 'वीर-निर्माण-स्मारिका' (सन् १९७५) स्वयं में अतीव उपादेयता से परिपूर्ण है। इसके प्रधान सम्पादक भंवरलाल पोल्याका हैं और सम्पादक-मण्डल में डा० नरेन्द्र भानावत, डा० मूलचंद सेठिया, विनय सागर और केवलचंद ठोलिया हैं। इसके प्रबंध सम्पादक कपूरचंद पाटनी एवं पन्नालाल बांठिया हैं।

श्री महावीर नवयुवक मण्डल, जयपुर द्वारा विगत तीन वर्षों से 'महावीर निर्वाण स्मारिका' प्रकाशित हो रही है।

शोध-वाङ्मय में तीर्थङ्कर महावीर :

भगवान् महावीर स्वामी पर हिन्दी में विपुल शोधकार्य हुआ है और उन पर अनेक शोध आलेख प्रकाशित हुए है।

विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन से डा० हरीन्द्र-भूषण जैन के निर्देशन में डा० शोभानाथ पाठक ने 'संस्कृत एवं प्राकृत जैन-साहित्य में महावीर-कथा' नामक विषय पर शोध प्रबंध प्रस्तुत करके, पी.एच. डी. की उपाधि प्राप्त की।

भगवान् महावीर स्वामी के पच्चीस सौ वें महापरिनिर्वाणोत्सव के उपलक्ष्य में सन् १९७४-७५-७६ में अनेक शोध संगोष्ठियां समूचे देश भर में सम्पन्न हुई हैं जिससे हिन्दी में तद्विषयक विपुल शोध सामग्री प्रकाश में आयी है।

निर्वाणोत्सव वर्ष के श्रीगणेश में संत प्रवर आचार्य विनोबा भावे की प्रेरणा से जैन धर्मसार-संगीति का नई दिल्ली में आयोजन हुआ जिसमें सर्वश्री आचार्य श्रीदेशभूषण, धर्मसागर, विजय समुद्र सूरी, श्री तुलसी, मुनि श्री सुशील कुमार, जनक विजय, मुनि नथमल तथा मुनि विद्यानंद का क्रियात्मक योगदान रहा। इसके सुफल स्वरूप जैनधर्म का एक संकलन तैयार किया गया।

आचार्य श्री तुलसी तथा मुनि श्री नथमल के सान्निध्य एवं परामर्श तथा डा० महावीर राज गेलड़ा के संयोजन में सन् १९७५ में, निर्वाण-पर्व की समापन बेला में, जयपुर में षष्ठ अधिवेशन अत्यन्त सफलतापूर्वक सम्पन्न हुआ जिसमें समूचे देश भर से आये चालीस विद्वानों ने भाग लिया। उनके पठित निबंधों में अत्यन्त महत्वपूर्ण सामग्री मिलती है। भगवान् महावीर की जीवनी के विभिन्न पक्षों पर शोध-निबंधों का संग्रह एक पुस्तक के रूप में जैन विश्व भारती प्रकाशित कर रही है। यह भी प्रस्तावित किया गया कि जैन-साहित्य में जिन विषयों पर शोध किया जा सकता है, उनकी एक सूची तैयार की जाए ताकि शोध करने वालों को मार्ग-दर्शन मिल सके।

शोध की दिशा में जैन विश्व भारती सर्वथा अग्रणी एवं अभिनंदनीय है। उसकी त्रैमासिकी मुखपत्रिका 'तुलसी प्रज्ञा' में विशिष्ट महत्व के शोधपत्र प्रकाशित होते हैं।

विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन द्वारा आयोजित द्विदिवसीय संगोष्ठी में 'भारतीय संस्कृति को भगवान् महावीर की देन' विषय पर अनेक विद्वानों ने शोधपत्र का पठन-पाठन किया।

इसी प्रकार इन्दौर विश्वविद्यालय ने भी इसी निर्वाण रजत शती के उपलक्ष में अपरिग्रह का भगवान् महावीर के सन्दर्भ में आधुनिक एवं अन्तर्राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में विशद् विवेचन किया गया। अवधेश प्रतापसिंह विश्वविद्यालय तथा जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर के तद्विषयक आयोजन भी महत्वपूर्ण रहे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दिल्ली में 'वर्तमान समस्याओं के सन्दर्भ में भगवान् महावीर का सन्देश' विषयक संगोष्ठी अखिल भारतीय दिगम्बर भगवान् महावीर २५०० वां निर्वाण-महोत्सव-सोसायटी, दक्षिण दिल्ली और जैन सभा, नई दिल्ली (दक्षिण) के संयुक्त तत्वावधान में आयोजित की गयी थी। इसी वर्ष सागर में गणेश प्रसाद वर्णी जन्म-शताब्दी भी मनायी गयी जिसमें महावीर तथा वर्णीजी पर संयुक्त कार्यक्रम समूचे वर्ष भर होते रहे। उज्जैन में 'आधुनिक सन्दर्भों में महावीर' पर एक रोचक तथा सारगर्भित संगोष्ठी हुई।

निर्मल कुमार बोस स्मारक प्रतिष्ठान, वाराणसी के तत्वावधान में एक त्रिदिवसीय उल्लेखनीय गोष्ठी आयोजित की गयी जिसमें जैन विद्वानों, समाज शास्त्रियों, मानवशास्त्रियों, अर्थ-शास्त्रियों, इतिहासज्ञों और दर्शनशास्त्रियों के अतिरिक्त स्वतंत्र लेखकों, पत्रकारों एवं समाज-सेवियों ने भी भाग लिया। छः विश्वविद्यालय एवं चार शोध संस्थानों से सम्बन्धित विद्वान् स्थानीय ईसाई, मुसलमान, सिख, बौद्ध तथा हिन्दुओं के विविध सम्प्रदायों के संन्यासी तथा वैरागी महात्मा भी सम्मिलित हुए।

उक्त संगोष्ठी में यह प्रमुख निष्कर्ष तथा सुझाव स्वीकार किया गया था कि भारतीय सामाजिक चिंतन की परम्परा के एक महान् स्तम्भ के रूप में महावीर के सामाजिक चिंतन के अध्ययन की परमावश्यकता है। उपर्युक्त संगोष्ठी में वैविध्यपूर्ण तथा विचारोत्तेजक शोध सामग्री आलोक में आयी।

निर्वाणोत्सव की समापन बेला में अखिल भारतीय दिगम्बर भगवान् महावीर २५०० वां निर्वाण महोत्सव सोसायटी की राजस्थान प्रदेश-समिति की ओर से 'भारतीय संस्कृति, साहित्य एवं दर्शन के विकास में जैन धर्म का योगदान' विषयक संगोष्ठी अजमेर में आयोजित की गयी थी जिसके संयोजक डा० कस्तूरचंद कासलीवाल रहे। इसमें पचास विद्वान् सम्मिलित हुए और चार गोष्ठियों में बीस शोधपत्र पढ़े गये।

वीर-निर्वाण-महोत्सव के समापन में अनेक सेमिनार तथा गोष्ठियों की नियोजना निर्वाणोत्सव केन्द्रीय समिति द्वारा की गई जिनके विषय निम्न-लिखित रहे—(१) भगवान् महावीर के उपदेशों की आज के युग में सार्थकता। (२) भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान। (३) अंतर्राष्ट्रीय महिला-वर्ष के सन्दर्भ में : महावीर और नारी। (४) जैनधर्म और तीर्थङ्कर परम्परा। (५) अहिंसा एवं विश्वशांति। इन विषयों पर हिन्दी में विपुल साहित्य प्रकाशित होकर आया है।

सन् १९७६ के आरम्भ में सागर विश्वविद्या-लय की जैन धर्म की राष्ट्रीय संगोष्ठी में देश तथा प्रदेश के बाईस विद्वानों ने शोधपत्र का वाचन किया। इस संगोष्ठी में पुष्कल वाङ्मय आया है जिसे विश्वविद्यालय प्रकाशित कर रहा है। भोपाल विश्वविद्यालय की जैन-विधा संगोष्ठी में अनेक विद्वानों ने शोधपत्र पढ़े।

इन समस्त संगोष्ठियों में जैन धर्म तथा महा-वीर स्वामी विषयक पुष्कल सामग्री राष्ट्रीय स्तर पर प्रस्तुत हुई है जिसकी प्रकाशनोपरांत उपलब्धि महार्घ होगी। इसमें शोध की विभिन्न छवियाँ तथा दृष्टियाँ मिलती हैं और नये परिप्रेक्ष्य तथा आयामों में तत्वों को सार्थकतापूर्वक उपस्थित किया गया है।

भगवान् महावीर पर सुनियोजित तथा स्फुट शोध की दृष्टि से अनेक मनीषियों के नाम उल्लेख-नीय हैं जिनमें आचार्य तुलसी, मुनि नथमल, मुनि हस्तीमल महाराज, डा० नथमल टाटिया, डा० भागचन्द्र जैन, डा० हरीन्द्र भूषण जैन, डा० कैलाश चन्द्र जैन, डा० ईश्वरचन्द्र शर्मा, डा० प्रेमसुमन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन, डा० नरेन्द्र भानावत, डा० रामचन्द्र द्विवेदी, डा० नन्दलाल जैन, डा० महावीर राज गेलड़ा, डा० महावीर सरन जैन, आचार्य कृष्णदत्त वाजपेयी, डा० गोकुलचंद जैन, डा० देवेन्द्र कुमार जैन, डा० देवेन्द्र कुमार शास्त्री, श्री अगरचंद नाहटा, डा० कमलचंद सोगानी, डा० कस्तूरचंद कासलीवाल, डा० हुकुमचंद भारिल्ल, डा० नेमिचंद शास्त्री, डा० पन्नालाल साहित्याचार्य, डा० दरबारीलाल कोठिया *आदि आते हैं।*

हिन्दी निबंध-वाङ्मय में तीर्थंकर महावीर :

तीर्थङ्कर महावीर पर इस बीच बड़े सुलझे, व्यवस्थित, विचारोत्तेजक तथा नवीन दृष्टि से निबंध लिखे गये हैं। इनमें आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी (आत्मजयी भगवान् महावीर), डा० प्रभाकर माचवे (महावीर की महत्ता और वर्तमान युग में महावीर के उपदेशों की सार्थकता), कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' (इतिहास-पुरुषों की शृंखला में महावीर), वीरेन्द्र कुमार जैन (आधुनिकता-बोध और महावीर, महावीर का धर्म-दर्शन : आज के सन्दर्भ में), यशपाल जैन (बदलते सन्दर्भों में महावीर की भूमिका), डा० नेमीचन्द जैन (महावीर : अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य), बाबूलाल पाटौदी (भगवान् महावीर के संदेशों में लोक मंगल), जमनालाल जैन (महावीर कितने ज्ञात : कितने अज्ञात), मानकचंद कटारिया (महावीर : अहिंसा और सह-अस्तित्व), आचार्य काका कालेलकर (जैन धर्म का तात्कालिक भविष्य :नया पुरुषार्थ और भगवान् महावीर का सर्वधर्म कुटुम्ब), डा० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय (महावीर और मूल्य संकट), वर्द्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री (गरीबी हटाओ के सन्दर्भ में महावीर का तत्व-ज्ञान), डा० उम्मेदमल मुणोत (बदलते सामाजिक मूल्यों में महावीर वाणी की भूमिका), डा० कुसुम पटोरिया (महावीर की विचारधारा में समतामूलक रचना), आचार्य विनोबा भावे (भगवान् महावीर का निर्वाणोत्सव एवं शाकाहार संकल्प), डा० उम्मेदमल मुनोत (भगवान् महावीर की दृष्टि से अभाव और मंहगाई का हल), आचार्य श्री तुलसी (यदि तीर्थंङ्कर नहीं होते), अगरचंद नाहटा (भगवान् महावीर सम्बन्धी महाकाव्यों की परम्परा), डा० कस्तूरचंद कासलीवाल (हिन्दी में उपलब्ध महावीर-साहित्य) के नाम अविस्मरणीय हैं।

जैन साध्वियों में साध्वी प्रमुखा श्रीकनक प्रभा, *श्री नगीना, मधुमति, लक्ष्मीकुमारी, राजीमती,* यशोधरा, कस्तूरां, मंजुला, संघमित्रा, कमलश्री, अणिमाश्री, गुलाब, चन्दन बाला, रामश्री, मंजुबाला, जिनप्रभा, उषाकुमारी, धनकुमारी, ज्ञानमती, कनकश्री, आनंद श्री, आदि ने तथा जैन-मुनियों में श्री नथमल, जशकरण 'सुजान,' रवीन्द्रकुमार, रूपचन्द्र, छत्रमल, राकेश कुमार, महेन्द्र कुमार, विजयराज, मोहनलाल 'शार्दूल,' दुलहराज, हरीश, गुलाबचन्द्र 'निर्मोही,' नगराज, छत्रमल आदि ने महावीर के व्यक्तित्व तथा संदेशों को अपने सारगर्भित स्फुट निबंधों से आलोकित किया है।

आधुनिक जैन-मनीषा में तीर्थंकर महावीर :

जैन विद्वानों की पिछली पीढ़ी में कैलाशचन्द्र शास्त्री, फूलचंद सिद्धान्तशास्त्री, नाथूलाल शास्त्री, स्वर्गीय न्यायाचार्य पं० महेन्द्रकुमार, परमेष्ठीदास, कानजी स्वामी, आदि ऐसे वैतालिक हैं जिन्होंने भगवान् महावीर स्वामी और उनके चिंतन को मौलिकता पूर्वक प्रस्तुत किया था।

विगत पचास वर्षों में महावीर को निःसंग तथा आधुनिक दृष्टि से प्रस्तुत करने वाले जैन मनीषियों में मुनीश्वर बुद्धिसागर, महापण्डित सुखलाल, स्वामी सत्यभक्त, बाड़ीलाल मोतीलालशाह, आचार्य तुलसी, आचार्य रजनीश, जैनेन्द्र कुमार, मुनि नगराज, मुनि नथमल, मुनि महेन्द्र कुमार, मुनि रूपचंद, मुनि किशनलाल, साध्वी राजीमती आदिके नाम ससम्मान परिगणित किए जा सकते हैं। वर्तमान समय में मुनि सुशीलकुमार, उपाध्याय श्री अमर मुनि, देवेन्द्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मुनि शास्त्री, मुनि संतवाल, मुनि भद्रगुप्त विजय आदि ने महावीर के धर्म दर्शन को मुक्त भाषा में उपस्थित कर दिया है। आचार्य तुलसी, मुनि नथमल, मुनि भद्रगुप्त विजय और मुनि अमरेन्द्र विजय के महावीर-विषयक चिंतन में जो निर्भीकता, स्वतंत्रता, साम्प्रदायिक विहीनता तथा अनुशीलनपरकता देखने को मिलती है—वह दुर्लभ भी है और गरिमा की निधि भी।

विश्वधर्म के उद्गाता मुनीश्वर विद्यानंद स्वामी का मनन समन्वय तथा अनेकांत से मण्डित है। निर्वाण-पर्व में उनकी वाणी व्यापकता, वैज्ञानिकता तथा विद्वत्ता से आपूर्ण रही।

आजकल जिन-तत्व के तेजस्वी प्रवक्ताओं में वीरेन्द्र कुमार जैन, जमनालाल जैन, डा० नेमीचन्द जैन आदि हैं जिन्होंने विद्रोही आलोक को जन्म दिया है।

नये जिन-तत्व-गवेषकों में भानीराम 'अग्निमुख,' माणकचंद कटारिया, डा० कमलचंद सोगानी, डा० कस्तूरचंद जैन, डा० प्रेमसुमन जैन आदि प्रगतिशील और महनीय प्रतिभाएं हैं जिन्होंने जैन-मनीषा के क्षितिज को आधुनिकता, युगबोध, यथार्थवादिता तथा प्रभविष्णुता की लालिमा से परिपूर्ण कर दिया है।

हिन्दी-पत्रकारिता में तीर्थंकर महावीर :

जैन-पत्रकारिता अत्यन्त पुरानी है और पुराने जीवित समाचार पत्रों में 'जैनगजट' (अजमेर) आज भी सन् १८९५ से हिन्दी तथा जैन धर्म की निष्ठावान सेवा में निरत है।

भगवान् महावीर के नाम से सम्बन्धित चार पत्रिकाएं मिलती हैं। इनका जन्म निर्वाण-वर्ष से ही सम्बन्धित है—(क) मासिक 'तीर्थङ्कर' (इन्दौर) (ख) मासिक 'विश्वेश्वर महावीर' (जोधपुर) (ग) महावीर सन्देश (घ) वीर-परिनिर्वाण।

'तीर्थङ्कर' को प्रकाशित होते पांच वर्ष हो चुके हैं। इसके सम्पादक डा० नेमीचंद जैन और प्रबंध सम्पादक प्रेमचंद जैन हैं। यह एक विचार-मासिक है जो कि नव साहस, विश्वास तथा जागृति का प्रबुद्ध प्रतीक है। इसे 'सद्विचार की वर्णमाला में 'सदाचार का प्रवर्तन' कह सकते हैं। इसके 'महावीर जयन्ती-अंक' (अप्रैल, १९७३), 'समयसार अंक' (सितम्बर, १९७४), 'निर्वाण अंक' (नवम्बर, १९७४), तथा 'वर्द्धमान विशेषांक' (अप्रैल,१९७५) विशेष उल्लेखनीय है। हाल ही में प्रकाशित इसके 'मुनि श्री विद्यानंद-विशेषांक' (सन् १९७४) तथा 'श्रीमद्विजय, राजेन्द्र सूरीश्वर विशेषांक' (जून-जुलाई, १९७५) ने जैन जगत् में धूम मचा दी है। वस्तुतः 'तीर्थङ्कर' जैन विश्व सारिका है।

'विश्वेश्वर महावीर' के प्रधान सम्पादक प्रकाश जैन बांठिया हैं। मासिक 'महावीर-संदेश' (मध्यप्रदेश) के सम्पादक डा० राजेन्द्रकुमार रह चुके हैं। 'वीर-परिनिर्वाण' भगवान् महावीर २५०० वां निर्वाण महोत्सव महासमिति का मासिक प्रकाशन है जिसके प्रधान सम्पादक अक्षयकुमार जैन और कार्यकारी सम्पादक एल० एल० आच्छा हैं।

महावीर महापरिनिर्वाणोत्सव के अन्तर्गत अनेक हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं ने विशेषांक प्रकाशित किए जिनमें मासिक 'जैन-जगत्' (बम्बई) का 'परिनिर्वाण विशेषांक' (नवम्बर, १९७४) (सम्पादक : ऋषभदास रांका, प्रबंध-सम्पादक : चंदनमल 'चांद'), साप्ताहिक 'मालव प्रहरी' (उज्जैन) का वीर, परिनिर्वाण विशेषांक (१४ नवम्बर, १९७४) (प्रधान सम्पादक : कृष्णादेवी गुप्ता, विशेषांक परामर्शक : आर० के० गुप्ता), 'जैन-जगत्' का 'भगवान् महावीर वंदना विशेषांक' (दिसम्बर-जनवरी, १९७५),

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मासिक 'सूत्रकार' (कलकत्ता) का '२५०० वां निर्वाण वर्ष : तीर्थङ्कर महावीर विशिष्टांक' (जनवरी-फरवरी, १९७५) (प्रधान सम्पादक : बजरंग सम्पादक स्नेही आत्मा), साप्ताहिक 'जैन भारती' (कलकत्ता) का 'भगवान् महावीर २५००वां निर्वाण महोत्सव विशेषांक' (१६ फरवरी, १९७५) (सम्पादक मण्डल : भदंत रेवतधम्म, धम्मायरिय, जैनेन्द्र कुमार जैन, डा० नथमल टांटिया, डा० गोकुलचन्द्र जैन, ऋषभदास रांका और डा० महावीर राज गेलड़ा, सम्पादक : बच्छराज संचेती, प्रबंध-सम्पादक : धर्मचन्द्र पुंगलिया), पाक्षिक 'श्रमणोपासक' (बीकानेर) का 'महावीर जयंती विशेषांक' (२० अप्रेल, १९७५))सम्पादक मण्डल : जुगराज सेठिया, डा० मनोहर शर्मा और डा० शांता भानावत), साप्ताहिक 'प्रतिप्रवाह' (दुर्ग) का 'महावीर-जयंती-विशेषांक' (२२ अप्रैल, १९७५) (सम्पादक : बी० एल० जैन, प्रबंध-सम्पादक : मदनलाल जैन, सह-सम्पादक : लवकुश गुप्ता और पद्मचंद पाटनी), मासिक 'श्री अमरभारती' (आगरा) का 'भगवान् महावीर निर्वाण शताब्दी वर्ष : महावीर-जयंती-विशेषांक' (अप्रैल, १९७५) (प्रेरणा: श्री अखिलेश मुनि और मुनि श्री समदर्शी 'प्रभाकर' दिशानिर्देश : पं० विजयमुनि शास्त्री और पं० मुनि श्री नेमीचन्द्र, सम्पादक : श्रीचंद सुराना 'सरस,' चन्द्रभूषण मणि त्रिपाठी, प्रतापचन्द्र जैन और महावीर प्रसाद जैन, मासिक 'जिनवाणी' (जयपुर) का 'जैन संस्कृति और राजस्थान विशेषांक' (अप्रेल-जुलाई, १९७५) प्रधान सम्पादक : डा० नरेन्द्र भानावत, सम्पादक : डा० कमलचंद सोगानी और डा० (श्रीमती) शांता भानावत, सह सम्पादक : डा० प्रेम सुमन जैन, डा० महेन्द्र भानावत, डा० देव कोठारी और महावीर कोटिया), अर्द्ध वार्षिक 'प्राच्य भारती' (भोपाल) का 'जैन विशेषांक' (जनवरी, १९७५) (सम्पादक : आचार्य कृष्णदत्त वाजपेयी और डा० किरीट मनकोडी) आदि के नाम हिन्दी पत्रकारिता के क्षेत्र में मील के पत्थर का कार्य करते हैं।

अन्यान्य वाङ्मय तीर्थङ्कर महावीर :

आचार्य श्री विजय धर्मसूरि महाराज की प्रेरणा तथा मंगलाशीष से सम्पूर्ण भारत में मनाये गये निर्वाण-शताब्दी के समारोह के समस्त आकलन को साप्ताहिक 'जैन' (भावनगर) के विशाल 'निर्वाण महोत्सव माहिती विशेषांक' में सचित्र रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है।

भगवान् महावीर को लेकर श्रमण जैन भजन तथा प्राचीन जैन भक्ति रचनाओं एवं प्रवचनों के ग्रामोफोन रिकार्ड तैयार किये गये हैं यथा : (क) हमारी वीर हरो भव पीर, अब मोहे तार लेहु महावीर (ख) सिद्धारथ राजा दरबारे बजत बधाई, बाबा मैं न काहू का कोई नहीं मेरा रे (ग) श्री महावीराष्टकस्तोत्रम् (घ) चंदन मेरे गांव की मांटी प्रगट भये महावीर (ङ) करों आरती वर्द्धमान की, मुझे महावीर भरोसो तेरो भारी (च) भगवान् महावीर के जन्म पर बधाई गीत (छ) धर्म और पावा तीर्थ (प्रवचन : मुनि श्री विद्यानंद) (ज) प्रवचन : आचार्य रजनीश इत्यादि।

पद्मश्री देवीलाल सामर के मौलिक प्रयास तथा विशेष देन के रूप में निर्वाण-शताब्दी-वर्ष के अन्तर्गत एक कठपुतली नाटिका (महावीर नाटिका) 'वैशाली का अभिषेक' तैयार की गयी है जिसके प्रमुख आकर्षणों में से माता त्रिशला को स्वप्न, इन्द्र द्वारा अभिषेक, शूलपाणी यज्ञ के उत्पाद, चण्डकौशिक दंश, केवल ज्ञान तथा भगवान् महावीर के सन्देशों का समवशरण आदि है।

उपसंहार :

डा० कस्तूरचंद कासलीवाल ('तीर्थङ्कर' : जनवरी, १९७२) ने अपने निबंध 'हिन्दी में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपलब्ध महावीर-साहित्य' में महावीर सम्बन्धी चार संस्कृत रचनाएं, पांच अपभ्रंश रचनाएं और फिर हिन्दी की द्वादश रचनाओं का उल्लेख किया है परन्तु श्री अगरचंद नाहटा ('महावीर जयंती स्मारिका' : सन् १९७२) ने उक्त लेख की प्रतिक्रिया में लिखित अपने निबंध 'भगवान् महावीर सम्बन्धी कतिपय प्राचीन राजस्थानी रचनाएं' में लिखा है : भगवान् महावीर सम्बन्धी जितना विशाल व विविध प्रकार का साहित्य श्वेताम्बर आचार्यों व मुनियों का मिलता है, उतना दिगम्बर कवियों का नहीं मिलता। आवश्यकता है : श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों सम्प्रदायों और स्थानकवासी, तेरापंथी आदि उप सम्प्रदायों के महावीर सम्बन्धी समस्त साहित्य की सूची तैयार करके उनकी प्रकाशन की योजना बनाई जाए, दिगम्बर समाज की ओर से महावीर-सम्बन्धी अपभ्रंश काव्यों के प्रकाशन का तो प्रयत्न मेरी जानकारी में है, पर श्वेताम्बर साहित्य जो बहुत बड़ी संख्या में अप्रकाशित है, उसके प्रकाशन की कोई योजना सामने नहीं आई। मेरे अपने संग्रह में भगवान् महावीर सम्बन्धी छोटी-छोटी करीब पांच सौ रचनाएं हैं। कई श्वेताम्बर संग्रह ग्रन्थों में महावीर-सम्बन्धी छोटे-बड़े स्तवन आदि पचासों तो प्रकाशित भी हो चुके हैं।

क्षणिकाएँ

श्री विमल जैन

एम० कॉम०, एम० ए०, एल० एल० बी., विशारद

प्राध्यापक, वाणिज्य विभाग सागर वि० वि० **सागर**

1. आज का इंसान
महावीर के
सिद्धांतों पर चलकर
आत्मा को
शुद्ध बना सकता है,
और
हिंसा पर अहिंसा से
विजय पा सकता है
तभी वह—
जीवो और जीने दो
का नारा लगा सकता है।

2. महावीर—
तुम्हारा संदेश
ग्रंथों से उतारकर
जन-जन तक पहुँचाया।
मगर (वह)
आज तक
किसी इंसान की
चर्या में नहीं आ पाया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मानव

● श्री मंगल जैन 'प्रेमी'
जबलपुर ।

मैं मानव हूँ,
रेखाचित्र सा,
पर रेखाचित्र बोलता नहीं है ।
मैं बोलता हूँ ।
सोचने और समझने की अनुभूति पर,
अपना पूर्ण अधिकार रखता हूँ ।
ढोंगीपन की काल्पनिक उड़ानें देखकर—
मैं डोलता नहीं हूँ ।।
पर रेखाचित्र में—
रेखाओं के माध्यम से—
कलाकार हृदय उद्‌गार रखता है ।
और मैं ?
कविता के माध्यम से,
समस्त मानव की अनुभूति—
उजागर करता हूं ।।
मैं कवि हूँ—
जलते अंगारों का,
मुझे गीत नहीं आता,
रंगीले शृंगारों का—
जो कि रेखाचित्र की व्याख्या है ।
पर मुझे—
रेखाचित्र की फिकर नहीं—
फिकर तो आने वाली पीढ़ी की है ।
रेखाचित्र तो खून के मैदान में भी
स्वप्न देखता है बहारों का—
लेकिन मैं, अजीब हूँ,
पर दिल का अमीर हूँ ।
मुझे शृंगार नहीं आता,
पर शृंगार को ढोने वाले पर
रोना सहज ही आ जाता है ।
मुझे डोली की दुल्हन की सिसकियाँ,
द्रवित नहीं कर सकतीं,
मुझे तो तरस आता है—
दुल्हन का वजन ढोने वाले कहारों का ।।
सोचो मैं कौन हूँ ?
मैं भी एक इंसान हूँ ।
लेकिन—
शृंगारों के गीत गाने वाला नहीं,
गाने वाला हूँ गीत जलते अंगारों का ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपभ्रंश साहित्य में महावीर

डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल, जयपुर ।

अपभ्रंश भाषा और साहित्य के अध्ययन एवं अनुसंधान के प्रति भारतीय एवं विदेशी विद्वान् गत 40 वर्षों से बराबर प्रयत्नशील हैं । उसकी चर्चित एवं अचर्चित कृतियों को प्रकाश में लाने का प्रयास जारी है । विद्वानों के इस सतत् प्रयत्न के फल-स्वरूप इस भाषा के साहित्य को पुनः लोकप्रियता प्राप्त होने लगी है । अपभ्रंश भाषा की कृतियों की पांडुलिपियों का प्रमुख क्षेत्र राजस्थान, आगरा एवं देहली के जैन शास्त्र भण्डार हैं । इस भाषा की सबसे अधिक पाण्डुलिपियां जयपुर, नागौर, अजमेर, भरतपुर, ब्यावर एवं कामां के शास्त्रभण्डारों में उपलब्ध होती हैं । अकेले जयपुर के शास्त्रभण्डारों में अपभ्रंश की 80 प्रतिशत कृतियां संगृहीत हैं । इन पाण्डुलिपियों के आधार पर यह सहज ही में कहा जा सकता है कि अपभ्रंश भाषा साहित्य क्षेत्र में 8 वीं शताब्दी से 17 वीं शताब्दी तक समादृत होती रही । जैन कवियों ने इस भाषा को सबसे अधिक प्रश्रय दिया तथा सन्तों से अधिक गृहस्थों ने इस भाषा में काव्य रचना में विशेष रुचि ली । महाकवि स्वयम्भू, पुष्पदन्त, वीर, नयनन्दि, धनपाल एवं रइधू जैसे सभी धुरन्धर विद्वान् गृहस्थ थे सन्त नहीं । इसलिये अपभ्रंश सदैव सामान्य जनों की भाषा रही । इन कवियों ने काव्य की सभी धाराओं में अपनी कृतियों को निबद्ध करके इसे जनप्रिय बनाने में और भी अधिक योगदान किया । इसमें चरिउ संज्ञक कृतियां सबसे अधिक संख्या में निबद्ध की गयीं । इस दृष्टि से महाकवि स्वयम्भू ने 'पउमचरिउ' एवं 'रिट्ठणेमिचरिउ' की रचना करके अपने आगे वाले कवियों के लिए काव्य की रचना का मार्ग प्रशस्त कर दिया । इसके पश्चात् तो अपभ्रंश भाषा में 'चरिउ' संज्ञक काव्य निर्माण स्वयं कवि की विद्वत्ता का मापदण्ड माना जाने लगा । और पुष्पदन्त जैसे धाकड़ एवं प्रतिभाशाली महाकवि को भी महापुराण के अतिरिक्त 'जसहर-चरिउ' एवं 'णायकुमारचरिउ' जैसे काव्यों की रचना करनी पड़ी । पुष्पदन्त के पश्चात् तो अपभ्रंश के प्रायः सभी कवियों ने 'चरिउ' संज्ञक काव्य लिखे । ऐसे कवियों में वीर, नयनन्दि, धनपाल, यशःकीर्ति, श्रीधर एवं रइधू के नाम विशेषतः उल्लेखनीय हैं । महाकवि तुलसीदास ने रामचरित्र मानस का नाम भी सम्भवतः इसी लोकप्रियता के आधार पर रखा दिखता है । लेकिन चरिउ संज्ञक रचनाओं के अतिरिक्त कथा संज्ञक, रास संज्ञक, अनुप्रेक्षा, चउबीसी, फागु, छप्पय, चउपई, चर्चरी एवं गीत संज्ञक रचनायें भी अच्छी संख्या में उपलब्ध होती है ।

देश के विभिन्न प्रकाशित एवं अप्रकाशित सूची पत्रों के आधार पर डा० देवेन्द्रकुमार शास्त्री ने अपनी पुस्तक "अपभ्रंश भाषा और साहित्य की शोध प्रवृत्तियां" में 85 कवियों की 195 अपभ्रंश कृतियों के नाम गिनाये हैं । हो सकता है अभी राजस्थान के अनवलोकित शास्त्रभण्डारों में अपभ्रंश की और भी कृतियां उपलब्ध हो जावें । मेरे स्वयं के विचार से यह संख्या 200 तक पहुंच सकती है । उपलब्ध कृतियों में महाकवि स्वयम्भू प्रथम एवं श्रीचन्द (चन्द्रप्रभचरिउ र० का० सं० 1793) अन्तिम कवि माने गये हैं । ये सभी कृतियां भाषा, साहित्य, संस्कृति एवं सामाजिक दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं जिनके गहन अध्ययन से इस दिशा में कितने ही नवीन तथ्यों का उद्घाटन हो सकता है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भगवान् महावीर के जीवन एवं उनके सिद्धांतों से सम्बन्धित अपभ्रंश भाषा में निबद्ध विभिन्न कृतियां उपलब्ध होती हैं। 9 वीं–10 वीं शताब्दि में होने वाले महाकवि पुष्पदन्त प्रथम कवि हैं जिन्होंने अपने महापुराण की 95 वीं संधि से 102 वीं संधि तक महावीर का जीवन चरित्र निबद्ध किया है। इसी भाग को डॉ० हीरालाल जैन ने 'वीरजिणिंद चरिउ' नाम से सुसम्पादित करके भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित कराया है। इसमें महावीर के पूर्व भव का पुरुरवा नाम वाले शबर के जीवन से वर्णन प्रारम्भ होता है। पुरुरवा शबर ऋषभदेव के पुत्र सम्राट् भरत के पुत्र मरीचि के रूप में उत्पन्न हुआ और वही मरीचि का जीव कितने ही भव धारण करने के पश्चात् रानी त्रिशला का पुत्र महावीर हुआ। पुष्पदन्त ने महावीर के अन्य पूर्व भवों का अपने काव्य में कोई वर्णन नहीं किया है।

एक ही संधि में कवि ने उनके गर्भ, जन्म और तप कल्याण (मुनि दीक्षा) तक कर दिया है। 69 वीं संधि में मुनि महावीर का सर्व प्रथम कूल ग्राम में वहां के शासक कूल के यहां आहार होने का उल्लेख किया है। महावीर विहार करते हुये उज्जयिनी पहुंचे और वहां के श्मशान में ध्यानस्थ होकर प्रतिमा योग में स्थित हो गये। इसके पश्चात् उसी रात्रि में वहां के रुद्र ने उन पर घोर उपसर्ग किया लेकिन महावीर अपनी तपः साधना में लीन रहे और अन्त में रुद्र को महावीर से क्षमा याचना करनी पड़ी। इसके पश्चात् चन्दना का प्रसंग आता है जिसमें कौशाम्बी में उसके द्वारा महावीर को आहार देने की चर्चा की गई है। 12 वर्ष तक घोर तपस्या के पश्चात् जृम्भिक ग्राम के निकट ऋजुकूला नदी के विशाल उद्यान में साल वृक्ष के नीचे स्थित रत्नशिला पर उन्हें कैवल्य हो गया। वैशाख शुक्ल दशमी का दिन एवं अपरान्ह का समय था। कैवल्य होने के पश्चात् इन्द्रभूति गौतम अपने पांचसौ शिष्यों के साथ प्रवज्या लेकर उनके शिष्य बन गये। पुष्पदन्त ने इस घटना को स्वयं गौतम गणधर के मुख से राजा श्रेणिक को सम्बोधित करते हुये कहलाया है। पुष्पदन्त ने महावीर के संघ की विस्तृत संख्या गिनायी है जिसके अनुसार वायुभूति, अग्निभूति आदि उनके ग्यारह गणधर मुनि थे। 300 शिष्य समस्त पूर्वों एवं अंगों के ज्ञाता थे। 900 शिष्य सर्वावधि ज्ञानधारी थे तथा 1300 मुनि मोह और लोभ के त्यागी थे। इनके अतिरिक्त पांच मुनि मनःपर्यय ज्ञानी एवं सात केवलज्ञानी थे। चार सौ मुनि श्रेष्ठवादी थे। 36000 आर्यिकाएं और एक लाख गृहस्थ एवं तीन लाख श्राविकायें थी। देव देवियों की संख्या बहुत बड़ी थी। तिर्यञ्च भी उनके साथ रहने में सुख एवं शांति का अनुभव करते थे।

भगवान् महावीर अन्त में पावापुर आ गये। वहां से उन्होंने दो दिन तक कोई विहार नहीं किया और कार्तिक मास की कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी के दिन रात्रि के अन्तिम भाग में जब जब चन्द्रमा स्वाति नक्षत्र में स्थित था, तब उन्हें निर्वाण की प्राप्ति हो गयी। इसके पश्चात् पुष्पदन्त ने भगवान् महावीर की शिष्य परम्परा का भी उल्लेख किया है। इनमें तीन केवली, पांच श्रुतकेवली, 11 आचार्य, ग्यारह अंगों तथा दश पूर्वों के ज्ञाता, पांच आचार्य ग्यारह अंगधारी तथा चार आचार्य सारभूत आचारांग के धारी हुये। पुष्पदन्त ने अन्त में आचार्य वीरसेन एवं जिनसेन के नामों का भी उल्लेख किया है।

12 वीं शताब्दि में होने वाले विबुध श्रीधर दूसरे अपभ्रंश कवि हैं। जिन्होंने वड्ढमाणचरिउ के नाम से एक स्वतन्त्र काव्य की रचना की। इस कृति की एक मात्र पाण्डुलिपि राजस्थान के दिगम्बर जैन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मन्दिर दूनी के शास्त्र भण्डार में संगृहीत है। इसमें 11 परिच्छेद हैं। कवि ने अपने को हरियाणा निवासी प्रकट किया है। इस काव्य में कवि ने गुणभद्र के उत्तरपुराण की परम्परा को ही मुख्य रूप से अपने काव्य का आधार बनाया है।

जयमित्रहल तीसरे अपभ्रंश कवि हैं जिन्होंने वर्द्धमान काव्य नाम से काव्य लिखा। इस कृति की प्रतियां जयपुर, नागौर एवं ब्यावर के शास्त्र भण्डारों में उपलब्ध होती हैं। इस काव्य में भी 11 संधियां हैं। लेकिन इस काव्य में मगध के शिशुनाग वंशी सम्राट् बिम्बसार अथवा श्रेणिक के जीवन का अधिक वर्णन किया गया है। एवं भगवान् महावीर के जीवन पर अत्यधिक संक्षिप्त रूप से प्रकाश डाला गया है। यह 15 वीं शताब्दि की रचना है।

चतुर्थ कृति नरसेन की है। इस का नाम वर्धमान काव्य है। कृति का दूसरा नाम जिन-रात्रिविधान भी है। जिस रात्रि में भगवान् महावीर ने अविनाशी पद प्राप्त किया उसी रात्रि का 14 वर्ष तक व्रत करने से अपार पुण्य की प्राप्ति होती है। कृति में इस व्रत के विधान की विधि दी गयी है। इसमें लिखा है कि उस रात्रि को जागरण कराना चाहिये, अगर, धूप खेना चहिये। फूल एवं कुसुम चढ़ाने का भी उल्लेख किया गया है। यह एक लघु कृति है जिसमें एक संधि है तथा 27 कडवक हैं। इस कृति में 11 गणधर थे तथा 14000 जिन मुद्रा को धारण करने वाले थे।

महाकवि रइधू पांचवें कवि हैं जिन्होंने सम्मइ-जिनचरिउ निबद्ध कर इस दिशा में महत्वपूर्ण कार्य किया। रइधू 15 वीं शताब्दि के कवि थे तथा अपभ्रंश भाषा में सबसे अधिक कृतियां निबद्ध करने वाले थे। कवि का यह प्रथम काव्य है। इसमें 10 संधियां तथा 246 कडवक हैं। काव्य की कथा का आधार आचार्य गुणभद्र का उत्तरपुराण एवं असग कवि का महावीर चरित्र है। कवि ने महावीर के बचपन की जिन घटनाओं का वर्णन किया है उनमें दो चारण मुनियों की दर्शनमात्र से शंका का निवारण तथा भगवान् को सन्मति नाम से सम्बोधित करना, देव द्वारा दश फणधारी भयंकर नाग का रूप धारण कर महावीर के वीरत्व की परीक्षा लेना और उसमें सफल होने पर महावीर नामकरण आदि का वर्णन किया गया है। महावीर 30 वर्ष तक कुमारावस्था में ही रहे और उन्होंने विवाह नहीं किया। मंगसिर कृष्णा दशमी को खांडवबन में उन्होंने मुनि दीक्षा धारण कर ली। पुष्पदन्त के समान रइधू ने भी अपने इस काव्य में महावीर का प्रथम आहार राजा कूल के यहां होना लिखा है।

सम्मइजिणचरिउ में महावीर की कैवल्य प्राप्ति के पश्चात् भी जब दिव्यध्वनि नहीं खिरी तो इन्द्र उसका कारण जान कर ब्राह्मण का वेश धारण कर इन्द्रभूति गौतम के पास गोलाणपुर पहुँचा। कवि ने उसे शांडिल्य द्विज का पुत्र लिखा है। ब्राह्मण वेषधारी इन्द्र ने गौतम से निम्न गाथा का अर्थ पूछा—

तिक्कालं छहदव्वकायसटकं पंचत्थिकायाणव।
सारा सुद्ध पमत्थ तिण्णिरयणा लिस्सा बया तत्र बा।
गुत्ती भुत्ति गइसु पंच समिदि एयाह जो सद्धदे
फासे सुद्ध मई रूई प कुरूदे सद्दिट्ठि सो भूयले ॥6।15

रइधू ने 1500 शिष्यों के साथ महावीर के समवशरण में जाना लिखा है जबकि पुष्प-दन्त ने 500 शिष्यों की संख्या दी है। इसी तरह वीर सूत्र के संघ का कवि ने बहुत ही सुन्दर एवं सांगोपोग वर्णन किया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उसके अनुसार संघ में 11 गणधर, 300 पूर्वधारी, 700 केवली, 500 मनःपर्ययज्ञानी, 900 विक्रिया ऋद्धिधारी, 1300 अवधिज्ञानी, 400 चारण ऋद्धिधारी, 9900 उपाध्याय, 36000 आर्यिकाएं, 1 लाख श्रावक एवं तीन लाख श्राविकाएं थी। ये सभी महावीर के संघ के सदस्य थे और रात्रि-दिवस आत्मचिन्तन एवं उनकी दिव्यध्वनि श्रवण किया करते थे। महाकवि पुष्पदन्त ने जो संघ की गणना दी है उसमें मनःपर्ययज्ञानी एवं केवलज्ञानी आदि की संख्या में पर्याप्त भिन्नता है।

भगवान् महावीर ने अपनी दिव्यध्वनि में सात तत्व, छह द्रव्य, गृहस्थाचार, मुनियों के 28 मूलगुणों, तप के बाह्य एवं आभ्यन्तर भेदों, ज्ञान के भेदों का विस्तृत वर्णन किया है।

महाकवि रइधू से भगवान् महावीर की पूर्व भवावलि का वर्णन भी पुष्पदन्त के समान ही किया है। सर्व प्रथम भिल्ल की पर्याय में व्रत ग्रहण करने का उल्लेख है तत्पश्चात् सम्राट् भरत के मरीचि नामक पुत्र के रूप में उसका वर्णन किया गया है। मरीचि को जब यह मालूम होता है कि वह चतुर्थ काल में अन्तिम तीर्थंकर महावीर होगा तो उसके मन में अहंभाव जाग्रत होता है। इसके पश्चात् उसके जीवन में अनेक उतार, चढ़ाव आते हैं। सिंह की पर्याय में आने पर दो मुनियों द्वारा आत्मदर्शन प्राप्त होने से उसका जीवन फिर सुमार्ग की ओर प्रवृत्त होता है और अन्त में वह अन्तिम तीर्थंकर के रूप में अवतरित होता है।

रइधू ने काव्य के बीच में धर्म-चर्चाओं से भद्रबाहु चरित्र का समावेश करके प्रस्तुत काव्य में रमणीयता में वृद्धि कर दी है। 10 वीं संधि में भद्रबाहु के चरित्र निरूपण ने एक स्वतन्त्र काव्य का रूप ले लिया है। कवि ने प्रसंगवश स्थूलिभद्र, चन्द्रगुप्त, नन्द, शकराव, चाणक्य आदि ऐतिहासिक महापुरुषों का इतिवृत्त भी यत्र तत्र दिया है। साथ ही में काव्य में सम्राट् चन्द्रगुप्त के समय में 12 वर्ष के भयंकर दुष्काल का भी उल्लेख है। यही नहीं कवि ने लिखा है कि भद्रबाहु स्वामी सम्राट् चन्द्रगुप्त के साथ विशाल मुनिसंघ को लेकर दक्षिणापथ की ओर विहार कर गये थे तथा भद्रबाहु स्वामी के स्वर्गारोहण के पश्चात् मुनि संघ की अध्यक्षता चन्द्रगुप्त अपर नाम विशाखाचार्य ने की थी।

काव्य में प्राकृतिक दृश्यों की भी कमी नहीं है। भगवान् महावीर के समवशरण के प्रभाव से वसन्त ऋतु का सर्वदा व्याप्त रहना, शीतल मन्द सुगन्ध समीर का बहना, चतुर्निकाय देवों द्वारा अतिशयों का प्रकट करना, दुष्काल का सर्वत्र अभाव होना, सूखे कुओं एवं तालाबों का जल से परिपूर्ण होना, भगवान् के प्रभाव से सिंह और हाथी, सर्प और मगर, बिल्ली और चूहा, व्याघ्र और हिरण अपनी जन्मजात शत्रुता को ही समवशरण में आकर नहीं भुला बैठते किन्तु समवशरण में एक साथ बैठकर महावीर के उपदेशामृत का पान भी करने लगे हैं।

कवि ने लोक का भी थोड़ा वर्णन किया है। साथ में सृष्टि कर्तृत्व का भी निरसन किया है। उसके अनुसार जगत् का न कोई बनाने वाला है और न कोई इसका विनाश ही करता है।

किपउ ण धरिपयउ केणवि रक्खिउ
अविणासिउ णाणेण णिरिक्खउ ।।

इस प्रकार अपभ्रंश साहित्य में भगवान् महावीर के जीवन पर ही विशाल प्रकाश नहीं डाला गया है किन्तु उनके जीवन को काव्यत्व शैली में प्रस्तुत कर पाठकों का ध्यान सहज ही आकृष्ट कर लिया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दक्षिण भारत में जैन धर्म का प्रवेश

श्री रमाकान्त जैन
बी. ए., सा. रत्न, तमिल कोविद
लखनऊ

यद्यपि आदिनाथ ऋषभदेव से लेकर निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र वर्द्धमान महावीर पर्यन्त चौबीसों तीर्थङ्कर इस भारतभूमि के उत्तरी भूभाग में जन्मे, पले और वही उनका कार्यक्षेत्र रहा। इतिहास काल के प्रारम्भ से ही दक्षिण भारत उनके अनुयायियों से युक्त रहा है। जैन धर्म कब और कैसे दक्षिण भारत पहुँचा यह निश्चित रूप से बताना तो कठिन है, किन्तु इस सम्बन्ध में दसवीं ईस्वी में रत्ननन्दी द्वारा संस्कृत में रचित भद्रबाहुचरित, 17वीं शताब्दी ईस्वी में चिदानन्द कवि द्वारा कन्नड में लिखे गये मुनिवंशाभ्युदय और 19वीं शती ईस्वी में देवचन्द्र विरचित कन्नड राजवलिकथे में उल्लिखित जनश्रुति ध्यातव्य है। उसके अनुसार उत्तर भारत में 12 वर्षीय भीषण दुर्भिक्ष पड़ने की आशंका से भगवान् महावीर के अन्तिम श्रुतकेवलि भद्रबाहु ने जैन मुनियों के विशाल संघ को लेकर दक्षिण की ओर विहार किया था और जब वह विहार करते हुए कर्नाटक प्रदेश के वर्तमान हासन जिले में श्रवणबेलगोल नामक स्थान की कटवप्र पहाड़ी तक पहुँचे तो अपना अन्त समय निकट आया जानकर आचार्य कुछ शिष्यों के साथ वहीं रुक गये और अपने शिष्य विशाखाचार्य को उन्होंने अन्य मुनियों के साथ तमिलनाडु के पाण्ड्य और चोल राज्यों में जाने का आदेश दिया। कहते हैं आचार्य भद्रबाहु ने उक्त पहाड़ी के ऊपर समाधिस्थ हो अपना शरीर त्यागा था। विद्यावारिधि डा० ज्योतिप्रसाद जैन की 'भारतीय इतिहास : एक दृष्टि' के अनुसार यह घटना महावीर निर्वाण संवत् 162 (ई० पू० 365) में घटी थी। आचार्य भद्रबाहु को अपना कुल परम्परागत धार्मिक गुरु मानने वाले मगध सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य ने अपने शासनकाल में अपने साम्राज्य के सुदूर दक्षिण में स्थित आचार्य की उपर्युक्त समाधि स्थली को तीर्थ रूप में यात्रा-वन्दना की बताई जाती है। इतना ही नहीं 25 वर्ष के प्रभावशाली शासन के उपरान्त जब इस सम्राट ने ई० पू० 298 में अपने पुत्र बिन्दुसार अमित्रघात को राज्यपाट सौंपकर जिन दीक्षा ली तो वह सौराष्ट्र होता हुआ दक्षिण भारत के कर्णाटक प्रदेशस्थ श्रवणबेल्गोल नामक उपर्युक्त स्थान पर ही पहुँचा और वहां एक पहाड़ी पर जैन मुनि के रूप में तपस्या करते हुए जीवन के शेष दिन व्यतीत किये तथा ई० पू० 290 में समाधिपूर्वक देह त्याग किया। उनकी स्मृति में वह पर्वत चन्द्रगिरि तथा उस पर्वत की वह गुफा जहां उन्होंने समाधिमरण किया था चन्द्रगुप्त बसदि कहलाई। इस अनुश्रुति का समर्थन उक्त स्थान तथा श्रीरङ्गपत्तन के समीप मिले कतिपय प्राचीन शिलालेखों से भी होता है।

उपर्युक्त अनुश्रुति से जहां हमें यह विदित होता है कि ईसा पूर्व की चौथी शताब्दी में जैन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मुनियों का एक विशाल संघ उत्तर भारत से दक्षिण भारत की ओर वहां बसने के उद्देश्य से गया था और वे लोग कर्णाटक प्रदेश तथा तमिलनाडु में स्थित पाण्ड्य और चोल राज्यों में गये थे हमें यह भी संकेत मिलता है कि इन स्थानों पर जैन धर्म और उसके अनुयायियों के प्रवेश का यह प्रथम चरण नहीं था अपितु इसके पूर्व ही उक्त प्रदेश में न केवल उनका प्रवेश प्रत्युत प्रसार भी हो चुका होगा तभी आचार्य भद्रबाहु ने अपने विशाल मुनि संघ को, जिसकी संख्या लगभग 12000 रही बताई जाती है, शान्तिपूर्ण चर्या हेतु वहां ले जाने का साहस किया होगा। लंका द्वीप में भी जैन धर्म का प्रचार ई० पू० की चौथी शती में होने के उल्लेख मिले हैं जो उपर्युक्त परिकल्पना को पुष्ट करते हैं।

इतिहास के पन्ने पलटने से यह ज्ञात होता है कि आर्यों के दक्षिण भारत में प्रवेश करने के पूर्व वहां के निवासियों की सभ्यता समुन्नत थी, द्रविड़ लोग भौतिक सभ्यता के निर्माण में तथा अपने लिये व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से जीवन की अनेक सुविधाओं को जुटाने में लगे हुए थे। उनका जीवन धर्म निरपेक्ष था जिसकी प्रतिच्छाया उनके तत्कालीन साहित्य में भी दृष्टिगोचर होती है। इन द्रविड़ों को काफी समय तक उत्तर भारत के वैदिक आर्य अपने से हीन, अपना शत्रु अथवा प्रतिद्वन्द्वी मानते रहे और तिरस्कारपूर्ण वानर, दस्यु, ऋक्ष, राक्षस आदि से उन्हें अभिहित किया तथा उनसे सम्बन्ध और सम्पर्क रखना उन्होंने उचित नहीं समझा। इसके विपरीत उत्तर के श्रमण व्रात्य आर्यों ने जो वैदिक बलियुक्त यज्ञयाग के विरोधी थे, वेद, ईश्वर और वर्ण व्यवस्था को नहीं मानते थे अपितु अहिंसा के पुजारी और अध्यात्मवादी थे उनके प्रति उदार दृष्टि बरती, उनके गुणों का मूल्यांकन किया, उन्हें विद्याधर सम्बोधन से सम्मानित किया तथा उनमें घुलने-मिलने का प्रयास किया। यही कारण है कि वे सम्पर्क में आने पर शीघ्र ही दक्षिण के आदिवासियों को ग्राह्य और उनमें लोकप्रिय हो गये। दक्षिणवासियों से सम्पर्क बढ़ाने, उनके बीच जा बसने के उद्देश्य से उत्तर भारत से जो आर्य पहले पहल दक्षिण की ओर गये उनमें उनका यह श्रमण व्रात्य वर्ग अग्रणी रहा जिसके प्रतिनिधि जैन मुनि, बौद्ध भिक्षु और आजीवक साधु थे।

जैन मुनियों की सरल सादी जीवनचर्या, विनम्र स्वभाव, निष्कपट व्यवहार और नैतिक शिक्षाओं ने उस सभ्य विद्याधर जाति को मोह लिया और उसे उनका भक्त बना दिया। उन साधुओं ने इस सम्पर्क को घनिष्टता में परिणत करने हेतु स्थानीय बोलियों और भाषाओं को निस्संकोच सीखा और उन्हें ही उनके मध्य अपने विचार-विनिमय का मुख्य साधन बनाया और साहित्य संरचना की। फलस्वरूप दक्षिण भारतीय भाषाओं—तमिल, तेलुगु और कन्नड के प्रारम्भिक विकास में जैन-साधु मुनियों का प्रभूत योग रहा।

दक्षिण में जैन धर्म को जनसम्मान तथा राज्याश्रय दोनों ही प्राप्त हुए और कई शताब्दियों तक जैन मतावलम्बी दक्षिण भारतीय समाज में अग्रणी पंक्ति में बने रहे। किन्तु बाद में शैव, वैष्णव और लिंगायत (वीर शैव) सम्प्रदायों के कट्टर विद्वेष के कारण तथा राज्याश्रय समाप्त हो जाने पर उनकी वह स्थिति बराबर नहीं बनी रह सकी। अपने धर्म और संस्कृति की रक्षा अनेक कष्टों के बीच करते हुए अब भी 1971 ई० की जनगणना के अनुसार दक्षिण भारत के आन्ध्र प्रदेश, कर्णाटक, तमिलनाडु तथा केरल राज्यों में लगभग तीन लाख (2,79,403) जैन निवास करते हैं। यह अवश्य है कि इनमें सर्वाधिक संख्या 2,18,862 कर्णाटक में और सबसे कम (3,336) केरल में है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन धर्म और उनके अनुयायियों ने दक्षिण भारतीय समाज को कितना प्रभावित किया है इस का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि आज भी दक्षिण भारत में वर्णमाला सीखने के पहले बालकों को 'श्रीगणेशाय नमः' के स्थान पर 'ओनामासीधं' (ओम् नमः सिद्धेभ्यः) सिखाया जाता है। डा० ए० एस० अल्तेकर के अनुसार यह इस बात का सूचक है कि राष्ट्रकूट काल में जैन गुरुओं ने देश की शिक्षा में पूर्ण रूप से भाग लेकर इतनी अधिक छाप जमाई थी कि दक्षिण में जैन धर्म का संकोच हो जाने के बाद भी वैदिक सम्प्रदाय के लोग अपने बालकों को उक्त जैन नमस्कार वाक्य सिखाते ही रहे। प्रो० ए० चक्रवर्ती की पुस्तक "जैन लिट्रेचर इन तमिल" के अनुसार आज भी तमिल समाज के उच्च वर्गों में जैन संस्कार विद्यमान हैं। दक्षिण में शैव धर्म का पुनरुत्थान हो जाने तथा राजनैतिक कारणों से जैनों द्वारा भारी संख्या में धर्म परिवर्तन कर लेने पर भी उन धर्म परिवर्तित हिन्दुओं ने अपने जैन रीति-रिवाजों को सुरक्षित रक्खा। उनके आचार वैसे ही बने रहे। तमिल शब्द "शैवम्" जिससे सामान्यतया शिव भक्त का बोध होता है तमिलनाडु में विशुद्ध शाकाहारी के लिये प्रयुक्त होता है और वहां के ब्राह्मण पक्के शाकाहारी होते हैं जो स्पष्टतया जैन धर्म का प्रभाव है। तमिल की जैनकृतियों 'तिरुक्कुरल' और 'नालडियार' में सदाचरण पर दिये गये बल को लक्ष्य कर डा० जी० यू० पोप जैसे पाश्चात्य विद्वानों ने उनके रचनाकारों को ही नहीं उस समाज को भी जिसके लिये उनकी रचना हुई, आध्यात्मिक दृष्टि से समुन्नत, महान् सदाचारी और अन्य भारतीय समाज से अग्रणी माना है।

क्षणिकायें

● श्री सुरेश सरल, जबलपुर

□

भगवान महावीर का
समाजवाद,
जहाँ प्राणी
स्वच्छंद होकर जीते थे,
शेर और गाय
एक साथ पानी पीते थे।
चलो !
हम भी उगायें
समाजवाद के वृक्ष सरीखे।
जिनकी छाया में
आदमी
आदमी के साथ
बैठना सीखे।

□

□

कोरे कागजों पर
लिख दिया महावीर,
बे-जान माइकों से
उचारा—महावीर।
बस
जयंती मन गई।
समाज की इमेज बन गई ?

□

महावीर का नाम
सौ बार उचारने के बदले
महावीर प्रणीत एकाध आचरण
जीवन में उतारलें
भव-परभव सुधार लें।

□

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और चिता पर चढ़ जाता है....

● डा० विजय जैन 'आनन्द' शहपुरा (म० प्र०)

निशा काल में दीपक जलता
पर मानव जलता-जलता, खुद ही तो जल जाता है,
पर इस लम्बे जीवन का वह पाप नहीं धो पाता है ।
और चिता पर चढ़ जाता है ।।

मयखाने में साकी झूमें, हाथ में तेरे प्याला घूमे ।
डाल दे साकी इसमें मधुरस, पीने को बैठा हूं बरबस ।
किन्तु औंठ तक जाते-जाते, जाम छलक जाता है ।
और चिता पर चढ़ जाता है ।।

अरमां के बनाये महलों को, क्या खूब सजाया ख्वाबों में ।
जल उठी चिता जो महलों की, खुद राख हो गया लपटों में ।
लपटों में जलते-जलते वह स्वयं नहीं जल पाता है ।
और चिता पर चढ़ जाता है ।।

गीत गाये दुनियाँ के जिससे, कहलाता तू दीवाना ।
अपना कफन बांध के सर में, फिर से बन जा मस्ताना ।
अर्थी पर चढ़ने वाले का, सब यहीं पड़ा रह जाता है ।
और चिता पर चढ़ जाता है ।।

लोभ मोह की ज्वाला में, क्या खूब तपाया अपने तन को ।
अपराध किये जो लाखों तूने, अहसास करादे अपने मन को ।
पश्चाताप नहीं कर पाता, आँसू बहा न पाता है ।
और चिता पर चढ़ जाता है ।।



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्री दि० जैन मन्दिर शाहदरा, दिल्ली

चतुर्विंशतिका



सम्बन्धित लेख इसी स्मारिका के खण्ड २ में देखिए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शाहदरा की रत्नत्रय चतुर्विंशतिका

● श्री कुन्दनलाल जैन प्रिन्सिपल
शाहदरा, दिल्ली

अब से लगभग 40–50 वर्ष पूर्व जमना पार केवल शाहदरे में ही एक विशाल शिखरबद्ध जैन मन्दिर था, अब तो जैन मन्दिरों की संख्या काफी हो गई है। पर ऐतिहासिक दृष्टि से इस मन्दिर का बड़ा महत्व है, कहते हैं कि ला० हरसुखरायजी जब धर्मपुरे का नया मन्दिर बनवा रहे थे तभी इस मन्दिर की नींव पड़ी थी, और हस्तिनापुर के दि० जैन मन्दिर के निर्माण में उनका जैसा अपूर्व ऐतिहासिक सहयोग था उसी तरह इस मन्दिर के निर्माण में भी उनका अपूर्व सहयोग प्राप्त हुआ था। इस मन्दिर में एक भव्य विशाल प्रांगण है जिसके पूर्व भाग में जिनालय है और शेष तीनों तरफ बड़ी-बड़ी दहलाने हैं। जिनालय में पांच वेदियां हैं।

मूलवेदी मध्य में स्थित है और पंचमेरु के आकार की बड़ी आकर्षक है जिसमें मूलनायक प्रतिमा भ० पार्श्वनाथ की है जो लगभग दो फुट ऊंची पाषाण की है। यह वैसाख सुदी 8 सं. 1548 में प्रतिष्ठित हुई थी। किन्ही भट्टारकजी का नामोल्लेख भी है पर पढ़ा नहीं जाता। मूल वेदी से दाहिनी ओर दो वेदियां है और दो वेदियां बाई ओर भी हैं। दाहिनी ओर की प्रथम वेदी में एक महत्वपूर्ण कलाकृति विद्यमान है जिसका नामोल्लेख इसी कृति में 'रत्नत्रय चतुर्विंशतिका' शीर्षक से उत्कीर्ण है। इसी श्रेष्ठ कृति के लिए यह लेख तैयार किया गया है। यह श्रेष्ठ कलाकृति इस मन्दिर की सर्वश्रेष्ठ धरोहर है।

शाहदरा की 'रत्नत्रय चतुर्विंशतिका' पीतल की बनी हुई है और इसका वजन भी लगभग दो किलो तो होगा ही। इसकी ऊंचाई लगभग एक फुट और चौड़ाई लगभग पौन फुट (नौ इंच) होगी। चित्र संलग्न है। इसमें शांति, कुंथु और अरनाथ इन तीन तीर्थंकरों की खड्गासन प्रतिमाएं मूल रूप से ढाली गई हैं जिन्हें 'रत्नत्रय' की उपाधि से अलंकृत किया गया है फिर इन तीनों प्रतिमाओं के अगल बगल एवं ऊपर नीचे चौबीस तीर्थंकरों की चौबीस छोटी-छोटी पद्मासन प्रतिमाएं उत्कीर्ण हैं अतः इन्हें 'चतुर्विंशतिका' नाम दिया गया। इस तरह संपूर्ण कृति 'चतुर्विंशतिका' नाम से विख्यात है। इसके पृष्ठ भाग में मूर्ति लेख भी उत्कीर्ण है जो निम्न प्रकार है—

"सं० 1516 वर्षे वैसाख सुदी 15 सोमवार श्री मूलसंघे कुन्दकुन्द आम्नाए भट्टारक श्री सकलकीर्ति देवास्तत्पदे भट्टारक श्री भुवनकीर्तिजी तत्पाद प्रासादार्थ हूमडवंशी श्रेष्ठी लखमसी भार्या लाखु जैसिंह भार्या दोषी द्वितीय सुत ढूसा भार्या भटकु तृतीय बना भार्या बानु सुत गोपालदासेन श्री रत्नत्रय चतुर्विंशतिकाम् नित्यम् प्रणमति विनयेन"

इसी वेदिका में दस प्रतिमाएं और दो यंत्र भी हैं, जिनमें से एक धातु की प्रतिमा भ० चन्द्रप्रभ की आठ इंच ऊंची सं० 1755 की तथा दूसरी भ० चन्द्रप्रभ की शुभ्र पाषाण की लगभग सं० 1500 की है जो स्पष्ट नहीं पढ़ा जाता। एक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विनायक यंत्र सं० 1794 माघ सुदी 13 मूलसंघे मंडलाचार्य श्री अनन्तकीर्तिः तदाम्नाए पाण्डया गोत्रे सहाय दामसी सिंहजी ने प्रतिष्ठापितें"।

शेष प्रतिमाएं अत्याधुनिक हैं।

इसके बाद दूसरी वेदिका में सात प्रतिमाएं हैं जिनमें से भ० पार्श्वनाथ की धातु की प्रतिमा अत्यधिक प्राचीन है जिस पर निम्न लेख उत्कीर्ण है "सं० 1524 वर्षे चैत्र सुदी एकम बुधे श्री काष्ठा संघे भट्टारक श्री कमलकीर्ति देवास्तत्पट्टे श्री शुभचंद देवास्तदाम्नाए अग्रोतकान्वए····भ० पार्श्वनाथ की दूसरी प्रतिमाएं सं० 1545 और 1682 की है। एक चन्द्रप्रभ की प्रतिमा फागुन सुदी नवमी सं० 1624 में प्रतिष्ठित हुई थी उसमें सुमतिकीर्ति भट्टारक का नामोल्लेख है। एक भ० पार्श्वनाथ की प्रतिमा सं० 1862 की भी है।

मूल वेदी से बायें तरफ वाली पहली (क्रमशः चौथी) वेदिका में एक यंत्र और छह प्रतिमाएं हैं जो प्रायः अत्याधुनिक है। केवल एक छह इंच ऊंची पद्मासन धातु की भ० नेमिनाथ की प्रतिमा है जिसमें माघ सुदी नवमी सं० 1349 उत्कीर्ण हुआ पढ़ा जाता है।

अन्तिम (क्रमशः पांचवीं) वेदिका में छह प्रतिमाएं और एक यंत्र है, इनमें से भ० महावीर स्वामी की शुभ्र पाषाण की पद्मासन प्रतिमा अति प्राचीन लगती है। भ० शीतलनाथ की शुभ्र पाषाण की पद्मासन प्रतिमा वैसाख सुदी 3 सं० 1548 की है जिसमें भट्टारक जिनचन्दजी का नाम उत्कीर्ण है। एक प्रतिमा सं० 1477 की है दो प्रतिमाएं वी० नि० सं० 2024 और 2026 की हैं।

शाहदरा में पहले बड़े धार्मिक और निष्ठावान श्रावक रहा करते थे जो जिनवाणी के परम भक्त थे। यहां के शास्त्र भंडार में लगभग सौ हस्तलिखित ग्रंथों का संग्रह विद्यमान है। यहां आषाढ़ सुदी पंचमी सं० 1942 को पं० बंशीधरजी ने 'आदित्यकार कथा' लिखी थी जो पंचायती मन्दिर मस्जिद खजूर दिल्ली के शास्त्र भंडार में क्रमांक अ 69 ख पर विद्यमान है।



महावीर ने कहा

अन्नं भासइ अन्नं करेई त्ति मुसावणो।
कहना कुछ और करना कुछ यही झूंठ है।

सव्वे कामा दुहावहा।
सब प्रकार के काम भोग दुःखदाई होते हैं।

इच्छा हु आगाससमा अणंतिया।
इच्छाएं आकाश के समान अनन्त होती हैं।



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'पउम चरियं' में महावीर-चरित्र और उपदेश

● श्री अगरचंद नाहटा
बीकानेर

भगवान् महावीर जीवनी संबधी प्राचीनतम साधन श्वेताम्बर जैनागम हैं। स्वतंत्र रूप से महावीर चरित्र बहुत बाद में लिखे गये। जैन आगमों में भी आचारांग, कल्पसूत्र और आवश्यक निर्युक्ति चूर्णि में कुछ व्यवस्थित महावीर चरित्र मिलता है, अन्य आगमों में तो छुट्टी-छवाई बातें ही मिलती है, जिन से महावीर जीवन का पूरा चित्र ठीक से उपस्थित नहीं होता।

जैन साहित्य में कथा-संग्रह सम्बन्धी पहला ग्रंथ छठा अंगसूत्र ज्ञाताधर्मकथाअंग है उसके बाद प्रथमानुयोग गंडिका आदि जो ग्रंथ लिखे गये थे, वे आज प्राप्त नहीं हैं। जैन कथा का सबसे पहला और महत्वपूर्ण ग्रंथ है, विमलसूरि रचित 'पउम चरियं' जिसकी रचना वीर निर्वाण सं० 530 विक्रम संवत् 60 अर्थात् प्रथम शताब्दी में हुई थी। इस ग्रंथ में प्रधानतया जैन धर्म मान्य राम कथा है। पुरुषोत्तम श्रीराम को प्राचीन जैन ग्रंथों में 'पउम' या पद्म नाम से संबोधित किया है। समवायांग सूत्र में राम का नाम 'पउम' ही पाया जाता है, जो ८वें बलदेव थे। इस आगम में ८वें बलदेव का नाम 'राम' है जो श्रीकृष्ण के भाई बलराम नाम से प्रसिद्ध हैं।

'पउम चरियं' में राम कथा के साथ-साथ और भी तीर्थंकर चक्रवर्ती आदि का चरित्र वर्णित है। इसमें सबसे पहले ग्रंथ का विषय वर्णन करने के बाद मगध देश के राजपुर (राजगृही) में राजा श्रेणिक राज्य करता था, इसका उल्लेख करके भगवान् महावीर का चरित्र दिया है। वह बहुत संक्षिप्त में होने पर भी बहुत महत्वपूर्ण है। जैन आगमों के लिपिबद्ध किये जाने के ४५० वर्ष पहले के रचित इस ग्रंथ का महावीर चरित्र अवश्य ही उल्लेखनीय है, अतः उसे इस लेख में प्रकाशित किया जा रहा है।

महावीर चरित्र के बाद 'पउम चरियं' में यह लिखा गया है कि "शिष्य समुदाय गणधर एवं सकल संघ के साथ विहार करते हुए तथा ज्ञानादि अतिशयों की विभूति से संयुक्त महावीर एक बार विपुलाचल के ऊपर पधारे। इन्द्र वहां आया और जिनवरेन्द्र को देखते ही दोनों हाथ मस्तक पर जोड़ कर मन में आनंदित होता हुआ भगवान् की स्तुति करने लगा।" ४ गाथाओं में इंद्र की की हुई जो स्तुति दी गई है उसका हिन्दी अनुवाद भी इस लेख में दिया जा रहा है।

"स्तुति के बाद" देवेंद्र और अन्य देव, योग्य स्थानों में बैठ गये। मगधादित्य श्रेणिक राजपुर से निकला, भगवान् जहां ठहरे हुए थे वहां आकर हाथी से उतर कर जिनवर की स्तुति कर नीचे बैठा। यह लिखने के बाद समोसरण का वर्णन दिया है जो प्रसिद्ध होने से यहां नहीं दिया जा रहा है। उसके बाद लिखा है कि "मेघ के समान ध्वनि वाले जिनवरेंद्र महावीर अर्धमागधी भाषा में सभी लोगों को कल्याणकारी धर्म का उपदेश

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देते है। महावीर का दिया हुआ वह उपदेश भी यहां दिया जा रहा है। इस प्रकार पउमचरियं के दूसरे समुदेशक में भगवान् महावीर का चरित्र और उपदेश वर्णित है, उसे प्राकृत ग्रंथपरिषद से प्रकाशित पउमचरियं सानुवाद ग्रंथ से उद्धृत करके यहां प्रकाशित कर रहा हूं।

मान्यवर नाथूरामजी प्रेमी ने पउमचरियं को प्राकृत जैन कथा साहित्य का सब से प्राचीन ग्रंथ बतलाते हुए लिखा है कि "इस ग्रंथ में ऐसी कोई बात नहीं मिली जिस पर दिगम्बर-श्वेताम्बर में से किसी एक संप्रदाय की कोई गहरी छाप हो। अर्थात् यह ग्रंथ उस समय का है जब जैन धर्म अविभक्त था। इसमें कुछ बातें ऐसी हैं, जो श्वे० परंपरा के विरुद्ध जाती हैं और कुछ दिगम्बर परंपरा के विरुद्ध। इससे मालूम होता है यह तीसरी, दोनों के बीच की धारा थी।"

महावीर चरित—

इस भरतक्षेत्र में गुण एवं समृद्धि से सम्पन्न कुण्डग्राम नाम का नगर था। वहां पर राजाओं में वृषभ के समान उत्तम सिद्धार्थ नामक राजा राज्य करता था। उसकी अनेक गुणों से युक्त तथा रूपवती त्रिशला नाम की भार्या थी। पूर्व जन्म पूर्ण होने पर जिन (महावीर) उसके गर्भ में आए। आसनकम्प द्वारा जिनेश्वर का जन्म हुआ है ऐसा जानकर और इसीलिये आनन्द से पुलकित होकर सब देव चल पड़े। कुण्डग्राम नगर में आकर उन्होंने सुगंधित जल की वृष्टि की। बाद में जिनवरेन्द्र को लेकर वे देव मेरु पर्वत के शिखर पर गये। और पाण्डुकम्बल शिला के ऊपर मणियों से देदीप्यमान सिंहासन पर भगवान् को स्थापित कर के क्षीरोदधि के जल से भरे हुए कलशों से उनका अभिषेक करने लगे। मेरु पर्वत को अपने अगूंठे से क्रीडामात्र में उन्होंने हिला दिया था इसीलिये सुरेन्द्रों ने उनका नाम महावीर रखा। जिनेन्द्र महावीर को वंदन, संथुति एवं प्रदक्षिणा कर के देव वापस लौटे और तीनों लोको के गुरु जैसे भगवान् को पुनः माता के समीप रखा। इन्द्र के द्वारा दिये हुए आहार से तथा अगूंठे पर किमे गये अमृत के लेप से चूसने से धीरे धीरे बाल भाव का त्याग करके जिन तीस वर्ष की अवस्था के हुए।

संसार के दोषों को जानने वाले और इसी लिये विरक्त लौकान्तिक देवताओं से घिरे हुए जिनेश्वर महावीर ने एक दिन दीक्षा ली। बाद में ध्यानोपयोग में लीन उन्हें आठ कर्मों का क्षय होने पर समग्र जगत् को प्रकाशित करने वाला केवलज्ञान उत्पन्न हुआ। उनका रुधिर दूध के समान श्वेत था। उनकी देह मैल और पसीने से रहित थी, उसमें से सुगंध आरही थी, सामुद्रिक शास्त्र में वर्णित सुन्दर लक्षणों से वह युक्त थी तथा अत्यन्त निर्मल थी। उनकी आँखें स्पन्द के रहित थीं, उनके नाखून और बाल अवस्थित तथा स्निग्ध थे और उनके चारों ओर सौ योजन तक का प्रदेश संक्रामक रोगों से शून्य रहता था। जहां पर उनके चरण पड़ते थे वहाँ सहस्र दल कमल निर्मित हो जाता था, वृक्ष फलों के भार से झुक से जाते थे, पृथ्वी धान्य से परिपूर्ण और जमीन दर्पण के समान स्वच्छ हो जाती थी। अर्ध मागधी वाणी उनके मुख से निकलती थी और धूल व गर्द से रहित दिशाएँ शरत्काल की भाँति निर्मल हो जाती थीं। जहां जिनेन्द्र महावीर ठहरे थे वहाँ रत्न खचित सिंहासन, योजन पर्यन्त जिसका मनोहर शब्द सुनाई दे ऐसी दुन्दुभि तथा देवों द्वारा की जाने वाली पुष्पवृष्टि होती थी। इस प्रकार आठ प्रतिहारियों से समन्वित मुनिवृषभ और जिनन्द्रों में भी सूर्य सदृश भगवान् महावीर भव्यजन रूपी कमलों को विकसित करते हुए विचरते थे। शिष्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समुदाय, गणधर एवं सकल संघ के साथ विहार करते हुए तथा ज्ञानादि अतिशयों की विभूति से युक्त महावीर एक बार विपुलाचल के ऊपर पधारे।

भगवान् महावीर के उपदेश

द्रव्य दो प्रकार के हैं। जीव और अजीव रूप ये दो भेद जानने योग्य हैं। जीव के भी दो भेद हैं। (1) सिद्ध (2) संसारी। जो सिद्ध जीव होते हैं उनका सुख अनन्त, अनुपम, अक्षय, अमल अनन्त एवं किसी भी प्रकार की बाधा से सदा मुक्त अर्थात् अव्याबाध होता है। संसारी जीवों के भी त्रस एवं स्थावर रूप से दो भेद जानने चाहिए। इन दोनों के भी प्रयाप्त और अप्रयाप्त रूप दो दो भेद हैं। पृथ्वी, पानी, आग, पवन और वनस्पति-ये पांच स्थावर जीव कहे गये हैं। द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के त्रस जीव हैं। उनके भी दो भेद हैं—1 संज्ञी अर्थात् मन वाले, और (2) असंज्ञी अर्थात् मन रहित। जो अजीव द्रव्य है वह धर्म अधर्म आदि भेद से अनेक प्रकार का है। भव्य जीव मोक्ष में जाते हैं, जबकि अभव्य जीव मोक्ष में न जाकर इस संसार में भटकते ही रहते हैं। मिथ्यात्व, मन वचन-काय की प्रवृत्ति रूप योग तथा लेश्या सहित कषाय इन कारणों से जीव सर्वदा अशुभ कर्म का बन्ध करता है। सम्यक्त्व के साथ ज्ञान, दर्शन, चारित्र एवं तप से तथा मन-वचन कार्य को अशुभ प्रवृति से दूर रखने वाला जीव अनन्त पुण्य उपार्जित करता है। कर्म के संक्षेप में आठ भेद कहे गए हैं। अपने अपने परिणाम के अनुसार जीव कर्म का बन्ध करते हैं या मुक्त होते हैं। विषय सुख में मूढ़ संसारी जीव को जो क्षणिक सुख प्रतीत होता है वह तो वस्तुतः अनेक वद्य दुःख रूप ही है। पाप कर्म करने वाले जीव को नरक लोक में एक निमिष जितने भी समय में सुख नहीं मिलता। तिर्यंच जीव, मारपीट, बंधन एवं तिरस्कार आदि दोषों द्वारा दुःख का अनुभव करते हैं। संयोग और वियोग में, लोभ में और अलाभ में, राग में और द्वेष में मनुष्य को शारीरिक एवं मानसिक दुःख होता है। अल्पऋद्धि वाले देवों को महर्द्धिक सुर समूह को देख कर जो दुःख होता है उससे भी भारी दुःख तो उन्हें च्यवन काल में (देवगति च्युत से होकर दूसरी गति में जन्म लेते समय अर्थात् मरण काल में) होता है। ऐसे घोर संसार रूपी चौराहे में खड़ा हुआ जीव दूसरे जीवों की अपेक्षा तुलना में दुःख से मुक्त होने पर ही मानव योनि प्राप्त करता है। मनुष्यत्व प्राप्त करने के बावजूद भी मन्द पुण्य के कारण जीव शबर आदि कुलों में उत्पन्न होता है; उत्तम कुलों में जीव की उत्पति बड़ी कठिनाई से होती है। उत्तम कुल में उत्पन्न होने पर भी मनुष्य बौना, बहरा, अन्धा, गूंगा, ठूंठा और लूला-लंगड़ा होता है। जीव बड़ी मुश्किल से पाँचों इन्द्रियों से नीरोग तथा सुरूप होता है। सभी सुन्दर वस्तुओं की प्राप्ति होने पर भी अपुण्यशाली मूर्ख मनुष्य को लोभ एवं मोहवश धर्म में बुद्धि ही नहीं होती। धर्म विषयक बुद्धि उत्पन्न होने पर भी कुधर्म रूपी क्रीड़ा गृहों में वह घुमाया जाता है, जिससे जिनभावित धर्म को वह प्राप्त नहीं करता। मनुष्यत्व प्राप्त करके जिसका चित्त सर्वदा धर्म में नहीं लगा रहता उस मनुष्य के करतल में आया हुआ अमृत भी मानो नष्ट हो गया। यहाँ पर ऐसे भी कितने ही धीर पुरुष हुए थे जिन्होंने भावपूर्वक चारित्र ग्रहण किया था और अपने चारित्र में अखण्डित रह कर अब उत्तम स्थान (मोक्ष) में जाकर ठहरे हैं। दूसरे भी ऐसे धीर पुरुष हैं जिन्होंने 'जिन' पद की (तीर्थंकर नाम कर्म की) प्राप्ति के लिये कारणभूत बीस स्थानक की आराधना करके तीनों लोकों के लिए आश्चर्यकारी ऐसा अनन्त सुख प्राप्त किया है। दूसरे ऐसे भी हैं जो घोर तप करके संसार को अल्प कर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देते हैं, और दो या तीन भव तक इस संसार में परिभ्रमण करके फिर अनुपम निर्वाण प्राप्त करते हैं। वे लोग जो उत्तम तप करते हैं तथा अपने अपने बुद्धिबल के अनुसार आराधना कर के मृत्यु प्राप्त करते हैं वे उत्तम अनुत्तर विमानों में अहमिन्द्र रूप में उत्पन्न होते है। वहां से च्युत होने पर वे बलदेव एवं चक्रवर्ती के भोग व ऐश्वर्य का चिरकाल तक उपभोग करके और बाद में धर्म का आचरण करके सिद्ध होते हैं। दूसरे ऐसे भी होते हैं जो घोर परीषहों से पराजित होकर संयम से भ्रष्ट होते हैं। और पुनः गृहस्थ के अणुव्रतों का पालन करते हैं। कई लोग ऐसे भी होते हैं जो जिनवरेन्द्र के दर्शन मात्र से संतोष मानते हैं। वे स्वप्न में भी प्रत्याख्यान (त्याग) और उसके प्राप्त होने वाले सुख का अनुभव नहीं करते। मिथ्यात्व से जिनकी मति मोहित हो गयी है, चारित्रहीन, व्रतरहित एवं विषयरस में आसक्त मनुष्य अति घोर संग्राम जैसे ग्रहारम्भ में प्रवेश करते हैं। दूसरे मनुष्य खेती आदि व्यवस्था में अनेक प्रकार के जन्तुओं का विनाश करके तीव्र एवं अत्यन्त दुःख से परिपूर्ण घोर नरक में जाते हैं। छलकपट युक्त एवं कुटिल स्वभाव वाले, झूठे मापतोल से धन्धा रोजगार करने वाले तथा धर्म में अश्रद्धा रखने वाले तिर्यंच योनि में उत्पन्न होते हैं। जो सरल स्वभाव के और धर्म का आचरण करने वाले हैं, जिनके कषाय मन्द हैं और जो स्वभाव से भद्र तथा मध्यम गुणों से युक्त हैं वे मनुष्य जन्म प्राप्त करते हैं। जो अणुव्रत और महाव्रत का पालन करते हैं और बालक की भाँति समझे-बूझे बिना बाल तप करते हैं वे अपने-अपने परिणाम के अनुसार देवलोकों में देव रूप से उत्पन्न होते हैं। जो ज्ञान दर्शन एवं चारित्र में तथा परस्पर करण एवं योग में शुद्ध होते हैं और जो देह में भी अनासक्त होते हैं वे अपने कर्मों का नाश करके मुक्ति प्राप्त करते हैं। जो ज्ञानावरणीय आदि आठ प्रकार के कर्म से रहित होते हैं वे श्रमणों में सिंह जैसे पराक्रमी ही उस अक्षय अनन्त अव्याबाध, शिव और परमसुखमय मोक्ष प्राप्त करते हैं। चार गति रूपी महासमुद्र में कर्म से जकड़े हुए जीव इधर-उधर टकराया करते हैं। जिन धर्म रूपी नौका के सिवाय कोई इस समुद्र से पार उन्हें नहीं उतार सकता। संसार रूपी अतिभीषण ग्रीष्मकाल में दुःख रूपी गर्मी से तीव्र वेदना का अनुभव करने वाला समग्र जीवलोक जिनवचनरूपी मेघ के शीतल जल से शान्ति का अनुभव करता है।

वीर स्तुति

"हे केवलज्ञान रूपी किरणों से सूर्य के समान! यह सारा जीवलोक मोहरूपी गहरे अन्धकार में सोया हुआ है। अकेले आपने ही इसे निर्मल प्रकाश से प्रकाशित किया है। संसार रूपी समुद्र में शोकरूपी बड़ी-बड़ी लहरें टकरा रही हैं, हे महाशय, भव्यजनरूपी व्यापारियों को नौका के समान आप ही पार उतारने वाले हैं। हे नाथ! संयोग, वियोग एवं शोकरूपी तरुओं से व्याप्त जन्ममरणरूपी संसार के गहन वन के कुमार्ग में नष्ट होने वाले जंतुओं के लिए आप ही सार्थवाह-तुल्य उत्पन्न हुए हैं। बहुत देर तक सहस्र कोटि वर्षों तक भी आपके वास्तविक गुणों का यदि कोई संकीर्तन करे तो भी उनकी गिनती करने में हे नाथ! कौन समर्थ हो सकता है?

इस प्रकार स्तुति करने के पश्चात् देवेन्द्र तथा दूसरे भी चारों निकायों के देव भावपूर्वक प्रणाम करके अपने अपने योग्य स्थानों में जा बैठे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नागार्जुन की जैनगुफा

—श्री नीरज जैन, एम० ए०

जलगांव जिले में चालीस गांव से दक्षिण-पश्चिम की ओर लगभग दस किलोमीटर पर एक प्राचीन शिव मंदिर है। मंदिर के पीछे पहाड़ियों का सिलसिला प्रारम्भ होता है। पहाड़ी चढ़ते समय बीचों बीच एक प्राचीन जैन गुफा मंदिर है जिसमें अनेक तीर्थंकर प्रतिमायें उत्कीर्ण हैं।यह गुफा चालीसगांव जिले की एकमात्र जैनगुफा है। आवागमन की असुविधा के कारण तथा वांछित प्रचार के अभाव में यह गुफा अभी तक विशेष प्रकाश में नहीं आ सकी, किन्तु पुरातत्व विभाग का संरक्षण इसे प्राप्त हो गया है। इस लेख में इस गुफा का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है। केमरा साथ नहीं होने के कारण चित्रांकन का कार्य शेष रह गया है तथा नापने का फीता रास्ते में छूट जाने के कारण शिल्पावशेषों की जो माप आगे दी जा रही है वह दृष्टि के अनुमान पर आधारित है।

सामान्य सर्वेक्षण

चालीसगांव से दस किलोमीटर दूर पहाड़ी के नीचे एक क्षेत्र 10 वीं से 12 वीं शताब्दी तक के अनेक शिल्पावशेषों से भरा हुआ है। पाटनादेवी का प्राचीन मंदिर धीरे-धीरे एक रमणीक और प्रसिद्ध हिन्दू तीर्थ के रूप में विकसित हो रहा है। चालीसगांव से इस मंदिर तक प्रतिदिन बसों का आवागमन होता रहता है। इसी मंदिर मार्ग पर दस किलोमीटर चलने के बाद दाहिनी ओर मुड़कर एक साधारण पथ से हम लोग महादेव मंदिर के प्रांगण में पहुँच गये। मंदिर 10 वीं शताब्दी का नागर शैली में बना हुआ है। उसके अन्तराल में विक्रम संवत् 1029 का एक चौबीस पंक्तियों का शिलालेख लगा हुआ है। मंदिर के मण्डप, अन्तराल और गर्भगृह यद्यपि पूरी तरह सुरक्षित हैं परन्तु शिखर और तोरण नष्ट हो चुके हैं। जीर्णोद्धार के समय मंदिर के पूरे खण्डहर पर चूना-सीमेण्ट से छत बना दी गई है। बाह्यभित्तियों पर देवता मूर्तियां बनाई गई थीं जो कालदोष से पत्थर के नैसर्गिक क्षरण के कारण नष्टप्राय हो गई हैं, फिर भी उन मूर्तियों को पहचाना जा सकता है। इसी परिक्रमा में उत्तर की ओर एक तीर्थंकर प्रतिमा तथा जैन शासनदेवी अम्बिका का अंकन बहुत स्पष्ट है।

जैन अवशेष

यहाँ यह उल्लेख करना अप्रासंगिक न होगा कि समीपस्थ पाटनादेवी के क्षेत्र में जो प्राचीन प्रतिमायें प्राप्त की गई हैं उनमें भी जैन शिल्पावशेष पाये गये हैं। पाटनादेवी का मंदिर पर्वत की तलहटी में एक छोटी नदी के किनारे एक ऊँचे अधिष्ठान पर स्थित है। यह भी मध्यकाल की रचना है। मंदिर में एक लम्बे बरामदे के साथ तीन स्वतन्त्र गर्भगृह हैं। पहले गर्भगृह में सिंह पर आसीन दस फुट ऊँची, अठारह भुजाओं वाली दुर्गा की प्रतिमा है जिसे चण्डी के नाम से पूजा जाता है। बीच के गर्भालय में शंख, चक्र, गदा और पद्म से युक्त विष्णु की प्रतिमा विराजमान है तथा तीसरा गर्भालय तीन देवियों के अधिकार में है। इसी मंदिर के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रांगण में यहाँ आस पास से एकत्र की गई अनेक खण्डित-अखिण्डत प्राचीन मूर्तियों का संकलन है जिनके लिये एक संग्रहालय बनाने की योजना पर भी विचार हो रहा है। इस संग्रह में एक कायोत्सर्ग आसन लगभग दो फुट ऊंची सर्वतोभद्रिका दिगम्बर जैन प्रतिमा है। इसमें एक ओर आदिनाथ और एक ओर पार्श्वनाथ को स्पष्ट पहचाना जा सकता है। शेष दो प्रतिमाओं पर चिन्ह का अभाव है। परम्परा के अनुसार वे चन्द्रप्रभु और महावीर की प्रतिमायें होनी चाहिये। इसी संकलन में एक दो ऐसे शिल्पावशेष मेरे देखने में आये जिनकी पहचान जैन शासनदेवी चक्रेश्वरी और पद्मावती के रूप में की जा सकती है। इन सभी प्रमाणों के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि इस क्षेत्र में मध्यकाल में जैन स्थापत्य का निर्माण कई जगह पर हुआ है साथ ही उस काल में यहाँ का वातावरण धार्मिक सहिष्णुता से युक्त रहा है। महादेव मंदिर के पास एक छोटे मध्यकालीन मंदिर का अधिष्ठान और गर्भगृह के अवशेष देखने को मिले जो निश्चित ही जैन शिल्पावशेष हैं।

पीतलखोरा की परिक्रमा

यहाँ जिस पहाड़ी में जैन गुफा होने का वर्णन किया गया है वह पहाड़ी अपने घुंघराले विस्तार के साथ पूर्व की ओर बहुत दूर तक फैलती चली गई है। इसी पहाड़ी में दूसरे किनारे पर पीतलखोरा की प्रसिद्ध गुप्तकालीन बौद्ध गुफायें उकेरी गई हैं। इन गुफाओं को देखने का भी हमारा मन था। पाटनादेवी में उपस्थित लोगों ने पर्वत की दुर्गम चढ़ाई, गुफाओं की अनुमानरहित दूरी, समय की और मार्गदर्शक के अभाव की जो कष्टकर चर्चा की उससे हमारा उत्साह समाप्त होने जा ही रहा था कि जंगलिया नाम का एक समर्थ और उत्साही एक रुपये के पारिश्रमिक पर हमारा मार्गदर्शक बनने के लिये तैयार हो गया। ये मार्गदर्शक महोदय मुश्किल से दस वर्ष की आयु के होंगे। अर्ध दिगम्बर, अलमस्त और ऐसे निरीह थे कि पेट कह रहा था कि भाजी भाखरी (ज्वार की रोटी और शाक) से रोज का परिचय नहीं है। मुख और ग्रीवा गवाह थी कि शायद महीनों से जल का स्पर्श उसने नहीं किया और छोटे-छोटे पांव के तलुवे की बड़ी-बड़ी दरारें घोषित कर रही थी कि जूते-चप्पल उनके लिये सर्वथा अनजाना और अनावश्यक परिग्रह है। घाटी की दुर्गम चट्टानों पर वे जिस प्रकार कूदते, फांदते, किलकारते चलते थे उससे डार्विन महोदय की स्थापना स्वतः प्रमाणित होती जाती थी। उनका अनुसरण करने के लिये हमें बार-बार उनकी गति पर अंकुश लगाना पड़ता था। पचास मिनट सपरिश्रम आयास के बाद ही हमारे मार्गदर्शक ने हमें पीतलखोरा की गुफाओं के सामने खड़ा कर दिया। सारा मार्ग अपनी दुर्गमता के बावजूद नैसर्गिक सुषमा से भरा हुआ है तथा रंग-बिरंगे पत्थरों से समृद्ध है। पत्थर रूप में परिवर्तित तरह-तरह का काष्ठ, जिसे संभवत 'फोसिल' कहते हैं इस पहाड़ पर बहुतायत से उपलब्ध है। पीतलखोरा की गुफायें आमने-सामने की पहाड़ियों में उकेरी हुई हैं। एक ओर तीन विशाल और दूसरी ओर चार छोटी। इन गुफाओं का विशेष वर्णन यहाँ अभीष्ट नहीं है। जैन गुफा से इनकी दूरी सात-आठ किलोमीटर से अधिक नहीं होगी परन्तु चढ़ाई पूरी करके दूसरे तरफ उतरते ही जलगांव जिले की सीमा समाप्त हो जाती है और पीतलखोरा की गुफायें औरंगाबाद जिले में आती हैं।

नागार्जुन गुफा

जैन गुफा को स्थानीय लोग 'नागार्जुन गुफा' के नाम से जानते हैं। संभवतः नग्न जैन गुफा कहे जाने पर यह नागार्जुन नाम पड़ गया होगा। इस नाम की और कोई व्युत्पत्ति समझ में नहीं आती। गुफा पर्वत की ऊंचाई के लगभग बीच में स्थित है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और रास्ते में बहुत दूर से दिखाई देने लगती है। गुफा द्वार तक पहुँचने के लिये किसी सुगम मार्ग का निर्माण अभी नहीं हुआ है। चढ़ाई अधिक नहीं है किन्तु दुर्गम अवश्य है। बीस मिनट में वहाँ पहुँचा जा सकता है। गुफा के बिल्कुल बगल में चट्टान को भीतर तक कोलकर एक जलाशय का निर्माण उसी काल में किया गया है। बरसात में ऊपर से आने वाला पानी इसमें एकत्र हो जाता है और दूसरी बरसात तक आने जाने वालों के निस्तार और पीने के काम में आता है। पानी ठण्डा और स्वच्छ था। जलाशय से और आगे जाने पर एक और गुफा बनी है जिसमें कोई मूर्ति या सज्जा अभिप्राय अंकित नहीं है। प्रवेशद्वार के बाद गुफा का मुख्य भाग लगभग दो फुट गहरा है जिसमें चार-पांच महीने पानी भरा रहता है। संभवतः इसीलिये इसका स्थानीय नाम सीता नहानी पड़ गया है। सीता नहानी से थोड़ी दूर जाने पर पर्वत की मोड़ पर एक और सादी शैल दरी बनी हुई है। इसके द्वार पर उत्कीर्ण सरस्वती की छोटी प्रतिमा से ज्ञात होता है कि यह कोई विद्या-विहार रहा होगा। संभवतः साधुओं के पठन-पाठन के लिये इसका निर्माण हुआ होगा।

मण्डप

मुख्य गुफा के प्रांगण में प्रवेश करते ही दाहिनी ओर एक शैलोत्कीर्ण मानस्तम्भ था जो नष्ट हो गया है और अब उसका केवल पाँच फुट भाग शेष रह गया है। प्रवेश का मण्डप लगभग बीस फुट लम्बा और सात फुट चौड़ा है। पौने दो फुट व्यास के चौकोर दो खम्भों से इस मण्डप को तीन भागों में विभक्त कर दिया गया है। मण्डप के दाहिनी ओर एक बड़ा किन्तु एकदम सादा शिलागृह है जिसका उपयोग साधुओं के रहने के लिये होता रहा होगा। मण्डप के बीचों बीच तीन फुट चौड़ा और साढ़े पांच फुट ऊंचा प्रवेशद्वार है। यह द्वार अत्यन्त सादा और सज्जारहित है। परन्तु शीर्षभाग में बीचों बीच एक छोटी तीर्थंकर प्रतिमा इस पर अंकित है।

गर्भ गृह

द्वार से प्रवेश करते ही हम इस गुफा के गर्भालय में पहुँचते हैं। यह एक बीस फुट लम्बा तथा सोलह फुट चौड़ा मण्डप है जिसे बीचों बीच दो खम्भों का आधार दिया गया है। बाहर से भीतर तक हर जगह गुफा की छत सात से लेकर आठ फुट तक ऊंची बनाई गई है। दोनों खम्भों से लगे हुए यक्ष और यक्षिणी के आसन हैं। दाहिनी ओर का खम्भा सादा है और उसके सहारे तीन फुट ऊंची बैठी हुई यक्ष प्रतिमा स्थित है। बाईं तरफ के खम्भे को आमवृक्ष के रूप में सुरुचिपूर्वक अंकित किया गया है। वृक्ष पर पत्ते, फलों के गुच्छे और अनेक बड़े-बड़े आम लटकते दिखाये गये हैं। दोनों ओर दो मयूर भी इस वृक्ष पर अंकित हैं। वृक्ष के नीचे तीन फुट अवगाहना की शासनदेवी अम्बिका की अत्यन्त सुन्दर प्रतिमा अंकित की गई है। अर्द्धपर्यंक आसन में बैठी हुई देवी की बाईं जंघा पर एक बालक बैठा दिखाया गया है। दाहिनी जंघा व दाहिना हाथ पूरी तरह खण्डित है। यक्ष और यक्षिणी दोनों दो भुजाओं वाले बनाये गये हैं। देवी की मुखाकृति भव्य और सुन्दर है। केश सज्जा के कारण उसका लालित्य बढ़ गया है। शरीर पर कुण्डल, बाजूबन्द, हार, मोहनमाला, नूपुर आदि आभूषण यथास्थान अंकित हैं। अनुपात, शरीर सौष्ठव और सज्जा को मिलाकर अम्बिका की यह मूर्ति अत्यन्त सुन्दर बन पड़ी है। कला की दृष्टि से इसका निर्माण काल 9 वीं-10 वीं शताब्दी ज्ञात होता है।

मूलनायक व अन्य प्रतिमाएं

अम्बिका की प्रतिमा को प्रमुख शासनदेवी के रूप में स्थापित पाकर यह अनुमान करना ठीक होगा कि यह गुफा बाइसवें तीर्थंकर नेमिनाथ को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समर्पित है। खम्भों को पार करने पर गुफा का जो अवशिष्ट आधा भाग रह जाता है उसे गर्भगृह कहा जा सकता है। सामने ही भूमितल से लगभग एक फुट ऊंची वेदी के ऊपर तीन फुट ऊंचे मूल नायक तीर्थंकर विराजमान हैं। यहाँ चिन्ह अथवा शासन-देवी-देवता का पृथक् से अंकन नहीं होने के कारण अलग से इस मूर्ति की पहचान का कोई साधन नहीं है। मण्डप की अम्बिका का आधार लेकर ही इन्हें नेमिनाथ कहा जा सकता है। मूलनायक के दोनों ओर एक-एक खड्गासन तीर्थंकर दो फुट की अवगाहना के विराजमान हैं। पीछे अत्यन्त सादा भामण्डल और एक कमल आकृति का आधार बना कर उस पर तीन छत्र अंकित किये गये हैं। छत्रों के बीच से लटकते हुए मंगलपत्र सुन्दर बन पड़े हैं। पार्श्व में दो-दो विद्याधर, संभवत युगल, बनाये गये हैं जिनके हाथ में पुष्पमाल हैं। इस रचना के ऊपर आम के पत्र और गुच्छक अलग से लटकते दिखाये गये हैं जो मूलनायक के नेमिनाथ होने का प्रमाण कहे जा सकते हैं।

इस सम्पूर्ण परिकर के दोनों ओर दो और पद्मासन प्रतिमायें यहाँ बनी हुई हैं। इनकी अवगाहना सवा दो फुट की है। ये पांचों ही तीर्थंकर प्रतिमायें कला, शैली और प्राचीनता में लगभग एक समान हैं और ईसा की नवीं-दसवीं शताब्दी को इनका निर्माण काल निर्धारित किया जा सकता है।

गुफा के भीतरी दाहिने कोने में पार्श्ववर्ती दीवार पर छह फुट ऊंचे एक तीर्थंकर कायोत्सर्ग आसन में उत्कीर्ण हैं। इनके दोनों ओर भुजाओं के आसपास दो-दो पद्मासन तीर्थंकर भी बने हैं परन्तु उनकी ऊंचाई केवल छह इन्च है। यहाँ चामरधारी इन्द्र, भामण्डल के पार्श्ववर्ती दिखाये गये हैं। ऊपर अशोक वृक्ष और छत्रावली के साथ मृदंग सहित उद्घोषक का भी अंकन है। यह प्रतिमा विशाल होने पर भी कला की दृष्टि से कुछ बाद की मालूम पड़ती है। ऊपर छत्रवाला भाग जिस प्रकार छत में घुसता हुआ बनाया गया है उससे भी यह बात स्पष्ट हो जाती है कि यह रचना गुफा बनाने के बाद की गई है।

इसी कोने में एक कोठरी भी बनी है जो संभवतः पूजा अर्चना की सामग्री और उपकरण रखने के काम में आती रही होगी। गर्भगृह की बायीं ओर की दीवार पर तीन उपवेदिकायें बनी हैं जो खाली पड़ी हैं। या तो प्रारम्भ से ही इनमें उत्सव-विग्रह आदि की स्थापना रही जो कालान्तर में इधर उधर हो गये या फिर ऐसी मूर्तियां रहीं जो नष्ट हो गई। इस गुफा के भीतर रेडियो या ट्रान्जिस्टर अपने आप निष्क्रिय हो जाते हैं।

यह नागार्जुन गुफा चालीस गांव जिले की एकमात्र जैन गुफा है। इसे प्रकाश में लाना समाज का कर्त्तव्य है। यथाशीघ्र गुफा तक पहुँचने का सुगम मार्ग बनवाया जाना चाहिये तथा आसपास मेला, यात्रा तथा अन्य अनुष्ठान आयोजित करके इतिहास के इस गौरवपूर्ण कलात्मक स्थल को विकसित करने के प्रयत्न करने चाहिये। नीचे पाटनादेवी के प्रांगण में स्वामी मुक्तानन्द सरस्वती नाम के एक सुसंस्कृत और सदाचारी युवा, सनातनी साधु विराजते हैं। धर्म सम्बन्धी उनकी सहिष्णुतापूर्ण विचारधारा सराहनीय है। यह विश्वास किया जा सकता है कि इस गुफा के विकास में उनका प्रभाव और मार्गदर्शन भी सहकारी होगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

खारवेल का हाथीगुम्फा अभिलेख

● श्री नीरज जैन, एम. ए.
● श्री डा० कन्हैयालाल अग्रवाल
वाणिज्य महाविद्यालय, सतना

दो हजार वर्ष प्राचीन हाथीगुम्फा अभिलेख खण्डगिरि-उदयगिरि पर्वत के दक्षिण की ओर लाल बलुवे पत्थर की एक चौड़ी प्राकृतिक गुहा में उत्कीर्ण है। इसमें सत्रह पंक्तियां हैं। प्रस्तुत अभिलेख पहली बार स्टर्लिंग द्वारा १८२० ई० में प्रकाश में आया। तब से १९२७ ई० तक इसके संशोधित पाठ समय-समय पर प्रकाशित होते रहे इस प्रकार हाथीगुम्फा अभिलेख के सम्पूर्ण पाठ को बार-बार पढ़े जाने की कहानी अत्यन्त रोचक है। पुरातत्ववेत्ताओं को अभिलेख का अर्थ समझने में लगभग एक शती (१८२० ई० से १९१७ ई०) का दीर्घकाल लगा। इस अभिलेख में कलिंग चक्रवर्ती जैन सम्राट् खारवेल के व्यक्तित्व और शासनकाल की घटनाओं का विस्तृत परिचय दिया गया है। इसकी एक प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें खारवेल के शासन के समय में प्रतिवर्ष की घटनाओं का, उसकी विजय यात्राओं और प्रजाहित के लिये किये गये कार्यों का उल्लेख किया गया है जिसका वर्णन हम वीर निर्वाण स्मारिका, १९७५ ई० में प्रकाशित अपने 'हाथीगुम्फा अभिलेख की विषयवस्तु' शीर्षक लेख में कर चुके हैं यहां प्रस्तुत है अभिलेख का मूलपाठ, संस्कृतच्छाया और उसका हिन्दी अनुवाद।

मूलपाठ[1]

१. [श्रीवत्स] [स्वस्तिक] नमो अरहंतानं (।) नमो सव-सिधानं (।।) **ऐरेण** महाराजेन **महामेघवाहनेन चेति**-राज व [ृ] स-वद्धनेन पसथ-सुभ-लखनेन : चतुरंतलुठ [ण]-गुण-उपितेन **कलिंगाधिपतिना** सिरि-**खारवेलेन**।

२. [पं] दरस-वसानि सीरि-[कडार]-सरीर-वता कीडिका (।।) ततो लेख-रूप-गणना-ववहार-विधि-विसारदेन सव-विजावदातेन **नव-वसानि** योवरज [प] सासितं (।।) संपुंण-**चतुवीसति-वसो** तदानि वधमानसेसयो-वेनाभिविजयो ततिये।

३. **कलिंग**-राज-वसे (स)-पुरिस-युगे महाराजाभि-सेचनं पापुनाति (।।) अभिसितम च **पथमे वसे** वात-विहत-गोपुर-पाकार-निवेसनं पटि-संखारयति **कलिंगनगरि** खिबी [र] (।) सितल-तडाग-पाडियो च बंधापयति सबूयान-प [टि] संथपनं च।

४. कारयति पनसि (ति) साहि सत-सहसेहि पकतियो च रंजयति (।।) दुतिये च वसे अचितयिता सातकंनि पछिम-दिसं हय-गज-नर-रध-बहुलं दंडं पठापयति (।) **कन्हबेंणा**-गताय च सेनाय वितासिति **असिकनगरं** (।।) **ततिये** पुन वसे।

---

१. सरकार, **सेलेक्ट इन्स्क्रिप्शन्स** (द्वितीय संस्करण) २१४–२१ पर आधारित।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५. गंधव-वेद–बुधो दप-नत-गीत-वादित-संदसनाहि उसव-समाज-कारापनाहि च कीडापयति नगरिं (।।) तथा **चवुथे वसे विजाधराधिवासं** अहतपुवं **कलिंग** (?)-पुव-राज-[निवेसितं]....
.....विवध-म [कु] ट.....च निखित-छत (?)–

६. भिंगारे [हि] त-रतन-सपतेये सव-**रठिक–भोजके** पादे बंदापयति (।।) पंचमे च दानी वसे नंदराज–तिवससत–ओ [घा] टितं **तनसुलिय–वाटा** पणादिं नगरं पवेस [य] ति सो..... (।) [अ] भिसितो च **[छठे वसे]** राजसेयं संदसयंतो सवकर-वण–

७. अनुगह-अनेकानि सत-सहसानि विसजति पोर-जानपदं (।।) **सतमं** च **वसं** [पसा] सतो वजिरधर स मतुक पद.....[कु] म.....(।।) **अठमे** च **वसे** महता सेन [ा].....**गोरधगिरिं**

८. घातापयिता **राजगहं** उपपीडपयति (।) एतिन (ा) च कंमपदान-स [ं] नादेन.....सेन वाहने विपमुचितु **मधुरं** अपयातो यवनरा [ज] [डिमित ?].....यछति.....पलव.....

९. कपरुखे हय-गज-रथ–सह यंति **सव-घरावास**.....
.....**सव-गहणं** च कारयितु **ब्रह्मणानं** ज [य]-परिहारं ददाति (।।) अरहत.....**[नवमे** च **वसे]**.....

१०. .....**महाविजय**–पासादं कारयति उठतिसाय सत-सहसेहि (।।) दसमे च वसे दंड-संधी-सा [भमयो] (?) **भरधवस-पठा** [?] नं मह [ी] जयनं (?) .....कारापयति (।।) **[एकादसमे** च **वसे]**.....प [ा] यातानं च म [नि]–रतनानि उपलभते (।)

११. .....पुवं राज-निवेसितं **पीथुंडं** गदभ-नंगलेन कासयति (।) जन [प] द-भावनं च तेरस–वस–सत–कतं भि [ं] दति त्रमिर-दह (?)–संघातं (।) बारसमे च वसे.....
[सह] सेहि वितासयति उतरापध-राजानो.....

१२. **म [ा] गधानं** च विपुलं भयं जनेतो हथसं **गंगाय** पाययति (।) **म [ा] गध [ं]** च राजानं **बहसतिमितं** पादे वंदापयति (।) **नंदराज**–नीतं च **का[लि]ंग**–जिनं संनिवेस.....
.....अंग-मगध–वसुं च नयति (।।)

१३. [क] तु [ं] जठर–[लखिल–[गोपु] राणि सिहराणि निवेसयति सत–विसिकनं [प] रिहारेहि (।) अभुतमछरियं च हथी–निकास [स] परिहर–हय–हथि–रतन-[मानिकं] **पंडराजा**.....[मु] त–मनि–रतनानि आहरापयति इध सत [सहसानि]

१४. ..... सिनो वसीकरोति (।) तेरसमे च वसे सुपवत-विजय–चके कुमारीपवते अरहते (हि) पखिन-सं [सि] तेहि कायनिसीदियाय यापूजावकेहि राजमितिनि चिन–वतानि वास [ा] [सि] तानि पूजानुरत-उवा [सग-**खा] रवेल** सिरिना जीवदेह [सयि] का परि-खाता (।।)

१५. .....सकत–समण सुविहितानं च सव-दिसानं ञ [नि] नं [?] तपसि-इ [सि] न संधियनं अरहतनिसीदिया-समीपे पाभारे-समुथापिताहि अनेकयोजना-हिताहि.....
.....सिलाहि.....

१६. ..... चतरे च वेडुरिय-गभे थंभे पतिठापयति पानतरीय-सत-सहसेहि (?) मु [खि] य-कल-वोछिनं च चोय [ठि] अंग संतिक [ं] तुरिय उपादयति (।) खेम-राजा स वद-राजा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स भिखु–राजा धम-राजा पसं [तो] सुनं–[तो] अनुभव [तो] कलानानि

१७. .....गुण-विसेस-कुसलो सव-पासंड-पूजको सव-दे [वाय] तन-सकार-कारको जपतिहत-चक-वाहनबलो चकधरो गुत-चको पवत-चको राजसि–**वसू**–कुल-विनिश्रितो महाविजयो राजा खारवेल-सिरि (॥) [वेदिका स्थित वृक्ष]

संस्कृतच्छाया

१. नमो अर्हद्भ्यः नमः । सर्व-सिद्धेभ्यः । आर्येण महाराजेन माहामेघवाहनेन चेदिराजवंश-वर्द्धनेन प्रशस्त-शुभ-लक्षणेन चतुरन्तलुण्ठन-गुणोपेतेन कलिङ्गाधिपतिना श्रीखारवेलेन

२. पञ्चदश वर्षाणि श्रीकडार-शरीरवता क्रीडिता कुमार-क्रीडिका [॥] ततः लेख-रूप-गणना-व्यवहार-विधि-विशारदेन सर्वविद्यावदातेन नव-वर्षाणि यौवराज्यं प्रशासितम् । सम्पूर्ण-चतुर्विंशतिवर्षः तदानीं वर्द्धमानाशैशव-वैण्याभिविजयः तृतीये

३. कलिङ्गराज-वंश-पुरुषयुगे महाराजाभिषेचनं प्राप्नोति [॥] अभिषिक्तवान् च प्रथमे वर्षे वात-विहत-गोपुर-प्राकार-निवेशनं प्रतिसंस्कारयति कलिङ्गनगरीं खिवीरम्, शीतलतडाग-पाल्यः च बन्धयति; सर्वोद्यानप्रतिसंस्थापनं च

४. कारयति; पञ्चत्रिंशता शतसहस्रैः प्रकृतीः च रञ्जयति [॥] द्वितीये च वर्षे अचिन्तयित्वा शातकर्णिं पश्चिमदिशं हय-गज नर-रथ-बहुलं दण्डं प्रस्थापयति; कृष्णवेण्वा-गतया च सेनया वित्त्रासयति ऋषिकनगरम् [॥] तृतीये पुनः वर्षे

५. गन्धर्व-वेद-बुधः दर्पनृत्यगीतवादित्र-सन्दर्शनैः उत्सव-समाज-कारणाभिः च क्रीडयति नगरीम् [॥] तथा चतुर्थे वर्षे विद्याधराधिवासम् अर्हत-पूर्वं कलिङ्ग-पूर्वराज निवेशितं..... वितथमुकुट..... च निक्षिप्तच्छत्र—

६. भृङ्गारं हृतरत्नसम्पत्तिकं सर्व-राष्ट्रिक-भोजकं पादौ वन्दयति [॥] पञ्चमे च इदानीं वर्षे नन्दराज त्रिवर्षशतोद्घाटितां तन-सुलिय-वर्त्मनः प्रणालीं नगरं प्रवेशयति.....[॥] अभिषिक्तः च षष्ठे वर्षे राजैश्वर्यं सन्दर्शयन सर्वाकारवर्णा—

७. नुग्रहानेकानि शतसहस्राणि विसृजति पौर जानपदम् [॥] सप्तमं च वर्षं प्रशासत्..... [॥] अष्टमे च वर्षे महता सेना..... गोरथ-गिरिं

८. घातयित्वा राजगृहम् उपपीडयति; एतेन कर्मापदान-संनादेन..... सेनाबाहनं विप्रमोक्तुं मधुरां अपयातः यवनराजः डिमितः (?) यच्छति..... पल्लव.....

९. कल्पवृक्षः हय-गज-रथैः सह याति सर्व-गृहावास.....सर्वग्रहणं च कारयितुं ब्राह्मणेभ्यः जय–परिहारं ददाति (।)..... [नवमे च वर्षे].....

१०. महाविजय–प्रासादं कारयति अष्टत्रिंशता शतसहस्रैः [॥] दशमे च वर्षे दण्ड–सन्धि–साम-मयः भारतवर्ष–प्रस्थानां.....कारयति [॥] एकादशे च वर्षे.....अपयातानां च *मणिरत्नानि* उपलभते [।]

११. .....पूर्वं राजनिवेशितं पीथुण्डं गर्द्दभ-लाङ्गलेन कर्षयति; जनपदभावनं च त्रयोदश-वर्षशतकृतं भिनत्ति तिमिर–हृद-संद्धातं [॥] द्वादशे च वर्षे....सहस्रैः वित्रासयति उत्तरापथ राजान्..... .....

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१२. मागधानां च विपुलं भयं जनयन् हस्त्यश्वं गङ्गायां पाययति; मागधं च राजानं बृहस्पतिमित्रं पादौ वन्दयति; नन्दराज नीतं च कलिङ्ग–जिनं सन्निवेश..... अङ्ग–मगध–वसु च नयति;.... ....

१३. कत्तु जठर–लक्ष्मील–गोपुराणि शिखराणि निवेशयति शत–विशकानी परिहारैः, अद्भुतम् आश्चर्यं च हस्तिनिवास प्रतिहरति..... हयहस्तिरत्नमाणिक्य, पाण्डयराजात्.... .. मुक्ता–मणि–रत्नानि आहारयति इह शतसहस्राणि.....

१४. वासिनः वशीकरोति । त्रयोदशे च वर्षे सुप्रवृत-विजयचक्रे कुमारीपर्वते अर्हद्भ्यः प्रक्षीण-संश्रितेभ्यः काय-निषद्यायै यापोद्यापकेभ्यः राजमृतानां चीर्णव्रतानां वर्षाश्रितानां पूजानुरक्तोपासक–खारवेलश्रिया जीवदेहाश्रयिकाः परिखानिताः (।)

१५. .....सत्कृतश्रमणः सुविहितानां च सर्वदिशानां ज्ञानिनां तपस्वृयषीणां संङ्घीयानाम् अर्हन्निषद्या–समीपे प्रागभारे वराकार-समुत्थापिताभिः अनेकयोजनाहृताभिः..... शिलाभिः

१६, चत्वरे च वैदूर्यगर्भं स्तम्भं प्रतिष्ठापयति पञ्चोत्तरशत-सहस्रैः; मुख्यकलावच्छिन्नं चतुःषष्ठ्यङ्गं शान्तिकं तौर्यं उत्पादयति [।] क्षेमराजः स वृद्धराज सः भिक्षुराजः धर्मराजः पश्यन् शृण्वन् अनुभवन् कल्याणानि.... ...

१७. गुणविशेष–कुशलः सर्वपार्षद–पूजकः सर्वदेवायतन-संस्कार-कारकः अप्रतिहत-चक्रवाहिनीबलः चक्रधरः गुप्त–चक्रः प्रवृत–चक्रः राजर्षि–वसु-कुल–विनिःसृतः महाविजयः राजा खारवेलश्रीः [।।]

हिन्दी अनुवाद

१. अर्हंतों को नमस्कार । सब सिद्धों को नमस्कार । ऐल महाराज, महामेघवाहन, चेदिराज वंशवर्द्धन, प्रशस्त एवं शुभ लक्षण-वाले चतुरंत (चतुर्दिक) व्यापी गुणों से कलिंगाधिपति श्रीखारवेल ने

२. पन्द्रह वर्षों तक गौरवर्णवाले शरीर से बाल्यकाल की क्रीड़ायें की । तत्पश्चात् लेख, रूप, गणना, व्यवहार और धर्म में निष्णात होकर सब विद्याओं से परिशुद्ध उन्होंने नौ वर्षों तक यौवराज्य प्रशासित किया । चौबीस वर्ष पूर्ण करने वाले, शैशवावस्था से ही वर्द्धमान, वेनतुल्य विजयवाले उस (ने) तीसरी

३. पीढ़ी में कलिंग के राजवंश में महाराज्याभिषेक प्राप्त किया । अभिषेक होते ही, प्रथम शासन वर्ष में, तूफान से गिरे हुए (राजधानी के) गोपुर और प्राकार–निवास का जीर्णोद्धार कराया । कलिंग की राजधानी में ऋषि खिवीर नामक झील और ऋषि ताल-तड़ागों का निर्माण कराया और समस्त उद्यान प्रतिस्थापित कराये ।

४. पैंतीस लाख प्रजा का रंजन किया । दूसरे वर्ष में, सातकर्णि राजा की कुछ चिन्ता न करते हुए पश्चिम दिशा की ओर विजय प्राप्त करने के लिए अश्व, गज, पैदल और रथवाली एक विशाल सेना भेजी । कन्हबेना (कृष्णवेणा नदी) तट पर पहुंची सेना ने असिकनगर को बहुत त्रस्त किया । तत्पश्चात् तीसरे वर्ष

५. में गंधर्वशास्त्रविद खारवेल ने नाटक, नृत्य, गीत, वादित्र के आयोजन के द्वारा उत्सव एवं समाज कराकर नगरी को आनन्दित किया ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और चौथे वर्ष, विद्याधराधिवास को, जिसे कलिंग के पूर्व राजाओं ने बनवाया था और जो अब तक नष्ट नहीं हुआ था..... जिनके मुकुट व्यर्थ हो गये हैं जिनके कवच काटकर दो टुकड़े कर दिये गये हैं, जिनके छत्र और शृंगार (राजचिह्न)

६. काटकर गिरा दिये गये हैं, जिनके रत्न और स्वापतेय (धन) छीन लिये गये हैं ऐसे राष्ट्रिक और भोजकों मे अपने चरणों की वन्दना कराई। पांचवे वर्ष में नन्दराज द्वारा ३०० वर्षों पूर्व बनवाई गई तृणसूर्यमार्गीया प्रणाली (नहर) को नगर (राजधानी) तक लाया। छठवें वर्ष में अभिषिक्त हो राजसूय यज्ञ किया और सब कर

७. माफ कर दिये और लाखों प्रजाजनों पर अनेकों अनुग्रह किये। राज्यकाल के सातवें वर्ष में उसकी गृहवती वज्रधर (कुलवाली) धृष्टि नामवाली गृहिणी ने कुमार को जन्म देकर मातृपद प्राप्त किया।.....आठवें बर्ष में विशाल सेना..... .....द्वारा गोरथगिरि

८. को नष्ट कर राजगृह पर आक्रमण किया। उसके इस कर्म सम्पादन शब्द को सुनकर यूनानी राजा दिमित अपनी सेना और वाहन (भय से) छोड़कर मथुरा भागने को

९. विवश हुआ। पल्लव, कल्पवृक्ष, अश्व, हस्ति, चालकों सहित रथ, गृह, निवास और विश्रामशालायें दान की; और ब्राह्मणों को कर देने से मुक्त कर दिया।.....अर्हत नवें शासनवर्ष में.....

१०. उसने अड़तीस लाख मुद्राओं से महाविजय नामक एक राजभवन का निर्माण कराया। दसवें वर्ष में दण्ड, संधि और सम नीति का पालन करते हुए उसने भारतवर्ष के विरुद्ध एक अभियान किया और उसने देश को विजित किया। (ग्यारहवें वर्ष में) पलायित राजाओं के मणिरत्न प्राप्त किये।

११. पूर्व राजा (विशेष) की राजधानी पिथुण्ड को गधों से जुतवाया। जनपद के लिये प्रिय ११३ वर्षों में कृत तिमिर हृद-संघात का भेदन किया। बारहवें वर्ष..... .....हजारों (सैनिकों) द्वारा उत्तरापथ के राजाओं को भयाक्रान्त किया।

१२. मागधों के लिये अत्यन्त भय उत्पन्न करते हुए हाथियों को गंगा में (जल) पान कराया। मगधराज वृहस्पति मित्र से चरण वन्दना कराई। नन्दराज द्वारा ले जाई गई कलिंग जिन (की प्रतिमा) को स्थापित किया।..... .....अंग तथा मगध का धन ले आया।

१३. दृढ़ एवं तोरणयुक्त शिखरों को बनवाने के लिये विजय से प्राप्त १०० वासुकि (विशक) मुद्रायें व्यय की, अद्भुत तथा आश्चर्यजनक हस्तिवस्त्र सज्जा का हरण किया..... घोड़े, हाथी, रत्न माणिक्य; पाँड्यराजा से लाखों मुक्ता एवं मणिरत्न छीनकर लाया

१४. वासियों को वश में किया। तेरहवें वर्ष सुप्रवृत विजयचक्र में जीर्ण आश्रय धर्मोपदेशक अर्हंतों के कायविश्राम हेतु राजपुष्ट व्रतों का आचरण करने वाले, वर्षाश्रितों की पूजा में अनुरक्त, उपासक श्रीखारवेल द्वारा कुमारी पर्वत पर आश्रय-गुहायें खुदवायीं गईं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१५. श्रमणों को सत्कृत करने वाले ने चारों दिशाओं से आने वाले ज्ञानियों, तपस्वियों, ऋषियों, सन्धियों का पर्वतपृष्ठ में अर्हत निषद्या (विश्रामावास) के समीप अनेक योजनों से लाई भली प्रकार खड़ी की गई शिलाओं द्वारा

१६. चौराहों में, अन्तःभागों में वैदूर्ययुक्त ७५ लाख मुद्राओं द्वारा स्तम्भ स्थापित किया। प्रमुख कलाओं से समन्वित, चतुषष्टि प्रकार वाद्यपूर्ण शान्तिकालीन तूर्य उत्पन्न किया। क्षेमराज, वृद्धराज, भिक्षुराज, धर्मराज वह वह कल्याणों को देखते, सुनते और अनुभव करते हुए,

१७. गुण विशेष निपुण, समस्त पाषण्ड का पूजक, अनेक देवायतनों का निर्माता, अद्वितीय सैन्यबलवाला, राजचक्र धारण करने वाला राजर्षि वसुकुलोत्पन्न, महाविजयी राजा श्री खारवेल



बीमार मौत

● **श्री अशोक जैन**, निओर, रायपुर

जिंदगी एक मुझे, ख्वाब की सी लगती है।
तिस पर भी तकदीर अपनी, एक गुजरे हुये दीदार सी लगती है।।

मुश्किल दर मुश्किल, छिलके हों जैसे प्याज के।
चैन की नींद आज, ख्वाब की सी लगती है।।

छिलके पर छिलके, उतरते जाते हैं दिल के।
फिर भी आत्मा मुझको अपनी, एक ढहती हुई दीवार सी लगती है।।

प्याज के अन्त में, पाया हो जैसे महाशून्य एक।
याद मुझको स्वयं अपनी, एक जलते हुये अंगार सी लगती है।।

बन्द हैं सांसे और, धड़कने खामोश दिल की।
मौत भी आज मुझे, बीमार की सी लगती है।।

रात हर जश्न की, होती है सुबह कतल यहां।
बात खुद मुझको मेरी, फरियाद की सी लगती है।।

मायूस है जिन्दगी, ना उम्मीद हैं उम्मीदें।
चाह भी आज मुझे, गुनाह की सी लगती है।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शालवृक्ष के स्वाभाविक अंकनयुक्त
प्रतिमा का भाग

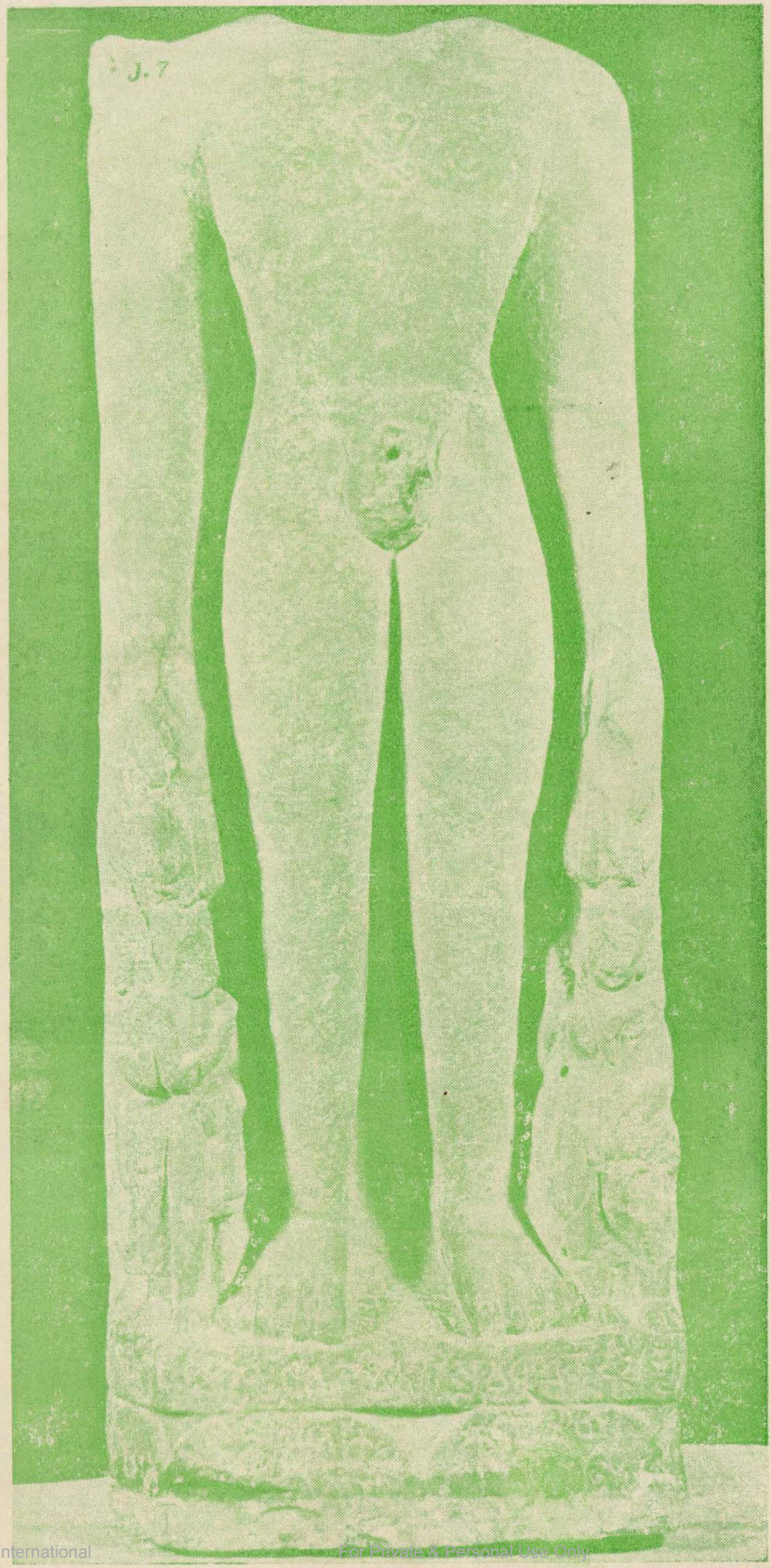


सौजन्य—
निदेशक-राज्य संग्रहालय,
लखनऊ।

छाया शिल्पी
श्री राजेश सिन्हा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



शीर्षविहीन
कुषाणकालीन
जिनमूर्ति

सौजन्य,
निदेशक
राज्य
संग्रहालय
लखनऊ।

छाया शिल्पी :
श्री राजेश सिन्हा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक रोचक जिन-बिम्ब

श्री शैलेन्द्रकुमार रस्तोगी
२७ पुरातत्त्व संग्रहालय, कैशर बाग,
लखनऊ।

राज्य संग्रहालय लखनऊ में जैन प्रतिमाओं का वृहत्संग्रह है। यहाँ कुषाण, गुप्त, चन्देल, गाहड़वाल प्रभृति राजवंशों के शासन काल में बनायी गई जिन मूर्तियाँ ही नहीं हैं अपितु उत्तर मध्ययुगीन दूसरे शब्दों में आधुनिक अर्थात् १४, १५ एवं १६वीं शताब्दी में गढ़ी प्रतिमाएं भी सुरक्षित हैं। ये बाद की प्रतिमाएँ १९७२ ई० में भगवान् नेमीनाथ मंदिर, चौक, लखनऊ द्वारा संग्रहालय को भेंट स्वरूप प्राप्त हुई हैं। इस प्रकार अविच्छिन्न क्रम जिनमूर्तियों का उपलब्ध है। यहाँ पर ऋषभ, महावीर, पार्श्व, नेमि, सुपार्श्व (मिट्टीपुर) सुव्रत के अलावा चन्द्रप्रभ, संभव, पद्मप्रभ, अजित, शीतल, मल्लि एवं वासुपूज्य की विरलता से प्राप्य प्रतिमाएं भी हैं। ये प्रतिमाएँ आयागपट्टों पर, स्वतन्त्र ध्यानस्थ या यक्ष-यक्षियों विद्याधरों से परिवेष्टित हैं। ये उ० प्र० के मथुरा, श्रावस्ती, खीरी, उन्नाव, महोबा के अलावा मइहर एवं छतरपुर प्रभृति मध्यप्रदेश के स्थानों से संग्रहीत हैं। एटा, इटावा, जालौन इस प्रकार से जिन बिम्बों का क्रमिक विकास सहज ही देखा जा सकता है। ये मूर्तियां ध्यानस्थ बैठी तथा कायोत्सर्ग मुद्रा में स्थिर है। बैठी एवं खड़ी स्थितियों की चौमुखियां या सर्वतोभद्रिकाएं भी रोचक हैं। बैठी चौमुखी (जे–२३६) जिस पर सं० १०८० है जिसमें चतुर्दिक् भगवान् वर्द्धमान का अंकन है। इस पर श्री जिनदेवसूरी, विजयसिंह आचार्य, तथा निव ग्राम तथा नदि प्रभृति संज्ञायें उल्लेखनीय हैं।

समस्त जैन मूर्तियाँ लेखयुक्त या लेखरहित वर्गों में रखी जा सकती हैं।

प्रस्तुत प्रतिमा (जे–७) मथुरा से प्राप्त किसी जिन की सिरहीन कायोत्सर्गमुद्रा विवस्त्र विग्रह है। माना गया है। यह लाल चित्तीदार बलुए पाषाण (२'–१" × ६½" × ६½") पर जिनकृत् है। माथुरीय प्रतिमाओं पर सर्वत्र इस पाषाण का उपयोग किया गया है। सामने तरफ मूलनायक आजानुबाहु, श्रीवत्स युक्त है। दोनों हथेलियों पर चक्र है।[1] बायी तरफ एक स्त्री है जो दायें हाथ में चँवर जैसी वस्तु लिये है हाथ ऊपर की ओर उठा है। बाँये हाथ में पुस्तक जैसी वस्तु लिये हैं। घुटनों से नीचा कोटसा पहने है। जैसा कि कुषाणकालीन प्रतिमाओं पर पाते हैं। दायी तरफ पीछी एवं वस्त्र खण्ड हाथ पर से लटकाए पुरुष मूर्ति है। इस प्रकार वस्त्र को हाथ पर डाले अन्य कई प्रतिमाओं की चौकीयों पर कुषाण युग में बनाया गया है।

कहीं यह तो नहीं कि यक्ष-यक्षियों की धारा का पूर्व-रूप हो ? क्योंकि आगे चलकर बायीं तरफ यक्षियाँ बनाई गई। यहाँ पर भी बायी तरफ ही स्त्री आकृति पाते हैं और दायी तरफ पुरुष।

मूल प्रतिमा के दोनों चरणों के बीच में भी लेख है। उसके नीचे एक इंच चौड़ी पट्टी है जिस पर अभिलेख है। चरण चौकी के नीचे दो अर्द्ध-

1. श्री वास्तव, वी० एन० मेरे पूर्ववर्ती इस सुझाव हेतु मैं आभारी हूं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वृत्ताकार या कमल की पंखुड़ी डेढ़ इंच चौड़े तथा चार इंच लम्बे हैं जिन पर लेख खुदा है। इन दोनों अर्द्धवृत्तों की आदि, मध्य एवं अन्त में त्रिभुजाकार गड्ढे हैं। यही क्रम बायी एवं दायी तरफ घूमा है। बायीं ओर ३½"×४½" नाप का खांचा है। संभव है कालान्तर में इसे स्थापित करने हेतु काटा गया हो।

मध्य में खांचे के ऊपर खम्भे का अंकन है ऊपर खंडित आहक है। दायीं तरफ पुष्पित शाल वृक्ष की पत्तियों की टहनी है तथा टहनी के प्रारंभ पर ही खिला फूल है बायीं ओर नमस्कार मुद्रा में लम्बा कोटधारी बालक या बौना तथा चूड़ियों एवं हार से अलंकृत प्रसन्न मन स्त्री है। स्तम्भ आयागपट्टों पर भी पाते हैं। सिंह के अंकन में युक्त जे. २६ खम्भा है जिसकी परिक्रमा दम्पत्ति कर रहें हैं। यहाँ भी स्तम्भ पूजा का दृश्य है।

मूलप्रतिमा के पृष्ठ तल पर बीचों बीच में शाल वृक्ष कामनोहारी अंकन है। जो कुषाण कालीन क्या भारत की कुछ ही ऐसी प्रतिमाएँ होगी जिनका पिछला भाग इतना लुभावना बनाया गया हो। संग्रह में ऐसी विरल ही प्रतिमा हैं। शालवृक्ष[2] का पुष्पित विलेखन है। पत्तियों की स्वाभाविकता इस बात का मूक साक्षी है कि आज से उन्नीस सौ वर्ष पूर्व भी कलाकार का कितना ही सूक्ष्म प्रकृति का निरीक्षण था। मानों वृक्ष ही सामने झूम रहा हो। दायीं तरफ नीचे कोने में सदल कमल तथा उस पर वृक्ष पुष्प है। बायीं तरफ एक स्त्री आकृति खड़ी हैं। जो अपने दाये हाथ में सनालखिला कमल तथा बायें हाथ विकच कमल पुष्प लिये हैं। यह हार कुण्डल एवं भुजबन्ध एवं वस्त्रों से समलंकृत है। इसके बायी तरफ नीचे बालक या बौना नमस्कार करता, लम्बा कोट पहने खड़ा है। इसी के पास चौकी के ऊपर से स्तम्भ है जिसके ऊपर दो-दो रेखाओं के बीच आमलक ऊपर शीर्ष का प्रारम्भ है। जिसे तीन पुष्पों से सँवारा है। कहीं ये सम्यग ज्ञान, दर्शन एवं आचरण के प्रतीक तो नहीं? स्तम्भ के दायीं तरफ नीचे एक लम्बा वस्त्र पहने हाथ जोड़े पुरुष खड़ा है। इसके बाल पीछे को है।

पुरुष अञ्जलि मुद्रा में खड़ा किन्तु हाथों के नीचे एक लम्बी सी अस्पष्ट वस्तु निकल कर घुटनों तक शरीर के बीच में दिखाई गई है। इस प्रकार जितनी भी स्त्री एवं पुरुषों को खचित किया गया है सभी में पृथक-पृथक भावदर्शाये हैं जिसमें विस्मय है, प्रेम है, करुणा है किन्तु अर्हत देव तो इन भावों से परे हैं। काश! इस प्रतिमा का शिर होता तो पता नहीं इस रचना को कितना मनोज्ञ बना देता। मूलनायक के दायी पार्श्व के नीचे से ही अभिलेख प्रारम्भ होता है, यह तीन पत्तियों में दो तरफ उत्कीर्णित है। यह प्राकृत भाषा एवं ब्राह्मी लिपि में है। यह सं० के कारण महत्त्वपूर्ण है। इससे पूर्व की कनिष्क सं० ५ की (जे–५) व सं० ७ की (जे–६) हैं। प्राचीनता की दृष्टि से इस (जे–७) का तीसरा स्थान है इसको सं० ९ में लिखा गया है। पीठिकोत्कीर्ण इह प्रस्तुत है :

१. "सिध सं० ९ हि इदि १० हेमतस्य धित सुव-
श्रीरीस्य वधु एक दलस्य।
२. कोध्यातो गणतो अर्य्य तरक कुटुम्बिनिये।
३. थानियातो कुलातोविरतो [नि (म) व] र्तन
भउहहयेदति।

तथा मूलनायक के दोनों चरणों के मध्य में :—

(i) सुयषाचयां
(ii) सस्य शिशिना

अर्थात् सिद्ध सम्वत् ९ के हेमन्त ये एक दल की वधु, कोध्यि, गण, आर्य तरक, थानियातो कुल

2. इसी प्रकार का वृक्ष जे–598 पर है, उसे शाल भञ्जिका माना है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वरतो (वरणों) भऊ (बहु) निर्वतन (पूर्ण) होने पर दान किया, यहाँ कोध्यिा गण जो आगे चलकर काष्ठासंघ बना उसका उल्लेख है। इसके अतिरिक्त आचार्यसुयश एवं शिशिन शिष्य का भी नामांकन है। संस्कृत भाषा की दृष्टि से विभक्तियों के प्रयोग में अशुद्धता है किन्तु अनुस्वार [०] का प्रयोग भी है।

यदि लेख पर अंकित संवत् ९ को हम कनिष्क की तिथि के साथ बैठाये तो ७८ + ९ = ८९ ई० की इस प्रतिमा की स्थापना तिथि आती है। पता नहीं शासक का उल्लेख क्यों नहीं है।

हेमन्त मास का उल्लेख भी कम रोचक नहीं है पता नहीं क्यों लगभग चौदह अन्य कुषाणमूर्तियों पर इसका हि० या हेमन्त के रूप में उल्लेख है। गीता में भी श्रीकृष्ण ने "मासां मार्गशीर्षोऽहम्" कहा है जो इसी ऋतु में पड़ता है।

इस प्रकार इस जिन प्रतिमा के पृष्ठांकन संवत, बायीं तरफ स्त्री प्रतिमा (जो आगे चलकर यक्षों का स्थान निश्चित हुआ) पद्मनिधि का निरूपण, तीन पुष्पों का अंकन, कलात्मक मुख मंडल, तत्कालीन देशीय एवं विदेशी (गान्धर) वेशभूषा आदि २ दृष्टियों से परिपूर्ण तो है ही। शालवृक्ष के अंकन के कारण जो भगवान् महावीर का कैवल्यवृक्ष है उसकी रोचक बिम्ब सहज ही सिद्ध होती है।

दहेज के चहेतों से

● कु० ऊषा किरण
जबलपुर (म० प्र०)

तुम ! दहेज के भीषण-दानव
करते हो नित भक्षण धन का,
हां हां जन का।
तुम मोटे गद्दों से टिककर
वर की कीमत बता रहे हो,
और मुद्रा के कलख से
कन्याओं के जनक,
ग्राम असमर्थ जनों की
बनी बनाई प्रतिष्ठा के घर
ढहा रहे हो।
तुम पुत्रों के हित कन्या को नहीं
लक्ष्मी को ही बुला रहे हो।
या सुकुमारी बालाओं को
पल पल हंस तुम रुला रहे हो
जिस दिन रे !
ये सुप्त क्वांरियां
अपनी परिभाषा समझेंगी,
उस दिन
तेरी अपनी बेटियाँ
तुझे दहेज की क्रूर सामिध में
हंस हंस कर होंमेगी।
रे दहेज के भीषण दानव।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मिटाने

● श्री रमेशचन्द्र जैन (बाँझल)
इन्दौर।

मैं जन्म मिटाने आया हूं।

इस अनन्त बलशील आत्म को, भगवान बनाने आया हूँ।

विषयों ने षडयन्त्र रचे
काषायिक भावों में उलझाया।
हित अहित न समझा इसने
व्यसनों में चित्त लगाया।।

हिम समान तन निरख निरख
क्षंणभंगुर पर इठलाया है।
वैराग कथा को समय नहीं
विकथा में समय गमाया है।।

छोड़ सकल जग दन्द फन्द, नित आतम ध्याने आया हूँ।

मैं जन्म मिटाने आया हूँ।

आपा पर को कर्त्ता पिछान
पर को इष्ट अनिष्ट जान।
कर राग द्वेष प्रतिक्षण क्षण
अपने को सुखी दुःखी माना।।

मैं ज्ञानानन्दमयी चेतन
यह भान हुआ तब हर्षाया।
पंचेन्द्रिय मन के विषय त्याग
जीवन अपूर्व मोड खाया।।

अष्ट कर्म रज उड़ा करके, परमात्म बनाने आया हूँ।

मैं जन्म मिटाने आया हूँ।

मैं वीरागी के कुल का हूँ
रहते सिद्ध अरहन्त जहाँ।
जिनके मुखारविन्दों से
बने कई भगवान् यहाँ।।

रत्नत्रय निधि को कर एकत्व, अक्षय पद पाने आया हूँ।

मैं जन्म मिटाने आया हूँ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

राजस्थान का इतिहास और जैन पुरातत्व

● श्री दिगम्बरदास जैन एडवोकेट, सहारनपुर

"Rajasthan is fabulou ly rich in temples of Jaina faith. These are not only gems of architecture and sculptures, but also seat of worship and learning. These are also veritable mines of art and literature" :–Dr. Satyaprakash, Director of Archaeology and Museum Deptt. Raj. V.o. A. Sep., 1960 p–281.

राजस्थान वीरों की भूमि है और जैन धर्म वीरों का धर्म अतः राजस्थान का इतिहास जितना प्राचीन है उतना ही प्राचीन है राजस्थान में जैन धर्म का अस्तित्व।

प्राचीन काल में राजस्थान को मत्स्य देश कहते थे। पुराणों के अनुसार यहां वर्तमान काल-चक्र के आदि तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव का विहार हुआ था इसी कारण यहां की पवित्र भूमि से उनकी प्राचीन मूर्तियां प्राप्त होती रहती है। बड़े-बड़े प्राचीन विशाल मंदिर पाये जाते हैं। कृषिकाल में ऋषभ के पुत्र भरत चक्रवर्ती ने अपने राज्य-काल में अनेक जैन मंदिर मत्स्य देश में बनवाए। 20 वें तीर्थंकर मुनिसुव्रतनाथ के तीर्थकाल से भी प्राचीन मूर्ति भगवान् ऋषभदेव की उदयपुर से 40 मील दूर केसरियाजी नामक स्थान पर विराजमान है जो लंका में रावण के महल स्थित मंदिर में विराजमान थी। इसकी वीतरागता और मनोज्ञता से प्रभावित होकर श्री रामचन्द्रजी उसे अयोध्या के मंदिर में विराजमान करने के लिए अपने साथ लाए थे परन्तु मूर्ति केसरियाजी से आगे नहीं सरकी इसलिए उन्होंने इसे यहां ही विराजमान कर दी। वीर निर्वाण स्मारिका 1975 जयपुर के खण्ड 2 पृष्ठ 29 पर प्रकाशित पुरातत्व एवं संग्रहालय जोधपुर के अधीक्षक श्री विजयशंकर श्रीवास्तव की खोज से सिद्ध है कि स्वयं भगवान् महावीर का विहार भी राजस्थान में (600 ई० पू०) हुआ था। इस समय राजस्थान का जैसलमेर तथा कच्छ, सिन्धु, सौवीर के भाग थे। सिंधु सौवीर के जैन राजा उदयन ने कई जैन मंदिर बनवाए थे। भ० महावीर ने इधर विहार किया था जिसके प्रभाव से वह जैन मुनि हो गया था।[1] राजस्थान के सुप्रसिद्ध इतिहासकार एवं पुरातत्त्वज्ञ रायबहादुर पं० गौरीशंकर ओझा को अजमेर के निकट बड़ली ग्राम से एक शिलालेख मिला जिस पर वीर संवत् 84 अंकित है। यह शिलालेख आज भी अजमेर म्यूजियम में देखा जा सकता है। इससे प्रमाणित है कि वीर सम्वत् वीर निर्वाण के 84 वर्ष पश्चात् ही अर्थात् 433 ई० पू० तो निश्चितरूप से प्रचलित था। तीसरी शताब्दी ई० पू० राजस्थान में

1. At the time of Mahavira a powerful monarch Udain was in Sindhu Sauvira. He was great devotee to Jainism and Constructed temples. Mahavira visited his Capital. The king joined Sraman Order. At that time Poohins & Jaisalmer and Cutch were included in Sindhu Sauvira—jain journal, Calcutta, April 1969; p.–199.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मौर्यवंशी राजाओं का शासन था और वे सब जैन धर्मावलम्बी थे। उनके राज्य-काल में तो जैन धर्म राज्य-धर्म था।[1]

साधारण जनता पर ही नहीं बल्कि वहां के राजा-महाराजाओं, राज मंत्रियों तथा सेनापतियों तक पर जैन धर्म की गहरी छाप थी। मेवाड़ राज्य में जब-जब सरकारी किलों की नींव रखी जाती थी तब तब ही राज्य की ओर से जैन मंदिर बनवाये जाने की प्रथा थी।[2] ओझाजी के शब्दों में मेवाड़ राज्य में सूर्यास्त के पश्चात् भोजन की आज्ञा नहीं थी।[3] टॉड साहब का कथन है कि कोई भी जैन मुनि उदयपुर में पधारे तो रानी महोदया आदरपूर्वक विधि अनुसार उनके आहार का प्रबंध स्वयं करती थी।[4] 1649 ई० के आज्ञापत्र द्वारा चातुर्मास के निरन्तर चार महिनों तक तेल के कोल्हू, ईंटों के भट्टे, कुम्हारों के पजावे और शराब की भट्टियां आदि जीवहिंसक कार्य कानून द्वारा बंद थे और उनका उल्लंघन करने वालों को दण्ड दिया जाता था।[5]

अश्वराज मेवाड़ का चौहान वंशी राजा था। इसने भगवान् महावीर की निरन्तर पूजा के लिए एक ग्राम वीर मंदिर को भेंट किया था।[6] 1110 ई० के शिलालेख से सिद्ध है कि इसने 15 वें तीर्थंकर धर्मनाथ की पूजा के लिए भी दान दिया था।[7] 1115 ई० का शिलालेख साक्षी है कि वह 16 वें तीर्थंकर शांतिनाथ की पूजा के लिए प्रति वर्ष दान देता था।[8]

महाराजा रायपाल भी जैनधर्मानुरागी था। 1132 के शिलालेख से प्रकट है कि इसके दोनों पुत्रों रुद्रपाल और अमृतपाल ने भी जैन मंदिरों को दान दिये।[9] 1138 के शिलालेख से सिद्ध है

---

1. (i) मौर्यवंश का संस्थापक चन्द्रगुप्त मौर्य जैनधर्मी था। विस्तार के लिए देखिए हमारा "शांति के अग्रदूत भ० महावीर" पृ० 439।

   (ii) चन्द्रगुप्त का पुत्र महाराजा बिंदुसार, पौत्र महाराजा अशोक तथा सम्प्रति आदि सब जैनधर्मी थे। हमारा लेख 'महाराजा अशोक और जैन धर्म' म० ज० स्मा० 1974, जयपुर खण्ड 2 पृ० 14–32।

   (iii) Literary evidence and inscriptions indicate beyond doubt that Chandragupta was a Jain. His empire contained a portion of Rajasthan where he established many Jain temples in Rajasthan.—Jain journal, Cacutta, April 1969; p. 200.

2. पं० अयोध्याप्रसाद गोयलीय—राजपूताने के जैन वीरों का इतिहास, पृ० 339।
3. ओझाजी द्वारा अनूदित टॉड् राजस्थान, जागीरी प्रथा पृष्ठ 11।
4. रावराजा वासुदेव गोविन्द आप्टे : जैन धर्म महत्व (सूरत) भाग 1 पृष्ठ 31।
5. ग्रांट दि० 1649 : रश्मी और वांकरोल के खम्भों पर खुदी हुई; दिगम्बर जैन (सूरत) जिल्द 9 पृष्ठ 72 ई०।

6–7–8 E. P. India Vol XI pp. 30–32. तथा जैनिज्म इन राजस्थान पृष्ठ 20।

9. E. P. India Vol XI pp. 34–35.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

था।[1] राणा के नाम पर जैन सेनापति के सहयोग से कुम्भा ने दो मुस्लिम बादशाहों पर विजय प्राप्त करने के उपलक्ष में एक विशाल नौ मंजिला कीर्तिस्तम्भ बनवाया।[2] उसके मंत्री जीजा ने उसके सामने एक दूसरा विशाल जैन कीर्तिस्तम्भ कुम्भा की आज्ञा से बनवाया।[3] कुम्भा का प्रधान मंत्री धरणाशाह भी जैन था। इसने जब जैन मंदिर बनवाने के लिए राणा से भूमि मांगी तो महाराणा ने प्रसन्नता से कहा कि भूमि तो जितनी और जहां चाहे ले लो किन्तु मंदिर इतना अनुपम और आकर्षक हो कि संसार का सुन्दर से सुन्दर और विशाल भवन भी उसे देख कर शरमा जाय। द्रव्य की भी चिन्ता मत करना। धरणाशाह ने अरावली की घाटी में 48400 वर्ग फीट भूमि पर दिन रात 24 घण्टे (सम्वत् 1433 से संवत् 1498 तक) निरन्तर 65 वर्ष तक अत्यन्त प्रवीण शिल्पियों की छेनी चलने पर दो आने रोज राज तथा एक आना रोज मजदूर को देने पर भी 99 लाख स्वर्ण मुद्रा अर्थात् 3 अरब 96 करोड़ रुपयों की लागत से प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव, 22 वें नेमिनाथ, 23 वें पार्श्वनाथ और सूर्यवंशी महाराणा कुम्भा के इष्ट सूर्य का मंदिर बनवाकर इस स्थान का नाम राणकपुर रखा। ऋषभदेव का मंदिर 3 मंजिला चौमुखा अत्यन्त दर्शनीय तथा अपनी कला एवं मनोज्ञ कलापूर्ण मूर्तियों के लिए विशेषत: पार्श्वनाथ की 1000 फणों वाली मूर्ति के लिए विश्व विश्रुत है। (धर्मयुग : 17 सित० 1967 पृष्ठ 14–15 पर अक्षयकुमार जैन का लेख)। जीजा ने न केवल विपुल द्रव्य व्यय कर जैन कीर्तिस्तम्भ का जीर्णोद्धार कराया अपितु महाराणा कुम्भा की आज्ञा से सवा लाख बंदियों को प्रायश्चित दिलाकर मुक्त कराया। उसने 18 मंदिरों के शास्त्र भण्डारों में 18 करोड़ जैन ग्रंथ स्थापित किए। (जैन सिद्धान्त भास्कर जनवरी 1947 पृ० 137) कुम्भा के पुत्र रायमल ने भी जैन धर्म की बड़ी प्रभावना की।[4]

राणा सांगा ने मुगल सम्राट् बाबर से घमासान युद्ध किया था और जैनाचार्य धर्मसूरि के उपदेश से शिकार, शराब, मांस-भक्षण आदि का त्याग कर दिया था। स्वयं बाबर ने अपनी 'तुजके बाबरी' में राणा सांगा की वीरता और देश भक्ति की बड़ी प्रशंसा की है। इन राणा के सेनापति तोलाशाह जैन थे।

महाराणा रत्नसिंह का सेनापति उक्त तोलाशाह का पुत्र कर्मशाह था जिसने तत्कालीन गुजरात सम्राट् बहादुरशाह की आज्ञा लेकर 1530 ई० में करोड़ों रुपयों की लागत से शत्रुञ्जय तीर्थ का जीर्णोद्धार कराया था तथा भ० ऋषभदेव की मूर्ति प्रतिष्ठापित की थी।[5]

राणा रतनसिंह की मृत्यु के बाद विक्रमादित्य उत्तराधिकारी हुवा जो अयोग्य था। । उदयसिंह उस समय नाबालिग था इसलिए सरदारों ने उदयसिंह के बालिग होने तक उसके चाचा बनवीर को राजा बना दिया। यह बड़ा अन्यायी था। इसने विक्रमादित्य को कत्ल कर दिया और

1. मुनि श्री जयन्तविजयजी : जैन तीर्थ (HOLI ABU) (भावनगर)
2. हिन्दुस्थान टाइम्स देहली दि० 3–1–68 पृष्ठ 5।
3. (i) सन्मति सन्देश : अप्रेल 1963 पृष्ट 18 (ii) जैन सिद्धांत भास्कर वर्ष 13 पृष्ठ 128।
4. राजस्थान म्यूजियम, अजमेर की वार्षिक रिपोर्ट 1921–22 नं 3।
5. राजपूताने के जैन वीर पृष्ठ 69।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कि स्वयं रायपाल ने भी 22 वें तीर्थंकर नेमिनाथ की पूजा के लिए भेंट दी ।[1]

महाराजा अल्हन देव जैनधर्म में श्रद्धा रखते थे । अपनी आध्यात्मिक सुख शांति के लिए इन्होंने आज्ञापत्र द्वारा अष्टमी, एकादशी और चतुर्दशी का हर प्रकार का जीववध रोक दिया था और इस आदेश के उल्लंघन करने तथा कराने वाले को तीव्र दण्ड घोषित कर रखा था ।[2] 1172 ई० के शिलालेख से सिद्ध है कि अल्हनदेव ने भ० महावीर के मंदिर को दान दिया । [3]

अल्हनदेव के पुत्र महाराजा कल्हनदेव ने भी जैन धर्म की प्रभावना के अनेक कार्य किये । 1164 के शिलालेख से पता चला है कि इनकी माता महारानी अन्हल्ला देवी ने भ. महावीर की निरन्तर पूजा के लिए भूमि दान दी थी । [4]

1160 ई० के शिलालेख के अनुसार महाराजा कीर्तिपाल भ० महावीर की पूजा के लिए प्रति-वर्ष दान देता था । [5] और इसके दोनों पुत्र राजकुमार लखनपाल तथा अभयपाल और रानी महिबल देवी ने 16 वें तीर्थंकर शांतिनाथ के पंच कल्याणक मनाने के लिए दान दिये ।[6]

महाराणा तेजसिंह जैनधर्मानुरागी थे । उन्होंने अनेक जैन मन्दिर बनवाये । इनकी पट्टरानी जयतल्लदेवी ने 1265 ई० में जब देहली में दास वंशी नासिरुद्दीन का राज्य था, चित्तौड़ में 23 वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का मन्दिर बनवाया ।[7]

महाराणा तेजसिंह के पुत्र समरसिंह ने जैनाचार्य अमितसिंह सूरि के उपदेश से प्रभावित होकर राजाज्ञा द्वारा अपने समस्त राज्य में जीवहिंसा कानून द्वारा रोक दी थी । [8]

राजस्थान म्यूजियम अजमेर की 1921–22 की वार्षिक रिपोर्ट के अनुसार महाराणा समरसिंह ने जैन मंदिरों के लिए भूमि भेंट की । समरसिंह के पुत्र तेजाकर्सिह ने अपनी रानी रामदेवी और पुत्र विजयसिंह के साथ 1306 ई० में प्रतापगढ़ में जैन मूर्ति विराजमान की थी ।

महाराणा लाखा का प्रधानमंत्री तथा प्रधान सेनापति रामदेव था जिसने अनेक जैन मंदिरों का जीर्णोद्धार कराया ।

महाराणा हम्मीरसिंह का सेनापति जालसिंह भी जैन था जिसने अलाउद्दीन खिलजी के दांत खट्टे कर दिये थे ।[9]

महाराणा कुम्भा ने जैन तीर्थ आबू पर जैन यात्रियों से लिया जाने वाला कर माफ कर दिया

1–6 E. P. India Vol. XI pp. 37–41, 43–46, 43–47 and 66–70; 40–50, 66–70.

7. (i) राजपूताने का इतिहास पृष्ठ 473 ।
   (ii) राजपूताने के जैन वीर पृष्ठ 57 ।

8. राजपूताने का इतिहास पृष्ठ 477 ।

9. (i) डॉ० कैलाशचन्द्र जैन : 'History of Ranthambor' म० ज० स्म० जयपुर 1963 पृष्ट 41–46.
   (ii) भंवरलाल नाहटा का रणथंभौर के सम्बन्ध में अनेकान्त वर्ष 8 पृष्ट 444 पर लेख
   (iii) महाकवि चन्द्रशेखर का हम्मीर हठ आदि ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उदयसिंह का वध करने हेतु नंगी तलवार लेकर महल में आया उस समय उदयसिंह की धाय पन्ना ने किस प्रकार अपने पुत्र का बलिदान कर उदयसिंह की प्राणरक्षा की यह एक इतिहास प्रसिद्ध कथा है। यह पन्ना धाय जैन थी।

राणासांगा के पुत्र उदयसिंह का प्रधानमन्त्री व सेनापति भारमल भी जैन था। महाराणा प्रतापसिंह का सेनापति प्रसिद्ध देशभक्त भामाशाह तथा राजमन्त्री ताराचन्द थे जो भारमल के पुत्र थे। महाराणा प्रताप ने 1518 ई. में प्रसिद्ध जैनाचार्य हीरविजयजी को मेवाड़ में जैनधर्म के प्रचार हेतु उस समय आमंत्रित किया जबकि वह स्वयं अकबर के साथ युद्धरत था।[1] भामाशाह का त्याग प्रसिद्ध है जिसने इतना द्रव्य महाराणा को उनकी हताश अवस्था में भेंट स्वरूप दिया था कि जिस से 12 वर्ष तक 25000 सैनिकों का व्यय चलाया जा सकता था।[2] हल्दी घाटी के प्रसिद्ध युद्ध में 18–6–1576 को स्वयं भामाशाह भी लड़ा था।[3]

महाराणा प्रताप के पुत्र अमरसिंह का सेनापति भी भामाशाह का पुत्र जीवाशाह था। महाराणा अमरसिंह भी प्रताप की ही भांति जैनधर्म प्रेमी था। सन् 1602 के एक शिलालेख के अनुसार इसने भी जैन मंदिरों को दान दिया था।[4]

अमरसिंह के पुत्र करणसिंह का सेनापति जीवाशाह का पुत्र अखैराज था।[5] इनके राज्य में भी जैनधर्म खूब फूलता-फलता रहा।

करणसिंह के पश्चात् महाराजा जगतसिंह सिंहासनासीन हुए। इनका सेनापति भी उक्त अखैराज ही था। इन्होंने राजाज्ञा द्वारा अष्टमी चतुर्दशी को जीव वध रोक दिया था तथा वे जैनाचार्यों का बड़ा सम्मान करते थे।

महाराणा राजसिंह के सेनापति दयालदास भी थे। राणा की जैन धर्म पर बड़ी गहरी श्रद्धा थी। इन्होंने 1692 में निम्न राजाज्ञा जारी की थी[6]—

1. जैन मंदिरों और जैन संस्थाओं की सीमा में कोई जीव वध न करे। यह जैनों का पुराना हक है।

2. जो जीव वध के लिए छांट भी लिया गया हो किन्तु यदि वह जैनियों के स्थान से गुजर जाय तो अमर हो जायगा। फिर कोई उसे मार नहीं सकता।

3. राजद्रोही, लुटेरे और जेल से भागे हुए अपराधी को भी कोई राज कर्मचारी न पकड़े यदि वह जैनियों के उपाश्रय में शरण ले ले।

4. दान दी हुई भूमि और अनेक नगरों में बनाई हुई जैन संस्थाएं कायम रहेंगी। इन्ही के मंत्री दयालदास ने राज नगर में बड़ा विशाल जैन मंदिर बनवाया।[7]

मुगल सम्राट् औरंगजेब के राज्यकाल में जब लोगों को जबर्दस्ती मुसलमान बनाया जाने लगा तो

---

1. प्रोग्रेस रिपोर्ट आफ आर्केलोजिकल सर्वे : वेस्टर्न सर्किल 1907–8 पृ० 48–49।
2. वाइस आफ अहिंसा 1963 पृष्ठ 153।
3. प्रो० सी० वी० सेठ : जैनिज्म इन गुजरात पृष्ठ 273।
4. प्रोग्रेस रिपोर्ट ऑफ आर्के० सर्वे: वे० सर्किल 1907।
5. राजपूताने का इतिहास खण्ड 3 पृष्ठ 787
6. जैनसिद्धांत भास्कर भाग 13 पृष्ठ 116–18 पर इसकी पूरी नकल प्रकाशित हुई है।
7. केसरियाजी तीर्थ का इतिहास पृष्ठ 27।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

राणा राजसिंह ने एक पत्र लिख कर विरोध किया जिससे नाराज होकर 3–9–1679 ई. के उसने मारवाड़ (मेवाड़ ?) पर आक्रमण कर दिया। इस युद्ध में जैन सेनापति दयालदास ने वह वीरता दिखाई कि मुगल सेनापति आजमखां को भागना पड़ा।[1]

महाराणा जसवन्तसिंह ने भी जैन पवित्र दिनों में अर्थात् दोयज, पंचमी, अष्टमी, एकादशी और चतुर्दशी को तेल के कोल्हू, शराब की भट्टिया, जीव वध आदि हिंसक कार्य रोकने के लिए कानून बना रखा था और इनका उल्लंघन करने वाले के लिए 250 रु० जुर्माना निश्चित कर रखा था।[2]

महाराणा संग्रामसिंह द्वितीय के सेनापति कोठारी भीमसी भी जैन थे। मुगल सेनापति रणबाजखां द्वारा मेवाड़ पर आक्रमण होने पर जब राणा ने उनके सेनापतित्व में उससे लड़ने को सेना भेजी तो राजपूत सरदारों ने उन से मजाक के तौर पर कहा था—'कोठारीजी, वहां जान हथेली पर रखनी है, आटा नहीं तौलना है।' कोठारीजी ने प्रत्युत्तर में कहा था—'वहां तो मैं दोनों हाथों से आटा तोलूंगा तब देखना।' युद्ध में घोड़े की लगाम कमर से बांध दोनों हाथों में नंगी तलवारें ले उन्होंने सरदारों को ललकारा—आवो और देखो दोनों हाथों से आटा किस तरह तुलता है। यह कह वे मुगल सेना पर जो कि संख्या में बहुत अधिक थी, भूखे सिंह की तरह टूट पड़े। उनको इस वीरता से लड़ते देख राजपूत सरदार तो क्या मुगल भी दांतों तले अंगुली दबाने लगे।

महाराणा उदयसिंह ने उदयपुर के जैन मंदिर को कई ग्राम भेंट किए। महाराणा जगतसिंह ने जैनाचार्य विजयदेवसूरि को अपने प्रधानमन्त्री कल्याणसिंह जैन द्वारा उदयपुर में चातुर्मास हेतु आमंत्रित किया और उनके वहां पधारने पर शाही ठाठ से उनका स्वागत किया और एक आज्ञा द्वारा पीछोला सरोवर और उदयसागर नामक झीलों में मछलियों का शिकार और उनको पकड़ना बन्द कर दिया। जैन मंदिरों का जीर्णोद्धार कराया तथा ऋषभदेव की पूजा की।[3]

राठौड़ राव सीहोजी के पुत्र आयस्थानजी ने कन्नौज से आकर 1180 ई. में अपना राज्य जोधपुर में स्थापित किया।[4] वह जैन थे। इनके पुत्र धुहड़जी (1204–1228 ई०) भी अहिंसा व्रत का पालन करते थे। इनके पुत्र रायपाल (1228 ई०) भी जैन धर्मानुरागी थे। इनके पुत्र मोहन ने जैन मुनि शिवसेन के उपदेश से प्रभावित हो जैनधर्म ग्रहण कर लिया था। इनके पुत्र सम्पतिसेन ने भी जैन-धर्म अपनाया।[5]

बीकानेर को जोधपुर नरेश जोधासिंह के पुत्र राव बीकाजी ने बसाया था जिनके मंत्री वत्सराज जैन थे। इन्होंने प्रचीन किले की नींव डालते समय मूलनायक ऋषभदेव युक्त 24 तीर्थंकरों का मंदिर बनवाया। इन्होंने ही करोड़ों रुपयों की लागत से सुमतिनाथ का मंदिर भी बनवाया जो दस साल में बन कर 1514 ई० में तैयार हुआ। बीकाजी के उत्तराधिकारी राव लूणकरण के मंत्री कर्मसिंह भी जैन थे इन्होंने 21 वें तीर्थंकर नेमिनाथ का मंदिर बनवाया। राव लूणकरण के उत्तराधिकारी जयतसी के मन्त्री वरसिंह और नागराज जैन थे, राव कल्याणमल जिन्होंने चातुर्मास में तेल पीड़ने के आवा लगाने बन्द कर दिये थे, के मन्त्री संग्राम-सिंह भी जैन थे। राजा रायसिंह के मंत्री कर्मचन्द

---

1. टाड्स राजस्थान भाग 2 अध्याय 12पृष्ठ 397।
2. जैन सिद्धांत भास्कर जनवरी 1947 पृष्ठ 117।
3–5 सिंघी जैन सीरिज वाल्यूम XIV Intrd. 32–33. राजपूताने जैन वीर पृष्ठ 115–116।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को तो बादशाह अकबर ने उसकी वीरता पर मुग्ध होकर अपना सेनापति ही बना लिया था। इन्हीं के प्रभाव से अकबर ने 1050 तीर्थंकर मूर्तियां जो उसका सेनापति सोने के लालच में सिरोही से लाया था वापिस दिला दी थीं जो बीकानेर में एक विशाल मंदिर बनाकर प्रतिष्ठापित की गई। इन्हीं के कारण अकबर की जैनधर्म के प्रति रुचि जाग्रत हुई कि लोग उसे जैनधर्मी ही समझने लगे। उसने जैन मुनियों को सादर निमन्त्रित कर जैन धर्म की शिक्षा स्वीकार की। राव कल्याण ने अपने जैन मन्त्री संग्रामसिंह की देशभक्ति से प्रसन्न हो चातुर्मास में तेल के कौल्हू और कुम्हार के पजावे बन्द कर दिये। महाराज सूरसिंह का मन्त्री कर्मचन्द का पुत्र भागचन्द था।[1]

रावल जैसवाल द्वारा 1099 ई० में बसाए गए जैसलमेर के किले में हजारों वर्ष पुराने 8 जैन मंदिर हैं।[2] महाराजा कर्ण ने 1283 में जैनाचार्य जिनप्रभसूरि को जैसलमेर में चातुर्मास हेतु आमंत्रित कर ठाठ बाट से उनका स्वागत किया। 1416 में महाराजा लक्ष्मणसिंह के राज्यकाल में चिन्तामणि पार्श्वनाथ का मंदिर बना। 1436 में बयारसिंह के राज्य-काल में सुपार्श्वनाथ का शाह हेमराज ने 1437 में तीर्थंकर संभवनाथ का मंदिर बनवाया है। जैसलमेर का शास्त्र भण्डार तो प्रसिद्ध है ही जिसकी प्रशंसा डॉ० राजेन्द्रप्रसाद तक ने की थी।

अजमेर में 13 विशाल दि. जैन मंदिर हैं। अढ़ाई दिन का झोंपड़ा पहले जैन मन्दिर था जो अब मस्जिद में परिवर्तित है। ऋषभदेव का मन्दिर जो 25 वर्षों में बनकर तैयार हुआ बड़ा कलापूर्ण दर्शनीय है जिसकी प्रशंसा पं० जवाहरलाल नेहरू ने भी की थी। महाराजा पृथ्वीराज प्रथम जैन गुरू अभयदेव का शिष्य था जिसने रणथम्भौर के जैन मन्दिर पर स्वर्ण कलश चढ़ाया था।[3] अजयराज के उत्तराधिकारी अरणोराज ने एक विशाल जैन मन्दिर बनाने के लिए भूमि भेंट की। महाराजा पृथ्वीराज द्वितीय ने पार्श्वनाथ की पूजा खर्च के लिए भूमि दी।[4] अरणोराज के चाचा सोमेश्वर ने भी अपनी मनोकामना पूर्ति हेतु भ० पार्श्वनाथ की पूजा के लिए एक ग्राम भेंट किया।[5] मोहम्मद गोरी को हराने वाले पृथ्वीराज के दरबार में जिनपतिसूरी का शास्त्रार्थ हुआ था। इनका सेनापति चांदराय जैन था।

1727 में जयपुर बसाने वाले सवाई जयसिंह का इंजिनीयर मन्त्री विद्याधर जैन था जिसकी सलाह से इतने सुन्दर नगर का निर्माण हुआ जो भारत का पेरिस कहलाता है। दीवान रामचन्द्र छाबड़ा, राव कृपाराम पांड्या और विजयराम छाबड़ा ने कई विशाल मन्दिर बनवाए और हजारों ग्रंथ लिखाए। जयपुर में जैन दीवानो की एक लम्बी तालिका है जिसकी विस्तृत जानकारी हेतु म० ज० स्मा० 1962 पृष्ठ 246 से 253 देखिए।

केवल पुरुष ही नहीं राजस्थान में कई वीरांगनाएं भी हुई हैं जिनमें से पन्नाधाय का जिक्र पहले आ चुका है। पन्नाधाय उदयसिंह को बचाने के पश्चात् उसकी रक्षार्थ कई राजपूत सरदारों के पास गई किन्तु बनवीर के डर से किसी ने भी उसे शरण नहीं दी। अन्त में वह कुम्भलमेरू के जैन शासक आशाशाह के पास पहुँची जो पहले तो इनकार हो गया फिर अपनी माता द्वारा फटकारे

1. श्री अगरचन्द नाहटा : बीकानेर जैन लेख संग्रह तथा ओझा का बीकानेर राज्य का इतिहास।
2. अयोध्यायप्रसाद गोयलीय : राजपूताने के जैन वीर पृ० 273।
3. जैनिज्म इन राजस्थान पृ० 19।
4. संवत् 1169 का विजोलिया शिलालेख।
5. ईपीग्राफिक इण्डिया वाल्यम 11 पेज 30–32।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जाने पर न केवल उसने उदयसिंह को शरण ही दी अपितु उसने बनवीर से युद्ध कर उसे सिंहासन पर बिठाया । महाराणा तेजसिंह की रानी और महाराणा समरसिंह की माता की जैनधर्म पर अटूट श्रद्धा थी । इतिहास रत्न डॉ० ज्योतिप्रसाद के अनुसार उसने चित्तौड़ दुर्ग के पार्श्वनाथ के सुन्दर मंदिर के अतिरिक्त और भी कई स्थानों पर जैन मन्दिर बनवाये थे ।

अनेकान्त वर्ष 10 के पृष्ठ 196 पर डॉ० कस्तूरचन्द्र कासलीवाल ने अपने लेख 'ग्रंथ और ग्रंथकारों की भूमि राजस्थान' में सच ही लिखा है कि राजस्थान ग्रंथागारों और जैन ग्रंथकारों की भूमि है जहां 200 से अधिक ग्रंथ भण्डार हैं जिनमें सभी विषयों के ग्रंथों का विशाल संग्रह है । यहां के विद्वान् समस्त भारत में प्रसिद्ध हैं जिनमें से कुछ निम्न हैं—

1 आचार्यकल्प पं० टोडरमलजी—(1740 से 1770) भारत प्रसिद्ध विद्वान् थे । दूर-दूर के लोग इनसे अपनी शंकाओं का समाधान प्राप्त करते थे । मोक्ष मार्ग प्रकाशक के लेखक ये ही थे जिसकी हजारों प्रतियां कई भाषाओं में अनूदित होकर अब तक छप चुकी हैं ।

2 पं० जयचन्दजी छाबड़ा (जन्म 1748 ई०) समयसार आदि कई ग्रंथों के टीकाकार । दीवान अमरचन्दजी के समकालीन ।

3 पं० दौलतराम कासलीवाल (1688 से 1773)—हरिवंशपुराण, पद्मपुराण आदि 18 ग्रंथों के टीकाकार ।

4 पं० सदासुखजी (1795–1866)—रत्नकरण श्रावकाचार वचनिका आदि के कर्त्ता ।

5 भट्टारक सकलकीर्ति (12 वीं शताब्दि)—आदिनाथ पुराण, शांतिनाथ पुराण, महावीर पुराण आदि कई ग्रंथों को रचनाकार प्रसिद्ध सन्त ।

6 पं० चैनसुखदास न्यायतीर्थ (सन् 1900 से 1969)—भावना विवेक, जैनदर्शनसार, अर्हिंत् प्रवचन, प्रवचनसार आदि कई स्वतन्त्र और संग्रह ग्रंथों के रचनाकार तथा जैन दर्शन, जैन बन्धु, वीरवाणी पत्रों के सम्पादक सुप्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् ।

7 पं० भंवरलाल पोल्याका जैनदर्शनाचार्य साहित्यशास्त्री—महावीर जयन्ती स्मारिका और वीर निर्वाण स्मारिका के सम्पादक ।

8 डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल—अध्यक्ष साहित्य शोध विभाग श्री महावीरजी ग्रंथ सूचियों आदि के सम्पादक ।

9 डॉ. कैलाशचन्द जैन रीडर विक्रम वि. विद्यालय राजस्थान में जैन धर्म और' राजस्थान के नगरों का सांस्कृतिक अध्ययन' ग्रंथों के तथा कई निबन्धों के लेखक प्रसिद्ध ऐतिहासिक विद्वान् ।

10 आचार्य हस्तीमलजी—'जैनधर्म का मौलिक इतिहास भाग 1 व 2 के लेखक व निर्देशक ।

11 डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल न्यायतीर्थ शास्त्री पं० टोडरमल स्मारक भवन, जयपुर कई पुस्तकों के लेखक ।

12 इतिहासरत्न श्री अगरचन्द नाहटा बीकानेर—हजारों लेखों के लेखक ।

13 स्व० डॉ० नेमिचन्द ज्योतिषाचार्य—आरा ।

14 पं० भंवरलाल न्यायतीर्थ वीरवाणी के सम्पादक ।

स्थानाभाव से विस्तार से लिखने में असमर्थ हैं ।विस्तृत जानकारी के लिए वायस आफ अहिंसा अलीगंज वर्ष 12 पृष्ठ 54 से 58 देखें ।

राजस्थान में अतिशय क्षेत्रों की भी बहुत बड़ी संख्या है जिनमें श्री महावीरजी' केसरियाजी, पद्मपुरा, तिजारा, चांदखेड़ी आदि प्रसिद्ध हैं जिनका प्रत्येक का अपना अपना इतिहास है जिसके लिए एक स्वतन्त्र ही लेख की आवश्यकता है ।

1. टाड : अनल्स और एण्टीक्वीटीज आफ राजस्थान वाल्यूम I पृष्ठ 245–246 ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संत तारणतरण की क्रान्तिकारी अभीप्सा

● श्री राजधर जैन 'मानसहंस'
दमोह ।

१५००वीं शताब्दी ने जन्म दिया एक ऐसी महान् आत्मा को जिसने महावीर को पुनः धरा पर अवतरित कर दिया। चैतन्यमयतत्व को पुनः प्रतिभाषित करने हेतु संत तारणतरण का प्रादुर्भाव हुआ महावीर के परम अनुयायी के रूप में, दीर्घकाल से लुप्त अनन्त जीवन के स्रोत को पुनः प्रकट कर धरा को अनन्त आनन्द में ले जाने की अभीप्सा को लेकर। यह समय था, जब यथार्थ धर्म की स्थापना के लिये कर्म-काण्ड का विधिवत् विधान अपने मूल उद्देश्य से हट रहा था, भक्ति से विज्ञान तिरोहित हो चुका था, वह यथार्थ की उपलब्धि में साधक नहीं बन पा रहा था। धर्म की तरलता के ऊपरी तल पर मिथ्यात्व एवं रूढ़ियों की जो तैलवत् सतह उभर आयी थी एवं उस पर जो अवांछनीय, विजातीय पदार्थ चिपकने लगे थे तथा आत्मानन्द की शुद्ध चेतनाभूति मलिन पड़ गई थी, उस सतह को तोड़ना एवं दिव्यज्योति को पुनः प्रकट कर मानवीययोगी बना देना आवश्यक हो गया था। संत तारणतरण आये, उन्होंने आडम्बरों का खण्डन आरम्भ कर दिया। उन्होंने कहा कि यह पाखण्ड है कि मानव समुदाय पीड़ित रहे, हिन्दू और मुसलमान, आदमी-आदमी की भेद प्राचीरों को निर्मित कर एक दूसरे के लहू के प्यासे हो जायें, यह अज्ञान है। धर्म, विभाजन-भित्तियाँ निर्मित करने का कारण बने, राग-द्वेष और घृणा को हवा दे, यह असह्य है। उन्होंने कहा वह धर्म हो ही नहीं सकता जो परिवर्तित किया जा सके। मुसलमान धर्म परिवर्तन करें, मूर्तियों को तोड़ें, एक विप्लव और भय का निर्माण हो, अमानवीय है, असंगत है। धर्म आत्मा की वस्तु का स्वभाव है अतः आत्मा पर अंकित मूर्ति को तोड़ सकना किसी भी शक्ति के सामर्थ्य के बाहर की बात है। धर्म निर्भयता है। अज्ञानता भय का कारण बन जाये, द्वेष और वैमनस्यता का कारण बन जाये तो आतंकित होने के स्थान पर उचित है कि उसका कारण खोजा जाये, निराकरण अनिवार्य है। यही है जैन दर्शन की महावीर की निश्चयनय की दृष्टि जिसकी उपादेयता संत तारणतरण ने पुनः प्रतिपादित की।

यह अत्यन्त गलत है कि संत तारणतरण मूर्ति के विरोधी थे। संत तारणतरण इतने कायर नहीं थे कि मुसलमानों के मूर्तिभंजन अभियान से भयभीत होकर मूर्तिपूजा का विरोध कर देते, आत्मसमर्पण कर देते। यह अत्यन्त घिनौना लांछन होगा उन पर। जिसने जैन दर्शन के समस्त मौलिक सिद्धांतों को ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया हो, वह मूर्तिपूजा का विरोध करता दिखाई दे, यह केवल न समझने, न जानने की अज्ञानता है। ११वीं शताब्दी के भारत प्रवासी मुस्लिम यात्री अलबेरूनी ने लिखा है, 'भारत का बौद्ध धर्म का प्रखर तेज अस्तंगत हो चुका है, सुसंस्कृत और विकसित जैन धर्म मध्य, उत्तर और दक्षिण से अप्रभावी होकर गुजरात और राजपूताने की ओर सिमटता जा रहा है, देवी-देवताओं की हिन्दू धर्म में बाढ़ आ चुकी है, मूर्तियों के संग्रहालय देश भर में स्थापित हो चुके है।' अलबेरूनी का इशारा था कि इस अनेक मूर्तिवाद ने भारतीय जनता की बची खुची एकता पर कठोर प्रहार आरम्भ कर दिया है और यह देश शीघ्र ही गहरी पराधीनता में जाने वाला है। यह यथार्थ था जो पन्द्रहवीं शताब्दी तक पूर्णरूपेण उभर कर भयानक परिणामगामी बन चुका था।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत्येक सम्प्रदाय यहां एक दूसरे के विरोध में खड़ा था। जहाँ तक अन्त्यज, हरिजन, गोंड़, भील आदि आदिवासियों का प्रश्न था वे तो दीर्घकाल से वैसे ही तिरस्कृत थे उनकी स्थिति और अधिक जर्जर बनायी जाने लगी थी। अतः इस अवसर पर मुसलमानों के एकेश्वरवाद ने उन्हें सम्मोहित करना आरंभ कर दिया था। अतः भारत गहरी पराधीनता में उतरता जा रहा था। तब आवश्यक हो गया था कि इस खण्डित शक्ति को (Concentrate) किया जाये। देश के स्वतन्त्र अस्तित्व के लिये यह अपरिहार्य था। आवश्यक हो गया था कि इस भूमिका के लिये धर्म प्राण जनता के धर्म बोध को परिष्कृत दिशा का ज्ञान कराया जाये। अतएव धर्म की विकृतियों के लिये जो धर्माचार्य उत्तरदायी थे उन्हें ही अब उनके निराकरण के लिये आगे आना अनिवार्य हो गया था। अतः जैन धर्म के अस्तित्व के संरक्षण के लिये जो उत्तरदायी होगा भारतीय स्वतन्त्रता के लिये, संत तारणतरण ने कहा, "दर्शन, ज्ञान और चारित्र की शुद्धता की स्थिति में मूर्ति बाहर अन्य स्थिति में स्थापित नहीं होगी। मनुष्य ही वह मूर्ति है जिसका हमें अनावरण करना है, उसकी प्राण प्रतिष्ठा करना है। आचरण शुद्धि से मन के विकास की स्थिति केवल यही है कि हम समस्त चेतन जगत् को स्वयं पें रूपान्तरित करके देखें। यदि कोई उच्च हो सकता है तो यह मेरी उच्चता होगी और यदि कोई नीचा तो वह होगी केवल मेरी अधमता। जब तक ये समस्त मूर्तियाँ दुखी हैं, मेरे आनन्द की, सुख की कल्पना व्यर्थ है। संसार मुझसे बाहर नहीं हो सकता और इसलिये अयथार्थता के बोध को लेकर जीना अकल्याणकारी है। स्वयं को पाषाण में परिवर्तित कर जड़ मत बन जाने दो। स्वयं की भावना की पूजा करो उसके विकास की पूजा करो। मूर्ति तो मात्र पाषाण ही है भावना तो शिल्पकार की है, वह भावना पूज्य है, वह कला पूज्य है, वह श्रम पूज्य है। उस पवित्र स्नेह की पूजा करो, उस कल्याणकारी भावना की पूजा करो। तुम्हें चारों ओर सौन्दर्य दिखाई देगा, आनन्द दिखाई देगा। अमूर्त का मूर्त पर आरोहण आवश्यक है क्योंकि अमूर्त पूर्ण है, मूर्ति सीमा है, बन्धन है और यह (Bondage) संसार और उसके दुराग्रहों का कारण है। समष्टि के प्रति समत्वभाव मूर्ति के विराटत्व के दर्शन कराने में समर्थ है, यही संत का उद्देश्य था। क्रान्तिकारी परिवर्तन के लिये, सुनिश्चित जीवन दर्शन के लिये जिस पर उन्होंने सोचा और वे चले।

अतएव यह मानकर चलना कि संत तारण-तरण मूर्ति अथवा मूर्तिपूजा के विरोधी थे औचित्य पूर्ण नहीं। तारण तरण समाज मूर्ति के स्थान पर शास्त्रों को स्वीकार कर रहा है, यह भी मूर्ति पूजा का पर्यायवाची ही है। शास्त्र क्या है, वाणी का (Tape recorder) और वाणी वह भी मूर्त है, जिसका भी आकार है उसका भी स्थल है भले ही वह इन पक्षुओं से दृष्टिगत न हो। अतः कोई भाव बिना आकार लिये नहीं होता अतः भाव पूजा आखिर मूर्तिपूजा ही है। हाँ सब कुछ समाप्त हो जाना, वहाँ फिर पूजा का स्थान ही कहाँ, कौन पूज्य कौन पूजक। मात्र एक सौंदर्य आनन्द स्वयं में रूपान्तरित। कहने का तात्पर्य कि जिस संत ने जैन परम्परा के २४ तीर्थङ्करों को स्वीकार कर लिया वह मूर्ति पूजा का विरोध करके क्या तीर्थंकरों के अवतरण को अस्वीकार करेगा। कदापि नहीं। यह तो सम्प्रदाय की रूढ़िगत अज्ञता है जो संत तारण तरण को प्रस्तुत करने में असमर्थ रहा। मूर्ति चाहे पत्थर की हो, काष्ठ की हो, मिट्टी की हो चाहे हम आप हों, पूजनीय न पत्थर है न मिट्टी, न काष्ठ, न यह शरीर पूजनीय है उसमें व्याप्त भावना उपलब्धि और भावना का अस्तित्व पृथक नहीं। किसी शव की पूजा नहीं होती और शव से रहित कोई भावना भी नहीं होती। अतः मूर्ति पूजा अनिवार्य है पूजा के अभाव के लिये, मोक्ष के लिये। ●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पं० सदासुखजी का निधन-स्थल अजमेर या वैराठ

● विद्यावारिधि डा० ज्योतिप्रसाद जैन,
लखनऊ।

तत्त्वार्थाधिगमसूत्र, रत्नकरण्डश्रावकाचार, भगवती आराधना आदि प्राचीन धर्मशास्त्रों की सुप्रसिद्ध भाषा-वचनिकाओं के रचयिता पंडित सदासुखजी का नाम जैन समाज, विशेषकर उत्तर भारत की दिगम्बर जैन समाज में सर्वत्र सुविदित है। उनकी उक्त टीकाओं के पठन-पाठन, स्वाध्याय तथा शास्त्रसभाओं में वाचन का प्रभूत प्रचलन रहा है। समय-समय पर उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्त्व से सम्बन्धित लेख भी पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे हैं। हिन्दी जैन साहित्य के इतिहासकारों में पं० नाथूराम प्रेमी ने सदासुखजी का अति संक्षिप्त परिचय दिया था,[1] बा. कामताप्रसाद ने[2] कोई उल्लेख नहीं किया, संभवतया इसलिये कि उन्होंने वि. सं. १९०० के उपरान्त के किसी विद्वान् का उल्लेख नहीं किया। डा० नेमिचन्द्र शास्त्री ने अपेक्षाकृत अधिक परिचय दिया।[3] हमने भी हाल में प्रकाशित अपनी पुस्तक[4] में निश्चित ज्ञात तथ्यों के आधार से पं. सदासुखजी का संक्षिप्त परिचय दिया है।

तत्त्वार्थसूत्र की अर्थप्रकाशिका नाम्नी अपनी टीका में पंडितजी ने अपने विषय में जो कथन किया है, उनके शिष्य पारसदास निगोत्या ने अपने ज्ञानसूर्योदय नाटक में उनके प्रति जो उद्गार प्रकट किये हैं, तथा अन्य समसामयिक आधारों से जो कुछ विदित होता है, वह संक्षेप में यह है कि पंडित सदासुखदासजी कासलीवाल गोत्रीय खण्डेलवाल थे और जयपुर नगर के निवासी थे, किन्हीं डेडराज के वंशज और दुलीचन्द के सुपुत्र थे। उनका जन्म १७९५ ई० के लगभग और स्वर्गवास लगभग ७० वर्ष की आयु में १८६६ ई० के आसपास हुआ था। पंडित जयचन्द छाबड़ा और पं. मन्नालाल सांगाका उनके गुरु रहे थे, और पं. पन्नालाल संघी दूनीवाले, पं. पारसदास निगोत्या, पं. नाथूराम दोसी, सेठ मूलचन्द सोनी, भँवरलाल सेठी आदि उनके अनेक शिष्य थे। उपरोक्त तीनों वचनिकाओं के अतिरिक्त, जिनमें भगवती आराधना की टीका १८५१ में रची थी[5] उन्होंने बनारसीदास कृत नाटक समयसार की टीका, नित्य पूजा टीका और अकलंकाष्टक की टीका भी बनाई थी।[6] आजीविका के लिए पंडितजी जयपुर राज्य की कचहरी में अत्यल्प वेतन पर एक साधारण से पद पर नियुक्त थे और परम संतोष एवं निस्पृहवृत्ति से अपना

१. हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास, (१९१७ ई०), पृ. ८२।
२. हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास (१९४७)।
३. हिन्दी जैन साहित्य परिशीलन, भा. २ (१९५६), पृ. २३७-२३८
४. प्रमुख ऐतिहासिक जैन पुरुष और महिलाएं, (१९७५), पृ. ३४१
५. प्रेमी, पृ. ८२
६. वही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अधिकतम समय जिनवाणी की साधना में व्यतीत करते थे। सन् १८६४ में उनका एकमात्र युवा पुत्र गणेशीलाल कालकवलित हो गया—वृद्धावस्था में यह आघात असह्य था। पंडितजी बिल्कुल टूट गये। ऐसी स्थिति में उनके भक्त शिष्य सेठ मूलचंद सोनी आकर उन्हे अपने साथ अजमेर ले गये और स्नेह पूर्वक अपने पास रखकर उनकी यथाशय सेवा की, किन्तु दो वर्ष बीतते न बीतते अजमेर में ही पंडितजी ने समाधिमरणपूर्वक देहत्याग किया। अक्टूबर १९७४ में अजमेर में जब सरसेठ भागचन्द सोनी से हमारी भेंट हुई तो उनसे हमने उपरोक्त अनुश्रुति का उल्लेख किया था और उन्होंने भी उसका समर्थन किया था। यह भी कहा जाता है कि अपने अन्तिम समय का पूर्वाभास पाकर पंडितजी ने जयपुर से अपने शिष्यों पं. पन्नालाल संघी, भंवरलाल सेठी आदि को बुलाकर यह इच्छा प्रकट की थी कि जैन साहित्य का देश-देशान्तरों में प्रचार किया जाय और एक उत्तम संस्कृत पाठशाला की स्थापना की जाय। उक्त सुशिष्यों ने गुरु की इच्छा-पूर्ति का सत्प्रयत्न किया।

१९३८ ई० में स्व० बा. कामताप्रसाद ने 'बैराठ अथवा विराटपुर' शीर्षक एक महत्वपूर्ण लेख प्रकाशित किया था।[7] जयपुर जिले में, जयपुर नगर से लगभग ८५ कि. मी. की दूरी पर स्थित प्राचीन मत्स्यदेश की राजधानी एवं प्रसिद्ध सांस्कृतिक केन्द्र बैराठ के साथ महाभारत की घटनाओं, जैन पुराण कथाओं तथा बौद्ध धर्म का भी सम्बन्ध रहा है और मध्यकाल (१६ वीं शताब्दी ई०) में पंचाध्यायी, अध्यात्मकमलमार्त्तण्ड, लाटीसंहिता, जम्बूस्वामी चरित्र, पिंगल ग्रन्थ आदि के रचयिता काष्ठासंघी भट्टारकीय विद्वान् राजमल्ल पाण्डे का भी सम्बन्ध रहा है। स्व. आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार ने अपने एक लेख[8] में वैराठ के मुख्य टीले के ऊपर स्थित जिनमंदिर विषयक इस भ्रम का निरसन करते हुए कि वह 'इन्द्रविहार' अपर नाम 'महोदय प्रासाद' नाम का श्वेताम्बर मंदिर है, यह सिद्ध कर दिया था कि विद्यमान भवन पार्श्वनाथ भगवान् का दिगम्बर जिनालय है जो अकबरकालीन रहा हो सकता है। मुख्तार साहब ने वैराठ के सम्बन्ध में और भी प्रकाश डाला है। पुरातत्त्व विभाग के रा. ब. दयाराम साहनी ने वैराठ में पुरातात्त्विक उत्खनन किया था, जिसकी रिपोर्ट में[9] उन्होंने उक्त स्थान में प्राप्त अन्य पुरावशेषों के अतिरिक्त, वैराठ के श्मशान एवं ईदगाह के निकट स्थित एक पुराने जैन बाग का वर्णन किया है, जिसे किन्हीं ऋषभदास ने लगवाया था। उक्त बाग में कई समाधिस्मारक (छत्रियाँ) बनी थीं, जिनमें से एक में काष्ठासंघ-पुष्करगण-माथुरगच्छ के भट्टारक ललितकीर्ति की चरणपादुकाएँ बनी थीं, जिनका कि अंकित लेखानुसार सं. १८५१ (१७९४ ई०) में स्वर्गवास हुआ था। इस छत्री की बगल में एक अन्य छत्री भट्टारक ललितकीर्ति के शिष्य एवं पट्टधर पण्डित सदासुखदास की थी, जिनका देहान्त, अंकित लेखानुसार, सं. १९३७ (सन् १८८० ई०) में हुआ था। इस आधार को लेकर बा. कामताप्रसादजी ने अपने पूर्वोक्त लेख में[10] यह कथन किया है कि, "इस शिलालेख के यह पं. सदासुखजी जयपुर वासी प्रसिद्ध टीकाकार थं. सदासुखजी ही प्रतीत होते हैं, जिन्होंने भगवती आराधना टीका संवत् १९०८ में समाप्त की थी। अन्तिम जीवन में वह शायद वैराठ में उत्तम शैली देखकर वहाँ चले गये थे।"

---

७. श्री जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग ५, किरण १ (जून १९३८), पृ. २४–३२

८. लाटी संहिता की भूमिका, पृ. २१–२२

९. आर्कोलाजिकल रिमेन्स एण्ड एक्सकेवेशन्स एट बैराठ, पृ. १४–१५

१०. जैन सिद्धान्त भास्कर, भा. ५, कि. १, पृ. ३० फुटनोट

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पं० सदासुखदासजी का जो इतिवृत्त ऊपर दिया जा चुका है, उसकी दृष्टि से कामताप्रसादजी का यह अनुमान सर्वथा भ्रमपूर्ण प्रतीत होता है। टीकाकार पंडितजी का निधन अजमेर में हुआ प्रतीत होता है, न कि वैराठ अथवा जयपुर में। दूसरे, उनका निधन सं० १९२३ (सन् १८६६ ई०) में हुआ प्रतीत होता है न कि उसके १४ वर्ष बाद १८८० ई० में। तीसरे, काष्ठासंघ से उनका कोई सम्बन्ध था अथवा भ० ललितकीर्ति उनके गुरु रहे, ऐसा कहीं कोई संकेत नहीं है। वह भट्टारकीय पंडित भी नहीं थे। उनकी रचनाओं, उनके गुरुओं की आम्नाय और उनके शिष्यों के विचारों से यह सर्वथा स्पष्ट है कि पं० सदासुखदास कासलीवाल कट्टर तेरहपंथी शुद्धाम्नायी थे, और भट्टारक सम्प्रदाय या बीसपंथ के विरोधी थे। यह बात दूसरी है कि वह बड़ी भद्र प्रकृति, सरल परिणामों वाले धार्मिक सज्जन थे अतएव किसी की कटु आलोचना नहीं करते थे, विद्वेष तो किसी के साथ रखते ही नहीं थे—समभावी थे। संभव है, ऐसे ही किसी भ्रम में पड़कर डा. नेमिचन्द्र शास्त्री ने भी यह लिख दिया कि "यद्यपि आप बीसपन्थी आम्नाय के अनुयायी थे, पर तेरहपन्थी गुरुओं के प्रभाव के कारण आप तेरहपन्थ को भी पुष्ट करते थे।"[11] प्रथम तो उस काल में कोई तेरहपंथी गुरु (मुनि आदि) इस प्रदेश में थे ही नहीं। दूसरे, जैसा कि स्वयं डा० नेमिचन्द्र द्वारा उद्धृत पंडितजी के शिष्य पारसदास निगोत्या की पंक्तियों से[12] सुस्पष्ट है पंडितजी तेरहपन्थ के ही अनुयायी, पोषक एवं समर्थक थे। सुयोग्य शिष्य ने स्वगुरु की यथार्थ एवं उचित ही प्रशंसा की है।

अस्तु, प्रायः एक ही देश और काल के समान नाम वाले दो व्यक्तियों के बीच ऐसे भ्रम प्रायः सहज ही हो जाते हैं। वैराठ का वह शिलालेख आगे भी इस प्रकार के भ्रमोत्पादन का कारण हो सकता है। अतएव आवश्यकता है कि जयपुर के ही कोई विद्वान् उक्त शिलालेख को अविकलरूप में प्रकाशित करदें और उक्त काष्ठासंघी भट्टारक ललितकीर्ति के शिष्य पं० सदासुख के विषय में खोजकर पर्याप्त ज्ञातव्य प्रकाशित करदें, जिससे टीकाकार पं० सदासुखदास कासलीवाल से उनका भिन्नत्व स्पष्ट प्रगट हो जाय।

---

११. हिन्दी जैन साहित्य परिशीलन, भा. २, पृ. २३७।

१२. लौकिक प्रवीना तेरापंथ मांहि लीना,
मिथ्या बुद्धिकरि छीना जिन आतमगुण चीना है।
पढ़ै औ पढ़ावैं मिथ्या अलटकूं कढ़ावैं,
ज्ञानदान देय जिनमारग बढ़ावैं हैं॥
दीसैं घरवासी रहें घरहूतैं उदासी,
जिनमारग प्रकाशी जगकीरत जगभासी है।
कहाँ लौं कहीजे गुणसागर सुखदासजू के,
ज्ञानामृत पीय बहु मिथ्याबुद्धिनासी है॥

—ज्ञानसूर्योदय नाटक–टीका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

छेड़ दो

● श्री रमेशचन्द्र बाँझल शास्त्री
सर हु० संस्कृत महाविद्यालय
जंवरी बाग, इन्दौर

चेतन जगो तुम छेड़ दो,
सम्यक्त्व का सोया तराना।
समता नहीं मिथ्यात्व में रह,
जुल्म सहने का जमाना ।।

हैं लुटेरे ज्ञान धन के,
ध्यान बल से सर कुचल दो।
संसार के इन कारणों को
आत्म संयम से मसल दो ।।

भव भ्रमाती हैं कषायें,
इनसे नाता तोड़ दो ।
वासना के बन्धनों में,
चित रमाना छोड़ दो ।।

तन वशन में है मगन,
यह रंगीली तितलियों में ।
भ्रमर-सा मद-मत्त होकर,
मंदिरा भरी इन प्यालियों में ।।

मानता अपना जिन्हें तू,
स्वार्थ मय हैं ये सभी जन ।
छोड़ देंगे साथ इक दिन,
धन कुटुम्बी और यौवन ।।

कर ममत का त्याग अब तुम,
मुक्ति पथ में चल पड़ो ।
स्वीकार मुनिव्रत आत्म से,
रत्नत्रय सम्यक् गढ़ो ।।

स्व चतुष्टय धन बना कर,
शान्तिमय जीवन बिताना।
समता नहीं मिथ्यात्व में रह,
जुल्म सहने का जमाना ।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आत्मधर्मी जैनाचार्य जवाहर की राष्ट्रधर्मी भूमिका

● डॉ० इंदरराज बैद
आकाशवाणी, जयपुर

मानव जाति को आत्मोद्धार के पथ पर ले चलने वाले सन्तों की सुदीर्घ परम्परा में कुछ महापुरुष ऐसे भी हुए हैं, जिन्होंने आत्मोद्धार के साथ-साथ राष्ट्रोद्धार का पथ भी प्रशस्त किया है और मातृभूमि के प्रति लोगों को उनके कर्त्तव्यों और दायित्वों का भान कराके उन्हें बलिदान की वीर भावना से प्रेरित भी किया है। ऐसे दोहरे व्यक्तित्व को धारण करने वाले विलक्षण साधु पुरुषों में दो नाम स्वतः ही उभरकर आते हैं और वे हैं—स्वामी विवेकानंद और आचार्य जवाहरलाल। सनातन धर्म और श्रमण धर्म के प्रचारक के रूप में तो इन दोनों संत पुरुषों ने अपनी कीर्ति अर्जित की ही, राष्ट्रीयता का भावोद्बोधन करके एक व्यापक राष्ट्रधर्म की आधारशिला भी रखी। सचमुच भारत की धर्मप्राण और राष्ट्रप्रेमी जनता के हृदय में इन दोनों साधु पुरुषों के व्यक्तित्व का तेज सदैव जगमगाता रहेगा।

आचार्य जवाहरलालजी का जन्म विक्रम संवत् 1932 की कार्तिक शुक्ला चतुर्थी को मालव प्रदेश के थांदला नामक हरे-भरे रमणीय क्षेत्र में हुआ था। जन्म स्थली की यह समृद्धि और रमणीयता ही आगे चलकर उनके जीवन की आध्यात्मिक समृद्धि और सात्विक रमणीयता के रूप में प्रकट हुई थी। ओसवाल वंशोत्पन्न कवाड़ गोत्रीय श्री जवाहर की माता का नाम श्री नाथी बाई और पिता का नाम श्री जीवराज था। हैजाग्रस्त होकर माँ ने अपने पुत्र का साथ जल्दी ही छोड़ दिया। जवाहर उस समय केवल दो वर्ष के बालक थे। माँ का यह विद्रोह उनके जीवन की अत्यन्त करुणापूर्ण दुर्घटना थी, जिसने जवाहर के मानस का इस सीमा तक मंथन किया कि उसमें आगे चलकर समस्त मातृरूपिणी स्त्री जाति के प्रति निष्छल भक्ति की लहरें उच्छलित होती रहीं। पाँच बर्ष की अवस्था में पहुँचते-पहुँचते उनके मामा श्री मूलचन्द धोका ने आश्रय दिया। फिर अध्ययन का क्रम आरंभ हुआ, व्यापार का सिलसिला भी चला। और फिर आत्मीय जनों की मृत्यु का दौर कुछ इस तरह चला कि जवाहर के मन में जीवन और मृत्यु का रहस्य बिजली की तरह कौंधना शुरू हो गया। जीवन की क्षणभंगुरता के प्रत्यक्षदर्शी जवाहर के मन में एक शुभ संकल्प ने जन्म लिया और अन्ततः उन्होंने विक्रम संवत् 1947 की मार्गशीर्ष शुक्ला द्वितीया को पन्द्रह वर्ष की अल्प आयु में पूज्य हुकमचन्दजी महाराज की शिष्य परम्परा में दीक्षित होकर एक नये तेजस्वी जीवन का शुभारम्भ किया। अट्ठाइस वर्षों के मुनि जीवन के बाद जवाहर आचार्य घोषित किये गये। उनके बाद के दो दशक उनके साधु जीवन की प्रखरता के दशक थे। सन् 1943 की 10 जुलाई को उन्होंने तिविहार संथारापूर्वक अपने भौतिक प्राण त्याग दिये। इस प्रकार वे लगभग 50 वर्षों तक भारत की अध्यात्मनिष्ठ जनता की चेतना को जगाते रहे।

आचार्य जवाहरलालजी विरले सन्त थे, जिन्होंने घर-बार धन दौलत रिश्ते-नाते सब कुछ तोड़कर भी जननी जन्मभूमि की महिमामयी मिट्टी से कभी नाता नहीं तोड़ा। 'जननी जन्मभूमिश्चय स्वर्गादपि गरीयसी' की उदात्त भावना को अपने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मन-वचन-कर्म के द्वारा चरितार्थ करते हुए उन्होंने कहा:—'लोगों को जन्म देने वाली, पाल-पोस कर बड़ा करने वाली माता तो माता है ही, मगर अपने पेट में से पानी निकालने वाली, अपने उदर में से पानी निकाल कर पिलाने वाली, अपने उदर में से अन्न निकाल कर देने वाली, स्वयं वस्त्रहीन रहकर हमें वस्त्र देने वाली और माता की भी माता अपनी मातृभूमि है।" मातृभूमि की महिमा का गुणगान करते हुए अपने शिष्यों को कहा करते थे कि मातृभूमि के प्रति कर्त्तव्य निर्धारित करना गृहस्थ के लिए ही नहीं, साधु के लिए भी आवश्यक है। मातृभूमि तो गृहस्थों और सन्यासियों दोनों के ही लिए समान रूप से बन्दनीय है। उन्होंने इस मान्यता का घोर विरोध किया जो साधुत्व को देश की सीमा से परे खींच ले जाती है। यह तथा-कथित उदारता या मानवेतर आदर्श उन्हें कभी स्वीकार्य नहीं हुआ। राष्ट्रभक्ति को दुनियांदारी का अंग मानने वालों को लताड़ते हुए उन्होंने कहा कि ऐसे लोग आत्मधर्म की ओट में राष्ट्र के उप-कार से विमुख रहते हैं। राष्ट्रधर्म की उपेक्षा करके राष्ट्र का कोई धर्म, चाहे वह आत्मधर्म ही क्यों न हो, अपनी पूर्णता का दावा नहीं कर सकता।

भारत की भूमि से उन्हें जितना प्रेम था, उतना ही आदर उनके मन में यहाँ की संस्कृति के प्रति भी था। वे भारत को विश्व का आध्यात्मिक गुरु मानते थे। ऐसे महान् देश की पराधीन जनता में उन्होंने आध्यात्मिक और सांस्कृतिक दरिद्रता के उभरते हुए लक्षण देखे। उन्होंने देखा कि "जो भारत अखिल विश्व का गुरु था और सबको सभ्यता सिखाने वाला था, आज वह इतना दीन-हीन हो गया है कि आध्यात्मिक विद्या की पुस्तकें जर्मनी से मँगाता है। युद्ध सामग्री के लिए अमेरिका के प्रति याचक बनता है, नीति-धर्म की पुस्तकों के लिए इंगलैंड के सामने हाथ पसारता है। और तो और सुई जैसी तुच्छ चीज के लिए वह विदे-शियों का मुँह ताकता है। इसका क्या कारण है? उन्होंने यह अनुभव किया कि जब तक परतंत्रता की शृंखलाओं को तोड़ने के लिए देश तैयार नहीं होगा तब तक उसके जीवन में पड़ने वाली हीन-ग्रंथियों का निर्ग्रन्थन भी सम्भव नहीं हो पाएगा। अतः अपनी सीमा में अपने समस्त ओज और तेज के साथ उन्होंने अपने अनुयायियों को उनके पराव-लम्बन के लिए धिक्कारा और फटकारा। पारतंत्र्य की कलुषित छाया से मुक्त होने के लिए उन्होंने समाज का आह्वान किया। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कह दिया कि "स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए उत्सर्ग की आवश्यकता होती है। स्वतन्त्रता का पथ फूलों से नहीं, काँटों से आकीर्ण है।" इस प्रकार त्याग, स्वावलम्बन, पुरुषार्थ और बलिदान का पाठ पढ़ाकर उन्होंने जन-मानस में स्वातंत्र्य भाव की रमणीय लहर पैदा कर दी।

आचार्य जवाहर ने अपने अनुयायियों में राष्ट्रीयता के सभी संघटक तत्वों के प्रति ममत्व का भाव जगाने का अथक प्रयत्न किया। स्वा-धीनता आंदोलन के सभी जीवंत प्रतीकों के प्रति लोगों में श्रद्धा का भाव पैदा किया। चर्खे को वे भारतवर्ष का सुदर्शन चक्र मानते थे। उनकी दृष्टि में भारत के दैन्य रूपी दैत्य को ध्वस्त करने का यह अमोघ शस्त्र था। हिन्दी को उन्होंने भारतीय संस्कृति की आत्मा के रूप में देखा। उन्होंने यह भी अनुभव किया कि लोगों में भारतीयता के इन आधारभूत तत्वों के प्रति अपेक्षित अपनत्व और सम्मान नहीं है और वे आचार विचार से पाश्चात्य बनते जा रहे हैं। ऐसे लोगों के बारे में उन्होंने कहा—"आश्चर्य है कि उन्हें राष्ट्र भाषा, राष्ट्रीय पोशाक और स्वदेशी खान-पान तक पसन्द नही आता। ऐसे लोग

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अंग्रेजों का अंध-अनुकरण करने में ही अपना सौभाग्य समझते हैं। वे भले ही ऐसा करने में अपना गौरव समझें और सौभाग्य माने, पर वास्तविकता यह है कि उनका यह कृत्य राष्ट्र के लिए अपमान है, दुर्भाग्य है, शाप है, क्योंकि उससे भारतीय प्रजा में अपनी संस्कृति के प्रति हीनता का भाव उत्पन्न होता है और उससे मानसिक गुलामी की शृंखला मजबूत होती है।" इसी परिप्रेक्ष्य में उन्होंने अंग्रेजी का खुला विरोध किया। देशी भाषाओं को दासी बनाने वाली, भारतीय संस्कृति को विकृत करने वाली और आर्य संस्कारों को धूमिल करने वाली अंग्रेजी के विरोध की सिंह-गर्जना करते हुए उस साधु पुरुष ने कहा कि ऐसी भाषा से मैं अपने विरोध की घोषणा करता हूं और अपने श्रोताओं को विरोधी बनने का परामर्श देता हूं।"

स्वदेशी के प्रचार में भी उनकी भूमिका स्मरणीय रहेगी। उन्होंने कहा कि स्वदेशी को अपनाना अपने देश का ही सम्मान करना है उसका गौरव बढ़ाना है। विदेशी भाषा और विदेशी वस्तुओं के मोहान्ध लोगों को फटकारते हुए उन्होंने कहा कि ऐसा करके हम अपनी भारत जननी का ही अपमान करते हैं। आपके ये उद्‌गार कि—'स्वदेश का उद्‌धार उसी दिन से आरम्भ होगा, जिस दिन देशवासी स्वदेशी वस्तुओं का व्यवहार करना सीखेंगे', वर्तमान संदर्भ में कितने खरे प्रमाणित हो रहे हैं, इसे कौन नहीं जानता? 'स्वदेशी' को तिरस्कृत करके हमने तस्करी को बढ़ावा दिया। आज जब हम तस्करी का उन्मूलन करके स्वदेशी की प्राणप्रतिष्ठा कर रहे हैं तब उनकी यह भविष्य वाणी अनायास ही याद हो आती है जब उन्होंने कहा था—"विदेशी वस्तुओं का विक्रय बन्द हो जाय, और विदेशी वस्तुओं के व्यवहार का प्रचार बन्द हो जाय तो राष्ट्र के लाखों-करोड़ों गरीबों को, जिन्हें पहनने को वस्त्र और खाने को भरपेट अन्न नहीं मिलता, अन्न-वस्त्र मिल सकता है। इस प्रकार स्वदेशी वस्तुओं के व्यवहार से करोड़ों भारतीयों को सुख-शांति पहुँचायी जा सकती है।

आचार्य जवाहरलालजी के राष्ट्रधर्म का एक महत्वपूर्ण अंग था उनका समाज-सम्बन्धी दृष्टिकोण, उनका सामाजिक दायित्व-निर्वाह। इतिहास में वे क्रांतिकारी समाज सुधारक के रूप में भी अमर रहेंगे। पुण्यों के बल पर धनी हो जाने की धारणा पर उन्होंने प्रहार किया। समाज की आर्थिक विषमता उन्हें असह्य थी। देश की स्वतन्त्रता के मार्ग में यह वैषम्य और तद्‌जनित बुराइयाँ आड़े आती थीं। अतः उन्होंमें अपमें अनुयायी धनाढ्य वर्ग को न्याय, धर्म और समानता को जीवन में उतारने का उद्‌बोध दिया। समाजवादी व्यवस्था के सूत्र बिखेरते हुए उन्होंने कहा कि सम्यग् दृष्टि का लक्ष्य यही है कि वह अपनी सम्पत्ति परोपकार के लिए समझे और आप उससे अलहदा रहता हुआ अपने को ट्रस्टी अनुभव करे।" यदि धनिक समाज ने अपनी ट्रस्टी की भूमिका नहीं निभाई, तो सचेत करते हुए उन्होंने कहा कि उसे एक ऐसी क्रांति का सामना करना पड़ सकता है जो कभी आर्थिक वैषम्य के दुर्ग की ईंट बजा कर रख देगी। क्या आज हम उस चेतना को चरितार्थ होते हुए नहीं देख रहे हैं? ऐसी कल्पना घोषणा और योजना आचार्य जवाहर जैसे क्रांतदर्शी सात्विक महापुरुष ही कर सकते थे।

सामाजिक कुरीतियों पर भी उन्होंने प्रहार किये। पैसों के लालच में पड़कर अपनी फूल-सी कोमल कन्याओं की तरुणाई को बूढ़ों के जर्जर हाथों में सौंपने वाले क्रूर माता-पिताओं को, उन्होंने आड़े हाथों लिया और अनमेल विवाह के दुष्कर्म को हमेशा के लिए मिटा डालने की उन्हें हितकारी सीख दी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समाज में छोटी अवस्था में होने वाले गठ-बंधन का भी उन्होंने विरोध किया क्योंकि ऐसे बाल-विवाह शक्तिहीनता को जन्म देते थे। उन्होंने समाज के सभी लोगों से यह अपील की कि वे "इस घातक प्रथा को त्याग दें। इसका मूलोच्छेदन करके संतान का और संतान के द्वारा समाज एवं राष्ट्र का मंगल-साधन करें।" उन्होंने विधवाओं पर होने वाले अत्याचार के विरुद्ध भी आवाज उठायी। विधवा बहिनों के दुख-दर्द की ओर समाज के प्रगतिशील लोगों का ध्यान आकृष्ट किया। स्त्री-शिक्षा को बढ़ावा देने के लिए भी उन्होंने समाज का उद्‌बोधन किया। उनकी दृष्टि में नर और नारी दोनों समान अधिकारों के पात्र थे। यद्यपि उनकी दृष्टि में दोनों के कार्य क्षेत्र स्पष्टतः भिन्न थे। वे स्त्रियों के लिए ऐसी शिक्षा के हिमायती थे, जो उनमें आत्मविश्वास और आत्मगौरव जगा सके।

जैनाचार्य जवाहर ने दो राष्ट्रघाती प्रवृत्तियों का भी विरोध किया, एक गौ-हत्या का और दूसरा मद्यपान का। 'गौ' को वे राष्ट्रीय निधि मानते थे। गौवध उनकी दृष्टि में भारतीयों के लिए कलंक था। उन्होंने एक अहिंसक मानवतावादी जैन साधु के नाते ही नहीं, एक हितैषी के रूप में भी यह कामना की। गौधन के संरक्षण और संवर्धन के साथ ही भारत की समृद्धि भी जुड़ी हुई है। गौ-हत्या की तरह उन्होंने भारतीय जनता में व्याप्त मद्यपान पर भी चिंता और दुःख व्यक्त किया। उन्होंने इस सम्बन्ध में कहा कि "जगत् का कोई भी धर्म, संप्रदाय या मत, जो किसी ऊँचे उद्देश्य से कायम हुआ है, मदिरापान का विधान या समर्थन नहीं कर सकता।" मदिरा पीने वालों को उन्होंने परिवार, जाति, समाज और देश का शत्रु घोषित किया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य जवाहरलाल एक विशुद्ध राष्ट्रवादी जैन संत थे, जिन्होंने आत्मधर्म के साथ राष्ट्रधर्म को भी अंगीकार किया। उन्होंने दोनों को एक दूसरे का माना, इतना ही नहीं उन्होने तो राष्ट्रधर्म को बृहत् आत्मधर्म की आधारभूमि के रूप में स्वीकार किया। उन्होंने कहा कि जैसे पात्र के अभाव में घी नहीं टिक सकता, उसी प्रकार राष्ट्रधर्म के बिना सूत्र चारित्रा धर्म भी नहीं टिक सकता। वस्तुतः वे ऐसे राष्ट्र-निष्ठ धर्मप्राण संत पुरुष थे जिन्होंने राष्ट्र को जगत् का प्रतीक माना और आत्मा के उद्धार के साथ राष्ट्र अर्थात् जगत् के उद्धार का भी पथ प्रशस्त किया। आज के राष्ट्रीय भावोन्माद के विशुद्ध और स्वस्थ वातावरण में उनकी दोहरी तपस्या ने जो सौरभ बिखेरा है, वह चिरकाल तक इस उद्यान को सुवासित बनाये रक्खेगा, इसी पवित्र प्रतीतिपूर्ण भावना के साथ लेखनी अपनी श्रद्धा अर्पित करती हुई कृतार्थ हुआ चाहती है।

सुक्तक

श्री आनन्द जैन सागर

जो दिल के धीरज को, जीते उसे धीर कहते हैं।
जो शरीर के अंगों से, जीते उसे गंभीर कहते हैं।
मगर अहिंसा और हिंसा में, काफी अन्तर है "आनन्द"
जो अपने आपको जीते, उसे "महावीर" कहते हैं।

❀

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

त्रिविक्रम कथा के जैन स्रोत और रूपान्तर

● श्री रमेश जैन, अनुसंधान अधिकारी
सादूल राजस्थानी रिसर्च इंस्टी०, बीकानेर

भारतीय कथा साहित्य का निर्माण जिन लोक-गाथाओं एवं पुराकथाओं से हुआ है; वे सब अमूर्त एवं दार्शनिक तत्वों की व्याख्या के निमित्त दृष्टान्तों के आधार पर विकसित एवं पल्लवित हुए हैं। ऋग्वेद के प्राकृतिक दृश्यों की कुछ आलंकारिक कथाओं का विकास भी इसी तरह हुआ है जिन्हें बाद में ऐतिहासिक रूप दे दिया गया है। उदाहरण के रूप में हिरण्यगर्भ को लें, जिसका आकार अण्डे जैसा है और जिससे सम्पूर्ण चल-अचल सृष्टि की उत्पत्ति हुई है। यही अण्डाकार शालिग्राम कालान्तर में विष्णु का पर्याय माना गया है।

भागवत धर्म के प्रभाव में जिस अवतारवाद की परिकल्पना ने जन्म लिया है, उन्हीं दशावतार में वामन अवतार या त्रिविक्रम कथा एक है। इसका पौराणिक स्वरूप यों है—

पुराण कथा :

वामन पुराण, नृसिंह, मत्स्य व विष्णु पुराण के अनुसार बलि विरोचन का पुत्र और प्रह्लाद का पौत्र था। असुरराज प्रह्लाद स्वयं विष्णु भक्त थे और उनकी रक्षा के निमित्त विष्णु को नृसिंह अवतार लेना पड़ा। बलि बुद्धिमान, बलशाली और यज्ञ विधान का ज्ञाता व कर्त्ता था। ब्राह्मणों के प्रति अपरिमित श्रद्धा व सम्मान की दृष्टि थी। जब बलि ने देवताओं के राजा इन्द्र को जीतकर, सबको भगा दिया तो उनकी दीन-हीन अवस्था देखकर देवताओं की माता अदिति ने विष्णु की उपासना की। प्रसन्न होकर विष्णु ने वरदान दिया कि वे अदिति ही के गर्भ से जन्म लेकर बलि का बंधन करेंगे। (यहां बंधन का अर्थ बलि के वध से नहीं उसकी शक्ति को सीमित करने का ही मंतव्य है)

विष्णु वामन रूप से जन्म लेते हैं। बलि की यज्ञशाला में जाकर तीन पग भूमि की याचना की, इस भूमि में यज्ञशाला स्थापित करने के लिए। बलि ने बड़ी उदारता व आग्रह से आवभगत करते हुए, वामन से स्वर्ण, रथ, भूमि इत्यादि सम्पदायें मांगने को कहा किन्तु वामन ने केवल तीन पग भूमि ही चाही। असुरों के गुरु व राजपुरोहित शुक्राचार्य ने बलि को आगाह किया कि विष्णु वामन रूप में छलने आ रहे हैं। चूंकि बलि ब्राह्मण पूजक एवं दानशील था उसने आने वाले छल का सहर्ष सामना किया। वामन ने भूमिदान के निमित्त तीन बार अञ्जलि में जल लेकर संकल्प करने को कहा। शुक्राचार्य ने कमण्डलु की नाली में प्रवेश कर बाधा डालने का यत्न किया। अन्त में संकल्प पूरा होता है। वामन अपने आकार को बढ़ाकर त्रिलोक नाप लेते हैं केवल दो पगों में। वामन (विष्णु) बलि की दानशीलता और वचनबद्धता पर प्रसन्न होकर [illegible] में इन्द्रपद देने का वरदान देते हैं।

जैन कथा :

गुणाढ्य की 'वड्डकहा' (वृहत्कथा) विश्व के प्राचीनतम कथा संग्रहों में अकेला व अनुपम है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसका प्राकृत रूपान्तर (जो ईसा की दूसरी-तीसरी शताब्दी में हुआ) वसुदेव हिण्डी है। इसमें मगध निवासी वसुदेव ब्राह्मण चम्पा के श्रेष्ठी चारुदत्ता की कन्या गंधर्वदत्ता को वीणावादन की स्पर्धा में जीतकर विवाह करता है। श्रेष्ठी के अनुरोध पर उसने विष्णु गीतिका बजायी।

वसुदेव हिण्डी की विष्णु गीतिका :

वसुदेव हिण्डी की विष्णु गीतिका का विषय है—हस्तिनापुर में राजा पद्मरथ और रानी लक्ष्मीमती के दो पुत्र विष्णु और महापद्म। विष्णु की प्रवज्या तथा मुनि रूप में साठ हजार वर्ष तक दुष्कर तप करके विकुवर्णी, सूक्ष्म, बादर विविध प्रकार, अन्तर्ध्यान और आकाशगामिनी आदि चार लब्धियां प्राप्त करना। महापद्म राजा बना। उसका पुरोहित नमुचि था जो जैन साधुओं से बाद में पराजित होकर द्वेष रखता था। अवसर पाकर वरदान द्वारा सात दिन के लिए नमुचि को राज्य प्राप्ति, मुनि संघ का चतुर्मास, नमुचि द्वारा उन्हें राज्य से निकल जाने की आज्ञा। न जाने पर, उन्हें घेर कर पशु हिंसा व यज्ञ करना। संघ पर आये संकट के निवारणार्थ मुनि विष्णुकुमार को आमंत्रित। मुनि का समझाना और न मानने पर 'मुनि संघ को प्राण त्यागने हेतु तीन पग भूमि की याचना। चूंकि वर्षा काल में मुनि संघ के गमन का निषेध था अतः प्राण त्याग ही विकल्प था। नमुचि द्वारा भूमि देने की स्वीकृति।

[illegible] शेष प्रक्रिया मुनि विष्णुकुमार का विक्रिया ऋद्धि से शरीर बढ़ाना व एक चरण उठा नमुचि का पैरों पड़ना व अपने अपराधों की क्षमा याचना। विष्णुकुमार ने ध्रुपद [illegible] ढ़ा और क्षण भर में दिव्य धारण कर लिया। दाहिना चरण मंदर पर्वत पर स्थापित करने से समुद्र जल क्षुब्ध हो गया, इन्द्र आसन चलायमान गया हो। देवों को शान्त करने हेतु प्रेरित किया। तुम्बरु और नारद ने विद्याधरों पर अनुग्रह करके गंधर्वकला की ओर प्रेरित किया। उनकी स्तुति करके शांत कराया।

"हे साधुओं में श्रेष्ठ ! आप शांति धरें। जिनेन्द्र भगवान् ने क्रोध का निषेध किया है। जो क्रोधशील हैं, उन्हें बहुत समय तक संसार में परिभ्रमण करना होता है।"[1]

कथाकोष (श्री हरिषेण कृत) में कथा रूप व रूपान्तरण :

कथाकोष में नमुचि के अतिरिक्त बृहस्पति, प्रह्लाद, और बलि आदि चार मंत्री उज्जैन के राजा श्रीधर के यहां थे। घटना नायक यहां नमुचि के स्थान पर बलि हो गया।

मुनि श्रुतसागर से विवाद व पराजय पर रात्रि में तलवार से आक्रमण लोकपाल द्वारा स्तम्भन। प्रातः जनता व राजा द्वारा उस अपराध पर धिक्कारना व निन्दा कर, राज्य से निकाल देना।

बलि आदि मंत्रियों का हस्तिनापुर पहुँचना। पड़ौसी राजा सिंहबल को पराजित करके राजा महापद्म से वर पाना। बाकी कथा वैसी।

उपसर्ग दूर करने (मुनि पर आये संकट को) मुनि बिष्णु कुमार का, सभास्थित बलि के पास वेद मंत्र उच्चारित करते पहुँचना व वृद्ध माता निमित्त तीन पग भूमि मांगना।

अन्त में कथा रूप में रूपान्तरण यों है कि भयविह्वल किन्नरो व खेटों का आकर पूजा अर्चना करना। शासन देवता द्वारा बलिको बांधना,

---

1. उवसम साहुवरिट्ठया ! न हु कोवो वण्णिओ जिणिंदेहि
हुंति हु कोवण सीलिया, पावंति बहुणि जाइयव्वाइं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मस्तक पर पांच बेल लटका, भस्म शरीर में पोत, गधे पर बिठाकर नगर का भ्रमण कराना।

अपभ्रंश के 'कहाकोसु' में भी (श्रीचन्द्र विरचित 1055 ई०) कथा का यही संस्करण प्रस्तुत किया गया है। कुछ स्थलों में छोटे-मोटे परिवर्तन अवश्य हैं पर नगण्य। तीन पग भूमि यहां मढ़िया (मण्यिका) हेतु मांगी है।

इस प्रकार वसुदेव हिण्डी की विष्णुगीतिका की कथा वस्तु का जो संस्करण हमें हरिषेण के कथाकोष में मिलता है उसका आंशिक झुकाव पौराणिक कथा और आंशिक लोकतत्वों के समन्विति का परिणाम है।

जैन कथा साहित्य में इस कथा को प्रवेश कैसे मिला ? जबकि उसे वैदिक परम्परा का कथित विरोधी विवेचित किया जाता है। इस प्रश्न का उत्तर यों है कि जैन भी यज्ञ एवं पशु हिंसा विरोधी रहे, दिगम्बर मुनियों से ब्राह्मणों के शास्त्रार्थ एवं संघर्ष इसका कथ्य रहा। बलि पौराणिक कथा में यज्ञकर्त्ता ब्राह्मण पूजक होने के बाद भी देवों को अप्रिय रहा इस कारण लोक में यह कथा देव समर्थकों की रुचि के अनुकूल होने से ख्यात हुई। जैनों के साहित्य, धर्म पर लोक रुचि का दबाव व प्रभाव निरन्तर रहा। अतः जैन कथा साहित्य में स्थान पाने का बड़ा कारण इस कथा विषय की लोक प्रसिद्धि ही थी।

जैन स्रोतों में त्रिविक्रम कथा के प्राप्त रूप से हमें पुराण कथा के सम्बन्ध में विचार करने की प्रेरणा मिलती है। क्योंकि जिस पुराण काल में, पुराणों की कथाओं का विकास हो रहा था, नये संशोधन व परिवर्धन हो रहे थे, उस समय तक वसुदेव हिण्डी में प्राप्त कथा रूप जो वडुकहा का रूपान्तरण है के स्वरूप का निर्धारण हो चुका था। अतः पुराणों में आयी बलि वामन या त्रिविक्रम कथा के मूल स्वरूप का विश्लेषण आवश्यक हो जाता है।

दूसरी बात अवतारवाद की परिकल्पना के सम्बन्ध में है। अवतारों के होने के मूल उद्देश्य 'यदा यदा धर्मस्य ग्लानि भवति' की अनेक अवतार ग्रहण से सिद्ध नहीं होती। बलि का बंधन वामन ने इसलिए किया कि उसने देवताओं को उसके राजा इन्द्र सहित पराजित कर दैन्य अवस्था में पहुंचा दिया था। मधु-कैटभ ने वेद ज्ञान पर कब्जा कर लिया था। इसलिए अवतार लेना पड़े। और विष्णु ने उन्हें आमने-सामने के युद्ध में नहीं हराया। इसी तरह यज्ञ विधान का ज्ञाता ब्राह्मण पूजक को छलने के लिए वामन अवतार लेना किस धर्म की हानि के लिए हुआ समझ में नहीं आता। यह भागवत धर्म के प्रभाव में जन्मी कथा-परिकल्पना मात्र है। हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु जुड़वा भाई थे। दोनों भाइयों के लिए विष्णु को अलग-अलग अवतार लेना पड़ा, वह भी एक ही समय में ? इसी प्रकार राम व परशुराम का समकालीन होना भी, अवतार परिकल्पना के हेतु विरोधाभास उत्पन्न करता है। देवताओं व असुरों की माताएँ एक ही पति ऋषि कश्यप की पत्नियां थीं। इस तरह अनेक विष्णुओं के जन्म लेने का प्रश्न उठता है। इन सभी प्रश्नों के लिए जैन व पौराणिक स्रोतों से प्राप्त कथा रूपों के मूल स्रोत का उत्तर खोजने के लिए हमें किसी एक मूल-कथा स्रोत को खोजना होगा। सबसे पहिले हम वेदों में विष्णु के स्वरूप की खोज करेंगे।

ऋग्वेद में विष्णु का स्वरूप :

ऋग्वेद के अनेक सूक्तों में विष्णु को तीन पद में पृथ्वी, आकाश, सम्पूर्ण संसार को नापने वाला कहा गया है परन्तु वहाँ बलि राजा या वामन अवतार की कोई चर्चा नहीं है। यथार्थ में यह चित्रण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सूर्य का है, जो तीन पदों में संसार को नाप लेता है। प्रातः काल उदय होकर सूर्य एक पद से आकाश में सर्वोच्च स्थान को प्राप्त कर लेता है और फिर संध्या तक सम्पूर्ण पृथ्वी को नाप लेता है तथा रात्रि में पाताल को भी नापकर फिर उदय हो जाता है। सूर्य के ये तीन पद कुछ-कुछ दो पद से ही लगते हैं। अतः वामन का बलि के शरीर पर तीसरा चरण पड़ने की बात जुड़ गई।

इन बातों का भेद ऋग्वेद के सूक्तों से खुल जाता है। मण्डल 7 सूक्त 100वें की ऋचा 5, 6 व 7 में तीन पद से नापने वाले विष्णु को 'शिपिविष्ट' कहा है अर्थात् प्रकाश किरणों से वेष्टित; जो कि नाम सूर्य का है। इसी सूक्त की 4थी ऋचा में तीन पदों से नाप कर सारी पृथ्वी मनु की देन कही गई है परन्तु वामन ने तो कभी पृथ्वी मनु को देने का प्रस्ताव, पुराण कथा में नहीं किया। फिर मण्डल 8 (बाल खिल्य विभाग के) सूक्त 4 की 3री ऋचा में स्पष्ट कहा गया है कि विष्णु तीन पदों में 'मित्र' के धर्मानुसार संसार को नाप कर इन्द्र के पास आये। 'मित्र' नाम भी सूर्य का ही है। ये तीन पद सूर्य के कार्य की ओर ही संकेत करते हैं। मण्डल 1 सूक्त 22 की 16वीं व 17वीं ऋचाओं में भी विष्णु के तीन पदों का उल्लेख है और ऋचा 20 में विष्णु का परमोच्य स्थान आकाश कहा है; जो सदैव देखा गया है। मण्डल 1 सूक्त 155 की 6वीं ऋचा में उनके स्थान को परमोच्च स्थान से महान तेज को प्रकाशित करता है। मण्डल 7 सूक्त 99 ऋचा 7 में फिर विष्णु को शिपिविष्ट कह कर सम्बोधित किया है। इसी प्रकार अन्य सूक्तों में भी विष्णु के तीन पद से स्पष्टतः सूर्य कार्य का संकेत है।[1]

पुरातन स्मृति के अवशेष : त्रिविक्रम कथा

पुराणों में प्राप्त त्रिविक्रम कथा या वसुदेव हिण्डी में प्राप्त या अन्य ग्रंथों में उपलब्ध रूपान्तर ऋग्वेद में वर्णित सूर्य की दिनचर्या सब मिलाकर किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँचाती। तो फिर यही एक मार्ग है कि हम तमाम पौराणिक, धार्मिक, पुराकथाओं और उनमें व्याप्त रूढ़ घटनाक्रमों की परतों को उघाड़ कर देखें। सांस्कृतिक आदान-प्रदान के मोड़ पर आर्यों व आर्य पूर्व असुर निवासियों के सम्बन्ध विकास की ओर देखें; तो पता लगेगा कि आर्यों के जिस प्रारम्भ में आये कबीले के लोगों को ऋग्वेद में देवता माना गया है वे आर्य जाति के ही सामान्य लोग थे। यह देव प्रारम्भ में एक ऐसी सामाजिक विकास की घुमन्तु अवस्था में थे। भारत में यह जाति कैस्पियन समुद्र की ओर से आयी। ईरान में इन देवों को असुर जाति मिली, जो खेतिहर थी। देवों में ब्राह्मण व क्षत्रिय वर्ग का विकास बाद में हुआ जब वे कृषि-कर्मी हो गये। प्रारम्भ में देवों और असुरों के पुरोहित भृगु वंश के थे। कालान्तर में भृगु वंशी पुरोहित असुरों के रहे। ईरानी या असुर सूर्य उपासक व अग्नि पूजक रहे हैं। देवों में यज्ञ का विकास असुरों के प्रभाव से हुआ। यह बात वामन कथा से भी सिद्ध होती है कि असुर राज बलि यज्ञ कर्त्ता व ब्राह्मण पूजक था। असुरों में स्त्री पूजा थी जो देवों में स्वीकृत हुई। अदित की पूजा स्त्री पूजा = मातृ पूजा ही है। जैसे जैसे देवों का जीवन स्थिर हुआ उनमें सत्ता प्राप्ति की आकांक्षा जन्मी और देवासुर संग्राम राज्य सत्ता की प्राप्ति के संघर्ष की कहानी है। यह युद्ध सैंकड़ों वर्ष चला।

---

1. डा० ज्वालाप्रसाद सिंघल : ऋग्वेदीय और पौराणिक देवताओं में अन्तर—पृष्ठ 59
Vishveshvar and Indological Journal, Vol One, No 1, 1963

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसकी पुष्टि स्वयं पुराण करते हैं।[1] देव परदेशी थे। अपेक्षाकृत नये थे और जम रहे थे असुर सभ्य और युद्ध शास्त्र में विज्ञ थे इसलिए इनका पलड़ा आरम्भ में भारी रहा। फलस्वरूप देवों ने अनेक बार संधि की। इन्द्र, देवों की महत्वाकांक्षा को पूरा करने वाला महत्वपूर्ण पद बन गया। बाद में तो इन्द्र लोक व्याप्त महत्ता पा गया। यद्यपि यह इन्द्र बहुत शक्तिशाली प्रारम्भ में न था।[2] कई बार उपेन्द्र (विष्णु) ने संधि करने की सलाह भी दी।[3] इस प्रकार देवों ने छल और बल का सहारा लेना प्रारम्भ किया। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि देवासुर संग्राम की इन सैकड़ों घटनाओं ने जिन शौर्य गाथाओं एवं लोकगीतों को जन्म दिया वामन बलि कथा को गूंथने वाली विष्णु गीतिका भी उन्हीं में से एक है। छल-बल, छद्मवेश धारण कर, देवों की असुरों पर विजय की एक यशो गाथा, कालान्तर में असुर के सूर्य के त्रिविक्रम का, दिन चर्या का आधार लेकर पल्लवित कथा है, बुनी गई यह त्रिविक्रम कथा।

---

1. अ–अथ दैवासुरं युद्धमभूद वर्ष शतत्रयम्। मत्स्य पुराण 24/37
   ब–देवासुरमभूद युद्धं, दिव्य मब्दशतं पुरा।
   तस्मिन पराजिता देव, दैत्यैर्स्यादपुरोगमैः॥ विष्णु पुराण 3/17/9
2. अशक्तः पूर्वामासीत्वं कथंचिच्छक्ततां गतः
   कस्त्वदन्य इमां वचं सूक्रूरां वक्तुमर्हसि। महाभारत, शान्तिपर्व 227/22
3. गत्वा तत्र सुराः सर्वे संधि कुरुतः दानवैः। कर्म पुराण अ० 38/7

महावीर ने बार-बार कहा है

● डा० भागचन्द जैन भास्कर, सदर नागपुर

महावीर ने बार-बार कहा है
परखो हमारे हर हीरे को
चरणों की हर धूलि के कण को।
निष्पक्ष की धुरा पर बैठकर
शान्ति की तुला पर तौलकर
समझो हमारे मर्मी धर्म को
बचाओ और पालो
मानवता की कगर को॥
जहां अजस्र शान्ति है
नयी दिशा क्रान्ति है।
न भ्रान्ति है, न भेद है,
न बिखराव न टकराव है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अहिंसा के सुहागे पुष्पों में
मानवता की कलियाँ उभरी हैं
मन के बिखरे रूपों में
नूतनता की खुशियां बैठी हैं।
भावों का सौन्दर्य जगा है
प्रेम का रस छलका है
सद्भाव और एकता की हर सांसों में
नया प्राण उभरा है
ज्ञान की नयी ज्योति में
नया तेज चमका है ।।
यही है पावन जीवन
अमृत रस का सिञ्चन
आत्म संयम की सरिता में
भावों का अनुवर्तन।
करुणा का आवाहन
साधारणीकरण की अनुभूति में
समन्वय का अवगाहन।
पड़ोसी-पड़ोसी से मिलकर रहेगा
राष्ट्र-राष्ट्र में समझ बढ़ेगी।
एक दूसरे के अस्तित्व की
स्वीकारिता बनी रहेगी ।।
फिर न होगा संघर्ष
न होगा विश्वयुद्ध।
समान अधिकार होगा शुद्ध ।।
विश्व शान्ति का सन्देश
घर-घर मे जायेगा।
दानवता की मजबूत कगारें
टूट-टूट बिखरायेगा।
प्राणि-प्राणि के बीच
प्रेम का पाठ पढ़ायेगा
और
मानवता का संसार
एक बार फिर बस जायेगा ।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ऐतिहासिक महापुरुष भ० नेमिनाथ और उनका काल-निर्णय

● श्री वैद्य प्रकाशचन्द्र 'पांड्या'
आयुर्वेदाचार्य साहित्यरत्न, भीलवाड़ा

जैन मान्यतानुसार शौरीपुर के राजा अंधक-वृष्टि के दश पुत्रों में सबसे बड़े पुत्र का नाम समुद्र-विजय और सबसे छोटे का नाम वसुदेव था। भ० नेमिनाथ समुद्रविजय के पुत्र थे और श्री कृष्ण वसुदेव के। इस तरह भ० नेमिनाथ श्री कृष्ण के चचेरे भाई थे। इसलिए इन दोनों का समय एक ही होना चाहिए। श्री कृष्ण को ऐतिहासिक पुरुष माना जाता है, किन्तु भ० नेमिनाथ को इतिहासकार अभी तक ऐतिहासिक पुरुष स्वीकार नहीं करते। जैन साहित्य के अतिरिक्त अन्य भारतीय साहित्य में अरिष्टनेमि का उल्लेख है। श्री कृष्ण महाभारत काल में हुए थे और 'महाभारत' में अरिष्ट नेमि का उल्लेख है—

'युगे युगे महापुण्यं दृश्यते द्वारिकापुरी,
अवतीर्णो हरियाम प्रभास व शशिभूषणः।
रैवताद्रौ जिनो नेमि र्युगादौ विपुलाचले,
ऋषीणा मां श्रमादेव मुक्तिमार्गस्य कारणं॥

रैवत के उद्यान में यादवों द्वारा रंगरेलियां करने का उल्लेख शास्त्रों में है। कृष्ण अर्जुन के साथ मनोरंजनार्थ यहां रहे थे।[1] इसी स्थान पर कुमार अरिष्ट नेमि, कृष्ण और उनकी पटरानियां जल क्रीड़ा करते थे।[2]

'महाभारत' के शांति पर्व में राजा सगर को भ० अरिष्टनेमि द्वारा उपदेश दिये जाने का उल्लेख है। 'स्कन्द पुराण' (प्रभास खंड) में भ० नेमिनाथ को शिव कहा है।[3]

'ऋग्वेद' में अरिष्टनेमि को आह्वान करते हुए लिखा है—

'तवां रथ वयद्या हुवेम स्तां
मेरश्विता सविताय तव्यं।
अरिष्टनेमि परिद्यामियानं
विद्यामेषं बृजन जोरदानम्॥

ऋ० अ० २ अ० ४२४

यजुर्वेद अध्याय २६ में अरिष्टनेमि से सम्बन्धित मन्त्र है—

'ॐ रक्ष रक्ष अरिष्टनेमि स्वाहा'

इसके अतिरिक्त यजुर्वेद के अध्याय ९ के मंत्र २५, सामवेद प्र० पा ९ अध्याय ३ में भी इनका

---

१. महाभारत-गोरखपुर पृ० १६४-१६५.
२. हरिवंशपुराण-कलकत्ता पृ० ५२१.
३. 'अहिंसा-वाणी' फरवरी-मार्च १९५५ पृ० ८०-८१.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उल्लेख है। छांदोग्योपनिषद् के ३।१७।६ सूक्त के अनुसार श्री कृष्ण के गुरु घोर अंगरिस ऋषि थे और 'ज्ञातृ धर्म कथा' में अरिष्टनेमि को अंगरिस का गुरु माना है। इसी काल में अंगरिस नामक प्रत्येक बुद्ध का उल्लेख इसी 'भासिय' में मिलता है। अतः अंगरिस और अरिष्टनेमि समकालीन प्रतीत होते हैं।[4] इन सब बातों से यह प्रगट हो जाता है कि वैदिक काल के पूर्व अरिष्टनेमि हो चुके थे।

उत्तराध्ययन टीका (पृ० २७६-८२) में नेमि और कृष्ण का आयुधशाला में धनुषबाण को उठाने का प्रसंग एवं इसी ग्रन्थ के पृ० ३६ अ० ४७ में भ० नेमिनाथ का समोशरण द्वारका में आने पर द्वारिका दहन तथा राजकुमार (जरा) के बाण से भ्रांति के कारण श्री कृष्ण की मृत्यु की भविष्य-वाणी नेमिनाथ ने की थी। द्वारका दहन एवं कृष्ण की मृत्यु का ऐसा ही वर्णन भागवत् में भी आता है, किन्तु वहां नेमि का उल्लेख नहीं है।[5]

एपीग्रेफिया इंडिका (जिल्द १, पृ० ३८६) में डॉ० फुहरेर तथा डॉ० रामसन ने 'मेडिविल क्षत्रिय क्लकांस आव इंडिया' पुस्तक की भूमिका में नेमि को ऐतिहासिक महापुरुष सिद्ध किया है, जिसका समर्थन श्री डॉ० हरिसत्य भट्टाचार्य ने अपनी पुस्तक 'भगवान् अरिष्ट नेमि' में कई नए तर्कों के साथ किया है। उन्होंने नेमि को कृष्ण का चचेरा भाई माना है।[6]

इस प्रकार भ० नेमिनाथ ऐतिहासिक महापुरुष थे और श्री कृष्ण के चचेरे भाई थे।

काल निर्णय

भ० नेमिनाथ कब पैदा हुए? यह एक *विवादास्पद विषय चलता आ रहा है। किन्तु, जब* यह प्रमाणित होता है कि नेमिनाथ श्री कृष्ण के समकालीन थे तो उनका काल निर्णय भी हो सकता है।

श्री कृष्ण का समय महाभारत के समय माना जाता है। महाभारत कब हुआ? इस पर भी विभिन्न मत है। श्री शंकर बालकृष्ण दीक्षित ने ज्योतिष के आधार पर महाभारत का समय ई. पू. १४२१ माना है। भारत के पुरातात्विक सर्वेक्षण के भू० पू० महानिर्देशक डॉ० बी० बी० लाल ने महाभारतकालीन स्थलों की खुदाई के बाद यह मत प्रतिपादित किया है कि महाभारत का युद्ध ई० पू० ११०० से ई० पू० ९०० के मध्य हुआ।[7] श्री मोदक ने इसे ई० पू० ५०२५ माना है। वराह-मिहिर तथा आर्य भट्टीय ज्योतिष-गणित के अनुसार इसे ई० पू० ३१०२ स्वीकार किया है। भारत की धार्मिक परम्परा इसे ई० पू० ५००० मानती है। ई० पू० ३१०२ के आसपास का महाभारत का समय ज्यादा युक्तिसंगत प्रतीत हुआ है। क्योंकि महाभारत के आदि पर्व २।१३ में लिखा है—

अंतरे चैव संप्राप्ते कलि द्वापरयो भूत्।
समंत पंचके युद्धं कुरुपाण्डवसेनयोः॥

इसी तरह—

द्वापरस्य कलेश्चैव संधो पार्यव सखानिके।
प्रादुर्भावः कंस हर्तो मथुरायां भविष्यति॥

—शांति पर्व ३३९।८९,९०
(गीता प्रेस, गोरखपुर)

---

४. वीर निर्वाण स्मारिका १९७५ पृ० २-८५
५. 'अरिष्ट नेमि और श्री कृष्ण'—श्री राजाराम जैन, 'अहिंसा-वाणी' फरवरी-मार्च ५५ पृ० ५२.
६. भ० अरिष्टनेमि-पृ० ८८-८९.
७. सी० वी० वेद कृत दी महाभारत ए क्रिटिसिज्म–पृ० ६०-७० दीक्षित कृत भारतीय-ज्योतिष पृ० १८०.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इससे यह स्पष्ट होता है कि महाभारत युद्ध कलि और द्वापर की संधिकाल में हुआ था। कलियुग का आरम्भ जिस दिन श्री कृष्ण का देहावसान हुआ—उसी दिन से हुआ माना जाता है। वायु पुराण ९९।४२८ में लिखा है—

यस्मिन् कृष्णो दिवं यातस्तस्मिन्नेव तदा दिने।
प्रति पन्नम् कलियुगं तस्य संख्यां निबोधते:।।

विष्णु पुराण ४।२४।११३ में लिखा है—

'अस्मिन् कृष्णो दिवं यास्तस्मिन्नेव तदा हनि।
प्रतिपन्नं कलियुगं तस्य संख्यां निबोध में।।

विष्णुपुराण ४।२४।१०९ में भी यही लिखी है—

यावतनपाद पद्माभ्यां मस्यर्शेयां वसुंधराम्।
तावत्पृथ्वी परिस्तंगी समर्थो वा भवत्कलि.।।

इन उद्धरणों से प्रगट होता है कि जिस दिन श्री कृष्ण का देहावसान हुआ—उसी दिन कलियुग का प्रारम्भ हुआ।

कलियुग के प्रारम्भिक काल के विषय में योरोप के प्रसिद्ध ज्योतिर्विद बेली ई० पू० ३१०२ स्वीकार करते हैं।[8]

चालुक्य कुल के महाराज सत्याश्रम पुलकेशी द्वितीय का बीजापुर में ऐलोही नामक स्थान के जैन मंदिर में प्राप्त शिलालेख से भी यह तथ्य प्रगट होता है—

त्रिशत्सु त्रिसहस्रेसु भारता दाहवादित:।
सप्ताब्द शत युक्तेसु शतेष्वब्देसु पंचसु।।
पंचाशत्सु कलौ काले षट्सु पंच शतासुच।
समासु सम ही तासु शकाना मापि भुजाम्।।[9]

कलि के ३७३५ व्यतीत होने पर, जब शक संवत् ५५६वें वर्ष में था, उस समय यह शिलालेख लिखा गया। अर्थात् शक संवत् से ३१७९ वर्ष पूर्व का प्रारम्भ हुआ। शक काल का आरम्भ ७८ ई० पू० में हुआ था। ईस्वी गणनानुसार कलि का प्रारम्भ ३१०२ वर्ष पूर्व बैठता है। इस प्रकार ई० पू० ३१०२ में कलियुग का प्रारम्भ हुआ। युधिष्ठिर की मृत्यु ई० पू० ३०७६ में मानी जाती है। युधिष्ठिर का काल और शक काल में २५२६ वर्ष का अन्तर आता है। यह दूसरे शक संवत् ईरानी इतिहास के अनुसार साइरस या शक नृपति के समय ५५० ई० पू० में हुआ था। यह ईरान में 'एलम' का राजा था और इसने ५५० ई० पू० में पड़ौस के राज्यों को जीतकर ईरानी साम्राज्य की स्थापना की थी। इसी 'शक-नृपति' के साम्राज्य स्थापित के समय इस शक काल का प्रारम्भ हुआ।[10] इसकी पुष्टि वृहत्संहिता १३१३ से हो जाती है—

आसन् मघासु मुनय: शासति
पृथिवीं युधिष्ठिरे नृपतो।
षड् द्विक पंच वियुत
शक कालस्तस्य राज्ञश्च।।

अर्थात् महाराजा युधिष्ठिर के काल में मुनियों का मघा में आसन था। उस राजा के काल से २५२६ वर्ष पश्चात् 'शक काल' का प्रारम्भ हुआ। इस तरह ३०७६ ई० पू० में २५२६ घटा देने पर ५५० ई० पू० शक संवत् ही आता है। इसी शक संवत् के आधार पर और जैन अनुश्रुति के अनुसार

---

८. थोगोनी आफ दी हिन्दुज पृ० ३२.
९. स्व० श्री पं० भगवद् दत्त जी द्वारा रचित भारतवर्ष का वृहद् इतिहास द्वितीय भाग पृ० २१२.
१०. भारत का प्राचीन इतिहास—डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार पृ० १२४-१२५.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भद्रबाहु के सहोदर प्रकाण्ड ज्योतिष विद्वान् वराह-मिहिर को अब ई० पू० १२३ से ई० पू० ४१ के समय होने का निर्धारित किया जाने लगा है।[11]

इस तरह श्री कृष्ण की ई० पू० ३१०२ में मृत्यु स्वीकार कर उससे पहिले उनका जीवित होना बैठता है। वही समय भ० नेमिनाथ का भी होना चाहिए। किन्तु, जैन अनुश्रुति के अनुसार भगवान् पार्श्वनाथ से ८३७५० वर्ष पहिले भ० नेमिनाथ हुए थे अर्थात् महावीर के मुक्ति लाभ के ८४१७२ वर्ष पहिले। यह पद्मपुराण (दौलतरामजी कृत हिन्दी टीका) एवं आचार्य रविषेण कृत 'पद्म चरित्र' के श्लोक ८६, पर्व २०वां से प्रगट है। इनका यह समय तो कभी हो ही नहीं सकता यदि हम इन्हें श्री कृष्ण का चचेरे भाई स्वीकार करें। यदि ३१०२ ई० पू० में जो कि श्री कृष्णजी की मृत्यु का समय है, भगवान् नेमिनाथ की आयु १००० और जोड़ दें तो उनके जीवित होने का समय ४१०२ ई० पू० होता है, यह समय ही ठीक बैठता है।

'प्रभास पट्टन' के प्राचीन ताम्र पत्र में जिसका अनुवाद डॉ० प्राणनाथ विद्यालंकार ने किया है, बेबीलोन के राजा नेबुचन्द नेजर के द्वारा सौराष्ट्र के गिरिनार पर्वत पर स्थित नेमि मंदिर के जीर्णोद्धार का उल्लेख है। बेबीलोन के राजा नेमिचंद नेजर प्रथम का समय ११४० ई० पू० के लगभग माना जाता है। इस राजा ने अपने देश की आय की जो उसे नाविकों से कर द्वारा प्राप्त होती थी, वह जूनागढ़ के गिरि नगर पर्वत पर अरिष्ट नेमि की पूजा के लिए प्रदान की थी।[12] इससे यह भी प्रगट होता है कि ई० पू० ११४० के पहिले से ही भ० नेमिनाथ की पूजा होती थी और उनकी पूजा के लिए मंदिर बने हुए थे।

वेदों में अरिष्ट नेमि का उल्लेख बतलाया ही गया है। वेदों का संकलन कोलब्रुक के अनुसार ई० पू० १४१० और प्रो० सिटनी के अनुसार ई० पू० १३३८ बतलाया है। गणित क्रिया करने से वेदांग-ज्योतिष में प्रतिपादित अयन ई० पू० १४०८ में आता है। क्योंकि ई० पू० ५७२ में रेवती तारा सम्पाती तारा मानी गई है। यह समय उत्तरासाढ़ के प्रथम चरण में उत्तरायण माना गया है। लेकिन, वेदांग-ज्योतिष के निर्माण काल में धनिष्ठारम्भ में उत्तरायण माना जाता था। इस गणना के हिसाब से वेदांग का रचना काल ई० पू० १४०८ आता है। वेदों में नेमि का नाम प्रायः मंत्र पूजा में ही आया है।[13] इसलिए वेदों से बहुत पहिले नेमिनाथ हो चुके थे। इसलिए उनका मंत्र पूजा में नाम आया है। डॉ० हीरालाल जैन के अनुसार उनका समय ई० पू० १००० कदापि नहीं हो सकता।[14] यदि श्री कृष्ण के समकालीन नेमिनाथ को माना जावे तो ई० पू० ४१०२ से ई० पू० ३१०२ का समय इनका अवश्य हो सकता है।

---

११. 'कादम्बिनी' दिस० ६६ में प्रकाशित लेखक का लेख 'वराह मिहिर का काल निर्णय'।
१२. अनेकांत वर्ष ११, किरण —१.
१३. यजुर्वेद अध्याय ६ मंत्र २५.
१४. भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान—डॉ० हीरालाल जैन पृ० २०.



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तृतीय खण्ड

विविधा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्यक्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः

● श्री प्रवीणचन्द्र छाबड़ा
जयपुर

"सम्यक्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" आगम का यह सूत्र जैनदर्शन, संस्कृति, आचार व विचार का सार है यह मृत्युंजय सूत्र है। जिन्दगी को किस तरह जीया जावे कि मार्ग प्रशस्त रहे और मृत्यु विजित होकर रह जावे। मृत्यु, हर क्षण है, पग-पग पर है। निरन्तर, हर क्षण प्रति क्षण हम मरते रहते हैं। समय, जो बीत रहा है, वह भूत होता चला जाता है और जो आ रहा है, वह भविष्य है। वर्तमान को कभी कोई पकड़ नहीं सका। भूत और भविष्य की सीमा रेखा करते रहने को ही हम जीवन मानकर जीवन का भ्रम पालते रहे हैं, जबकि निरन्तर मृत्यु को प्राप्त होते जाते हैं। समय की गति पकड़ में आ जाय, यदि वर्तमान पकड़ में आ जाय। वर्तमान का दर्शन, ज्ञान और चारित्र ही सम्यक्दर्शन, ज्ञान और चारित्र है। भूत और भविष्य में रहते हुए हमारा जीव सदैव यह समझता रहा है कि हम बहुत कुछ समझ रहे हैं और जीवन को जी रहे हैं।

भगवान् महावीर ने वर्तमान को समझा और समय उनका होकर रह गया। सम्यक्दर्शन ज्ञान और चारित्र इस तरह उनमें पैठ गया कि हमारे लिये जो सूत्र है, वह उनमें चरितार्थ हो गया। हम इसे जितना चारित्र बना पाते हैं, उतने ही वर्तमान में होकर मृत्यु को जीतते हैं। भली प्रकार देखना, अनुभव करना और आचरण करना ही मुक्ति का मार्ग है। यह मुक्ति, राग, विराग और सब प्रकार की कालगति से है। जीवन की सही क्रियान्विति सही ढंग से देखने और समझने में है। आचरण का स्पष्ट होना तभी होगा, जब दृष्टि और समझ स्पष्ट होगी। दृष्टि और समझ को सही करते चला जाना ही समय को आचरण बना लेना है।

समझ नहीं आता कि मुक्ति का अर्थ मृत्यु से कैसे जोड़ा जाता रहा है। मृत्यु तो अन्त है, समाप्ति है और जैनदर्शन अन्त या समाप्ति को कभी नहीं स्वीकारता। अनन्तदर्शन, ज्ञान व शक्ति को मान कर चलने वाला जैनदर्शन आचार, विचार या व्यवहार में मृत्यु से मुक्ति मान कर चले, हो नहीं सकता। जीवन को कैसे मुक्त किया जाय कि वह जीवन्त बनकर रह जावे। सम्यक्-दर्शन, ज्ञान और चारित्र केवल सूत्र नहीं व्यवहार है जितना वह हमारे जीवन में उतरता जाता है, उतना ही मुक्ति का पथ प्रशस्त होता जाता है। स्वयं को देखना, समझना और अनुभव करना ही जीवन्त होना है।

प्रतिदिन के जीवन में सहज और सरल होकर देखने की विधि जितनी होगी, आचरण भी सहज हो सकेगा और यह सहज भाव ही संकटों से उबारने वाला है। परस्पर का अविश्वास, युद्ध, तनाव, मानसिक कष्ट, व्याधायें आदि सब 'अहम्' के कारण हैं और जहां 'अहम्' है वहां हम सहज हो नहीं सकते। हम जितने सहज होते जाते हैं, जीवन उतना ही मुक्त होकर मृत्यु पर विजित होना है, निज के स्वभाव में आना है। ●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य कुंदकुंद : एक व्यक्तित्व

—श्री प्रकाश हितैषी शास्त्री
सं० सन्मति सन्देश, नई दिल्ली

श्रमणधारा के तत्त्वचिंतन के इतिहास में आगमपरंपरा के प्रमुखचिंतक, तत्त्वान्वेषी, स्वानुभूति स्वसंवेद्य, कारण परमात्मा के सहजानंद को प्राप्त, आचार्य परम्परा के मूर्धन्य संदेशसंवाहक, चारित्र चक्रवर्ती, आध्यात्म ज्ञानगंगा के स्रोत जिनका नाम भगवान् महावीर और गौतम गणधर के पश्चात् स्मरण किया जाता है ऐसे कुन्दकुन्दाचार्य का व्यक्तित्व भास्वर भास्कर के समान प्रकाशमान है। रत्नत्रय का यथेष्ट समन्वय आपमें परिपूर्णतया परिलक्षित होता है।

उन्होंने तत्कालीन प्रचलित भाषा में परमतत्त्व का अनुभूत सार निबद्ध किया है। जिसे कोई भी मानव अपनी स्वानुभूति के द्वारा प्राप्त कर सकता है। आपने उस अनुपम अखण्ड शाश्वत आनंद प्राप्त करने वालों का मार्ग प्रशस्त किया है कि आत्मज्ञान के बिना उस परमात्मतत्त्व की प्राप्ति कभी भी नहीं हो सकती है। आत्मज्ञान स्वानुभूति का विषय है। और वह स्वानुभूति तत्त्वनिर्णय से प्राप्त होती है। अतः आपके ग्रंथों में तत्त्व निर्णय की प्रधानता है।

आप अध्यात्म प्रधानी होकर चारों अनुयोगों के अधिकारपूर्ण पारंगत विद्वान् थे। आपने करणानुयोग के मूलभूत ग्रंथ षट्खंडागम पर एक 'परिकर्म' नाम की टीका लिखी थी। श्रुतावतार में कहा है—

गुरु परिपाट्या ज्ञातः सिद्धान्तः कोण्डकुन्दपुरे श्री पद्मनंदि मुनिना सोऽपि द्वादश सहस्रपरिमाणः ग्रंथ परिकर्मकर्ता षट्खण्डाद्य त्रिखण्डस्य ॥160-161॥ पद्मनंदि इनका दीक्षा नाम था।

वंश एवं जन्म स्थान

नाथूरामजी प्रेमी के अनुसार आप द्रविड़ देशस्थ कोण्डकुण्ड नगर के रहने वाले थे। इसी कारण आप कुन्दकुन्द नाम से प्रसिद्ध हुये थे। नंदिसंघ बलात्कारगण की गुर्वावली के अनुसार आप नंदिसंघ के आचार्य थे। जिस परंपरा में भद्रबाहु, माघनंदि प्रथम, जिनचंद और इनके शिष्य कुन्दकुन्द (पद्मनंदि) थे। आप आचार्य जिनचंद के शिष्य और उमास्वामी के गुरु थे। यह नंदिसंघ आचार्य अर्हबलि द्वारा वी० नि० सं० 593 में स्थापित हुआ था। नंदि संघ बलात्कारगण की पट्टावली के अनुसार—श्री मूलसंघेऽजनि नंदिसंघस्ततस्मिन् बलात्कारगणोऽति रम्यः। तत्राभवद्पूर्वपदांशवेदी श्री माघनंदी नरदेववंद्यः। पदे तदीये मुनिमान्यवृत्तौ जिनादिचन्द्रः समभूदतन्द्रः। ततोऽभवत्पंच सुनामधामा श्री पद्मनंदि मुनि चक्रवर्ती। श्री मूलसंघ में नंदिसंघ है, उसमें अतिरम्य बलात्कारगण है, उसमें अपूर्व पदांशवेदी, नरसुरवंद्य माघनंदि आचार्य हुए हैं। उनके शिष्य मुनिमान्य जिनचंद्र तथा उनसे पंचनाम धारी श्री पद्मनंदि (कुन्दकुन्द) मुनि चक्रवर्ति हुए हैं।

अपरनाम

उनके पांच नाम प्रसिद्ध थे—कुन्दकुन्द, वक्रग्रीव,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एलाचार्य, गृद्धपिच्छ और पद्मनंदि। मूल नंदिसंघ की पट्टावली में उनके नामों का उल्लेख है—

आचार्य कुन्दकुन्दाख्यो वक्रग्रीवो महामतिः।
एलाचार्यो गृद्धपिच्छः पद्मनंदि वितायते ॥

पंचास्तिकाय की तात्पर्यवृत्ति टीका के मंगलाचरण में—श्रीमद्कुन्दकुन्दाचार्य देवैः पद्मनन्द्याद्य पटाभिधेयैः 'श्रीमत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव, जिनके कि पद्मनंदि आदि अपर नाम भी थे। दूसरे नामों का उल्लेख चन्द्रगिरि शिलालेख में—'श्री पद्मनंदीत्यनवद्यनामा ह्याचार्यशब्दोत्तर कौण्डकुन्दः।' श्री पद्मनंदि ऐसे अनवद्य नाम वाले आचार्य जिनका नामान्तर कौण्डकुन्द था।

षट्प्राभृत मो. प्रशस्ति पृ. 379 में 'इति श्रीपद्मनंदि कुन्दकुन्दाचार्य वक्रग्रीवाचार्यैलाचार्य, गृद्धपिच्छाचार्य नामपञ्चक विराजितेन.....।' इस प्रकार श्रीपद्मनंदि, कुन्दकुन्दचार्य, वक्रग्रीवाचार्य, एलाचार्य, गृद्धपिच्छाचार्य नाम पंचक से विराजित....

पांच नामों का कारण

(१) **पद्मनंदि**—नंदिसंघ की पट्टावली में इनके गुरु जिनचन्द आचार्य के पश्चात् पद्मनंदि का नाम आता है इससे निश्चय होता है कि इनका दीक्षा नाम पद्मनंदि था। (२) **कुन्दकुन्द**—कोण्डकुण्ड नगर में इनका जन्म होने से इनको कुन्दकुन्द कहते थे। (३) **एलाचार्य**—मूलाचार में जिनदासपार्श्वनाथ फड़कुले शास्त्री ने लिखा है—कि कुन्दकुन्दाचार्य विदेह क्षेत्रस्थ श्रीभगवान् सीमंधरस्वामी के समवसरण में गये थे, जहां के मनुष्यों की ऊँचाई 500 धनुष की है और इनका शरीर कुल 3॥ (साढ़े तीन) हाथ का था। वहां का चक्रवर्ती इन्हें देखकर इलायची की तरह उठाकर हाथ पर रख लेता है। इनका परिचय पाने पर इन्हें नमस्कार कर चक्रवर्ती ने इनका नाम एलाचार्य रख दिया। कुरलकाव्य में श्रीनाथूरामजी प्रेमी और एम. ए. रामस्वामी आयंगर ने भी इनको एलाचार्य और कुन्दकुन्दाचार्य एक ही है यह प्रसिद्ध किया है। (४) **गृद्धपिच्छ**—के विषय में मूलाचार में जिनदासपार्श्वनाथफड़कुले शास्त्री के अनुसार विदेह क्षेत्र से लौटते समय इनकी पिच्छी समुद्र में गिर गई थी, तब गृद्धपक्षी के पंख हाथ में लेकर लौट आये थे। इसीसे इनका नाम गृद्धपिच्छ चल गया था। (५) **वक्रग्रीव** - मूलाचार की भूमिका के अनुसार सीमंधर के समवसरण में ऊपर को देखते रहने से इनकी ग्रीवा टेड़ी हो गई थी, इसीसे इनका नाम वक्रग्रीव पड़ गया था। (६) **वट्टकेरि**—मूलाचार नाम के दो ग्रंथ उपलब्ध हैं इनमें से एक के रचयिता का नाम वट्टकेरि दिया है तथा दूसरे में कुन्दकुन्द। दोनों ग्रंथों में मात्र कुछ गाथाओं को छोड़कर शेष समान ही है। इससे पता चलताहै कि दोनों रचनाएँ एक ही हैं तथा आपका एक नाम 'वट्टकेरि' भी हो।

ऋद्धिधारी—जैन शिलालेख संग्रह में लिखा है—तस्यान्वये भूविदिते बभूव यः पद्मनंदि प्रथमाभिधानः। श्री कौन्डकुन्दादि मुनीश्वरस्य सत्संयमादुद्गतचारणर्द्धिः ॥4॥ श्रवणबेलगोला के अनेक शिलालेखों में बताया है कि आपको चारण-ऋद्धि तथा जमीन से चार अंगुल ऊपर अंतरिक्ष में चलने की शक्ति प्राप्त थी। शि० ले० नं 40/64।

इसी प्रकार शिलालेख नं० 62, 64, 66, 67, 254, 261 पृ० 263–266 में कुन्दकुन्दाचार्य वायु द्वारा गमन करते थे, यही घोषित किया है। जैन शिलालेख संग्रह पृ० 197–198 में लिखा है—

रजोभिरस्पष्ट तमन्वमन्त बाह्यापि सव्यञ्जचितुं यतीशः। रजः पदं भूमितलं विहाय चचार मन्ये चतुरङ्गुलंसः ॥

यतीश्वर कुन्दकुन्द देव रजस्थान और भूमितल को छोड़कर चार अंगुल ऊंचे आकाश में चलते

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

थे। इससे मैं यह समझता हूं कि वह अन्दर में और बाहर में रज से अत्यंत अस्पर्शित थे।

हल्ली नं० 21 ग्राम हेग्गरे में एक मंदिर के पाषाण पर लेख—'स्वस्ति श्री वर्द्धमानस्य शासने। श्री कुन्दकुन्द नामाभूत् चतुरङ्गुलचारणे।' श्री वर्द्धमान स्वामी के शासन में प्रसिद्ध श्री कुन्द-कुन्दाचार्य भूमि से चार अंगुल ऊपर चलते थे।

षट्प्राभृत की प्रशस्ति में नामपञ्चक विराजतेन चतुरङ्गुलांकाशगमनर्द्धिना पूर्वविदेहपुण्डरीकिणीनगरवन्दितसीमंधरजिनेन····· । पांच नाम वाले श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने चतुरंगल आकाश-गमन ऋद्धि द्वारा विदेह क्षेत्र की पुण्डरीकिणी नगरी में स्थित श्री सीमंधर प्रभु की बंदना की थी।

शंका समाधान—मूलाचार की प्रस्तावना में जिनदासपार्श्वनाथ फड़कुले ने लिखा है–'भद्रबाहु चरित्र के अनुसार राजा चन्द्रगुप्त के सोलह स्वप्नों का फल कथन करते हुए भद्रबाहु आचार्य कहते हैं कि पंचमकाल में चारणऋद्धि आदि ऋद्धियां प्राप्त नहीं होती, इसलिये आचार्य कुन्दकुन्द को चारणऋद्धि के संबंध में शंका हो सकती है, जिसका समाधान इस प्रकार समझना चाहिये कि चारणऋद्धि का निषेध एक सामान्य कथन है। पंचमकाल में ऋद्धि प्राप्ति अत्यंत दुर्लभ है यही उसका अर्थ है। पंचम काल के प्रारंभ में ऋद्धि का अभाव नहीं है परन्तु आगे उसका अभाव है ऐसा समझना चाहिये। यह कथन प्रायिक और अपवाद रूप है। इस सम्बंध में हमारा कोई आग्रह नहीं है।

जिस प्रकार सामान्य कथन में पंचमकाल में मुक्ति नहीं है किन्तु विशेष कारण से 3 केवली ने मुक्ति प्राप्त की है।

विदेहगमन के प्रमाण—दर्शनसार में कहा है है–जह पद्मणंदिणाहो सीमंदरसामि दिव्व गाणेण। ण विथेहेइ तो समणा कहं सुमग्गं पयाणंति ॥43॥

विदेह क्षेत्रस्थ श्री सीमंधरस्वामी के समवसरण में जाकर श्री पद्मनंदिनाथ ने जो दिव्यज्ञान प्राप्त किया था, उसके द्वारा यदि बोध न दिया जाता तो मुनिजन सच्चे मार्ग को कैसे जानते ?

पंचास्तिकाय के तात्पर्यवृत्ति की टीका के मंगलाचरण में भी कहा है–अथ श्रीकुमारनंदि सिद्धान्तदेवशिष्यैः प्रसिद्धकथान्यायेन पूर्व विदेहं गत्वा वीतराग सर्वज्ञ सीमंदर स्वामी तीर्थंकर परमदेवं दृष्ट्वा····· । श्री कुमारनंदि सिद्धान्त देव के शिष्य जो कि प्रसिद्ध कथा के अनुसार पूर्व विदेह में जाकर वीतराग सर्वज्ञ तीर्थंकर सीमंदर स्वामी के दर्शन करके उनके मुख से निर्गत दिव्यवाणी के श्रवण द्वारा अवधारित पदार्थ से शुद्धात्म तत्त्व के सार को ग्रहण करके आये थे····।

षट्प्राभृत प्रशस्ति में—श्री पद्मनंदि कुन्दकुन्दा-चार्यःनामपञ्चक विराजितेन चतुरङ्ग लाकाश संबो-धित गमनर्द्धिना पूर्व विदेह पुण्डरीकणीनगर वंदित सीमंधरापरनाम स्वयंप्रभजिनेन तच्छ्रुतज्ञान भरतवर्षभव्यजीवेन श्री जिनचन्द्र भट्टारक पट्टा-भरणभूतेन कलिकालसर्वज्ञेन विरचिते षट्-प्राभृतग्रन्थे··· ···· । पृ० 379

'श्री पद्मनंदि कुन्दकुन्दाचार्यदेव जिनके कि पांच नाम थे, चारणऋद्धि द्वारा पृथ्वी से चार अंगुल आकाश में गमन करके पूर्व विदेह की पुण्ड-रीकणी नगर में गये थे। तहां सीमंधर भगवान् जिनका कि अपर नाम स्वयंप्रभदेव भी है, उनकी बंदना करके आये थे। वहां से आकर उन्होंने भारत वर्ष के भव्य जीवों को सम्बोधित किया था। वे श्रीजिनचंद भट्टारक के पट्ट पर आसीन हुए थे, तथा कलिकालसर्वज्ञ के रूप में प्रसिद्ध थे।'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इससे यह भी पता चलता है कि वे अपनी ज्ञान गरिमा के कारण कलिकाल सर्वज्ञ कहलाते थे।

इससे सुनिश्चित रूप से जाना जाता है कि वे विदेह क्षेत्र में गये थे और वहां पर भगवान् सीमंधर स्वामी की दिव्यध्वनि से तत्त्व स्वरूप निर्णय करके आये थे। यही कारण है कि उनके अध्यात्म का अनुगमन उनके परवर्ती अनेक आचार्यों ने किया है।

एक प्रश्न यह उठता है कि उन्होंने अपने ग्रंथों में यह कहीं भी उल्लेख नहीं किया–जिससे यह निःसंदेह प्रमाणित हो जाता कि वे विदेह क्षेत्र गये थे। इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि उन्हें अपने गुरुओं की और अन्य आचार्यों की प्रामाणिकता और अपनी प्रामाणिकता का आधार एकमात्र स्वानुभव को ही प्रदर्शित करना था। यदि कुन्दकुन्दाचार्य की प्रामाणिकता इसलिये मानी जावे कि वे विदेहक्षेत्र में सीमंधर स्वामी से उपदेश सुनकर आये हैं, तो फिर जो आचार्य सुनकर नहीं आये है वे सब अप्रामाणिक हो जाते। दूसरी बात यह है कि उन्होंने कहीं भी अपना परिचय नहीं दिया है, जिसमें इस विषय का वे उल्लेख करते। उन्होंने कहीं भी अपने पांच नामों का भी उल्लेख नहीं किया है। उन्होंने अपने गुरु का भी कहीं नामोल्लेख नहीं किया। जिससे पता चलता है कि उनको इन लौकिक चर्चाओं के लिये अवकाश नहीं था और न उस ओर उनकी रुचि ही थी। उन्हें तो तत्त्व का परिचय स्वयं करना था और दूसरों को कराना था।

यह भी पता चलता है कि उस युग में 'कलिकाल सर्वज्ञ' जैसे सर्वोत्कृष्ट प्रतिष्ठा से वे प्रतिष्ठित थे। तब प्रकाशमान सूर्य को क्या कहने की आवश्यकता है कि इतना प्रतिष्ठाशाली हूं कि सारी दुनिया को प्रकाशित कर रहा हूं। कहावत भी है—हीरा मुख से न कहे बड़ो हमारो मोल।'

उनके गुरु कौन थे ?

पंचास्तिकाय की टीका में जयसेनाचार्य ने अपने गुरु का नाम कुमारनंदि बताया है।

श्री कुमारनंदिसिद्धान्तदेव शिष्यैः श्री कुन्दकुन्दाचार्य देवैः····विरचिते पञ्चास्तिकाय·····। किन्तु नंदिसंघ बलात्कारगण की पट्टावलि में आपके गुरु का नाम जिनचंद बताया है। जैसे—

पदे तदीये मुनिमान्यवृत्तौ जिनादिचन्द्रः समभूदतन्द्रुः ततोऽभवत् पञ्चसुनामधामा श्री पद्मनंदि मुनि चक्रवर्ती ।।

षट्प्राभृत में भी आपके गुरु का नाम जिनचन्द बतलाया है। इस मतभेद का निवारण इस प्रकार हो सकता है कि दीक्षागुरु आपके जिनचन्द हों और शिक्षागुरु श्री कुमारनंदि हों।

समय

नंदिसंघ की पट्टावली के अनुसार एवं अन्य प्रमाण स्रोतों से आपका समय शालिवाहन अर्थात् शक संवत् 49–101 या ईस्वी सन् 120–179 है। आपके समय के विषय में विद्वानों में कुछ मतभेद है। श्री के० बी० पाठक के अतिरिक्त अन्य सब विद्वान् नंदिसंघ की पट्टावली के अनुसार इनका समय शालिवाहन विक्रम या शक संवत् 49–101 या ई० सं० 127–179 निश्चित करते हैं। इस समय पर सभी विद्वान् एकमत हैं।

1. ऐसा कहा जाता है कि आपने षट्खण्डागम के तीन खण्डों पर 'परिकर्म' नाम की टीका लिखी थी, इस बात को स्वीकार करके भी उक्त समय में कोई बाधा नहीं आती, क्योंकि षट्खण्डागम के रचयिता पुष्पदंत और भूतबली का समय वीर निर्वाण सं० 593–683, ई० सं० 66–156 सिद्ध किया गया है। इस प्रकार यदि पूरा षट्खण्डागम नहीं तो इसका पूर्वभाग इनको अवश्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राप्त हो सकता है तथा उन्होंने टीका लिखी भी पूर्व के तीन खण्डों पर ही है। 2. आचार्य इन्द्रनंदि का कहना है कि कुन्दकुन्दाचार्य को यतिवृषभाचार्य कृत कषाय प्राभृत के चूर्णि सूत्र प्राप्त थे। यदि इस बात को सत्य माना जावे तो अवश्य इनका समय काफी पीछे लाना पड़ता है, क्योंकि यतिवृषभाचार्य का काल ई० 540–609 स्वीकार किया गया है। परंतु धवला की प्रस्तावना में डा० हीरालालजी जैन इन्द्रनंदि की इस बात को प्रामाणिक नहीं मानते हैं। 3. कुछ विद्वानों का कहना है कि पट्टावली में इनका समय वि० सं० 49–101 दिया गया है और इस प्रकार इन्हें षट्खण्डागम की प्राप्ति असंभव है परन्तु उनकी इस शंका का समाधान भी इस प्रकार कर दिया गया समझ लेना चाहिये कि पट्टावली में विक्रम सं० की अपेक्षा काल नहीं दिया गया है, उसका अर्थ शालिवाहन विक्रम अर्थात् शक संवत् है न कि प्रचलित विक्रम संवत्। 4. डा० के. बी. पाठक राष्ट्रकूटवंशी गोविन्द तृतीय के समय में श. सं. 724 व 719 के दो ताम्रपत्रों के प्राप्ति के आधार पर इनका समय वि० सं० 585 के लगभग सिद्ध करते हैं। इन दोनों ताम्रपत्रों का अभिप्राय यह है कि कोण्डकुन्दान्वय के तोरणाचार्य नाम के मुनि इस राष्ट्रकूट देश में शाल्मली नामक ग्राम में रहे। इनके शिष्य पुष्पनंदि और पुष्पनंदि के शिष्य प्रभाचंद हुए। पाठक महोदय का कथन है कि पिछला ताम्रपत्र शक सं० 719 का है तो प्रभाचंद के दादा गुरु शक सं० 600 के लगभग रहे होंगे क्योंकि वे कुन्दकुन्दान्वय में हुए हैं अतएव कुन्दकुन्द का समय उनसे 150 वर्ष पूर्व अर्थात् 450 आता है। उनकी दूसरी युक्ति यह है कि कुन्दकुन्दाचार्य ने जिस शिवकुमार के लिये पंचास्तिकाय शास्त्र रचा था, वे राजा शिवकुमार कादुम्बवंशी शिवमृगेश वर्मा ही हैं। जिनका समय श० सं० 450 है। अतः उनकी दोनों युक्तियों से कुन्दकुन्द का काल शक सं० 450 वि० सं० 585 ठहरता है। 5. परन्तु प्रेमीजी इसको स्वीकार नहीं करते। उनकी दृष्टि में कुन्दकुन्द इतने पीछे के आचार्य नहीं हो सकते। शिवकुमार शिवमृगेश वर्मा ही थे इसका भी पुष्ट प्रमाण नहीं है। और तोरणाचार्य कुन्दकुन्द के अन्वय में 150 ही वर्ष पश्चात् हुए होंगे, इसका भी कोई प्रमाण नहीं है। क्योंकि 300 या 400 वर्ष के पश्चात् क्या हजारों वर्ष पश्चात् के आचार्य भी अपने को कुन्दकुन्दान्वय का बता सकते हैं। क्योंकि उनके अन्वय में अपने को बताना उनके लिये गौरव का कारण है।

नंदि संघ की गुर्वावली के अनुसार उमास्वामी आपके शिष्य थे। उमास्वामी का समय शक सं० 101–142, ई. सन् 179–120 है। अतः उक्त समय ही ठीक बैठता है।

★ महावीर ने कहा था ★

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो ।
अहिंसा, संयम, तपरूप धर्म ही **उत्कृष्ट मंगल** है।
सव्वे जीवा वि इच्छन्ति जीविउं न मरिज्जिउं ।
सब जीव जीना चाहते हैं मरना कोई नहीं चाहता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कोई सुनेगा ?

● उदयचन्द्र, प्रभाकर शास्त्री
जैनदर्शनाचार्य, एम० ए०, रिसर्च स्कालर
जंवरीबाग, नसिया, इन्दौर, म० प्र०

तम के साये में भटकती हुई प्रजा, जाये तो जाये कहां ? बेचारी पंगु, कान के परदे फट चुके थे, सुनाई नहीं दे रहा था। आंखें लाचार होकर बैठ गयी थी, चारों ओर धुंधलाहट ही बाकी रह गया था, कोई सुने या देखे तो कैसे देखे।

कंठ रुधा हुआ, गूंगे की तरह संकेत प्राप्त करना चाहता, पर संकेत भी ओझल होते जा रहे थे, यदि कुछ बचा था तो वह भी करुण क्रंदन, वो भी मंद-मंद हृदय की धड़कन की तरह।

डरो नहीं, साहस से काम लो, तुम्हारी पुकार कोई सुनेगा ? नहीं····नहीं·····ऐसा कभी नहीं हो सकता। आत्म-विश्वास की किरण पास होते हुए भी यह कैसा रुदन।

देखो सामने वो भी एक किसी मां का लाल है, जिसका अंग-प्रत्यग कुछ बोध दे रहा है। नजर पड़ी, होश आया दृष्टि जीवन के रमणीय क्षणों की ओर अभी तक क्यों नहीं दौड़ी शायद खो गया था इस जग के सपनों में। अब मालूम हुआ कि यह संसार असार है, यहां कोई किसी की पुकार सुनने वाला नहीं है, यदि कोई है भी, तो वह भुलावे में रखने के लिए गली–कूचों में भटकते रहने के लिए। अतः अपने जीवन के लक्ष्य को देखो, सोचो समझो तब समझ में आ जायेगा कि निश्चय ही मेरी कोई सुनने वाला नहीं, यदि कोई है भी तो मैं ही।

बोध आया, मैं कहां खो गया था, यह वक्त यों ही समाप्त कर देने का नहीं, उस त्रिशलानन्दन को देखो जिसने नश्वर शरीर की परवाह न करके परमार्थ का विशेष परिचय करना अपना लक्ष्य बनाया, परमार्थ की सेवा ही सच्ची सेवा अपनी ज्ञानचक्षु से देखा–समझा, पतित और कुदृष्टि से दूर रहकर अपने सम्यक्त्व रत्न कोसम्भाल लिया। सच बात है–

परमत्थसंथवो वा, सुदिट्ठपरमत्थसेवणा वा वि।
वावन्नकुदंसणवज्जणा य सम्मत्तसद्दहणा।
।।उ० अ० २८।।

नहीं····मैं ऐसा नहीं, आखिर वो वीर, सन्मति अति वीर, महावीर। कहां राई, कहां पर्वत। यह सोचना ही व्यर्थ है। यह क्यों नहीं सोचता कि मानव-मानव एक है, आत्मा में कोई अन्तर नहीं है, यदि अन्तर है भी तो आत्मशक्ति का। वो भी छिपी हुई है ऐसी बात नहीं, आत्मशक्ति उस ज्ञान दीपक के समान है, जो एक बार प्रकाश में आ गई अर्थात् जिसने उसे पहचान लिया, वह स्वयं महावीर बन गया।

संसार महासमुद्र से तिरकर किनारे पर पहुँचकर रुक क्यों गये ? अरे ! समुद्र के समान गंभीर, दुर्जय, किसी से नहीं दबने वाले, अनंत चतुष्टय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रूप आत्मन् ! तू अब भी सोचता है कि कोई सुनेगा ?

अरे मूर्ख ! महावीर वाणी की ओर जरा दृष्टिपात तो कर·····उन्होंने कहा था–हे भव्य जीव ! तू यदि इस संसार से पार होना चाहता है तो लक्ष्य को मत भूलो। इस नश्वर शरीर, रुपया, पैसा, कुटुम्ब, भाई-बन्धुओं का मोह आखिर कब तक देखता रहेगा ? उठा इस मिथ्यात्व से दृष्टि और तू अपनी ही नौका का सहारा ले। इस संसार में तेरी पुकार सुनने वाला नहीं।

इस उत्तम मनुष्य जन्म को व्यर्थ ही न समाप्त कर दे। उत्तम 'श्रमणधर्म' का आश्रय लेकर अपने आपको वीतरागता की शरण में ले जा, जहाँ तेरी पुकार सुनने वाला बैठा हुआ हैं। वह इसी के इंतजार में न जाने कितने समय से बैठा है।

अब भी सोच में पड़ गया, ज्ञानचक्षु से देखो तो मालूम हो जायगा कि मैं ही सब कुछ सुनने वाला हूँ।

आखिर कैसे ?—

ऐ जहाज के पंछी ! तू घूम-फिरकर अपने स्थान पर आकर बैठ गया। मैंने सारी दुनियां की सैर कर ली, सच है जितना दृष्टि ने साथ दिया उतना ही सोच लिया, पर यह भी सोचना था कि इससे भी विशाल कोई दुनियां है, जिसमें कभी सुख-दुःख की छांह ही नहीं पड़ती, उस दुनियां के व्यक्ति को दर्पण की तरह समस्त लोकालोक के पदार्थ दिखते रहते हैं, वे समस्त कर्मों से रहित परम पद में स्थित हो जाते हैं, वहां से कभी उसे आना नहीं पड़ता। तू भी यही चाहता है, इसलिए अपनी उत्कृष्ट निधि को पहचान ले।

आगे बढ़, मैं ही दानव हूँ, जो अशक्त बनाये जा रहा है। अहिंसा की बागडोर मेरे हाथ में है। मैं चाहूँ तो सब कुछ यहां तक कि मानवीय गुणों का ह्रास कर सकता हूँ। तू मेरी शक्ति को नहीं जानता। जितने भी सांसारिक कार्य हैं उन सभी को कराने वाला मैं ही हूँ फिर भी इतना उदास, इससे कुछ भी नहीं होने वाला।

अकर्मण्य कहीं का, अहिंसा, सत्य की छाया में पहुँचकर मुझे डर दिखाना चाहता है। मैं बलवान हूँ। मुझसे बचकर जा ही नहीं सकता। तू अपने आपको महावीर का भक्त समझता है। तू भक्त नहीं, यदि उनका भक्त होता तो इतना स्वार्थी नहीं होता।

तो क्या आप महावीर को जानते हो ?

ये भी कोई पूछने की बात····। मै तो जन्म-जन्मान्तर से जानता हूँ और तुम उनकी छत्र-छाया में रहते हुए भी चंचला लक्ष्मी के मद में उन्मत्त होकर उसी को सर्वस्व समझ कर छोटों का गला दबाना चाहते हो। तुमने उनके धर्म को नहीं समझा। यदि समझा भी तो स्वार्थवश। शायद उनकी भक्ति से लखपति-करोड़पति बनने की इच्छा से। ऐसी भक्ति से महावीर के सिद्धान्तों का पालन करने वाले नर ! तेरी शरण नरक में नहीं। मैं हिंसक होकर भी स्वार्थ दृष्टि से रहित हूँ। परन्तु–

अनाथामबंधूनां दरिद्राणां सुखदुःखिनाम्।
जिनशासनमेतद्धि परमं शरणं मतम्॥

अर्थात् जो अनाथ हैं, जिनका कोई बन्धु नहीं है, जो दरिद्र हैं और जो सुखी अथवा दुःखी है उनके लिए जिनेन्द्र शासन ही एकमात्र शरण है। इतना मैं अवश्य जानता हूँ, पर क्या करूं परिस्थितियों ने मुझे इस लायक बना दिया। पर तुम श्रमण संस्कृति के उपासक स्वार्थ को त्यागकर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समता, सरसता जैसे पावन गुणों की सरिता बहाओ तो निश्चय ही सर्वस्व तुझे प्राप्त हो जायगा और एक दिन सर्वगुणसम्पन्न बनकर श्रमण संस्कृति के स्थान पर पहुँच जाओगे। यदि यह सब मंजूर नहीं चल मेरे साथ, फिर देखना क्या से क्या होता है।

डर गया, डरपोक कहीं का, मैदान छोड़कर भागना चाहते हो, पर मैं ऐसा कभी भी नहीं होने दूंगा। तुमने मुझे मोमका समझ रक्खा, जो कि थोड़े ही में पिघलकर तेरी बातों में आ जाऊंगा। मैं तुझ जैसा कायर नहीं, जो कि थोड़े से प्रलोभन में आकर कुछ से कुछ कर बैठूं। तुम्हें अन्त तक नहीं छोड़ने वाला। मैं भले ही मिट गया, पर दूसरों को मिटते हुए देखकर मुझे दुःख होता है।

तुझे, वो भी दुःख, ऐसा सपने में नहीं सोच सकता है। तुम मेरी हंसी उड़ाओगे।

हंसी उड़ाऊंगा यह निश्चित बात है, पर हंसी उसी की उड़ाई जाती है, जो पथभ्रष्ट हो जाता है। छोड़ो इन सभी बातों को।

कोई सुनेगा ?

फिर वहीं बात, वही रुदन, शोरगुल तुम बच्चे थोड़े ही हो। अपना बुरा-भला समझने वाले तुम्हीं हो उठो, हृदय तंत्री को झंकृत करो। तब देखना कि सुनने वाला वो तू ही है, अन्य कोई नहीं।

आत्मा नदी संयम तोयपूर्ण सत्यावहः शील तटो दयोर्मि।
तत्राऽभिषेक कुरु पाण्डु पुत्र न वारिणा शुद्धमति चान्तरात्मा ॥

अर्थात् आत्मा रूपी नदी का सहारा ले जिसमें संयमरूपी जल भरा हुआ है, सत्य का प्रवाह और दयारूपी लहरों से युक्त सुन्दर शीलरूपी तट बने हुए हैं ऐसे पवित्र जल से स्नान कर जिससे आत्म से परमात्म की ओर जा सकता है।

"गंगा, यमुना, नर्मदा में मैंने ही स्नान किया है। मेरे जैसा पवित्र कोई है भी नहीं।

पुकारकर उन नदियों से कह 'कोई सुनेगा ?' तब निश्चय ही तर जायगा, और शायद पवित्र भी हो जायगा तथा पुकार सुनकर मुक्ति मार्ग तक पहुँचा देगा। बहुत खुशी की बात है बन्धु कि तू मुक्त हो रहा है, पर एक बात का ध्यान रखना कि तूने सिर्फ काया को नदियों में स्नानकर उज्जवल बनाया, नदियों की पवित्रता को नहीं पहचाना। अतः तेरी पुकार कोई नहीं सुनेगा ? बल्कि परछाई बनकर इधर-उधर भटकता रहेगा, फिर मुक्त कैसे समझ लिया। अब कहीं मत भटक अपने अस्तित्व की पहचानकर तभी कोई सुनेगा ?

कोई सुनेगा ? का प्रश्न तेरी आत्मा से ही निकला और उसी से समाधान प्राप्त कर सकता है।

भगवान महावीर ने कहा था

असुभो जो परिणामो सो हिंसा।
अशुभ भाव ही हिंसा है।
भूतहितं ति अहिंसा।
जीवों का उपकार करना ही अहिंसा है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बटवारे के क्षण

●श्री सुरेश 'सरल'
सरल कुटी, गढ़ाफाटक, जबलपुर

मोहन लम्बी-लम्बी डगें भरता हुआ चला जा रहा था। वृजलाल से उसे आज आखिरी फैसला करना है। उसकी आंखों में क्रोध जितना गहरा था चाल में उतनी ही तेजी थी। रामपुरा अभी आठ मील शेष था। धूप कड़ी होती जा रही थी। धूप से बचने के लिये ही वह भोर चार बजे चल पड़ा था अपने शहर से। पर अभी तक बारह मील ही चल पाया था।

मोहन की आंखों में बड़े भाई वृजलाल की छवि बार-बार नाच रही थी। ग्यारह वर्ष हो गये थे उसे भाई से दूर हुए। ये ग्यारह वर्ष ग्यारह युग से कटे उसके। क्या विपत्तियां नहीं आईं उस पर, परन्तु आज तक किसी ने खबर ली उसकी ? बस साल भर में एकाध बार मिल जुल लिया, हो गया भ्रातृत्व का निर्वाह।

मोहन आज निर्णय ले चुका था, भाई से हिस्सा लेकर ही रहेगा। वह सोचता—बड़े भैया का कर्त्तव्य था कि वे अपने मन ही से मुझे कुछ देते पर उन्होंने आज तक मेरे लिये कुछ नहीं सोचा। मुझे मरा हुआ समझ रखा है क्या ? तब की बात और थी, तब मैं था और सुशीला थी, पर अब···· अब हम दोनों के ही पांच बच्चे हैं और उनकी आवश्यकताएं अलग। धंधा चलता नहीं, क्या भैया को इतना भी पता नहीं कि मेरे बच्चों को कभी-कभी दो दिन के अंतर से खाना मिल पाता है। बच्चों की याद आई तो उनके भूखे चेहरे मोहन के सामने आने लगे—रात्रि के बारह बजे जब पांचों बच्चे उठ-उठ कर बैठ जाते थे, रोते थे, भूख के मारे पेट का दर्द बतलाते थे और मोहन उन्हें कुछ न दे पाया था उस रात। पानी के घूंट लेने की जिद की तो बड़ा लड़का बाहर भागने लगा था, तब क्रोध और आत्मग्लानि के कारण बच्चों को उतनी ही रात को इतना पीटा था मोहन ने कि वे सिसकते-सिसकते सो गये। फिर सुबह मोहन ने पीतल के अन्तिम दो बर्तन गिरवी रखकर रोटियों का प्रबन्ध किया था।

चलते-चलते रामपुरा चार-पाँच मील बचा होगा। मोहन को आज अपने पूर्व नियोजित हथ-कंडों पर प्रसन्नता हो रही थी। उसे मालूम था कि वृजलाल पड़ौस के गांव में शादी पर गये हैं। घर में भाभी और बच्चों को चकमा देकर उनका घोड़ा और एकाध मन अनाज लाने में कोई बड़ी कलाबाजी दिखाने की जरूरत नहीं पड़ेगी।

मोहन वृजलाल के गरीयस व्यक्तित्व से उतना ही डरता है जितना अपने स्व० पिता से कभी डरता था। संकोच इतना करता कि बड़े भाई के सामने अपने बच्चों को गोद लेना दूर हाथ पकड़कर सीढ़ी से उतार नहीं सकता था। इसीलिये वृजलाल की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुपस्थिति में उसके घर पहुंचना उचित समझ रहा था।

गांव मील भर बचा तो मोहन को वह वृक्ष दिखा जिस पर बैठकर वह चरते मवेशियों को देखता रहता था। जब भी वृजलाल उसे इस झाड़ पर चढ़ा देखता था तो दौड़कर पास आता और उसे नीचे उतर आने का आदेश देता और फिर समझाता कि ऐसे में गिर पड़े तो हाथ-मुंह टूट सकता है, और फिर हार खेत की ओर चला जाता। दोनों का स्नेह और ममत्व सारे गांव में चर्चा का विषय बना रहता था। बड़ा भाई जब तक नहा-धो नहीं लेता छोटा भाई थाली पर नहीं बैठता था। छोटा भाई रात में जामनगर से देर से लौटता सौदा लेकर तो बड़ा भाई लालटेन और डंडा लेकर उसे गांव से मील भर दूर तक ढूंढ़ता निहारता लेने जाता था।

मोहन को आज भी अपने भाई पर उतनी ही प्रगाढ़ श्रद्धा है और वृजलाल को मोहन से अभी भी पूर्व सा स्नेह है। इस सात्विक विचार से मोहन की आखें डबडबा आई। भूख और विवशता पर रह-रह कर क्रोध आने लगा उसे। वह सोचता भूख शांति के लिये आज मैं अपने बड़े भाई से हिस्सा-बांट करने जा रहा हूं, नहीं····नहीं···मैं आज उस पर डाका डालने जा रहा हूं। मैं नीच हूं, संसार का कोई भी भाई क्षमा नहीं करेगा। उसके पैर डगमगाने लगे। उसका मन किया कि अभी भी कुछ नहीं बिगड़ा, गांव के "छ म्योड़े" से ही लौट जाना चाहिये मुझे। मन में जनित आवेश शिथिल पड़ने लगा। तभी उसे याद हो आया-बच्चे दो दिन से भूखे हैं और सुशीला ···। उसकी आँखें फिर लाल पड़ गई। उसे मस्तक में कुछ ठनका-भैया ने मेरे लिये आज तक क्या किया? मुझे क्या दिया उनने? और सोचते-सोचते गांव में धंसता चला गया।

दोपहर का समय हो चला था। गांव के कुछ लोगों ने मोहन को आते देखा तो परस्पर अभिवादनों का आदान-प्रदान करने लगे।

मोहन आंगन में पहुंचा तो वृजलाल के सातों बच्चे मुस्काते हुए दीर्घ स्वर में पुकारने लगे कक्काजी आये····। भाभी ने आवाज सुनी तो चूल्हा-चौका छोड़कर आ गई। चूल्हे से उत्पन्न धुआं सम्पूर्ण घर में फैल रहा था। एक थका हारा, भूखा-प्यासा चेहरा उनके सामने खड़ा था, भाभी को अनुमान लगाते देर न लगी कि कुंवर साहब शहर से पैदल चल कर आये हैं। उन्होंने यहां-वहां की बातों के बाद मोहन से भोजन के लिये अनुरोध किया। दो दिन की भूख और आगे तक खिचना न चाहती थी। अतः मोहन खाने बैठ गया।

बड़े भैया का हाल पूछकर अपने हृदय के मालिन्य से प्रेरित हो वृजलाल के बड़े बेटे शिखर से बोला-अरे शिखर तुम्हारी काकीजी भी आई हैं। जामनगर चौरस्ते पर हैं। घोड़ा लेकर चले जाओ उन्हें लाने के लिये। शिखर हंसते हुए कहने लगा-हम तो जामनगर ही जा रहे थे। सात दिनों में दूकान पर लगभग मन भर गेहूं इकट्ठा हो गया है। उसी को बेचकर किराना लाने के लिये बोल गये थे पिताजी। मोहन ने शिखर के मुंह से यह बात सुनी तो उसे अपनी योजना सफल होते लगने लगी। कहने लगा-ठीक है तो मैं भी जामनगर चलता हूं वहां एक किसान से पैसा लेना है। भाभी और बच्चों के मना करने पर भी मोहन शिखर के घोड़े के साथ हो लिया। जामनगर रामपुरा से पांच मील पड़ता था और रास्ते में दो गांव जुनवानी और हिनोतिया।

रास्ते में उसने शिखर को फुसलाते हुए कहा-न हो तो तुम हिनोतिया पर से सीधे निकल जाओ मैं चक्कर देकर आता हूं। हिनोतिया में मुझ पर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कुछ लोगों के पैसे पड़ते हैं वे मुझे देखकर मांगने लगेंगे।

भोला शिखर कुछ समझ न सका। उसने कहा–ठीक है कक्काजी, अगर आप चक्कर लगाकर जाते हैं तो घोड़े से चले जाइये, मैं सीधा पैदल चल कर आता हूं। दो बजे जामनगर के बाजार में साहू की दुकान पर मिलूंगा। दोनों दो नई दिशाओं की ओर बढ़ने लगे। मोहन घोड़े को टिटकारता हुआ जामनगर का रास्ता छोड़कर अपने शहर की ओर भागने लगा। अपनी इस वंचकता पर उसे जितनी प्रसन्नता थी दुष्कर्म पर उतनी ही शर्म। फिर भी वह बढ़ता चला जा रहा था।

शिखर को दुकान पर खड़े-खड़े दो से चार बज गये पर मोहन नहीं पहुंचा। पहुंचे अवश्य वृजलाल, जो अभी-अभी पास के गांव से लौटे थे। शिखर वृजलाल को एक सांस में सब कुछ समझा गया और अन्त में स्वास छोड़ते हुए बोला–न चरौस्ते पर काकी जी मिली और न ही कक्काजी घोड़ा लेकर लौटे।

वृजलाल को मोहन की धोखा-धड़ी अच्छी नहीं लगी, वह मोहन का कपट-कर्म समझ गया। शिखर को किराये की साइकिल पर बैठाकर वह साइकिल शहर की ओर दौड़ाने लगा बाप बेटे बड़ी बारीकी से दूर-दूर तक नजरें फैलाते हुए मोहन को देख रहे थे। आखिर दसवां मालि पार करते-करते उन्होंने मोहन को देख ही लिया। वृजलाल ने साइकिल की गति और तीव्र करने की कोशिश की तो चैन उतर गई। वृजलाल चैन चढ़ाने लगे और शिखर को मोहन की ओर दौड़ा दिया। मोहन भी सचेत था। वह इसी स्थिति की प्रतीक्षा में था। उसने तुरंत घोड़ा मोड़ दिया और पास के गांव में एक घर में जाकर छुप गया।

वृजलाल की आंखों में जिन्दगी में पहली बार आज खून उतर आया था। उनकी इच्छा मोहन का पीटने की हो पड़ी। छुपे हुए मोहन के पास पहुंचने में देर न लगी। अगले ही क्षण वह मोहन के सामने जा पहुंचे। जमीन पर बैठा मोहन सिर न उठा सका। आखिर वृजलाल ने शांति भंग की। कड़ी आवाज को कर्कश करते हुए बोले–मोहन! तुम घोड़ा क्यों लाये? मोहन सकपकाते हुए बोला–मुझे जरूरत थी। ये प्रश्न-उत्तर दोनों ओर से ठीक उसी ढंग से किये-दिये गये जिस तरह बचपन में वृजलाल मोहन से पूछते थे। तुमने पड़ौसी के आम क्यों तोड़े? तो मोहन धरती देखता हुआ कहता–मुझे खाने थे इसलिये। और दोनों का क्रोध आधा हो जाता था। पर आज अभी क्रोध आधा तो क्या रंचमात्र भी कम नहीं हुआ था।

वृजलाल फिर गरजे–मोहन साफ-साफ बोलो! तुम चाहते क्या हो? मोहन चुप रहना चाहता था ऐसे वक्त, किन्तु न जाने क्यों उसके ओंठ चल पड़े। वह कहने लगा–भैया मैं हिस्सा बाट चाहता हूं। घर गृहस्थी का हिस्सा। हिस्सा शब्द सुनकर वृजलाल के स्वर मध्यम होने लगे। वह गंभीर होकर बोले–किस चीज का हिस्सा भैया? पिताजी बीड़ी बनाते–बनाते मर गये थे। उनके पास ऐसा क्या था जिसका आधा मैं तुम्हें दे सकता था। न घर, न जमीन, न दुकान, न रुपये। थे तो हम दोनों सो एक शहर चला गया, एक गांव में रहता है। अब क्या चाहिये तुम्हें? अगर कुछ मालूम हो तो तुम्हीं बताओ।

मोहन वृजलाल के इस प्रश्न पर भीतर-भीतर ही कुछ शर्मिन्दा हुआ। घर की कोई वस्तु उन दोनों से छुपी नहीं थी, मोहन, चाहते हुए भी क्या मांगे यही उसकी समस्या थी। सच तो है वृजलाल के पास भी है ही क्या जो मोहन उससे मांगता। परन्तु आज मोहन को अपने बच्चों की भूख चुप होने नहीं दे रही थी। वह चेहरे पर ढीठता लाते

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हुए बोला–पिताजी के पास कुछ नहीं था तो न सही तुम्हारे पास तो है। तुम्हीं दे दो।

वृजलाल को अपने शब्दों पर तरस आने लगा। वे बोले-ठीक है तो तुम्हें घोड़ा चाहिये–ले जाओ। मेरे पास घोड़े के अतिरिक्त है ही क्या। इसी पर बोझे ढोता हूं और सात बच्चों को पालता हूं। अब यदि तुम्हें चाहिये तो ले जाओ तुम्हीं। कुछ दिन तुम्हारे बच्चे भूखे रह चुके अब मेरे रहेंगे। वृजलाल के रुके हुए आंसू बाहर सरक आये फिर घोड़े की रास मोहन को सौंपते हुए कहने लगे–जल्दी चले जाओ, रात हो रही है।

घोड़ा मोहन को देकर वृजलाल एक अदृश्य प्रसन्नता का अनुभव करने लगे मन में। उन्हें गौरवानुभूति हुई–मैंने अपनी कमाई में पहली बार अपने छोटे भाई को कुछ दिया है। फिर रुक कर मोहन से बोले–घर पहुंचकर अच्छे–भले की खबर देना। और शिखर के साथ वापस हो लिये।

मोहन घोड़े की रास हाथ में देखकर ग्लानि से गड़ने लगा उसे लगा वह बड़े भाई का राजपाट छीन रहा है। "नहीं नहीं मैं ऐसा नहीं कर सकता।" वृजलाल एक खेत जगह चले होंगे कि मोहन चिल्ला-चिल्ला कर पुकारने लगा–भैया,.... भैया,....और वृजलाल मुड़कर निहा रने लगा। मोहन घोड़ा लेकर उनके पास पहुंचा। उनके पैरों से लग गया। घोड़े की रास उन्हें देते हुए बोला-भैया मुझे क्षमा कर दो। मैं भूख में लाज-लिहाज–संकोच सब कुछ भूल गया था। यह घोड़ा आप ही ले जाये यह पिताजी की जायदाद का अंश नहीं है। इस पर आपका अधिकार है। मैं आपसे इसे न ले सकूंगा।

वृजलाल आत्मीयता से बोले–अरेपगले! मुझे ही यह स्वेच्छा से दे देना था, आखिर मैं तेरा बड़ा भाई ही हूं। मेरा भी तेरे प्रति कुछ कर्त्तव्य हो जाता है। घंटों बीत गये घोड़ा लेने को कोई तैयार नहीं था। मोहन के गिड़गिड़ाने पर अन्त में वृजलाल ने रास संभाल ली। "तो फिर तुझे क्या दू?" वृजलाल पूछने लगे।

मोहन नीचे देखते-देखते घोड़े पर लदे अनाज को देखने लगा। वृजलाल मोहन की नज़रें परख गये। वह बोला–अच्छा थोड़ा सा अनाज ले जा। सुनते ही मोहन मुस्काने लगा। चेहरे पर उत्सुकता बिखेरता हुआ बोला–हां भैया अनाज दे दो। वृजलाल ने अनाज उसकी ओर उड़लते हुए कहा–लो यह बांध लो। मोहन फिर नीचे देखने लगा। उसके पास कोई कपड़ा तक नहीं था जिसमें वह अनाज बांधता। वृजलाल शादी से लौटे थे उनके कांधे पर एक चद्दर था। उन्होंने उसी चद्दर में अनाज बांधकर मोहन को दे दिया और बोले–अभी कोई बस निकलेगी तो बैठकर चले जाना। बस? मोहन के चेहरे पर आश्चर्य बिखर गया। वृजलाल ताड़ गये कि बस की टिकिट के लिये भी मोहन के पास पैसे नहीं हैं। उन्होंने अपनी कमर में लपेटे गये एक रुपये के नोट को जिसे शादी से निविघ्न बचाकर ले आये थे निकालकर मोहन के हाथ में रख दिया और उसकी पीठ थपथपाकर रामपुरा की ओर बढ़े गये।

मोहन बस के आते तक नजर धरती में गड़ाये रहा और सोचता रहा कि बड़े भैया की गरीबी दूर कैसे हो?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यंगात्मक रचना

चर्या के दर्पण में चर्चा के चहरे

● श्री मगनलाल 'कमल' गुना (म० प्र०)

1. अहिंसा

'अहिंसा परमोधर्मः'
यही नारा तो
तुमने दिया है,
हमने भी—
व्यक्तिगत जीवन से लेकर,
समष्टिगत–जीवन तक
इसी की दम पर जिया है।
शत्रु को हम
शास्त्र से नहीं,
घात से मारते हैं।
चौराहों पर लगे बैनर्स पर,
अहिंसा के उपदेशों को,
नियोन–लाइट से उभारते हैं,
शस्त्र–निरपेक्ष शौर्य से—
हिंसा को डराते हैं।
इतने नियोजित रूप से—
अणुव्रत–आंदोलन चलाते हैं।

2. सत्य

हम कभी झूंठ नहीं बोलते,
गांठ बधे सत्य को कभी नहीं खोलते,
संस्थानों में लगी एक दाम की प्लेट,
कार्यालयों पर प्रामाणिक वकील का बोर्ड,
चिकित्सालयों में—असाध्य रोगों के
एक मात्र चिकित्सक।
राजनैतिक मंच पर, जनता के सेवक,
सत्य के समग्र–स्वरूप को—
युग के काल–पात्र में भर कर—
धरती के सीने में रख दिया है,
सोने के ढक्कन से ढक दिया है।
इसीलिये हमारी—
आंतरिक–संरचना के बिम्ब—
बिंबित नहीं होते चेहरे पर—
सहज भाव से सत्य के गीत गाते हैं
इतने नियोजित रूप से—
अणुव्रत–आंदोलन चलाते हैं,

3. अचौर्य

तुम्हीं ने कहा था—
'अदत्ता–दान चोरी है'
हमने भी आज तक—
आरोपित नहीं होने दिया—
चोरी का आरोप।
माल की अफरा–तफरी से लेकर
शासकीय करों तक,
बचत की है, चोरी नहीं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दौलत–दौलत है—
काली नहीं, गोरी नहीं,
हमें ग्रहणीय नहीं है, अदत्ता–धन,
क्योंकि, धनार्जन के और भी तरीके हैं —
जैसे–धर्मादा, गौशाला, पौशाला,
सभी जनता से काटते हैं,
उनका पैसा, उन्हीं में बांटते हैं।
पारिश्रमिक की बचत से कोठी बनाते हैं,
इतने नियोजित रूप से
अणुव्रत–आंदोलन चलाते हैं।

4. ब्रह्मचर्य

'शील वाढ़ि नौ राखि—
ब्रह्म भाव अंतर लख्यो' का सिद्धांत,
जीवन में उतारा है,
आत्म–कल्याण के प्रवचन के बीच,
ब्रह्म को पुकारा है,
लेकिन—
अचार–मुरब्बे के डिब्बे तक छपे—
अर्ध–नग्न–नारी के चित्र ?
यह सब, अश्लीलता नहीं ?
नहीं—
व्यावसायिक–विज्ञापन है,
सौन्दर्य–बोध से अपनापन है,
ओपेरा–हाउस के केबरे डांस ?
शुद्ध, सात्विक मनोरंजन है,
गर्ल–फ्रेन्ड के साथ कार में जाते हैं,
इतने नियोजित रूप से
अणुव्रत–आंदोलन चलाते हैं,

5. अपरिग्रह

हमें याद है—
'मूर्छा परिग्रहः' की परिभाषा,
हम धन की लिप्सा में लिप्त नहीं,
किन्तु, धनार्जन की क्रिया में अलिप्त नहीं
क्योंकि, धन को हमने—
दो भागों में विभक्त कर दिया है,
जो सीमित है–वह अपरिग्रह है—
उसे एक नंबर में भर दिया है।
जो असीमित है–वह परिग्रह है—
इसलिये दो नम्बर है—
उसे धरती में धर दिया है।
यह सनद है–हमारे अपरिग्रही होने की
क्योंकि उसे–हम दान में चढ़ाते हैं,
ऐश में उड़ाते हैं, तस्करी चलाते हैं,
धूम से रचाते हैं–बेटी का ब्याह
मुखबिर लग जाये तो 'मीसा' में जाते हैं
इतने नियोजित रूप से
अणुव्रत–आंदोलन चलाते हैं,



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करेगा सो भरेगा

● श्री मोतीलाल सुराना
इन्दौर 2

माता के बार-बार पूछने पर भी कमला ने कुछ नहीं बताया तथा अपना रोना जारी रखा तो कमला की माता ने घर से नौकरानी भेजकर दुकान से कमला के पिताजी को बुलवाया।

हुआ यह था कि कालेज जाते समय रास्ते में कमला की चप्पल टूट गई थी। अतः उसने बाजू में दुकान लगाकर बैठे हुए चमार के लड़के से चप्पल दुरुस्त करवाई ताकि वह समय पर कालेज पहुंच सके।

चमार के लड़के ने चप्पल तो दुरुस्त कर दी पर जब कमला पैसे देने लगी तो वह लड़का बोला—पैसे किस बात के, मैं तो कई दिनों से रास्ता देख रहा था कि तू किसी बहाने मेरी दुकान पर आवे और तेरे से मिलने का अवसर आवे।

कमला पैसे फेंककर कालेज न जा सीधी घर पर आई तथा फफक-फफक कर रोने लगी।

कुछ ही समय के बाद कमला के पिताजी दुकान से घर पहुंच गये तथा कमला को रोती देख कर पूछा आखिर क्या बात है? तेरे साथ किसी ने बुरा व्यवहार किया हो तो मैं अभी.....

कमला ने कहा—पहले आप यह बताइये कि जब आप 20 साल के थे तब आपने किसी की लड़की को छेड़ा था क्या? यदि आपने ऐसा न किया होता तो एक चमार के लड़के की क्या हिम्मत कि वह मुझे इस प्रकार बोलता। आपने जरूर किसी लड़की को छेड़ा होगा।

करेगा सो भरेगा।

सामाजिक संस्थायें समाज का दर्पण है मुक्तहस्त से दान देकर उन्हें समृद्ध कीजिये।

महावीर सेवा समिति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साहित्य-समीक्षा

श्री जवरचंद फूलचंद गोधा जैन ग्रंथमाला

हुकमचन्द मार्ग, इन्दौर द्वारा प्रकाशित

(1) जैनधर्म ले०—पं० नाथूराम डोंगरीय जैन । (2) कुलकर और श्रमण संस्कृति ले०—श्री मिश्रीलाल जैन ।(3) बोध कथा कौमुदी ले०—श्री मोतीलाल सुराना ।

(1) पुस्तक में विद्वान् लेखक के समय समय पर मुद्रित लेखों का संकलन है जिनसे जैन दर्शन एवं संस्कृति पर तीन खण्डों में सामग्री दी गई है । जटिल विषय सामग्री को सरल भाषा में प्रस्तुत किया गया है । पुस्तक गागर में सागर है । मूल्य रु० 21 है ।

(2) इसमें आद्य सभ्यता के सर्जक कुलकर तथा श्रमण संस्कृति के प्रवर्तक तीर्थंकरों की यशोगाथा है । जैनधर्म के सिद्धांतों का प्रतिपादन आदि तीर्थंकरोपदिष्ट लोकहित और जैनों की सेवाओं का उल्लेख भी इसमें किया गया है । महत्वपूर्ण सामग्री लिए हुए है और सार्वजनिक लाभ के उद्देश्य की पूर्ति करती है । मूल्य रु० 2.75 है ।

(3) इस बोध कथा संकलन में लेखक के अपने अनुभव, अध्ययन और संग्रह द्वारा स्वतंत्र कल्पना का मिश्रण करते हुए सुबोध और प्राञ्जल शैली में जीवनोत्थान की प्रेरणा देने वाले रोचक हृदयग्राही संक्षिप्त कथानक संकलित किये है । इनमें से अधिकांश रचनायें समाचार पत्रों में मुद्रित भी हो चुकी हैं । उनकी लोकप्रियता के कारण ही उन्हें पुरस्कृत किया गया है । मूल्य रु० 1.50 है ।

मानवता के मन्दराचल : भगवान् महावीर

ले० श्री जमनलाल जैन, प्र०—वर्धमान प्रकाशन, वाराणसी

महावीर की जीवन गाथा, उनकी दृष्टि और सृष्टि, उनके उपदेशों के सार तत्व, तथा मानवता के प्रति सन्देश को अत्यन्त भावपूर्ण एवं प्रेरणाप्रद शैली में प्रस्तुत किया है । इसे लेखक ने साधना पूर्ण भावना से इस प्रकार इन अध्यायों में लिखा है कि महावीर का समग्र जीवन ही हृदयंगम हो जाता है । 60 पृष्ठीय इस पुस्तक का मूल्य दो रुपये है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैनदर्शन में विश्व व्यवस्था और मुक्ति मार्ग

ले० दौलतराम जैन 'मित्र'—भानपुरा, मंदसौर

लेखक का यह एक लेख है जिसे विभिन समाचार पत्रों में स्थान मिल चुका है। इसमें षट् द्रव्य व सात तत्वों का वर्णन है जो विश्व समुच्चय की वस्तुओं और घटनाओं का स्वरूप समझने में सहायक है।

भगवान् महावीर

ले० श्री प्रेमचन्द दिवाकर, प्र० श्री छात्रहितकारिणी सभा, श्री गणेश दि० जैन संस्कृत महाविद्यालय, सागर

इस पुस्तिका में महावीर के चरित्र, प्रभाव और सामाजिक तथा राजनीतिक आदि कार्यों का आज की शैली में विवरण प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। जिज्ञासुको निशुल्क उपलब्ध कराई जाती है।

वर्धमान

वर्धमान कालेज बिजनौर विद्यालय की पत्रिका

महाविद्यालय की पत्रिका का यह अंक भगवान् महावीर को श्रद्धांजलि अंक है। इसमें सम्पादकों ने जिस सामग्री का प्रस्तुतिकरण किया है। वह भगवान् महावीर और जैनों के बारे में बहुत कुछ जानकारी सामने रखती है। लेखों का चयन एवं सम्पादन सुन्दर है।

कला प्रकाशन मंदिर, दिल्ली-110006 द्वारा प्रकाशित

1. जय पराजय, 2.उन्हें हम कैसे भूलें

दोनों ही पुस्तकों के लेखक विनोद विभाकर हैं जिन्हें अपनी रचनाओं पर विभिन्न साहित्य पुरस्कार प्राप्त हो चुके हैं।

जय-पराजय—में 17 कहानियाँ दी गई हैं ये। सभी कहानियां इतिहास, पुराण और विभिन्न धर्मों से चुन कर ली गई हैं। जैनधर्म की कहानियाँ—यह वसुधा काहू की न भई, जय-पराजय और वीतरागी सन्त मुख्य हैं। बालकोपयोगी साहित्य है लेकिन जो भी इसे पढ़ेगा उसके मन पर अमिट छाप रहती है। मूल्य रु० 3.50 है।

उन्हें हम कैसे भूलें—यह पुस्तक स्व० कलावती जैन के त्याग एवं सेवामय जीवन के प्रेरक प्रसंगों को लिये है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैनधर्म और भगवान् महावीर

ले० डा० देवेन्द्रकुमार शास्त्री, प्र० सिंघई मुन्नीलाल, राधाबाई जैन ट्रस्ट, इन्दौर (म० प्र०) मूल्य 3 रु०।

प्रस्तुत पुस्तक एक संकलन मात्र है। इसमें अब तक के विचारों का संक्षिप्त संकलन किया गया है। यह संकलन जैनधर्म और भगवान् महावीर के सम्बन्ध में एक रूपरेखा विविध आयामों में प्रकट करने वाला है। प्रयास स्तुत्य है। छपाई मुद्रण एवं कागज सभी अच्छे है।

तीर्थंकर मासिक इन्दौर का

श्रीमद्विजयराजेन्द्र सूरीश्वर विशेषांक

सम्पादक—डा० नेमीचन्द जैन

प्रज्ञा-पुरुष श्रीमद् राजेन्द्र सूरीश्वरजी को पत्र की एक अकिंचन श्रद्धाञ्जली है। इसमें पांच खण्डों में जीवन, परिशिष्ट, शब्द, पार्श्व वर्द्धमान और धर्म संस्कृति शीर्षकों में सामयिक सामग्री का चयन कर विद्वान् सम्पादक ने उन्हें इस तरह प्रस्तुत किया है कि श्री विजयराजेन्द्रसूरीश्वर पर शोध करने वालों को यह मार्गदर्शक होगी।

वचन दूतम

पं० मूलचन्द शास्त्री—मालथौन वाला, प्र० साहित्य शोध विभाग, श्री दि० जैन अति० क्षेत्र श्री महावीर जी, महावीर भवन, चौड़ा रास्ता जयपुर, मूल्य 5 रुपये।

इस रचना के रचयिता ने महाकवि कालिदास के खण्ड काव्य मेघदूत के चतुर्थ पाद को लेकर की है। इसमें नेमि—राजुल के विवाह के संदर्भ कथानक का वर्णन है। यह दूत काव्य दो भागों में विभक्त है। पूर्वार्ध में ध्यानस्थ नेमि के निकट राजुल की मनोदशा का अंकन है। उत्तरार्द्ध में राजुल से हताश होकर गिरि से लौट आने के समाचार सुनकर उसके माता पिता सखियों की उनके पास प्रकट की गई अपनी अन्तर्द्वन्द से भरी हुई मानसिक पीड़ा का वर्णन है।

पुस्तक के मुद्रण में असध्य असावधानी बरती गई है प्रकाशक बधाई के पात्र है जिन्होंने संस्कृत काव्य रचना को प्रकाशित कर इस परम्परा को आगे बढ़ाया है।

श्री शास्त्र स्वाध्यायशाला, श्री पार्श्वनाथ दिगम्बर जैन मंदिर, सब्जी मण्डी, बर्फखाने के पीछे, दिल्ली–7 द्वारा प्रकाशित

सम्पादक—पं हीरालाल जैन, कौशल, साहित्य रत्न।

(1) पूजन पाठ प्रदीप, (2) भक्तामर स्तोत्र, (3) छहढाला संग्रह, (4) दीपावली पूजन विधि (5) आत्म कल्याण के साधन (6) तीर्थंकर भगवान् महावीर व उनकी अहिंसा (7) सोनगढ़ सिद्धांत, लेखक श्रुल्लक श्री 105 सुमतिसागरजी महाराज (कानपुर वाले)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(1) निमित्त—नैमित्तिक पूजन पाठों सम्बन्धी सभी आवश्यक एवं उपयोगी सामग्री के संकलन का यह सुन्दर एवं उपयोगी प्रयास बन पड़ा है। मूल्य 6.50 है। मुद्रण शुद्ध तथा जिल्द पक्की व टाईप मोटा होने से इसकी उपयोगिता बढ़ गई है।

(2) श्री मानतुंगाचार्य विरचित इस स्तोत्र की मूल, हिन्दी अर्थ, पांच भाषा छन्दोबद्ध भक्तामर, अंग्रेजी अनुवाद यन्त्र, मन्त्र तथा साधन विधि आदि इसमें संकलित सम्पादित है इसके पहले सम्पादक स्व० पं० श्री अजीत कुमार जी शास्त्री सम्पादक जैन गजट दिल्ली थे। श्री कौशलजी के सम्पादन में यह तीसरा संस्करण और उपयोगी बन पाया है। इसकी उपयोगिता के मूल में नित्य पाठ, जाप तथा अखण्ड पाठ सभी के लिए सब प्रकार की सामग्री विद्यमान है। पुस्तक का मूल्य दो रुपये है।

(3) कविवर दौलतरामजी, बुधजनजी तथा द्यानतरायजी द्वारा रचित छढ़छाले इसमें हैं। सम्पादक ने कठिन शब्दों के अर्थ, प्रत्येक ढ़ाल का सार तथा प्रारम्भ में महत्वपूर्ण प्रस्तावना लिखकर इसे उपयोगी बनाने का प्रयास किया है। मूल्य चालीस पैसे मात्र है।

(4) श्री और लक्ष्मी के पर्व दीपावली का जैन संस्कृति में अत्यन्त महत्व है। जैन संस्कृति में भगवान् महावीर का निर्वाण दिवस होने के कारण इस दिवस की महत्ता अधिक है। इसमें दीपावली की पूजन की सरल विधि है जो प्रत्येक के लिये उपयोगी है। मूल्य 50 पैसे है।

(5) इसमें प्रतिक्रमण और सामयिक के बारे में सार विधि बताई है। इसमें कठिन विषयों को सरल भाषा में देने का प्रयास किया हैं। मुख्य **सद्उपयोग** रखा जाने से इसकी लोकप्रियता और भी बढ़ गई है।

ये सारे संग्रह ग्रन्थ है सम्पादक की कोई स्वतन्त्र रचना नहीं हैं।

(6) 'भगवान् महावीर और उनकी अहिंसा' यह विद्वान् सम्पादक का लेख है जो इससे पूर्व भी ट्रेक्ट के रूप में प्रकाशित हो चुका है।

(7) इसमें सोगढ़ की मान्यताओं का खण्डन करने का प्रयत्न किया गया है। मूल्य चालीस पैसे है।

"जिनवाणी" विशेषांक

प्रधान सम्पादक—डा. नरेन्द्र भानावत, सम्पादक—डा० कमलचन्द सोगानी, डा. शांता भानावत प्रकाशक—सम्यक्ज्ञान प्रचारक मण्डल, बापू बाजार, जयपुर—3 मूल्य—दस रुपया। पृष्ठ लगभग 500।

श्री पारस भंसाली द्वारा तैयार किये गये आकर्षक आवरण (मुख पृष्ठ) से युक्त "जैन संस्कृति और राजस्थान" विषय को लिये हुये यह जिनवाणी (मासिक) का विशेषांक भगवान् महावीर के 25 सौवें निर्वाणोत्सव वर्ष के विशेष अवसर पर प्रकाशित हुआ है।

इस विशेषांक को अपने विषय का सन्दर्भ ग्रंथ ही कहा जाना उपयुक्त रहेगा। ग्रन्थ डॉ० भानावत के कठिन परिश्रम का स्पष्ट भान कराता है। इसके चार खण्ड हैं। प्रथम खण्ड में जैन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संस्कृति नियम पर विषय मनीषियों के 16 विद्वत्तापूर्ण लेख हैं, द्वितीय खण्ड में 'राजस्थान में जैन संस्कृति का विकास' विषय पर सारगर्भित 4 लेख हैं। तृतीय सबसे बड़ा महत्वपूर्ण है। इस खण्ड में राजस्थान का सांस्कृतिक विकास और जैन धर्मानुयायी विषय पर 31 शोधपूर्ण लेख हैं। चतुर्थ खण्ड में 'राजस्थान के सांस्कृतिक विकास में जैनधर्म एवं संस्कृति का योगदान' में 9 प्रबुद्ध विचारकों की परिचर्चा है।

भगवान् महावीर स्मृति ग्रन्थ

प्रधान सम्पादक—डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन लखनऊ। प्रकाशक—श्री महावीर निर्वाण समिति, उत्तर प्रदेश, लखनऊ। मूल्य—50 रुपये पृष्ठ लगभग साढ़े चार सौ।

2500 वें निर्वाण महोत्सव वर्ष के उपलक्ष में श्री महावीर निर्वाण समिति उत्तर प्रदेश की ओर से यह विशाल ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है।

ग्रन्थ की रूपरेखा, व्यवस्था एवं सम्पादन का भार जैन जगत् के प्रतिष्ठित विद्वान् विद्यावारिधि डॉ० ज्योतिप्रसादजी जैन ने वहन किया है।

ग्रन्थ अत्यन्त उपयोगी है। यह सात खण्डों में निम्न विषयों को लेकर विभक्त है।

1. महावीर वचनामृत, 2. महावीर स्तवन, 3. महावीर : युग, जीवन और देन, 4. जैनधर्म, दर्शन और संस्कृति 5. शाकाहार, 6. उत्तर प्रदेश और जैनधर्म, 7. महावीर निर्वाण समिति, उ० प्र० का गठन, (कार्यकलाप एवं उपलब्धियां)।

इसके अतिरिक्त प्रकाशकीय वक्तव्य, सम्पादकीय, सन्देश, शुभ कामनायें, श्रद्धांजलियां एवं चित्ताकर्षक अनेक चित्र हैं।

कतरनों के शिलालेख

सम्पादक—सुरेश सरल। प्रकाशक—अ० भा० अनेकान्त साहित्यकार परिषद, जबलपुर, (म० प्र०)।

'कतरनो के शिलालेख' साहित्यकार परिषद् जबलपुर की ओर से भगवान् महावीर के 2500 वें निर्वाण वर्ष के पावन अवसर पर जन सामान्य को एक विशेष भेंट है।

इस पवित्र भूमि पर अवतरित हुए विभिन्न मनीषियों ने कब क्या कहा है? उनके विशिष्ट विचार बिन्दुओं को जो प्रस्तर शिलालेख पर उत्कीर्ण करने योग्य हैं, उन्हें इस लघु कागजी शिलालेख द्वारा हृदय शिलालेख पर उत्कीर्ण कर देने की भावनाओं के साथ यह पुस्तिका सम्पादक श्री सुरेश सरल के सराहनीय प्रयास एवं परिश्रम का परिणाम हैं।

इसके विचार बिन्दु नित्य चिन्तन योग्य हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रश्नोत्तर रत्नमालिका

रचयिता—राजर्षि अमोधवर्ष । भावानुवादक—नाथूराम डोंगरीय जैन, न्यायतीर्थ, इन्दौर ।

जीवन में क्या हेय और क्या उपादेय है, इसे प्रश्नोत्तर रूप में जिन सुन्दर शब्दों को पिरोते हुए प्रस्तुत किया गया है, वह वस्तुतः इसके नाम प्रश्नोत्तर रत्नमालिका को सार्थक करता है ।

मूल रचना संस्कृत में है जिसके रचयिता दसवीं शताब्दी में राष्ट्रकूटकुलोत्पन्न राजर्षि अमोधवर्ष है ।

यह केवल 24 पृष्ठों की लघु पुस्तक है किन्तु गागर में सागर की कहावत को चरितार्थ करती है ।

1. श्री अजापुत्रचरित्र—मूल्य 75 पैसे, 2. श्री समरादित्यचरित्र—मूल्य 60 पैसे 3. श्री वीर अंबडचरित्र—मूल्य 1 रुपया । 4., सती कनकसुन्दरी चरित्र—मूल्य 75 पैसे ।

उपरोक्त में से प्रथम तीन चरित्रों के रचयिता मधुरवक्ता कवि श्री मूलचन्दजी महाराज हैं । तथा सती कनक सुन्दरी चरित्र के रचयिता, श्री हजारीलालजी महाराज हैं । रचना गेय पदों में है । भाषा सरल एवं सहज हिन्दी में है जिससे ये रचनायें जन सामान्य में उत्तरोत्तर का लोकप्रिय एवं प्रेरणादायक सिद्ध होगी ।

भगवान् महावीर

लेखक—सुरेशमुनि प्रियदर्शी, सम्पादक—विजयमुनि, नरेद्रमुनि, । मुद्रक—प्रगति प्रिन्टिग प्रेस, जालना (महाराष्ट्र)

पाकिट बुक साईज में 30 पृष्ठों की यह लघु पुस्तक णमोकार महामंत्र से प्रारम्भ होकर जैन धर्म की प्राचीनता, महावीर का जीवन, उनके सन्देश, सिद्धांत, सदुपदेश व शिक्षाओं को अत्यन्त संक्षेप में प्रस्तुत करती है ।

वीर निर्वाण और दीपावली

सम्पादक—श्री अजितमुनि म० 'निर्मल', प्रकाशक—दिवाकर दिव्य ज्योति कार्यालय ब्यावर (राज०), मूल्य—12 पैसे ।

स्थानकवासी परम्परा के गुरु श्री चौथमलजी महाराज द्वारा भगवान् महावीर के निर्वाण का काव्य शैली में मनोरम वर्णन इस गुटका साइज की मात्र 18 पृष्ठ की लघु पुस्तक में अत्यन्त संक्षेप में किया गया है ।

1. अंजन से निरंजन—मू० 2.50 पैसे, 2. वैराग्य की ओर—मू० 2.50, 3. सोने की ईंटें—मू० 75 पैसे, 4. दौलत का नशा मू० 1 रु०, 5. सच्चा न्याय—मू० 1 रु० 25 पैसे ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उक्त पांचों नाटकों के लेखक एवं प्रकाशक श्री रतनलाल गंगवाल हैं। पाचों नाटक मंचीय है। ये खेले भी जा चुके है। जन मानस पर इनका अच्छा प्रभाव पड़ता है। गंगवाल नाटक लेखक के साथ-साथ कवि भी है। इसकी छाप नाटकों में स्थान-स्थान पर देखने को मिलती है।

नाटक सुरुचिपूर्ण, सरल एवं हृदयग्राही भाषा में है।

भगवन्त अरहन्त के मत में भवाभिनन्दी मुनि अभिवादनीय नहीं है

लेखक—ब्र० पं० सरदारमल जैन सच्चिदानन्द, मुद्रक—भारतीय प्रिन्टर्स, दिल्ली पृष्ठ—32, मूल्य स्वाध्याय।

अन्तर का भाव न बदल सका, फिर भेष बदल कर क्या होगा।
ममता न तजी घर बार तजा, फिर नग्न हुये से क्या होगा॥

ऐसी पंक्तियों के साथ इस ट्रैक्ट में लेखक महोदय ने वेष के स्थान पर चारित्र को महत्व देते हुये निर्भीकता पूर्वक शिथिलाचारी मुनियों के सम्बन्ध में लिखने का साहस किया है।

पुस्तक में लेखक ने अपने विचार पद्य व गद्य दोनों में प्रस्तुत किये हैं। श्रावक गण सच्चे मुनि की पहिचान कर उनमें श्रद्धा व भक्ति करें यह लघु पुस्तक इसमें सहायक है।

वीतरागी व्यक्तित्व : भगवान् महावीर

लेखक—डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल प्रकाशक—मंत्री, पं० टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर, मूल्य—25 पैसे मात्र, पृष्ठ संख्या 16।

डॉ० भारिल्ल का यह एक निबन्ध है। इस निबन्ध में—"वे धर्म के वीर अतिवीर और महावीर थे; युद्ध क्षेत्र के नहीं। युद्ध क्षेत्र में शत्रु का नाश किया जाता है और धर्म क्षेत्र में शत्रुता का। युद्ध क्षेत्र में पर को जीता जाता है और धर्मक्षेत्र में स्व को। युद्ध क्षेत्र में पर को मारा जाता है और धर्मक्षेत्र में अपने विकारों को"। इस प्रकार के सुन्दर विचारों के साथ लेखक ने महावीर के व्यक्तित्व में वीतराग-विज्ञान की विराटता का दिग्दर्शन अत्यन्त सरल, सहजग्राह्य एवं चित्ताकर्षक दब्दों में किया है।

तीर्थंकरों का सर्वोदय मार्ग

लेखक—डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन, लखनऊ, प्रकाशक—प्रेमचन्द जैन, जैनावाचकम्पनी, दिल्ली।

प्रसिद्ध विद्वान् डॉ० ज्योतिप्रसाद ने जैनधर्म एवं संस्कृति का पाठकों को सामान्य परिचय प्रदान करने के उद्देश्य से यह उपयोगी पुस्तिका लिखी है।

पुस्तक का प्रारम्भ क्रमशः धर्म, दर्शन, जैनधर्म की प्राचीनता इत्यादि शीर्षकों से करके जिनेन्द्र भगवान् महावीर के कतिपय उपदेशों के साथ समापन किया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पं० चैनसुखदास न्यायतीर्थ स्मृति ग्रन्थ

(जैन साहित्य एवं संस्कृति का ज्ञानकोष)

सम्पादक : पं० मिलापचन्द शास्त्री, डॉ० कमलचन्द सौगानी, डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल। **प्रबंध सम्पादक** : श्री ज्ञानचन्द्र खिन्दूका। **प्रकाशक** : प्रबंधकारिणी कमेटी श्री दि० जैन अतिशय क्षेत्र, श्री महावीरजी। मुद्रक : मनोज प्रिन्टर्स, गोदीकों का रास्ता, जयपुर। प्राप्ति स्थान : साहित्य शोध विभाग—श्री दि० जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीर भवन—एस० एम० एस० हाईवे, जयपुर। साइज—20 × 30/8। मूल्य चालीस रुपये।

दीर्घ प्रतीक्षा के पश्चात् महावीर क्षेत्र का यह प्रकाशन आखिर पाठकों के हाथों पहुँच ही गया। देर आयद दुरुस्त आयद। 418 पृष्ठों का यह वृहद्ग्रन्थ खण्ड–1 : श्रद्धाञ्जलियां, जीवन, व्यक्तित्व, एवं संस्मरण; खण्ड–2 : धर्म एवं दर्शन; खण्ड–3 : साहित्य एवं संस्कृति, खण्ड–4 : इतिहास एवं पुरातत्व—इस प्रकार चार खण्डों में विभक्त है जिसमें देश के अपने अपने क्षेत्र के अधिकृत विद्वानों द्वारा लिखित जानकारी से परिपूर्ण लेख हैं। किन्तु श्रद्धेय पण्डित साहब के जीवन के महत्वपूर्ण प्रसंगों का उल्लेख इसमें न होना निश्चय ही एक खटकने वाली कमी है यथा–उनका पद्मपुरा क्षेत्र की कार्यकारिणी से स्तीफा। इस इस्तीफे का महत्व केवल इस कारण ही नहीं है कि इससे इनके जीवन के अन्तिम समय की मानसिक स्थिति का पता लगता है अपितु, वह शायद उनका अन्तिम ऐसा कागज था जिस पर उन्होंने हस्ताक्षर किये थे। उनके बाबू पण्डित के झगड़े आदि सामाजिक क्षेत्र में जो योग था उसका भी जिक्र नहीं है। राष्ट्रीय शिक्षक पुरस्कार से सम्मानित होते समय जो प्रशस्तिपत्र आदि उनको मिले थे उनके चित्र भी यदि होते तो अच्छा था। इसी प्रकार कुछ महत्वपूर्ण मानपत्र, अभिनन्दन पत्र आदि जो उन्हें प्राप्त हुए उनमें से कुछ की प्रतिलिपि भी यदि होती तो ठीक होता।

यत्र तत्र मुद्रण की भूलें विशेषतः शीर्षकों में भोजन करते समय कंकर मुंह में आने जैसी हैं। वैसे प्रकाशन सुन्दर, उपयोगी और मनोहर है जिसके लिए सम्पादक मण्डल के सदस्य, प्रबंध सम्पादक आदि सभी धन्यवाद के पात्र हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भगवान् महावीर के जन्म, दीक्षा, केवल प्राप्ति एवं मोक्षधाम की अंग्रेजी तारीखें

● श्री प्यारचन्द मेहता
सी 29, मधुवन, उदयपुर ।

महावीर जयंती स्मारिका १९७५ (बारहवां अंक) में श्री प्रतापचन्द्र जैन का लेख खण्ड १ पृष्ठ ४१ पर प्रकाशित हुआ है, उसमें विद्वान लेखक महोदय ने भगवान् महावीर के जन्म, दीक्षा, केवल प्राप्ति एव मोक्ष धाम की चांद्र तिथियों के साथ आंग्ल दिनांक एवं सप्ताह के दिनों (वारों) का उल्लेख किया है । आजकल की पद्धति के अनुसार किसी भी ऐतिहासिक घटना के समय का विवरण आंग्ल दिनांक एवं ईस्वी सन् संवत्सर में करना आवश्यक हो गया है । लेखक इस बात के लिए बधाई के पात्र हैं । किन्तु उक्त लेख में दिया हुआ अंग्रेजी तारीखों व वारों का विवरण असंगत जान पड़ता है । मैने स्मारिका के प्रधान सम्पादक महोदय से लेखक महाशय का पता पाकर उनसे तर्क युक्त प्रश्नों के साथ स्पष्टीकरण चाहा तो विद्वान् व वयोवृद्ध सज्जन ने अपने 17 जून सन् 1975 के पत्रोत्तर में दीक्षा व केवल प्राप्ति की तारीखों में भूल होना स्वीकार कर लिखा कि ये जो अंग्रेजी तारीखें हैं वो उनकी स्वयं की खोज या गणना नहीं है, उन्होंने मेरठ व इंदौर से प्रकाशित कुछ पुस्तकों से लिया है । मोक्ष धाम की तारीख वार का कोई स्पष्टीकरण नहीं किया तथा जन्म की तारीख व सन् संवत के विषय में यह भी बताया कि जयधवला भाग 1 के अनुसार भगवान् महावीर की आयु जन्म से निर्वाण तक 70 वर्ष 6 महीने 18 दिन की थी, गर्भकाल का समय 9 महीने 7 दिन 12 घंटे और जोड़ने पर 71 वर्ष 3 महीना और 25 दिन होते हैं । 72 वर्ष की उनकी आयु स्थूल रूप से बताई जाती है । आदि-2 । इससे अन्य अधिक मान्यता के अनुसार कुल आयु जन्म से निर्वाण तक जो 72 वर्ष 7 माह 17 दिन मानी जाती है उसमें मतभेद पैदा होता है । किन्तु उक्त पत्रोत्तर से यह स्पष्ट हो जाता है कि श्री प्रतापचन्द्र जैन के लेख में दिया हुआ अंग्रेजी तारीखों का विवरण संदिग्ध एवं असंगतिपूर्ण है । साथ ही आवश्यकता इस बात की भी हो जाती है कि भगवान् महावीर के जीवनकाल की प्रमुख घटनाएं जन्म दीक्षा, केवल प्राप्ति एवं मोक्ष धाम का विवरण अंग्रेजी तारीखों में सही गणना एवं प्रामाणिक गणना विधि के आधार पर हो । भगवान् महावीर के जीवन काल की उपर्युक्त घटनाओं का विवरण हिन्दी चांद्र तिथियों में इस प्रकार मिलता है :—

जन्म—चैत्र शुक्ला 13 स्थान कुंडलपुर बैसाली । समय अर्ध रात्रि ।

दीक्षा— अधिक मान्यता के अनुसार 30 वर्ष की आयु में अर्थात् 30 वर्ष 7 माह 12 दिन पर मार्गशीर्ष कृष्णा 10 और जयधवला के अनुसार 28 वर्ष 7 माह 12 दिन पर दीक्षा ग्रहण ।

केवलप्राप्ति—दीक्षा से 12 वर्ष तक भिन्न भिन्न स्थानों पर चातुर्मास करने का सर्वमान्य विवरण प्राप्त है और लगभग 12½ वर्ष पश्चात् वैसाख शुक्ला १० को दिन के तीसरे पहर जुंभिक गांव में केवलज्ञान प्राप्त हुआ । गणना से उस वर्ष दो वैसाख थे । यह दूसरा वैसाख प्रतीत होता है । क्योंकि ऐसा भी प्रसंग मिलता है कि उन्होंने १२ वर्ष और १३ पक्ष तक घोर साधना व तपस्या की थी ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मोक्षधाम —केवलज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् तीसवां चातुर्मास पावापुरी में हुआ और वहीं कातिक कृष्णा ३० मध्य रात्रि में निर्वाण हुआ। (?)

इस प्रकार भगवान महावीर की कुल आयु जन्म से निर्वाण तक अधिक मान्यतानुसार मोटे रूप से ७२ वर्ष ६ माह १७ दिन तथा जयधवला के अनुसार ७० वर्ष ६ माह १७ दिन होती है।

और यह सर्व विदित है कि निर्वाण के पश्चात् २५०० वर्षों की समाप्ति विक्रम सं० २०३१ कार्तिक कृष्णा १४ (अमावश्या क्षय थी) बुधवार आंग्ल दिनांक १३ नवम्बर सन् १९७४ को होने से पच्चीसवीं निर्वाण शताब्दी सारे देश में एक मत से मनाई गई है।

उपर्युक्त विवरण के आधार पर प्रामाणिक गणना विधि द्वारा सही गणना कर हम निकटतम आंग्ल दिनांक आसानी से ज्ञात कर सकते हैं।

इसके लिए प्रयास किया गया। भगवान महावीर के जन्म पूर्व से अर्थात् विक्रम संवत के पूर्व लगभग ५५० वर्ष से लेकर अब तक की अधिक मासों की सूचियों का संकलन किया गया जो गण्यमान्य विद्वानों गणनाकारों द्वारा निर्मित हुई हैं। और उनकी पुष्टि सूर्य सिद्धान्त में दी हुई गणना विधि से भी की गई। यह भी ज्ञात हुआ कि बहुत कम लेकिन कालान्तर में कभी-कभी किसी वर्ष में क्षय मास भी होता है, लेकिन ऐसे क्षय मास के निकट तत्काल या २–३ माह के अंतर पर असाधारण अधिक मास उस क्षय मास की पूर्ति के रूप में हो जाता है और शुद्ध अधिक मासों की गिनती में ऐसा अधिक मास नहीं लिया जाता। तो इस प्रकार भगवान महावीर के जन्म से मोक्ष धाम तक २९ शुद्ध अधिक मास हुए। और निर्वाण से २५ वीं निर्वाणशताब्दी तक ९२३ शुद्ध अधिक मास हुए हैं। सूर्य सिद्धान्त के अनुसार चांद्रमास का मध्यम मान २९-५३०५८८ दिन तथा चांद्र वर्ष का मध्यममान ३५४·३६७०५५ दिन है। अतः भगवान महावीर के जीवन की अवस्थाएं अहर्गणना में अल्पांतर से निम्न प्रकार होती हैं :—

अवस्था	प्रसंग	सौर चांद्र (मिश्र) वर्ष	चांद्रमास	चांद्र तिथियां	बीच के अधिक मास	कुल पूरे दिन
१ गृहस्थ (जन्मसे दीक्षा)	अधिक मान्यतानुसार	३०	७	१२	११	१११७४
	जयधवलानुसार	२८	७	१२	११	१०४६६
२ साधुत्व छदमस्त (दीक्षा से केवल प्राप्ति)	सर्वमान्य	१२	५	१५	५	४५६३
३ केवलीवस्था (केवल प्राप्ति से निर्वाण)	,,	२९	५	२०	१०	१०७३९
कुल योग	अधिक मान्यतानुसार	७२	६	१७	२६	२६४७६
	जयधवलानुसार	७०	६	१७	२६	२५७६८
और मोक्ष प्राप्ति से २५०० वी. निर्वाण शताब्दी तक		२५००	—	१	९२३	९१३१७३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और उपर्युक्त अहर्गणना से हम निकटतम आंग्ल दिनांक निकाल सकते हैं। निकटतम इसलिये कि उपर्युक्त अहर्गणना मध्यम मान से है। मध्यममान व स्पष्ट तथा सूक्ष्म मान में कहीं कहीं १ दिन तक का फर्क रह जाता है क्योंकि तिथि में क्षय व वृद्धि भी होती है। और कभी कभी पंचागों में तिथि भेद भी होता है। यदि तिथि के साथ सप्ताह का दिन (वार) अंकित हो तो सही अंग्रेजी तारीख प्राप्त हो सकती है। लेकिन भगवान् महावीर के जीवन काल की घटनाओं की चांद्र तिथियों के साथ कहीं भी वार का प्रामाणिक उल्लेख नहीं मिला। यदि मिल जाता तो जन्म के संवत का भी सही निर्णय हो सकता। अतः गणना से जो भी प्राप्य है वही मानना पड़ेगा।

भ० महावीर का जीवन काल ईसवी सन् के पूर्व वर्षों का है। ईसवी सन् के पूर्व वर्षों को निर्देश करने के लिये (ई० पू०) अक्षरों का व्यवहार होता है। इतिहास वेत्ताओं की परिपाटी है कि १ ई० सन् के पूर्व वर्ष को, १ ई० पू० वर्ष कहते हैं और उससे पूर्व वर्ष को २ ई० पू०। किन्तु गणित शास्त्र के सिद्धान्तानुसार यह परिपाटी अवैज्ञानिक है। हिन्दी विश्वकोष (ना० प्र० स० काशी द्वारा प्रकाशित) के काल क्रम विज्ञान लेख के अनुसार ईसवी सन् १ के पूर्व वर्ष को० ईसवी वर्ष और उससे पूर्व वर्ष को ऋणचिह्न से अर्थात् (–१ ईसवी) लिखना चाहिये। जिससे अंतराल के वर्षों की गणना में भ्रम न हो। विक्रमसंवत के लिये भी यही प्रणाली उचित है। इसके अतिरिक्त भ० महावीर के जीवन काल के वर्षों को निर्देश करने के लिये गतकली संवत् का प्रयोग और अधिक स्पष्टता द्योतक है। यह संवत् भगवान् के जन्म से लगभग २५०० वर्ष पूर्व से चलता आया है। आज भी सब ही पंचागों में उल्लिखित रहता है। विक्रम संवत् २०३१ में गतकलि संवत ५०७५ था। विक्रम संवत् में ३०४४ मिलाने से यह संवत् जाना जा सकता है और वर्ष आरंभ तथा वर्षमान समान है।

अंग्रेजी तारीखों की गणना में एक बात और ध्यान में रखना आवश्यक है। आज कल सामान्यतः ईसवी सन् वर्ष में ३६५ दिन होते हैं और प्रति ४ वर्ष में १ वर्ष ३६६ दिन का। शताब्दियों के वर्षों में ४ शताब्दियों में केवल १ शताब्दी में ३६६ दिन होते हैं। शताब्दियों के वर्षों में यह विशिष्ट व्यवस्था प्राचीन काल में नहीं थी। सन् १५८२ तक शताब्दी सहित सब वर्षों में प्रति चार वर्ष में १ वर्ष ३६६ दिन का गिना जाता था। जुलियन दिनांक गणना में ४७१३ ई० पू० या ४७१२ ईसवी की १ जनवरी से इसी प्रकार दिन गणना होती है और नाविक पंचांगों में आज भी प्रत्येक दिन का जुलियन दिनांक दिया रहता है। सन् १५८२ में पोप ग्रेगरी के आदेशानुसार नई व्यवस्था के साथ ३ अक्टूबर के बाद का दिन १४ अक्टूबर घोषित किया गया था। अर्थात् १० तारीखें तोड़ी गई या गिनती में बढ़ाई गई थी। इस संशोधन को कुछ ईसाई देशों ने तत्काल माना और अन्य देशों ने अलग अलग समय में। इंग्लैंड में सन् १७५२ में २ सितम्बर के बाद का दिन १४ सितम्बर इस संशोधन के अनुसार घोषित हुआ और भारत ने भी इसी का अनुकरण किया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अब भगवान् महावीर के जीवनकाल का चित्र संवत् गतकली, विक्रम और ईसवी सन् तथा चांद्र तिथि और अंग्रेजी तारीख या सन् प्रारम्भ से दिनों की गिनती में इस प्रकार है :—

स्थान	घटना	प्रसंग	संवत् गतकलि	संवत्विकम	चांद्रतिथि	वार	ईसवीसन्	अंग्रेजी तारीख
कुण्डलपुर	जन्म	अधिक मान्यता	२५०३	—५४१ या ५४२ वि. पू.	चैत्र शुक्ला १३ मध्य रात्रि	शनि	—५९८ या ५९९ ई. पू.	१९ मार्च या वर्ष का ७८ वां दिन
,,	,,	जयधवला नुसार	२५०५	—५३९ या ५४० वि. पू.	,,	रवि	—५९६ या ५९७ ई. पू.	२५ फरवरी या वर्ष का ५६ वां दिन
अज्ञात	दीक्षा	सर्व मान्य	२५३३	—५११ या ५१२ वि. पू.	मार्ग शीर्ष कृष्णा १० समय अज्ञात	सोम	—५६८ या ५६९ ई. पू.	२१ अक्टूबर या वर्ष का २९५ वां दिन
जुंभिक गांव	केवल प्राप्ति	,,	२५४६	—४९८ या ४९९ वि. पू.	द्वि. बैसाख शुक्ल १० दिन के तीसरे पहर	रवि	—५५५ या ५५६ ई. पू.	१९ अप्रेल या वर्ष का १०९ वां दिन
पावापुरी	निर्वाण	,,	२५७५	—४६९ या ४७० वि. पू.	कार्तिक कृष्णा ३० मध्य रात्रि	सोम	—५२६ या ५२७ ई. पू.	१३ सितम्बर या वर्ष का २५६ वां दिन

इस विवरण में सवत् प्रारम्भ चैत्र शुक्ला १ तथा पूर्णिमान्त चांद्रमास का प्रयोग किया है। कई विद्वान एवं गणनाकारों के लेखों से सहायता लेने पर भी भूल नहीं होने का दावा नहीं कर सकता। पाठकगण समीक्षा व्यक्त करेंगे और स्पष्टता होगी।

Jain Education International
For Private & Personal Use Only
www.jainelibrary.org

भगवान् महावीर के जन्म, दीक्षा, केवल प्राप्ति एवं मोक्षधाम की अंग्रेजी तारीखें

● श्री प्यारचन्द मेहत्ता
सी 29, मधुवन, उदयपुर ।

महावीर जयंती स्मारिका १९७५ (बारहवां अंक) में श्री प्रतापचन्द्र जैन का लेख खण्ड १ पृष्ठ ४१ पर प्रकाशित हुआ है, उसमें विद्वान लेखक महोदय ने भगवान् महावीर के जन्म, दीक्षा, केवल प्राप्ति एवं मोक्ष धाम की चांद्र तिथियों के साथ आंग्ल दिनांक एवं सप्ताह के दिनों (वारों) का उल्लेख किया है । आजकल की पद्धति के अनुसार किसी भी ऐतिहासिक घटना के समय का विवरण आंग्ल दिनांक एवं ईस्वी सन् संवत्सर में करना आवश्यक हो गया है । लेखक इस बात के लिए बधाई के पात्र हैं । किन्तु उक्त लेख में दिया हुआ अंग्रेजी तारीखों व वारों का विवरण असंगत जान पड़ता है । मैने स्मारिका के प्रधान सम्पादक महोदय से लेखक महाशय का पता पाकर उनसे तर्क युक्त प्रश्नों के साथ स्पष्टीकरण चाहा तो विद्वान् व वयोवृद्ध सज्जन ने अपने 17 जून सन् 1975 के पत्रोत्तर में दीक्षा व केवल प्राप्ति की तारीखों में भूल होना स्वीकार कर लिखा कि ये जो अंग्रेजी तारीखें हैं वो उनकी स्वयं की खोज या गणना नहीं है, उन्होंने मेरठ व इंदौर से प्रकाशित कुछ पुस्तकों से लिया है । मोक्ष धाम की तारीख वार का कोई स्पष्टीकरण नहीं किया तथा जन्म की तारीख व सन् संवत के विषय में यह भी बताया कि जयधवला भाग । के अनुसार भगवान् महावीर की आयु जन्म से निर्वाण तक 70 वर्ष 6 महीने 18 दिन की थी, गर्भकाल का समय 9 महीने 7 दिन 12 घंटे और जोड़ने पर 71 वर्ष 3 महीना और 25 दिन होते हैं । 72 वर्ष की उनकी आयु स्थूल रूप से बताई जाती है । आदि-2 । इससे अन्य अधिक मान्यता के अनुसार कुल आयु जन्म से निर्वाण तक जो 72 वर्ष 7 माह 17 दिन मानी जाती है उसमें मतभेद पैदा होता है । किन्तु उक्त पत्रोत्तर से यह स्पष्ट हो जाता है कि श्री प्रतापचन्द्र जैन के लेख में दिया हुआ अंग्रेजी तारीखों का विवरण संदिग्ध एवं असंगतिपूर्ण है । साथ ही आवश्यकता इस बात की भी हो जाती है कि भगवान् महावीर के जीवनकाल की प्रमुख घटनाएं जन्म दीक्षा, केवल प्राप्ति एवं मोक्ष धाम का विवरण अंग्रेजी तारीखों में सही गणना एवं प्रामाणिक गणना विधि के आधार पर हो । भगवान् महावीर के जीवन काल की उपर्युक्त घटनाओं का विवरण हिन्दी चांद्र तिथियों में इस प्रकार मिलता है :—

जन्म—चैत्र शुक्ला 13 स्थान कुंडलपुर बैसाली । समय अर्ध रात्रि ।

दीक्षा— अधिक मान्यता के अनुसार 30 वर्ष की आयु में अर्थात् 30 वर्ष 7 माह 12 दिन पर मार्गशीर्ष कृष्णा 10 और जयधवला के अनुसार 28 वर्ष 7 माह 12 दिन पर दीक्षा ग्रहण ।

केवलप्राप्ति—दीक्षा से 12 वर्ष तक भिन्न भिन्न स्थानों पर चातुर्मास करने का सर्वमान्य विवरण प्राप्त है और लगभग 12½ वर्ष पश्चात् वैसाख शुक्ला १० को दिन के तीसरे पहर जुंभिक गांव में केवलज्ञान प्राप्त हुआ । गणना से उस वर्ष दो वैसाख थे । यह दूसरा बैसाख प्रतीत होता है । क्योंकि ऐसा भी प्रसंग मिलता है कि उन्होंने १२ वर्ष और १३ पक्ष तक घोर साधना व तपस्या की थी ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मोक्षधाम—केवलज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् तीसवां चातुर्मास पावापुरी में हुआ और वहीं कातिक कृष्णा ३० मध्य रात्रि में निर्वाण हुआ। (?)

इस प्रकार भगवान महावीर की कुल आयु जन्म से निर्वाण तक अधिक मान्यतानुसार मोटे रूप से ७२ वर्ष ६ माह १७ दिन तथा जयधवला के अनुसार ७० वर्ष ६ माह १७ दिन होती है।

और यह सर्व विदित है कि निर्वाण के पश्चात् २५०० वर्षों की समाप्ति विक्रम सं० २०३१ कार्तिक कृष्णा १४ (अमावश्या क्षय थी) बुधवार आंग्ल दिनांक १३ नवम्बर सन् १९७४ को होने से पच्चीसवीं निर्वाण शताब्दी सारे देश में एक मत से मनाई गई है।

उपर्युक्त विवरण के आधार पर प्रामाणिक गणना विधि द्वारा सही गणना कर हम निकटतम आंग्ल दिनांक आसानी से ज्ञात कर सकते हैं।

इसके लिए प्रयास किया गया। भगवान महावीर के जन्म पूर्व से अर्थात् विक्रम संवत के पूर्व लगभग ५५० वर्ष से लेकर अब तक की अधिक मासों की सूचियों का संकलन किया गया जो गण्यमान्य विद्वानों गणनाकारों द्वारा निर्मित हुई हैं। और उनकी पुष्टि सूर्य सिद्धान्त में दी हुई गणना विधि से भी की गई। यह भी ज्ञात हुआ कि बहुत कम लेकिन कालान्तर में कभी-कभी किसी वर्ष में क्षय मास भी होता है, लेकिन ऐसे क्षय मास के निकट तत्काल या २–३ माह के अंतर पर असाधारण अधिक मास उस क्षय मास की पूर्ति के रूप में हो जाता है और शुद्ध अधिक मासों की गिनती में ऐसा अधिक मास नहीं लिया जाता। तो इस प्रकार भगवान महावीर के जन्म से मोक्ष धाम तक २६ शुद्ध अधिक मास हुए। और निर्वाण से २५ वीं निर्वाणशताब्दी तक ९२३ शुद्ध अधिक मास हुए हैं। सूर्य सिद्धान्त के अनुसार चांद्रमास का मध्यम मान २९-५३०५८८ दिन तथा चांद्र वर्ष का मध्यममान ३५४·३६७०५५ दिन है। अतः भगवान महावीर के जीवन की अवस्थाएं अहर्गणना में अल्पांतर से निम्न प्रकार होती हैं :—

अवस्था	प्रसंग	सौर चांद्र (मिश्र) वर्ष	चांद्रमास	चांद्र तिथियां	बीच के अधिक मास	कुल पूरे दिन
१ गृहस्थ (जन्मसे दीक्षा)	अधिक मान्यतानुसार	३०	७	१२	११	१११७४
	जयधवलानुसार	२८	७	१२	११	१०४६६
२ साधुत्व छद्मस्त (दीक्षा से केवल प्राप्ति)	सर्वमान्य	१२	५	१५	५	४५६३
३ केवलीवस्था (केवल प्राप्ति से निर्वाण)	,,	२९	५	२०	१०	१०७३९
कुल योग	अधिक मान्यतानुसार	७२	६	१७	२६	२६४७६
	जयधवलानुसार	७०	६	१७	२६	२५७६८
और मोक्ष प्राप्ति से २५०० वी. निर्वाण शताब्दी तक		२५००	—	१	९२३	९१३१७३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और उपर्युक्त अहर्गणना से हम निकटतम आंग्ल दिनांक निकाल सकते हैं। निकटतम इसलिये कि उपर्युक्त अहर्गणना मध्यम मान से है। मध्यममान व स्पष्ट तथा सूक्ष्म मान में कहीं कहीं १ दिन तक का फर्क रह जाता है क्योंकि तिथि में क्षय व वृद्धि भी होती है। और कभी कभी पंचागों में तिथि भेद भी होता है। यदि तिथि के साथ सप्ताह का दिन (बार) अंकित हो तो सही अंग्रेजी तारीख प्राप्त हो सकती है। लेकिन भगवान् महावीर के जीवन काल की घटनाओं की चांद्र तिथियों के साथ कहीं भी वार का प्रामाणिक उल्लेख नहीं मिला। यदि मिल जाता तो जन्म के संवत का भी सही निर्णय हो सकता। अतः गणना से जो भी प्राप्य है वही मानना पड़ेगा।

भ० महावीर का जीवन काल ईसवी सन् के पूर्व वर्षों का है। ईसवी सन् के पूर्व वर्षों को निर्देश करने के लिये (ई० पू०) अक्षरों का व्यवहार होता है। इतिहास वेत्ताओं की परिपाटी है कि १ ई० सन् के पूर्व वर्ष को, १ ई० पू० वर्ष कहते हैं और उससे पूर्व वर्ष को २ ई० पू०। किन्तु गणित शास्त्र के सिद्धान्तानुसार यह परिपाटी अवैज्ञानिक है। हिन्दी विश्वकोष (ना० प्र० स० काशी द्वारा प्रकाशित) के काल क्रम विज्ञान लेख के अनुसार ईसवी सन् १ के पूर्व वर्ष को० ईसवी वर्ष और उससे पूर्व वर्ष को ऋणचिह्न से अर्थात् (–१ ईसवी) लिखना चाहिये। जिससे अंतराल के वर्षों की गणना में भ्रम न हो। विक्रमसंवत के लिये भी यही प्रणाली उचित है। इसके अतिरिक्त भ० महावीर के जीवन काल के वर्षों को निर्देश करने के लिये गतकली संवत् का प्रयोग और अधिक स्पष्टता द्योतक है। यह संवत् भगवान् के जन्म से लगभग २५०० वर्ष पूर्व से चलता आया है। आज भी सब ही पंचागों में उल्लिखित रहता है। विक्रम संवत् २०३१ में गतकलि संवत ५०७५ था। विक्रम संवत् में ३०४४ मिलाने से यह संवत् जाना जा सकता है और वर्ष आरंभ तथा वर्षमान समान है।

अंग्रेजी तारीखों की गणना में एक बात और ध्यान में रखना आवश्यक है। आज कल सामान्यतः ईसवी सन् वर्ष में ३६५ दिन होते हैं और प्रति ४ वर्ष में १ वर्ष ३६६ दिन का। शताब्दियों के वर्षों में ४ शताब्दियों में केवल १ शताब्दी में ३६६ दिन होते हैं। शताब्दियों के वर्षों में यह विशिष्ट व्यवस्था प्राचीन काल में नहीं थी। सन् १५८२ तक शताब्दी सहित सब वर्षों में प्रति चार वर्ष में १ वर्ष ३६६ दिन का गिना जाता था। जुलियन दिनांक गणना में ४७१३ ई० पू० या ४७१२ ईसवी की १ जनवरी से इसी प्रकार दिन गणना होती है और नाविक पंचांगों में आज भी प्रत्येक दिन का जुलियन दिनांक दिया रहता है। सन् १५८२ में पोप ग्रेगरी के आदेशानुसार नई व्यवस्था के साथ ३ अक्टूबर के बाद का दिन १४ अक्टूबर घोषित किया गया था। अर्थात् १० तारीखें तोड़ी गई या गिनती में बढ़ाई गई थी। इस संशोधन को कुछ ईसाई देशों ने तत्काल माना और अन्य देशों ने अलग अलग समय में। इंग्लैंड में सन् १७५२ में २ सितम्बर के बाद का दिन १४ सितम्बर इस संशोधन के अनुसार घोषित हुआ और भारत ने भी इसी का अनुकरण किया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अब भगवान् महावीर के जीवनकाल का चित्र संवत् गतकली, विक्रम और ईसवी सन् तथा चांद्र तिथि और अंग्रेजी तारीख या सन् प्रारम्भ से दिनों की गिनती में इस प्रकार है :—

स्थान	घटना	प्रसंग	संवत् गतकलि	संवत्विकम	चांद्रतिथि	वार	ईसवीसन्	अंग्रेजी तारीख
कुण्डलपुर	जन्म	अधिक मान्यता	२५०३	—५४१ या ५४२ वि. पू.	चैत्र शुक्ला १३ मध्य रात्रि	शनि	—५९८ या ५९९ ई. पू.	१९ मार्च या वर्ष का ७८ वां दिन
,,	,,	जयधवला नुसार	२५०५	—५३९ या ५४० वि. पू.	,,	रवि	—५९६ या ५९७ ई. पू.	२५ फरवरी या वर्ष का ५६ वां दिन
अज्ञात	दीक्षा	सर्व मान्य	२५३३	—५११ या ५१२ वि. पू.	मार्ग शीर्ष कृष्णा १० समय अज्ञात	सोम	—५६८ या ५६९ ई. पू.	२१ अक्टूबर या वर्ष का २९५ वां दिन
जुंभिक गांव	केवल प्राप्ति	,,	२५४६	—४९८ या ४९९ वि. पू.	द्वि. बैसाख शुक्ल १० दिन के तीसरे पहर	रवि	—५५५ या ५५६ ई. पू.	१९ अप्रेल या वर्ष का १०९ वां दिन
पावापुरी	निर्वाण	,,	२५७५	—४६९ या ४७० वि. पू.	कार्तिक कृष्णा ३० मध्य रात्रि	सोम	—५२६ या ५२७ ई. पू.	१३ सितम्बर या वर्ष का २५६ वां दिन

इस विवरण में सवत् प्रारम्भ चैत्र शुक्ला १ तथा पूर्णिमान्त चांद्रमास का प्रयोग किया है। कई विद्वान एवं गणनाकारों के लेखों से सहायता लेने पर भी भूल नहीं होने का दावा नहीं कर सकता। पाठकगण समीक्षा व्यक्त करेंगे और स्पष्टता होगी।

Jain Education International
For Private & Personal Use Only
www.jainelibrary.org

चतुर्थ खण्ड

ENGLISH SECTION

आंग्ल भाषा विभाग

महावीर जयन्ती स्मारिका, 1976

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Mahavira on Individual and his Social Responsibility

• Dr. Kamal Chand Sogani
Associate Professor, Department of
Philosophy, University of Udaipur
Udaipur.

Mahavira is one of those few towering personalities who fought for individual liberty in the context of social life. He revolted against the economic exploitation and social oppression of man and introduced vigorous innovation in the then existing social law and order. In a way, he was a social anarchist. In this way, Mahavira regarded individual and his social responsibility as the key to the progress of both the individual and society. He seems to be aware of the fact that the emphasis on merely individual progress without taking note of social responsibilities is derogatory both to the individual and society. Mahavira was neither merely individualistic nor merely socialistic. In his attitude both individual and society are properly reconciled. This attitude of Mahavira is in consonance with his total approach to any problem that confronts him. He is averse to onesidedness and therefore adheres to allsided approach to a problem. His method is Anekantic. Hence in Mahavira's philosophy of life, if individual liberty is to be sought, social responsibilities can not be dispensed with.

In order that an individual may acquire firm footing in life, Mahavira advised the individual to be without any doubt in the various spheres of thought and in its multiple approaches. Doubt kills decision and without an act of decision individual does not muster courage to go forward. Now the question is : How to acquire the state of doubtlessness ? The answer can be given by saying that either the individual should stop thinking and resort to a sort of mental slavery or he should employ himself in the task of vigorous thinking. Mental slavery is the path of blind faith, but vigorous thinking is the path of awakened mind. To my mind Mahavira must have subscribed to the latter view. In man many kinds of experiences find their place and reason should be freely allowed to play upon every aspect of experience, so as to arrive at rational decisions in every department of life. Mahavira never threatened the critical faculty in man, in as much as he

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

seems to be aware of the fact that by paralysing the critical faculty in man, he will be cut at its roots. Mahavira is convinced of the fact that in the philosophy of art education, social sciences, history, religion, etc. no one point of view can he absolute, there will always be alternative possibilities open. Freedom in thinking can not be curtailed. No one philosophical view can be final. So long as man is alive and free to think, different philosophical views will continue to appear. Thus gradually faith in Anekanta will emerge. This faith is rational and not blind. It has emerged from the very process of rational thinking. When the very nature of thinking is understood, the individual will be free from doubt regarding the possibility of alternative points of view emerging in the sphere of thought. Thus Mahavira wishes an individual to be Nihshankita. Besides, adherence to rational thinking may lead us in a different direction. When limitations of thinking are made intelligible, a state of frustration may set in. In certain individuals, there may be witnessed a tendency to transcend reason. There may be moments in life, when the transcendence of reason is very much satisfying. Here an individual comes across a new type of awakening which may be called supra-rational awakening. The individual thereby acquires faith in supra-rational existence. The emergence of faith in Anekanta and Supra-rational existence makes an individual free from fear and pride; by virtue of this faith, he attains a sort of mental equilibrium, and consequently he does not fear death, pains, censure, insecurity etc.; he becomes modest, forsakes all pride of learning, hohour, family, affluence etc.

After the individual attains clarity in cognitive functioning, he is required to impose upon himself restraint in the realm of desire. Man is a bundle of desires. Desires do not arise in vaccum. They presuppose goods. Desires may admit of two kinds, namely, possessive and creative corresponding to two kinds of goods, namely, material and creative. The difference between the two kinds of goods is that the former admits of exclusive individual possession, while the latter can be shared by all alike. Thus the possessive impulses aim at acquiring private goods, whereas the creative ones aim at, producing goods that can be enjoyed by all without any conflict. "Material possessions can be taken by force", but "creative possessions cannot be taken in this way". The desire for material goods makes man's personality ego-centric which is the cause of social tensions and frustration. Creative desires lead the individual towards self-satisfaction and social progress. When Mahavira advised men to be free from desirses (Nihkankshita) he seems to be referring to possessive desires. Bertrand Russell rightly remarks, "The best life is one in which creative impulses the smallest". If we reflect a little we shall find that it is possessive impulses that give rise to Himsa. The society which encourages possessive individuals encourages the acts of Himsa. So Mahavira made it obligatory for the individual to make himself free from the desires for material possessions.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

The history of social thought reveals that with the advancement of knowledge social beliefs of a particular age are replaced by new beliefs. Many religious superstitions, social patterns of life and other forms of follies and falsities are derogatory to individual progress, therefore they are condemned in every age of history. But the change is met with great resistance. The reason for this is that change is looked by individuals with doubt and uncertainty. Besides love for conventionality and vested interests run counter to the acceptance of novelties in thought. All these obstacles mar individual dynamism. The individual who is a slave to customary beliefs, however false they has been declared to be, cannot develop his own personality and his actions are just like machines. Mahavira, therefore, preaches that an individual should be free from follies (Mudhatas). It is only through such individuals that society progresses and a scientific outlook gains ground. Such individuals are forward looking, and are free from the pressures of narrow traditionalism. They are always openminded and are ever eager to learn from history and experience.

It is no doubt true that cognitive and conative clarities are essential to individual progress. If man's mind is prejudiced and his actions are steredtyped and wrongly directed, nothing worthwhile can be achieved. In order that an individual becomes an embodiment of noble thought and actions, virtuous dispositions are to be cultivated. This prepares the individual to do certain kinds of action in certain kinds of situations. This is not just to think or feel in certain ways. There may be individuals who can think clearly and express good emotions whenever the situation calls for, but they may not act virtuously when required to do so. Consequently, Mahavira preached that an individual should develop virtuous dispositions of honesty, gratitude, ahimsa, forgiveness, modesty, straightforwardness etc. This individual characteristic is known an Upavrhana. It cannot be gainsaid that noble thoughts can be translated into action though the medium of character. Mere thought is important to bring about any individual transformation. It is only virtues in addition to thought that can effect transformation in the life of an individual and transmute existing state of affairs.

Mahavira, no doubt, greatly emphasized the development of the individuals in-as-much-as he was convinced of the fact that there is nothing over and above the good of the individual men, women and children who compose the world. But he did not lose sight of the fact that the individual develops not in isolation but among other individuals. The proper adjustment of 'I' and 'thou' leads to the healthiest development of both 'I' and 'thou'. 'Thou' may represent social and political institutions. Social and political institutions must exist for the good of the individuals. All individuals should live together in such a way that each individual may be able to acquire as much good as possible. Thus every individual therefore, shall have certain responsibilities towards one another. This is the same

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

as saying that an individual has certain social responsibities. Therefore, social and individual morality are equally necessary to a good world.

Mahavira unequivocally says that the 'other' is like our own. This does not mean that there are no individual differences. Rather it means that individual should be allowed freedom to develop his own individualities. There should not be any distinction between man and man on the basis of religion, race, nationality. To create differences between one individual and the other on these factors is derogatory, therefore, should be condemned ruthlessly. Consequently, Mahavira exorted us not to hate individuals on these accounts (Nirvicikitsa). These are irrelevant inequalilities.

The negative condition of not hating others is not sufficient, but the positive condition of loving them (Vatsalya) is very much necessary. To love is to see that equal opportunities of education, earning and the like are received by every individual without any distinctions, of race, religion, sex and nationality. In his own times Mahavira fought for the equality of all men, and he reverred individual dignity. Where there is love there is no exploitation. To treat other individuals as mere means is decried and denied. Where there is Vatsalya, all our dealings with others will be inspired by reverence; the role of force and domination will be minimised.

It is likely that individuals may deviate from the path of righteousness. In dealing with persons they may become so selfish as not to allow others their due share of liberty, they may become very possessive. Pride of power, use of force, and exploitation of the week may look to them normal ways of life. Creative impulses in man may suffer owing to their destructive attitude. When individuals behave fanatically with one another; the real good will be served if they are convinced to deal with the other rationally. To establish them in the good life is 'Sthitikarana'. This is very much necessary in a society where the rule of creative impulses is to be established.

Lastly, the good ways of life of thinking and doing things should be made widely known to people at large, so that they may feel obliged to mould their lives in that pattern. For this psychological methods of transmitting knowledge are required to be followed in all earnestness. The scientific techniques of radio, television and the like are to be utilised for propagating good ways of life. If the researches in the laboratories are not taken to and utilised in the fields, they will serve no significant purpose. They will be like doing things in seclusion, Similarly, if the findings in the human laboratory in the realm of values are not taken to human beings in general, things will deteriorate and conditions will not change. Mahavira therefore, says to propagate values of life (Prabhavana).

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Mahavira's Doctrine of Ahimsa and its Impact

• **Dr. S. M. Pahadiya**
Ujjain.

The doctrine of **ahimsā** has been alluded to in the Avesta.[1] The Buddhist literature[2], the Epic literature[3], the Smriti literature[4], the Bible[5] and the Koran[6] also refer to it; it is not unlikly that the source of these all was Jaina literature that preserves Mahāvīra's doctrine of **ahimsa.**

MAHAVIRA'S AHIMSA AS SINGULAR :

Before and in the time of Mahāvīra himself, **himsā** was on the forefront. Violence or **himsā** becāme, as it were, the cult. The cow-herds were compelled to give their animals in hundreds to be slaughtered by the kings and chieftains in the name of religion.[7] Life had grown insecure, and sense of despair was prevailing

---

1. In the **Avesta,** killing of animals has been condemned. In it, Ahurmazad looks down upon those who recommend killing of animals **(Gatha 34:3)**
2. In the **Mahāvagga,** intentional teasing to others is prohibited. In the **Dhammapada** (10:1), it is written that no one should kill anybody, that no one should instigate others to kill.
3. The **Māhābharata** highly praises **ahimsā.**
4. The **Manusmriti** deprecates meat-eating.
5. The **Bible** says, "Thou shalt not kill".
6. In the **Koran,** we are told that the animals should be pitied. In it, it is said "**Bisimallaha rahimannur Rahim**". See, also, Muniraja Vidyavijaya : **Ahimsa** ; Ganesh Muni Shastri : **Ahimsā Ki Bolti Minareym** Agra, 1968.
7. Ref., Buddhist records. See, also; Shri Mahavira's Commemoration Volume 1, p. 74

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

all over the world. A sensitive soul like Mahāvīra could not tolerate all this.[1] He renounced the world, performed penances, attained **Jñāna** and taught the ethics of **ahiṁsā, asteya, satya, aparigraha,** and **brahmacharya.** Out of these, **a himsa** is worth a king's ransom. His Indian contemporary Buddha spoke of it.[2] His foreign contemporaries like Confucius[3] and Lao-tse[4] too lent a support to the principle of **ahiṁsā,** and in one way or the other propagated it in their own way. It seems that they were influenced by Mahāvīra. And this could not be impossible, because India had her contacts with the Western world that time.

Be whatever it may, the way Māhavira iculcated the indea of **ahiṁsā,** and made it a code of religion, a norm of faith is very singular.[5] His principle of **ahiṁsā** is not negative but positive in its application.[6] It implies not only not-killing, but piety, human treatment and service to others. Mahāvīra was in favour of practising **ahiṁsā** in its completeness without allowing any exception.[7]

---

1. Mahavira could not bear the naked dance of **hiṁsā** in the name of raligion. He said that **hiṁsā** could never be the religion. All beings, all over the world want to live. Therefore, 'Live and let live others', said Mahavira. See, **Vaikalikasutra** 6:11

2. The Buddhist Golden mean attenuates the principle of **ahiṁsā prima facie.** cf, **Dighanikāya, Mahāparinibāna.**

3. Confucius said, "Do not do to others what you yourself do not like".

4. Lao-tse said. "I behave well even with those who behave otherwise.

5. Although almost every religious school had laid stress, to a more or less degree, on the principle of nonviolence, but the supreme importance and wide application that it receives in Mahavira ethics is not found in any other school.

6. From philological point of view, the word **ahiṁsā** is prohibitive.

7. This was best illustrated by his life of finite tolerance and forbearance. See, that he said :

   'Khamemi savve jiva
   Savve jiva kamantu me
   Metti me savvabhuesu
   Veram majjham na kenavi.'

   That is, I renounce my animosity, and seek pardon from all beings : let all beings pardon me and give up their animosity : I have freindliness for all and enmity for none" Ref., Bulletin of the Ramkrishna Mission, xxv, No. 4, April, 1974, p. 94-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

According to his principle of **ahiṁsā**; life (as such) is sacred in whatever form it may exist, and therefore, no injury should be done to any being.[1] But, one might say, life in this world is well-nigh impossible with the absolute abstention from injury to all forms of life. But, here, it should be remembered that **hiṁsā** for the sake of hiṁsā is supposed to be a sin.[2]

The followers of Mahāvira preached and followed **ahiṁsā** as fully as possible in different spheres of life with exception as and when necessary.[3] They

---

1. Even the English Romantic poets like Wordsworth preached **ahiṁsā** in this very spirit and tone. Cf :
'Our meddling intellect
Misshapes the beauteous forms of things
We murder to dissect'

Shelley also gave poetical ezpression to the creed of non-injury in the 'Alastor' or 'The Spirit of Solitude'. Cf. :

'If no bright bird, insect or gentle beast I consciously have injured, but still loved and cherished these my kindred, : then foregive this boast, beloved brethren and withdraw no portion of your wonted favour now'.

This creed of non-violence(extends not only to animals but also to the vegetable kingdom. Long before J, C. Bose, Wordsworth declared that plants had life. Cf. :
'And't is my faith that every flower
Enjoys the air it breathes'.
Ref., A Quarterly on Jainology, IX, January, 1975.

2. Else, the doctrine of **ahiṁsā** itself permits four kinds of **hiṁsā**-accidental, occupational, protective, and intentional. Some speak of **Saṅkalpī** (done intentionally), **āraṁbhī** (one while carrying out household affairs), **udyogī** (done while ploughing etc.) and **virodhī** (done for safeguarding the nation) **hiṁsā**.

3. It will be wrong to call Mahāvīra's doctrine of **ahiṁsā** as grotesque exaggeration (Mrs. S. Stevenson : Heart of Jainism). Nor is it right to say that the principle of **ahiṁsā** is against national security, and has weakened Hindu community. History tells us that even some Jainas like Vimala, Vastupāla, Udayana and Tejagadahiyā were gallant generals and military leaders who served their chiefs with remarkable royalty and gallantry and proved equal to the generals hailing from war-like races such as Rājputs, Jāts and Muslims.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

laid stress on the necessity of avoiding all types of **himsā**, violence, which they called **bhāva-himsā**, intentional violence, as opposed to **drvya-himsā**, unintentional violence. Real violence is that which is caused under the influence of passion,[1]

Impact of Mahāvira's ahimsā and its Relevance in modern context

The impact of Mahāvira's doctrine of **ahimsā** is visible in his (Mahāvira's) own time and even afterwards. Not only the general mass, but even the chiefs and the rulers adopted it, and tried to give lawful protection to all form of life. Pradyota's younger brother, Kumārasena, was all for non-violence,[2] Even Asoka is known to have attempted to abolish sacrifices and slaughter of animals. On the positive side of **ahimsā**, he tried for the good of men and beasts alike. He opened hospitals even for anlmals.[3] One king Silāditya Dharmādity was so staunch a follower of **ahimsā** that he supplied strained water even to his elephants and horses, and he himself never killed even an ant.[4] Aśvarāja, a Chauhan feudatory of Solaṅki ruler Kumārapāla, commanded for strict observance of **ahimsā** in his kingdom on certain days.[5] Kumārapāla himself, under the influence of Hemachandra gave up hunting animals, eating meat etc.[6] Akbar, the founder of Din-Ilāhi, forbode the slaughter of animals at the instance of Hiravijaya[7] and Jinachandra-[8] One Bhila chief, Arjuna, of Sartara, and Rāva Surtāna of Sirohi

---

1. The Jaina philosopher Umāsvati defined **himsā** as '**Pramatta yogāt prānvyaparopnam himsā**'.

2. We are told that he was killed when he tried to put an end to the practice of selling human flesh in the Mahākāla temple. See, Pradhana : Chronology of Ancient India, pp. 72, 335.

3. See, Rock Edicts 1, 4, 8 aud Lumbini Minor Pillar Edict.

4. N. M. Joshi : Studies in the Buddhist Culture of India, pp. 49, 90, 91.

5. K. C. Jain : Jainism in Rajasthan, p. 20.

6. Ibid., p. 207.

7. He persuaded the emperor in 1592 A. D. to forbid slaughter of animals for six months. This fact is clear from an edict issued by the emperor. See, K. C. Jain : Jainism in Rajasthan, p. 210.

8. Jinachandra prevailed on the king to order the prohibition of animal-killing for seven days (**Navimi to purṇimā**) every year in the month of **Ashādha**. Akbar is also known to have observed the vow of non-violence for 8 days when he was in Kashmir. See, K. C. Jain : Jainism in Rajasthan, p. 211.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

are, after being influenced by Hiravijaya, also known to have taken the vow of not to kill animals and eat meat.[1] Further, from an inscription of 1715, we know that the oilmen of the town of Deoli (Pratapgarh State) had agreed to stop working their mills for 44 days in a year at the request of Sāraiyā and Jivarāja of the Mahājana community during the reign of Mahārāval Prithvisiṁha.[2] They did so with a view to avoid **jiva-hiṁsā** as much as they possibly could. The principle of **ahiṁsā** had its impact on Mahatma Gandhi also. He applied it to almost all spheres of life and made it a spiritual crusade for the rights of all living beings. A large portion of the Jaina population considers him a true follower of Mahāvira's doctrine of **ahiṁsā**.[3]

Mahāvira's doctrine of **ahiṁsā** has had a salutary effect on diet. Giving up meat-eating and adherence to vagetarian diet went a long way introducing various and delicious veg.-dishes. The vegetarian diet, in its turn, implies a moral act which strengthens man's control over himself in the first instance, and then over his environment.[4] Then, it could make people live longer. Medical Science has also, now, shown that there are indications that vegetarians live longer than non-vegetarians.[5]

Besides, the principle of **ahiṁsā** led to the mitigation of the rigorous and ruthless criminal justice in India. The penal code was modified and humanized.[6]

---

1. K. C. Jain : Jainism in Rajasthan, pp. 209–210.
2. Annual Report, Rajputana Museum, 1934–1935, No. 17.
3. Many people trace the influence of Jaina St. Srimad Rāichandra on Mahatma Gandhi. See. Bulletin of the Ramkrishna Mission, XXV, No. 4, April, 1974, p. 94.
4. This is, perhaps, what Mahatma Gandhi meant when he talked of the 'moral basis of vegetarianism.' See, The Illustrated Weekly of India, XCVI, 42, October 19, 1975, pp. 17–18.
5. Then, the vegetarians represent a higher state of consciousness in the human being. The evolutionary game is one which the vegetarians are fond of playing both ways. Even as they point out man's natural affinity to the ape, with its vegetarian habits, they also maintain that vegetarianism is the culminating phase in the dietary changes that have marked the homo-sapiens' transformation from beast to man. See, The Illustrated Weekly of India, XCVI, 42, October 19, 1975, p. 18.
6. The Cholas are famous for (rather defamed) the leniency they showed to the criminals.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

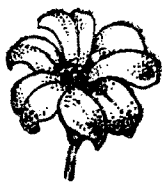
Compassion for the suffering of fellow beings is just the other side of non-harming (**ahiṁsā**). The principle of **ahiṁsā**, compassion, has been at the back of many philanthropic and humanitarian deeds and institutions which Mahāvira encouraged, and which the people under sway of his teaching of **ahiṁsā** stuck to.

This very doctrine of **ahiṁsā**, as propounded by Mahāvira, is most relevant in modern context. The greatest problem to-day, is how to avoid the future war[1] for the protection of humanity. Each nation is now, spending huge wealth in atom bombs, and other deadly weapons. The war fought with these weapons will be quite different from those of the earlier times; It will be more dangerous and will hardly leave any trace of civilization. Such a catastrophe can be avoided only if all people follow the doctrine of **ahiṁsa** (as promulgated by Mahāvira) in thought, word and action.[2] For the improvement of human nature, a person should individually follow the doctrine of non-injury to ceatures and non-slaughter of animals. On the positive side, he should try for the welfare of all living beings. By the observance of **ahiṁsā**, people will naturally follow the policy of disarmament, and therefore, there will be no danger of any war. The national and internatonal problems will be solved by mutual discussion in a right spirit. And we know that solution to the Vietnam-problem was attempted through this way only. The policy of violene does not pay. U. N. O. has been, rightly, trying to solve international problems through the policy of **ahiṁsā**.

---

1. The future war may mean either the end of war or the end of human race, for it will be a thermonuclear war.

2. **Uttarādhyanasūtra**, VIII, 10. it is not enough that one does not oneself directly injure; One should not cause injury through agent, nor approve of the conduct of others indulging in violence, **himsa**. See also, **Ratna Karaṇda Srāvakasūtra.**



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jainism v/s Atheism

• Dr. Om Prakash Sharma, M.A., Ph. D. (Vaishali)

It has often been suggested that Jainism is an atheistic system of thought. The basis of this assumption can be found in the fact that while God is popularily described as being a creator and ruler, He is not so described in the Jain books. Jainism maintains that from the standpoint of phenomenal Naya the universe is ever changing and transitory, but from the standpoint of Nonmenal Naya, according to which the universe is taken as one undivided whole of inter-related reals, It is self-existent and permanent, And because it is self-existent and permanent therefore, it is not an effect of some anterior cause working from behind the universe. There is no creation of new substance or destruction of the old. It is only a fusion of elements in a new form. The substances by their interaction produce new sets of qualities. So there is no god necessary for creation or destruction. Coming into existence and ceasing to exist, things have, because of their attributes and modes. Thus in Jainism development of the world is rendered possible by the doctrine of the eternity of being and interaction of substances.

Such being the trend of thought the Jain philosophy leaves no room whatsoever for an iron-willed capricious God in the Jain scheme of the universe. The Jainas hold that a correct understanding of the true principles of causality and phenomenology dispenses with the necessity of any divine intervention in the affairs of the world. To believe in all-ruling extra-mundane God is to hide the ignorance of the true principles of causality under a splendid display of deceptive reasonings.

Such a doctrine may indeed strike curious and atheistic to many. But the Jainas will never allow themselves to be branded as atheists, though Jainism acknowledges no personal God, knowing Him neither as Creater, Father, or Friend. Indeed there is no more deadly insult that one could level at a Jaina than to call him a nastika or atheist. Some people like Mrs. Sinclair Stevenson (The Heart of Jainism, p. 298) may take it as a strange mystery in Jainism but this is fact that charge of atheism cannot be laid at the door of Jainism. When

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

one says that one does not believe in God, one only means that one does not believe in the popular ideas about Him. It is true that Jainism denies the existence of any Personal God knowing Him either as Creator or Father or First Cause, but this denial of God would assuredly not make a Jain an atheist.

Indeed, it is not only with Jainism that it has been branded as atheistic simply because it never accepted the popular conception of Deity and always yearned after a higher conception of God; but it is the case with many persons in various countries in all the ages. In the eyes of his Athenian judges, Socrates was an atheist who never denied the gods of Greece but simply claimed the right to believe in something higher than Hephaistos and Aphrodite. Spinora was also branded as an atheist and apostate. Many such persons have been called atheists, not because they dreamt of denying the existence of a God, but because they wished to purify the idea of Godhead from what seemed to them human observation and human error. When Fichte was accused of atheism, what did he reply, "your God", he said "is the giver of all enjoyment, the destributor of all happiness and of all unhappiness among human beings. That is his real character. But he who wants enjoyment is a sensual, Cosual man, who has no religion and is incapable of religion. The first truly religious sentiment kills all desires within us. A God who is to serve our desires is a Contemptible being, an evil being; for he supports and perpetuates human ruin and degradation of reason. Such a God is in truth the Prince of this world; who has been condemned long ago through the mouth of truth. What they call God, is to me not God. They are true atheists; and because I do not accept their God as the true God, they call me an atheist."

Max Muller distinguishes between two kinds of atheism-one which is unto death, and the other which is the very life-blood of all true faith. About the latter he says, "It is the power of giving up what, in our best, our most honest moments, we know to be no longer true; it is readiness to replace the less perfect, however dear, however sacred it may have been to us, by the more perfect, however much it may be detested, as yet, by the world. It is the true self-surrender, the true self-sacrifice, the truest trust in truth, the truest faith. Without that atheism religion would long ago have become a petrified hypocracy, without that atheism no new religion, no reform, no reformation, no resuscitation would ever have been possible, without that atheism no new life is possible for every one of us" (F. Max Muller, Lectures on origin and Growth of Religion, p. 311). We shall be doing justice if we ascribe the term atheism in this sense to the teachings of Jain prophats. The whole force of Jainism is directed to the great central truth in every religion, to evolve a God out of man. The final goal of any particular soul is to become pure and perfect i.e.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

to become Parmatman or Supreme Soul. And Supreme Soul and God are in reality one and the same thing. Thus though there is no such being distinct from the world called, yet certain of the elements of the world when properly developed obtain deification who are called Arhats, the supreme lords, the omniscient soul who have overcome all faults. Jainas worship these Arhats Tirthankaras, the pure and perfect souls merely for the sake of their purity and perfection and not for the expectation of any reward in return. The belief in such a God is in and through imbued with all the vitality and strength of life. It does not make us dependent on any Almighty Ruler for our existence and blessedness in this life or in life hereafter. "Rather it makes us feel that we are independent autonomous individuals who can carve out paths for ourselves here and hereafter both for enjoyment and emancipation of our souls by our own will and exertion." We have before us great lives of Tirthankaras and we can make our lives sublime by following the footprints on the sands of time of Ideal Tirthankaras. These Tirthankaras who attained to Omniscience and quietitude i.e. Nirvana, by the dissipation of karma, remind us that we are also able to raise ourselves from the bogs of the world and to attain to Nirvana by like dissipation of our Karma. Thus we find that Jainism is not atheistic religion, that the Jainas do believe in a God after their own way of thinking; a belief that "does not cast us into the moulds of those weaklings who love to creep with a quivering prayer on their lips to the silent doors of the Deity, nor of those who crowl, beating breast at every step before his fictitious feet or figure to adore"., but which makes us feel that we are free individuals capable of attaining Godhood.



Jainism is one of the oldest religions of the world. The teachings of Mahavira, the last Tirthankara of twenty-four Tirthankaras, bring out the importance of the practical life. Truth and non-violence are noblest principles of life that humanity is highly obliged to. They teach that evil can not be won by evil, but by goodness, vanity by modesty and aggressiveness by humility.

Dr. C.P. Ramswaami Ayyar

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

VOICE OF SAINTS (संत-वाणी)

(1) "EDUCATION WITHOUT CHARACTER
COMMERCE WITHOUT MORALITY
SCIENCE WITHOUT HUMANITY
ARE DANGEROUS AND USELESS"

चारित्र बिना शिक्षा,
नैतिकता बिना व्यवसाय,
मानवता बिना विज्ञान,
खतरनाक और व्यर्थ हैं।

(2) "KNOWLEDGE IS POWER"

It is correct but more correct is

"CHARACTER IS POWER"

"ज्ञान शक्ति है", यह कहना ठीक है किंतु यह और ज्यादा ठीक है "चारित्र शक्ति है"

(3) "MIND WITHOUT HEART
INTELLIGENCE WITHOUT CONDUCT
CLEVERNESS WITHOUT GOODNESS
ALL THESE HAVE DANGEROUS FLAWS"

हृदय बिना मस्तिष्क,
व्यवहार बिना बुद्धि,
अच्छाई बिना चतुराई,
इन सबमें खतरनाक दोष रहते हैं।

(4) "TO FORGET IS A CRIME.
TO BE LAZY IS A GREATER CRIME.
TO NEGLECT WORK & OFFER EXCUSES IS A GREATEST CRIME.
ACTION WITHOUT DELAY IS A SOUL OF EFFECIENCY".

भूलना अपराध है;
आलसी होना उससे बड़ा अपराध है,
काम में उपेक्षा और बहाना सबसे बड़ा अपराध है।
विलंब बिना कार्यवाही निपुणता की आत्मा है।

हिंदी अनुवादक—श्री मूलचन्द पाटनी, बम्बई।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

The Non-absolutistic Attitudes and their Relevance in Jainism and Budhism

• **Dr. Ramjee Singh,** *Ph.D.,D.Litt.*
Dept. of Philosophy, Bhagalpur University
Nayatola, Bhikhanpur, Bhagalpur (Bihar)

The Srmanic culture in India, representing the two thoughts of Jainism and Budhism is characteristically non-absolutistic thought and non-violent in the individual and social behaviour. The Brahamanical culture had developed to some extent formalism, rigidity and authoritarianism. The official philosophy of Brahamanism was influenced by the Upanisadic-vedāntic absolutism on the one hand and formalistic ritualism of the Mimansakas on the other.

Both Jainism and Budhism rose mainly as a reaction against the excesses of Vedic authority, sacredotalism, orthodoxy and last but not the least against cruelty in animal sacrifice. It was both a shock and surprise that the Brahamanism which extolled the unity of beings and advocated high ideals of non-dualism (**advaita**) and treating every being as one's own self (**atmavat-sarva-bhūteshu**) and the whole World like one's family (**Vasudhaiva Kutumbkam**) stooped so low as to practice cruelty to lower animals and that also in the name of the Vedas and the Vedic religion. There was equal perversion in the social organization of the Brahamanic culture which resulted in the emergence of numerous castes and sub-castes. It seems that the non-dualism was only on the philosophical level. All this led to a serious gap between thought and action. Hence the need of the time was to usher an ethical religion like Budhism and Jainism. The key-note of our ethical life is our good behaviour with others. This is known as love which is negatively termed as **Ahimsā** (non-violence) in Jainism and positive or as **Karunā** (companion) in Budhism.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

To achieve this ideal of Ahimsā or Karunā in our life and behaviour, the Jainas had developed a theory of manifoldness of truth (anekāntavāda) and relativity of judgment (**Syādavād**). There can be no non-violence (ahiṁsā) in action unless it is grounded in our thought and word. The voluntary action has the mental stage as its starting point. If we are mentally committed to any particular outlook or ideology, it is bound to be reflected in our rigid behaviour. This leads to intellectual fanalicism. To think that I alone am right and the rest are in the clutches of the devil is imperialism in thought. As a matter of fact the reality is a great complexity; one thing is related to the entire universe and to know one thing completely, one has to know the entire universe and this is almost an impossible task because there is limitation to our knowledge. Live can not know the entire truth. Thus Jaina logic of Anekānta is based not on abstract intellectualism but on experience and realism leading to a non-absolutistic attitude of mind. Thus truth and truth alone is the foundation of Anekāntavād. The complexity of the universe on the one hand and our own eognitive limitations on the other hand make us know the complete truth. This attitude of the Jainas give them the advantage of remaining catholic in their outlook and of avoiding the fallacy of exclusive predication. In fact, it is an attitude of philosophing which tells in that on account of the infinite complexities of nature and our limited cognitive capacity what is presented is only a relative truth. It is true that their great passion for knowledge and truth, have not remained with Anekāntavāda or Syādavāda. Truth to be truth must be the whole truth. The Jainas have attempted of knowing the whole truth. Anekānta or Syādavāda is the typical Jaina attitude in the quest after truth. This is opposed to any absolutistic position. In Jainism non-absolutism is not only metaphysical but also an epistemological concept. There is no absolute reality so there is no absolute truth. This non-absolutistic tendency in Jainism is also reflected in their style of speech When we speak, we speak in a particular universe of discourse. Hence, all our statement must be conditional and not catigorical. It is why every statement of hero Mahavira is prefixed with a **syat** (somehow), which means that a statement is true or false from a particular point of view. There are seven different kinds of propositions, which we can affirm or deny with regard to any particular relation between the subject and the predicate.

This Anekānta is an extension of Ahiṁsā in the intellectual field and so Syādavāda is the grammer of non-absolutism. Unless we have non-absolutism in word and thought, we can not have it in deed.

However, it is argued that relativism is a self destructive theory. Unless something as absolute is accepted, we cannot accept either the relative nature

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

of reality or that of knowledge. The statement that all knowledge in relative is in a sense self contradictory because itself it showed not be considered to be relative, otherwise it will undermine the very basis of relativism. If non-absolutism is absolute, it is not universal, since there is one real which is absolute and if non-absolute, it is not an absolute and universal fact. Thus tossed between the horns of the dilemma non-absolutism simply evaporates. The non-absolute, is in fact, constituted of the absolute as its elements and as such would not be possible if there were no absolutes. Samantabhadra is therefore, correct when he says that non-absolutism is not absolute unconditionally. To avoid the fallacy of infinite regren, the Jainas distinguish between valid non-absolutism (Samyak-anekānta) and invalid non-absolutism (Mithyā-Anekānta). Like an invalid absolute judgement, an invalid non-absolutistic judgement too is invalid. Therefore, valid, **anekānta** must not be absolute but relative. Anekānta is thus opposite to **anekānta** a one-sided exposition irrespective of other view points. To regard syādvāda, as absolute is to violate its very fundamental character of non absolutism. So Samantabhadra says that even Anekānta is Anekānta or non-absolutism is non-absolutistic. This makes quite clear the distinction between the real and the false non-absolutism. Jainism takes great pains to distinguish between the false and real with a purpose to find out a philosophical basis of non-violence. Non-violence to them was not a matter of policy but a life-creed and hence any false metaphysical base will simply weaken its functioning in all walks of life-social, political and economic.

As regards Budhism, we have non-absolutism in a different way. It is called vibhajya-vāda. The intention of Budha was to avoid the extremes and work out a modus vivendi between the two extremes. For example, Budhism wants to avoid both (Sasvatvāda) and nihilism (Ucchedavāda) in metaphysics or asceticism and licence in the field of morality. In other words Budha followed the middle path (Madhyama pratipadā) being free from difficulties. Explaining the meaning of 'samyak', it is said that samyak or right is that which stands between the two extremes. Hence Right views (Samyak dristi) is not an extremist view point. It is not one sided or ekānta as the Jainas would like to say. Hence, the doctrine of the middle path is fundamentally non-absolutistic. Budhism has always rejected the one-sided absolutistic position in metaphysics and **morals**. To them, truth lies midway, which is quite safe (**madhyam abhayam**) as the vedas would say. Aristotic propounded the doctrine of the "golden mean." As a matter of fact, the extremist position is always unsafe. No body can claim to possess the absolute truth. The absolute truth as Nāgārjuna is beyond the four-fold categories of existence (**asti**), non existence (**nasti**), both (**ubhaya**) and neither (**anubhaya**). This doctrine of four-cornered negation is essentially non-absolutistic in spirit. The reality is so mysterious and complex that we cannot take any side.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Non-absolutism in thought leads to catholic outlook & liberalism in action. One sidedness or extremism is generally the result of deep prejudice against the otherside. Hence it is more likely to be erroneous. Thus truth is the first casualty in taking an extremist non-absolutistic position. It is like committing mental violence. Its manifestation takes place in our words and deeds. Ideas move the world. Ideas influence our action. Hence the ideological foundation of non-violence must be found out in human psychology. Not only the defences of war but also of peace are built in our mind. Human mind is not watertight compartment. What we think influences our action, violence in thought and non-violence in action can not go together. Hence, the Jainas have built an intellectual edifia for the support of non-violence, which they regard as the supreme virtue **ahimsa parmo dharmah.** This is called Anekāntvāda. Similarly the Budhists stress upon compassion and love (Karunā and Maitri) is rooted in the dectrine of middle path. Imperialism in thought cannot yield compassion love & mutual adjustment. Like non-absolutism in thought & action, we have to develop non-absolutism in word, an unconditional judgement called **Syādvāda.** In Budhism, along with Right views (Samyak dristi) and Right Resolve (**Samyak sankalpa**) we have Right speech (**Samyak Vāchā**) which is again a midway between an over statement and under statement. Hence, we have to avoid lying (**Mrsāvachana**), harsh words **Cparusa vachana**), slander (**Vyanga vachana**) and frivolous talk (**Sampratāpa**). If one has no mental ill-will, no reservations, no prejudice there cannot come out a stader or harsh words.

The non-absolutistic attitude has got a great relevance for modern time. This is an age of tension. When one does not agree with my views, he is called a traitor or a facist and so on. But we should not forget that views are bound to differ. Our views are guided by our circumstances, mental conditions, prejudices and bias. Human beings are not automatic machines. They have great capacity to change. Hence, even on any obvious problem, their views are bound to differ. We should allow sufficient margin for individual differences and try to adjust accordingly. This is all the more necessary when the ideological divisions are very sharp. There is an undeclared perpetual ideological war throughout the world. And every country thinks that those who agree with them are right and rest others are wrong. This leads to tension and war. But the atomic era has come with a message-**atom** or **ahimsā**, coexistence or non-existence, we must adopt either non-absolutistic attitude of the Jainas or the attitude of friendliness and compassion of Budhism, there is no other way. Hence, Jainism and Budhism are more relevant today than ever.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Word and Meaning the Jaina Point of View

• Dr. Harendra Prasad Verma,
Bhagalpur University, Bhagalpur (Bihar)

The present day philosophy has a great leaning towards semantics. Semantics is the science of meaning which discusses the relation between language and reality. Meaning purports to be the sole object of philosophical investigation these days. As Morritz Schlick pointed out, "We see in philosophy not a system of cognition but a system of act; philosophy is that activity through which the meaning of statements is revealed or determined."[1]

In the western philosophy we have two chief theories of meaning. (1) Denotive theory or 'picture theory of meaning' and (2) Non-denotive theory or 'Use theory of meaning'. Wittgenstein, in his **Tractatus Logico - Philosophicus**, propounded the picture theory of meaning to which the meaning of a word is what it stands for. What a word denotes is its meaning. For example, the word "Table" stands for the object table, hence the object table constitutes the meaning of the word "table". A word may stand for an object ('table') or quality ('redness') or relation ('greater than') or a state of affair ('anarchy') and so on. Thus language stands to reality in relation of picturing. The proposition is a picture of reality.[2] "What a picture represents is its sense" - says Wittgenstein. There is logical correspondance between language and reality. In Indian philosophy also the Naiyayikas, Vaisesikas, Mimamsakas and Grammarians believed in the denotive theory of meaning. According to them there is the relation of denotative and denotend (**Vacya-vacaka sambandha**) between L anguage and reality.

1. Morrits Schlick, "The Turning Point in Philosophy" in **Logical Positivism** (Ed.) A. J. Ayer, The Free Press, Illionis, 1960, p. 56.
2. Kegan Paul, London, 1922, 4·01.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

In the **Tractatus**[3] Wittgenstein maintained that the meaningful words denote the logical atoms. In other words, the meaning of a word is particular. A particular is designated by a proper name according to Russell. "The only kind of word",[3] says Russell, "that is theoretically capable of understanding for a particular is a **proper name**, and the whole matter of proper name is rather curious. Proper name – words for particular definition."[4]

However, the particular which is given in knowledge by acquaintance cannot be designated by a proper name because the proper name, like "John" does not refer to a particular person, it can be the name of so many persons and hence, it turns out to be only a verbal description like any other word, Finding difficulty with the proper names Russell suggested that the particular is to be specified by 'this' and 'that'. For example, the particular toothache which I am having can be identified by the expression, "This toothache". However, the difficulty which was with proper names persists with "this" and "that" also. Hence the logical atomists had to accept that all words are only "descriptions"; they denote a class and not to any particular individual. The momentary bits of sensation or knowledge by acquaintance cannot be described through words. Hence meaning of a word turns out to be universal.

Further, Wittgenstein found that there are, many words which are, no doubt, meaningful but they cannot be called the picture of any fact. For example, the conjunctions like "and", "if-then", "either or", etc. These have their function in the language scheme but then do not picture any fact. Finding no way out Wittgenstein designated these words as "odd job" words.[5]

In the **Philosophical Investigation** Wittgenstein acknowledged that there is no relation of picturing between language and reality because there is no one-one-relation between word and object. If the word would have been the lable of the object, with the destruction of the object, the meaning of the word should also cease and the word would become unintelligible and absurd. As Wittgenstein contends : "It is important to notice that the word 'meaning' is being used illicitly if it is used to dignify the thing that "corresponds" to the word. This is to confound the meaning of a name with the **bearer** of the name. When Mr. N.N. dies one says that the bearer of the name dies. And it would be nonsensical to say that, for if the name ceased to have meaning, it would make no sense to say "Mr. N.N. is dead"[6]

---

3. Tractatus, 2.221 4. Russell, **Logic and Knowledge** (George Allen & Unwin Ltd., London, 1156), p. 200
5. Wittgenstein, **The Blue and Brown Books,** Basil Blackwell, Oxford, 1958.
6. Wittgenstein, **Philosophical Investigations,** Blackweff Oxford, 1953, p-20

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Moreover, the same word can be used for different purposes or can be said to have different functions. For example, the same word, "Hammer", can be used in numerous ways to designate an object ('This is a hammer'), to make equiry about something (is this a hammer ?), to exclaim in a certain situation ("Hammer !"), and so on. Thus words are only the tools which can be used in several ways. There is no relation of picturing or denoting between word and reality. As Wittgenstein writes, "we do the most various things with our sentences. Think of exclamations alone, with their completely different functions.

Water : Away : Aw : Help : Fine : No :

Are you still inclined to call these words "names of objects"?"[7] Hence Wittgenstein came to the conclusion that there is no relation between language and reality. Language is only an instrument which can be used in several ways, and the meaning of a word consists in its use or function which it performs in the language-game. There is the multiplicity of language-games with their numerous functions.[8]

The meaning of word, according to Wittgenstein of the **Investigations,** is neither particular, nor universal; it alı depends upon its use i.e., the sense in which is used in a language-scheme. If it is used in the sense of particular, its meaning is particular, and if used in the sense of universal, its meaning is universal. Asking the meaning of any word outside a language-game is absurd. As Wittgenstein puts it, "Asking Is this object composite ?' outside a particular language-game is like what a boy once did who had to say whether the verbs in certain sentences were in the active or passive voice, and who racked his brains over the question, whether the verb "to sleep" meant something active or passive."[9]

In India the Buddhists believe in the Non-denotive theory of meaning. According to them words do not have any relation with reality. While words are concepts or universal-which are static and permanent, the reality is a flux of momentary and particular bits of sensations, hence words do not have anything in common with reality, nor can they touch the reality.

(Vikalpa yonayah sabdāh, vikalpāh sabda yonayah Tesamanyonaya sambandho nārthān sabdah śprsantyamī.)[10]

---

7. Wittgenstein, **Ibid,** p. 13 8. **Ibid,** pp. 11-12 9. **Ibid.** p. 22
10. Quoted in Prabhachandra's **Nyaya Kumuda Chandra,** Manika Chandra Digambara Jāina Granthamala, vol. II, Bombay, 1941, p. 537.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Words denote only the **intention (vivaksā)** of the speaker and not any object.

THE JAINA VIEW OF WORD AND MEANING

The Jainas adopt the golden mean between the Denotive and Non-denotive theories of meaning. They criticise both these rival theories and try to reconcile them by adopting the middle position. According to them both these theories are partial and one-sided (**Ekantika**). Hence according to Pujyapada the real solution can be attained only by **Anekanta** (**"siddhih anekāntāt"**). Commenting on the above sutra Somedeva writes "only Anekanta can explain the nature of word, its relation with object and the apprehension of its meaning. Words seem to have contradictory qualities of eternity and non-eternity, existence and non-existence, substantive and adjective, etc."[11] These can be reconciled only by **Anekantavāda** which believes in the manifoldness of reality and the language-games.

I. Refutation of the Denotive theory of Meaning

The Jainas refute the denotive theory or picture theory of meaning. According to them if language is said to be denotive of meaning, it may mean three things—

1. Words **contain** the meaning.
2. Words contain the **knowledge** of the meaning.
3. Words contain the **power** to communicate the knowledge of the meaniag.

(1) Words contain the meaniug

Language can be said to be a picture of reality or word may be said to contain the meaning, if there is complete identity (**Tādātmya**) between word and reality. In that case, words will have the same characteristics as facts, but that is not the case. For, as Prabhachandra argues, then if the word "sweet" is uttered, mouth would have been sweetened, and it should have cut injuries when the word "knife" is uttered.[12]

---

11. Siddhih śabdānāṁ nispattirjñāptirvā bhavantyenakāntāt
Astitva anastitva nityatvānityatva.
Viśesana viśesya dyātmakatvāt.
Drstesta pramāna virūddhatvāt.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Futher, words may be said to contain meaning also when there is the relation of substantive and adjective (**Dharma-Dharmi bhana**) between word and meaning. *In this relation one depends upon the other as quality depends* upon the substance. But this requires spatial proximity. For example, we can say, "fire is on the mountain" only when fire and mountain have spatial proximity. The relation of substantive and adjective cannot hold between word and meaning because there is no such spatial proximity between the two. While the animal horse remains in the stable, the word "Horse" in the dictionary, so the relation of substance and quality is not possible between word and meaning.[13]

Finally, word may be denotive of reality and may be said to contain meaning if there is the relation of cause and effect (**Tadutpatti**) between the two. But words cannot be said to be the cause of the meaning because then by the utterence of the word, the object would have been produced. For example, then by uttering "gold" one may have lots of gold and nobody would be poor then.[14] But this is something absurd. Hence, it cannot be said that words contain meaning in them. As Prabhachandra remarks, "The word is non-related to the object"-this fact is acknowledged by a child as well as by an old one. No non-fool can admit that the word contains meaning.[15]

(2) Words contain the knowledge of the meaning

If there is no identity between word and meaning, and words do not contain the meaning, it can be said that words contain the **knowledge** of the meaning. For example, the word "sweet" does not have sweetness, rather it has the **knowledge** of sweetness. But this alternative is also not acceptable to the Jainas because, if words have the knowledge of objects, from words we shall always have the true knowledge of the objects and hence the question of the falsity of the judgement will not arise. In other words, if words are pictures of facts, they will always represent the fact correctly and as such it would be wrong to hold that words may agree as well as disagree with facts. If they disagree with facts, they cannot be the pictures of facts. Moreover, if words sometimes convey

---

12. Na tāvat tādātmya laksana.....
Tāttādātmye ca ksura modaka śabdocārane mukhasya
pātana pūrana prasamqah. (Nyaya Kumuda Chandra, Vol. D.p. 536)
13. Ibid, p. 533.
14. Vide, Nyaya Pravesa Vrtti Panjika, Gayakavado series, Barauda, p. 76
15. No cārtha viśistam śabdaṁ kascida bāliśemanyate,
śabdāt prthagevārthasya ābālaṁ suprasiddhatvāt. (Op. cit., p. 533).

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

true and sometimes false meanings, there will be too-wide relation between word and meaning and the same words, then, will denote so many objects.[16] Consequently, they cannot be called the pictures of facts.

(3) Words have the power to communicate the knowledge of meaning

If there is neither complete nor partial identity between word and meaning, it can be held that there is only invariable relation between the two, owing to which one in inferred from the other. In other words, it can be said that words have the power to communicate the knowledge of meaning. Now, invariable relation cannot be accepted between word and meaning because there is neither agreement (Vyāpti) in respect of space, nor in respect of time between the two. We cannot say, wherever there is word, there is meaning, nor can we say whenever there is word, there is meaning.

Further, if words have the power to convey the meaning that means the word is the **hetu** (reason) for understanding the meaning, then word will become a quality (**dharma**) of the meaning and this will involve the fallacy of mutual dependence (**Itaretarāśrayadosa**) because word will become the quality of the Meaning, and vice versa.[17] Then, word will depend upon meaning, and meaning will depend upon word. Thus it cannot be accepted that there is the relation of denoting between word and Meaning.

II. Refutation of the Non-denotive theory of Meaning

Although the Jainas do not accept the denotive theory of meaning which holds identity or causality between Word and Meaning, still they do not also accept the Non-denotive theory of the Buddhists which holds that words have no relation with facts. While words are universal and convey what things have in common, they cannot convey what sensations have in particular. The eachness or uniqueness of sensations cannot be represented by words which are only concepts. Moreoyer, the change and momentariness of the reality also cannot be pictured by the static concepts. Hence the Buddhists maintain that words arise with the will of the speaker and as such, they denote only the volition or

---

16. Siddha sidha vikalpānupapatteh.
Asiddhayā hi artha partī tyā tadvattvaṁ
Śabdasyā yuktaṁ, ati prasaṁgāt. (Nyaya Kumuda Chandra, p. 533)

17. Atha arthā pratiti hetvāt taddharmo sauh nah, iteretarāśrayanusaṁgat (Naya Kumuda Chandra, p. 534)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(intention **Vivaksā**) of the speaker. (**Vivaksā prabhavahi śabdustameya samuchayeyu**).[18]

The Jainas criticise the Non-denotive theory on the following grounds :—

(a) Words cannot be said to have no relation with fact because it is only by being related to fact that they describe the object.[19] If it is maintained that words have no relation to facts, it will not be possible to describe facts and as such knowledge will become impossible. Nothing will be communicable then.

(b) Further, words cannot be said to denote exclusively the intention of the speaker because then the truth and falsity of the judgements cannot be determined.[20] It is always by reference to facts that the truth or falsity of any statement is determined.

(c) Finally, words cannot be said to be related to the intention of the speaker exclusively because sometimes they convey the intended meaning and sometimes the unintended meanieg, also.[21]

III. The positive view of the Jainas

The Jainas thus conclude that words are neither denotive of reality owing to ontological identity or causality nor are they absolutely cut off from reality. They denote the object owing to natural capacity (**sahaja yogyata**) and indication (**saṁketa**) or usage (**samaya**). There is **Kathamcid vācya vācaka saṁbandha** (The relation of partial picturing) between Word and Meaning. According to Bhadra bāhu words are related to facts and yet they are non-related. They can not be said to have identity with fact because by the utterance of the word, "sweet", mouth is not sweetened, nor is it burnt when the word, "fire" is uttered. However, we cannot also say that there is absolutely no relation between word and fact because words undoubtedly describe facts. "Fire" describes fire and not anything else.[22] There is thus identity-in-difference between Word and Meaning, and neither pure identity nor pure difference. The words hnve the

---

18. Tattvopalava Siṁha, Gayakavaḍa series, Barauda, p. 120.
19. Vide, Nyaya Kumuda Chandra, p. 533
20. Ibid, p. 697 21. Ibid, p. 696
22. Abhi hanam abhibeyu hoi bhinnaṁ abhinnaṁ ca
Khura aggimoyaguccāranammi jamhā uvayanasavanānaṁ
Vicchedo na vi dāho na pūranaṁ tena bhinnaṁtu.
Jamha ya moyaguccaranammibhatattheva paccao hoi
Na ya hoi sa annatthe tena abhinnaṁ tavatthao. (Nyayavatara, p. 13)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

natural capacity to express the object in the same way as that eyes have the natural capacity to manifest the object without having any relation of identity or causality. **Yogyatā** is **pratipādya-pratipādaka** capacity like **jñyāpaka sambandha**.[23] **Yogyatā** means, "This signifies that."

Besides **Yogyatā** there is also another condition for picturing the object and that is **samketa** or usage. **Yogyatā** alone is not the sole sufficing condition to explain the relation between words and meaning, because the same words have different meanings in different contexts. It is because of **samketa** or usage that the words grant a particular meaning in a particular context. **Samketa** is the indication that "this denotes that" or there Is the relation denotative and denotand between a particular word and the object [24] Henae Manikyanandi observes that there are two conditions owing to which words can signify the objects, viz., (1) natural capacity to denote the object (**sahaja yogyatā** and (1) indication or covention (**saṁketa** or **samaya**).[25] According to Prabhachandra olso it is owing to natural capacity and sentential quality that words can signify the object.[26] While accepting that words have the natural capacity to signify th ₒ object, the Jainas point out that a word inspite of general capacity depends upon certain outside factors for the purpose of signifying a particular object or meaning. For example, fire has the general capacity to burn, but what particular things, at what particular time and place, are to be burnt, depend upon various other circumstances besides the general capacity of burning. Similarly, words have the general capacity to denote the object or meaning, but what should be the meaning in a paticular context depends upon **samaya** (context) or **saṁketa** (usage). Modern analysts also seem to accept 'use' and 'usage' both as the determinant of meaning. 'Use' is the function a word performs in a particular language-game and 'usage' is its conventional meaning which determines the meaning of a word in a particular context. As Brand Blanshard observes, "Use is a way or technique of doing something! a usage is the 'more

---

23. Yogyatā he śobdārthāyyh pratipādya partipādaka śaktib,
Jnāna jñaya yorjnapya jñāpaka śaktivat. (Nyaya Kumuda Chandra, p. 538)

24. Samketa hi idamasya vācyaṁ idaṁ vācakam ityevaṁ vidho vācyavācakayorviniyogah (Nyaya Kumuda Chandra, p. 539)

25. Sahaja yogyata samketavasoddhi sabdadayovastu-pratipatti hetavah. (Pariksamukha)

26. Sobdah sahaja yogyata saṁketavalādevartha-pratipādakoayupaga gantavyah. (Prameya Kamala Martanda) According to Pramana-Nyāya-Tattvaloka laṁkāra also Svābhāvika sāmarthya samayabhyāmartham nibandhanah (4/11).

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

or less prevailing practice' of doing this."[27] Wittgenstein in the **Investigatiosn,** no doubt, maintains that words are only the tools and they cannot be said to be the picture of reality, however, he cannot differ from the Jaina view that of the multiple uses, denoting is also one of the functions of language, like Wittgenstein, the Jaina Logicians also believe that there is no one-one-relation between language and reality and following **Anekāntavāda** they maintain that language has numerous functions; the same word may have different functions and meaning in different uses, but they do not doubt the capacity of words to denote facts. For that will make all linguistic conventions unintelligible. It seems that the Analysts have fallen in the trap of linguistic solipcism because they have displaced language completely from the realm of reality, as we find Wittgenstein saying, "The limits of my language mean limits of my word."[28] But the Jainas have avoided this fallacy of linguistic solipcism by maintaining picturing to be one of the functions of language despite their refusal of the denotive theory of meaning.

---

27. Blanshard, Reason and Analysis, George Allen & Unwin Ltd, London p. 341 – 42.
28. Tractatus, 5.6, 5.61, 5.62.

JAINISM : A UNIQUE RELIGION

Jainism is really a unique religion in as much as it preaches that all living beings should be protdcted and Ahimsa should be practised in every day life. The Jains are very particular that no injury in done for any orm of life when they eat, drink or walk or do any other action. This kind of mercy we do not see in any other religion.

— **An American lady**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Historical Role of Jainism in Malwa

By **Kailash Chand Jain**
Vikram University, UJJAIN.

The existence of Jainism in very early times in Malwa is based only on traditions, but the earliest substantial evidence is from the inscriptions of the fourth century A.D. found at Vidiśā. It made considerable progress during the early medieval period. Though ruling chiefs were followers of Brahmanical religion, they took interest even in the development of Jainism. They patronized Jaina scholars. A large number of Jaina temples were built and images were placed in them. Some places became the seats of the Jaina Achāryas, and some became famous as holy places of pilgrimage. A large number of people were converted to Jainism, and they formed different castes.

Jainism During the Period of Mahāvīra :

Mahāvīra is known to have visited Ujjain where he did penances in a cemetery where Rudra and his wife tried in vain to interrupt him.[1] Jaina traditions ascribe that Pradyota was a follower of Jainism and tried for its propagation. He is said to have installed the Jīvanta Swāmī (life time) images of Mahāvīra at Ujjain, Daśapura and Vidiśā. His son Gopāla was initiated to Jainism by Ganadhara Sudharmā Svāmi.[2] All these facts are based on traditions, so that they cannot be relied upon. In later period, Jainas forgot the birth place Vaiśālī of Mahāvīra and confused it with Ujjain known as Viśālā. Therefore, they seem to have associated it with Mahāvīra. It is also quite possible that in later times, when Jainism spread to Molwa, the Jainas, in order to impress the masses of this region, wanted to point out that their association with Jainism was not new but from the time of Mahāvīra.

---

1. The Heard of Jainism, p. 33. 2. Jaina Tirtha Sarva Samgraha, p. 322.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jainism Under the Mauryas :

Jainism appears to have been prevalent even during the Maurya period. Jaina tradition avers that towards the end of his life, Chandragupta Maurya became a convert to Jainism.[1] He was admitted to monkhood at Ujjain and retired to Śravana-belagolā in Mysore with the saint (śrutakevalin) Bhadrabāhu. There he starved to death in the Jaina fashion.[2] Several inscriptions in Mysore dating from about 900 A.D. refer to the pair (**Yugma**) Bhadrahu and Chandragupta.[3]

Jainism prospered much under the patronage of Samprati, the grandson of Aśoka. He became a devout follower of Jainism because of the discourses of the Jaina saint Arya Suhastin.[4] He is regarded as Jaina Aśoka in history. Just as Aśoka propagated Buddhism, similarly Samprati took measures for the propagation of Jainism. He is said to have constructed Jaina temples at several places and installed images in them. He organized several **Saṁghas** to holy places. He sent religious missionaries to the countries of Andhras and Dramilas to propagate the religion.

'Nigatasa Vihāra dīpe' inscribed on one of the pot sherds found at Kasrawad,[5] may prove the esistence of the Jaina monestery. It means that the lamps from the Nigatās monastery was used for lighting the rooms. The monastery may be attributed to the Maurya period.

When Arya Suhastin visited Ujjain in order to worship the image of Jīvanta Svāmi. Avanti Sukumāls took the vocation of monkhood from him.[6] After the death of Avanti Sukumāla, a **stupūa** was erected in order to commemorate him and the image of Pārśvanātha was installed in it. After some time, the **stūpa** became barren, and it was known by the name of Kudugeśvarn (God of the Great Forest).

Being a holy place, Ujjain was frequently visited by Jaina saints such as Chanarudra, Bhadrakagupta, Aryarakshita and Arya Ashādha.[7] Vajra dwelt at Tumbavanagrāma (Tumain). After Simhagiri had taught him the eleven **aṅgas** Vajra went from Daśhpura to Bhadragupta at Avanti (Ujjaini) to learn the twelfth viz **Drishtivādāṅga**. He was the last who knew the complete ten **pūrvas**, and from him arose the Vajraśākhā.[8] Daśapura (Mandsor) is the birth place of the Jaina saint Aryarakshita who learnt from Vajra nine **pūrvas**, and a fragment of the tenth, and taught them to his pupil Durbalikapushpamitra.[9] The seventh

---

1. Pariśishtaparvan, pp. 415 ff. 2. Ibid, p. 156. 3. RICE : Mysore and Coorge from inscriptions, pp. 3 ff. 4. IA,XI, p. 246. 5. IA, XI, p. 246.
7. **Jaina Tirtha Sarva Saṁgraha,** II, p. 318. 8. IA, XI, p. 247.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

schism in Jainism occurred at this place. Jaina traditions aver that Vajrasvāmi and other Jaina pontiffs, obtained liberation in the hills Kuñjarāvarta and Ratha-varta in the neighbourhood of Vidiśā, now known as Bhilsa.[1]

Suṅga-Sātavāhana śaka Period 187 B.C. to 318 A.D.

From the traditions recorded in the Jaina **Nibandhas,** we know that Jainism was associated with Saurashtra and Avanti in the first century B.C. The great Jaina saints and scholars like the Kālakāchārya lived and propagated Jainism in this area. At this time, it was a living and active religion, and it influenced the life of the people. Some of the Jaina sources[2] claim Vikramāditya as a convert to Jainism. It is claimed that Siddhasena Divākara, having caused the breaking of the phallic symbol of Mahākāla in Ujjayinī, and the appearance of the image of Pārśvanātha, enlightened Vikramāditya. According to the Digambara Jaina Pattāvali,[3] Vikramāditya played as a child for eight years, for sixteen years he performed sacrifices following a false doctrine, for forty years, he was devoted to the religion of the Jaina and then reached heaven. It seems that the ancestral and personal religion of Vikramāditya was Śaivism but he was also under the influence of Jainism and patronized it. As the traditions of Vikramāditya are of very late period, they cannot be actually relied upon. The temple of Avanti Sukumāla was probably in existence at Ujjain during this period.

Gupta-Aulinara Period 319-700 A.D. :

Jainism was not so prevalent as Budhism in Malwa during this period. The earliest substantial evidence for the existence of this religion, is known from the three stone images[4] of Jaina Tīrthāṅkaras of the fourth or fifth century A. D. discovered at Vidiśā. From the inscriptions of these images, it is clear they were made by **Mahārājadhirāja** Rāmagupta at the preaching (upadeśa) of Chelukshamaṇa, son of Gokyānti, and pupil of **Achārya** Sarppasena Kshamaṇa, who was the grand pupil of the Jaina teacher Kshamāchārya. Though Rāmagupta was a follower of Brahmanical religion, he extended his patronage to Jainism also, by erecting statues of the Jaina Tīrthaṅkaras.

The Udayagiri cave inscription[5] of of 425-26 A.D. records the installation of an image of the Tīrthaṅkara Pārśvanātha by Śankara, the disciple of saint

---

1. **Jaina Tīrtha Sarva Samgraha,** II, p. 318.
2. **The Pattavuli Samuchchaya,** pp. 46, 106. 3. IA, XX, p. 247.
4. Journal of the Oriental Institute, Baroda, XVIII, p. 247.
5. CII, III, No. 61.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Gośarman, who was the ornament of the image of Achārya Bhadra. This inscription was found inside the cave which may have been a Jaina temple during the Gupta period. It seems that the region round about Vidiśā was a stronghold of Jainism. It is believed that the great Jaina philosopher Siddhasena Divākara lived at Ujjain.

Early Medieval Period 701-1305 A.D.

Jainism made considerable progress in Malwa by the efforts of Jaina monks. Bhaddalapure, Ujjain, Baran and Gwalior remained the seets of the **Bhattārakas** of the **Mulasagha.**[2] From Ujjain, Sarasvatīgachchha and Balātkāragana orignated and they were mentioned along with Mūlasaṁgha.[3] Besides, Vāgada Saṁgha (named after region now known as Banswara and Dungarpur) and Māthura Saṁgha remained popular in this region. It is known that various Gachchhas originated in the north with disciples of Uddyotanasūri, who remained attached with this area because he died in about 937 A.D. On a pilgrimage which he had undertaken from Mālavadeśa to Śatruñjaya to worship Rishabha.[3] Siṁhanandi is known as the Bhatīārak of Malwa[4]. Devasena wrote the **Darśanasāra** in v.s. 990 (933 A.D.) in the Jaina temple of Pārśvanātha at Dhāra.[5]

The Paramāra rulers though followers of Brahmanical religion extended patronage to Jaīnism. The Jaina Achāryas Amitagati, Mahāśena, Dhanapāla, Dhaneśvara and others were patronized by Vakpati Muñja. The famous Paramāra ruler Bhoja gave encouragement to Prabhāchandra, Dhanapāls, Devabhadra, Surāchārya and others. Śāntisena defeated the learned scholars in his court. Dhanapāla is the author of **Tilakamañjari** Jineśvarasūri and Budhisāgara of Dhāranagari lived during his time. A colossal Jaina image of a Jaina Tīrthaṅkara at Bhojapura is of the time of Bhojadeva. Jainism prospered also during the reign of Naravarma. Samundravijaya was one of the famous figures of the court of Naravarman.[9] Naravarman invited Jinavallabhasūri to listen to his religious discourses so pleased was he with his scholarship that he granted two **Pāruttha drammas** daily from the custom house of Chitor for the maintenance of its two Kharatara temples.[10] Jinavallabha's successor Jinadattasūri himself visited Ujjain, Dhāra and Vāgada.[11] Jaina temples at Un as known from their inscriptions

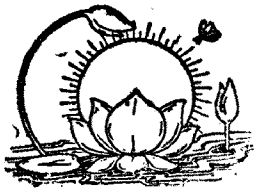
---

1. PR. 883-84, IA,XX,IA. XXI p. 58.
2. JSAI. p. 391.
3. The Age of Imperial Kanaj, p. 205.
4. JSAI, p. 371.
5. Catalogue of Sanskrit and Prakrit Manuscripts in C.P. and Berar, p. 652.
6. PR, No. 4, Intro, p. 3.
7. JSAI, p. 274.
8. EL. XXXV.
9. Bhāratī 1955, p. 122.
2. KB., p. 13.
3. Ibid.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

were built during the time of Udayāditya and Naravarma. Aśādhara[4] was a profound scholar of Jainism. He lived for a long time, to the middle of the thirteenth century A.D. and wrote a number of books on Jainism. He makes mention of five kings during his life time, Vindhyavarma, Subhatavarma, Arjunavarma, Devapāla and Jitugideva. Devadhara was the head of the Jaina monastery at Ujjain.[2]

Growing popularity of Jainism is reflected in the numerous temple remains found at Badon, Gyāraspur, Bhilsa, Budhichanderi, Narwar, Padhaoli, Bithla, Rakhetra, Suhania, Dubkund, Gandharwa and Badwani. The old holy places of Jainism existing before the fourteenth century A.D. are known from the **Vivieha-tirtha** of Jinaprabhasūri who mentions Kudumgeśvara of Ujjain, Abhinandanadeva at Mangalpura, śupārśva at Daśapura and Mahāvira of Bhāilasvāmīgadha.[3] **Sāsanachatustrimśatikā** of Madanakīrti also refers to Abhinandana Jaina of Mangalāpura in Malwa. Jayānanda in the **Pravāsagit** mentions Lakshmi which is situated in the forest near Nimbara.[5] At a distance of one hundred and seventeen kilometres from Dahod, there is a holy place named Tałanpur whose ancient name was Tungipattan.[6] The Jaina holy place of Bāvanagajā, named after the big image at Badawani, is also well known.



1. JSAI, p. 347 2. IA, XI, p. 255. 3. **Vividhatirthakalpa,** 32, 47 and 85
4. JSAI, p. 347 5. Jaina Tirtha Sarva Samgraha, pp. 313, 320. 6. Ibid.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org